अठारहवीं शताब्दी के
ब्रजभाषा काव्य में
प्रेमाभक्ति

© श्रीमती कमलेश अवस्थी, '६८

प्रथम संस्करण : अगस्त '६८

प्रकाशक : अक्षर प्रकाशन प्रा० लिमिटेड
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : प्रिंट्समैन, रोहतक रोड, नई दिल्ली-६

आवरण : सुखदेव दुग्गल

मूल्य : पच्चीस रुपये

अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०

डॉ० देवीशंकर अवस्थी

अठारहवीं शताब्दी के

ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति

भारतीय राजदूतावास
डा. डिल्ली रमण रेड्डी
ल्यापी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी०
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशकीय

हिन्दी के तेजस्वी आलोचक डॉ० देवीशंकर अवस्थी का यह शोध-प्रबन्ध कुछ अनिवार्य कारणोंवश विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। स्कूटर-दुर्घटना ने उन्हें आज हमारे बीच से उठा लिया है और वे इसे पुस्तकाकार देखने को नहीं हैं। 'अक्षर' पर उनका स्नेह और सद्भाव सदा रहे हैं। उनकी अनुपस्थिति कभी न भर सकनेवाला घाव है।

लेकिन शोध और विश्लेषण की जिस परम्परा को उन्होंने समृद्ध-समर्थ किया है, उसकी उत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत शोध-ग्रंथ को प्रकाशित करते हुए 'अक्षर' विनम्र-गर्व का अनुभव करता है।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : मध्यकालीन भक्ति : नया आन्दोलन और अग्रणी-व्यक्तित्व

उत्तर भारत में भक्ति का नया आन्दोलन १७

सूफ़ी सम्प्रदाय : संक्षिप्त इतिहास तथा तत्व-दर्शन ४६

द्वितीय अध्याय : भक्ति-विवेचन

भक्ति के तत्व : ६१

तृतीय अध्याय : उज्ज्वल रस-मीमांसा

मधुर भाव का विकास : पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्व ११३

चतुर्थ अध्याय : प्रेमाभक्ति का साधना-दर्शन

लीला-तत्व का परिप्रेक्ष्य १६१

गौड़ीय-वैष्णव तत्व-वाद की रूपरेखा १६१

ब्रजलीला एवं निकुंज लीला १६४

हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अन्तर २१८

रामभक्ति साहित्य में रसोपासना का स्वरूप २४६

शुक्र-सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकार एवं उपासना-भाव की धारणा २६२

पंचम अध्याय : विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का अठारहवीं शती का ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति-काव्य

अठारहवीं शती में चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा साहित्य

पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा २७३

हरिदासी सम्प्रदाय का अठारहवीं शती का ब्रजभाषा काव्य २८२

ललित सम्प्रदाय का अठारहवीं शती का साहित्य ३३५

अठारहवीं शती का राम-भक्ति का ब्रजभाषा साहित्य ३३७

प्रणामी सम्प्रदाय के कवि ३६८

षष्ठ अध्याय : अठारहवीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति काव्य का साहित्य-विश्लेषण और मूल्यांकन

प्रेमाभक्ति काव्य की तीन परम्पराएँ ४०१

उपसंहार ४६४

(क) **शब्द संक्षेप सूची** ४७३

(ख) **सहायक ग्रंथ-सूची**

शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना

हिन्दी का भक्ति-साहित्य अपने वैविध्य एवं सम्पन्नता के कारण पाठक का ध्यान सहज ही आकर्षित कर लेता है। मूल में भक्ति का भाव सुरक्षित रखते हुए भी यह साहित्य नाना वर्णच्छटाओं से युक्त रहा है। भक्ति के मूल में प्रेम की जो भावना सतत विद्यमान रही है, वह भी इस साहित्य में अनेक रूपाकार ग्रहण करती है। विद्वानों ने प्रेम के इन प्रकारों की ओर ध्यान तो दिया है, पर एक मात्र उन्हें ही केन्द्र बनाकर अध्ययन नहीं किया गया। प्रेमाभक्ति के बहुत से सम्प्रदाय एवं महत्त्वपूर्ण कवि एक लम्बे समय तक उपेक्षित ही रहे। डा० दीन दयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में सर्वप्रथम जिस विशेष अध्ययन-दिशा का उद्घाटन किया था, उस दिशा में चलने के लिए लगभग एक दशक तक अनुसन्धित्सु पथिक ही नहीं मिले। पर ठीक दस वर्ष बाद डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का ही सम सामयिक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' है। डॉ० सिंह ने एकदम उपेक्षित पड़ी हुई एक साहित्य-धारा की ओर अध्येताओं का ध्यान खींचा। डॉ० स्नातक एवं डॉ० सिंह के इन अध्ययनों से सम्प्रदाय-सम्बन्धी अध्ययनों को बड़ी प्रेरणा मिली। डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामानन्द सम्प्रदाय, डॉ० गोपाल दत्त शर्मा ने हरिदासी सम्प्रदाय तथा डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय-सम्बन्धी शोध-कार्य भी इसी बीच पूरे किये। कुछ अन्य सम्प्रदायों पर भी कार्य अभी हो रहा है। अध्ययन के इस परिमाण ने तुलनात्मक अध्ययन की दिशा को भी बल दिया। डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी ने इन सम्प्रदायों के एक पक्ष-विशेष 'सखी-भाव' को लेकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। अध्ययन की दिशाओं की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों पर अलग-अलग कुछ काम हुआ और किसी एक पक्ष-विशेष पर तुलनात्मक ढंग से विचार करने का प्रयास भी हुआ, परन्तु महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इन शोध-कार्यों में एक बात खटकने वाली प्रतीत होती है। अपने-अपने सम्प्रदाय-विशेष या पक्ष-विशेष (यथा सखी-भाव) को ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का आग्रह

ऊपर उल्लिखित सभी ग्रन्थों में देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमाभक्ति के अभिव्यंजना-रूप इन सम्प्रदायों एवं इन सम्प्रदायों के सन्देश प्रेमाभक्ति को केन्द्र में रखकर अधिक-से-अधिक तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस साहित्य पर विचार किया गया है। जहाँ पर पारस्परिक प्रभावों की विवेचना की गयी है, वहाँ भी उस प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया के स्वरूप या परिणाम पर ही विचार हुआ है। हमने किसी को श्रेष्ठ या अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण सिद्ध करना नहीं चाहा। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि केवल तथ्यों का विश्लेषण हुआ है, आकलन नहीं। यथास्थान प्रेमाभक्ति के इन विविध सम्प्रदायों के प्रदेय एवं महत्त्व का मूल्यांकन भी होता गया है। तथ्यों की पुनर्व्याख्या के साथ ही पुनर्मूल्यांकन भी प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राप्त होगा। इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रसंगतः प्रेमाभक्ति पर ही आलोक-पुंज को केन्द्रित कर हिन्दी के भक्ति-साहित्य को समझने के लिए समुचित परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, वहीं मुख्य रूप से १८वीं शती के साहित्य का एक नितान्त उपेक्षित अंश भी उद्भासित हुआ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि सं० १७०० से १९०० तक का काल रीतियुग है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के उद्दिष्ट अध्ययन की काल-सीमा रीतियुग का पूर्वार्द्ध है। प्रबन्ध के माध्यम से इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है कि तथाकथित रीतियुग में सृजन का एक बड़ा क्षेत्र ऐसा भी था जो रीति-काव्य से बाहर था। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति का कृतित्व किसी भी अर्थ में रीतिकाव्य की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि कहना यों चाहिए कि इस युग के साहित्य के माध्यम से भक्तिकालीन प्रवृत्तियों का रीतिकाव्य में संक्रमण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध गौणतः भक्तिकाल एवं रीतिकाल के साहित्यों के पारस्परिक प्रतिदानों एवं प्रतिक्रियाओं के अध्ययन की दिशा को भी संकेतित करता है।

प्रबन्ध-नियोजन एवं अध्ययन-विधि

प्रबन्ध का नियोजन इस दृष्टि से करने का प्रयास किया गया है कि पीछे उल्लिखित नवीनताओं एवं दृष्टिकोण की उसमें रक्षा हो सके, तथा उनका रूप उभर सके।

प्रबन्ध का प्रथम अध्याय शोध-ग्रन्थों की सामान्य परिपाटी से संभवतः कुछ भिन्न सा प्रतीत होगा। वैदिक काल से लेकर १६वीं शताब्दी तक भक्ति का विकास सूचित करने के स्थान पर इस स्थापना को प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया गया है कि भक्ति की पुरानी भावधारा १५वीं-१६वीं शताब्दियों में उत्तर-भारत में एक नये आन्दोलन के रूप में प्रकट होती है। इस भक्ति की प्रेम-सम्बन्धिनी

विशेषता का उल्लेख करते हुए उन पांच परम्पराओं की ओर (पूर्वी भारत की महायान तांत्रिक भक्ति, दक्षिण भारत की आलवार-नायनार भक्ति, पश्चिमोत्तर भारत से आई हुई सूफ़ी प्रेम-भक्ति, प्रेम-काव्य की साहित्यिक परम्परा, मध्य-देश की स्मार्त उदारतावादी विचारधारा) संकेत मात्र किया है, जिनके मिलन एवं प्रभाव की छाया के तले यह भक्ति विकसित हुई है। इसी स्थल से भक्ति के विकास की प्रक्रिया को भी एक भिन्न स्तर पर समझने की चेष्टा की गयी है। मध्यकाल वीरपूजा का युग था; व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर ही जन-मानस गतिशील होता था। सामन्ती आदर्शों वाले वीरपूजा के युग में कुछ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, एवं अन्य जन उनका ही अनुसरण करते हैं। वैष्णव आचार्य ने जब महत्तम व्यक्तियों को परात्पर-तत्व का आवेश रूप माना था, तब वे वस्तुत: वीरपूजा-युग के आदर्शों को ही शास्त्र-सिद्धान्त दे रहे थे। अस्तु, प्रथम अध्याय में ही भक्ति-क्षेत्र के इन महत्तम व्यक्तियों की जीवनी, रचनाएँ, सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापना के विवरण उपस्थित किये गये हैं। इस विवरण को देते समय भी शुष्क तथ्यों के वर्णन या उद्घाटन की अपेक्षा उन अंशों को अधिक उभारने का प्रयत्न रहा है जिनसे कि उनके महत्त्व एवं कार्य की गुरुता का रूप स्पष्ट हो सके। बहुधा ज्ञात तथ्यों को भी नयी व्याख्या देने की चेष्टा की गयी है। सूफ़ीमत किसी एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर आगे नहीं बढ़ता, उसके विकास, भारत-प्रवेश एवं भारत में प्रसार का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है। अध्याय के अंतिम भाग में विविध भक्ति-सम्प्रदायों के पारस्परिक आदान-प्रदान की दिशा का संकेत प्राप्त होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय भक्ति-विवेचन के लिये सामान्य पृष्ठभूमि उपस्थित करता है तथा उस प्रेम-दिशा की ओर इंगित भी करता है, जिस ओर कि भक्ति का बढ़ाव हो रहा था।

विकास-प्रक्रिया के इस स्पष्टीकरण के पश्चात् द्वितीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया गया है। दीर्घकाल-व्यापी भक्ति का संकुल-भाव अनेकानेक परिभाषाओं द्वारा व्याख्यात है। अतः इस अध्याय के प्रथम भाग में भक्ति के मूल में स्थित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण किया गया हैं। द्वितीय भाग के प्रारम्भ में भक्ति-विवेचकों द्वारा विवेचित किये गये विभिन्न भक्ति-प्रकारों को उपस्थित करते हुये विभाजक रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न है तथा मध्य भाग में साधनाक्रम-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण है। प्रकारों की रूपरेखा स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिक ढंग पर चार्टों के उपभोग द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। इस अध्याय के अन्त में गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों द्वारा विवेचित पंचभक्ति-रसों का स्वरूप बताते हुये विभिन्न सम्प्रदायों में उनकी स्थिति की मीमांसा भी है।

पहले अध्याय के प्रारम्भ में ही हम यह कह आये थे कि भक्ति का नया आन्दोलन प्रेम की भूमि पर खड़ा होता है। यह प्रेम मुख्य रूप से मधुर भाव

में परिणत हो जाता है। द्वितीय अध्याय के अन्त में मधुर रस को पंच भक्ति-भावों में सर्वोत्तम बताया गया है। अतः पिछले अध्याय के प्रकृत विकास की दृष्टि से मधुर रस का विवेचन तृतीय अध्याय में हुआ है। इस विवेचन में सबसे पहले मधुर भाव के विकास की पृष्ठभूमि में स्थित विविध तत्त्वों की संक्षिप्त मीमांसा की गयी है। इस ऐतिहासिक रूपरेखा के पश्चात् मधुर रस का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मधुर रस लौकिक शृंगार-रस के साथ एक करके न देखा जाय, इसलिये स्वरूप-विश्लेषण के पश्चात् काम और भगवत्प्रेम का अन्तर भी निरूपित हुआ है। इस रस-विवेचन की समाप्ति पर आवश्यक था कि इसे काव्य-शास्त्रीय कसौटी पर परख लिया जाय, अतः भक्ति-रस-सम्बन्धी धारणा का काव्य-शास्त्र के ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आधार पर विवेचन इसी अध्याय में हुआ है। परन्तु रस-सम्बन्धी गौड़ीय वैष्णवों की मान्यता प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय को मान्य नहीं है। अतः तृतीय अध्याय का अन्तिम भाग गौड़ीय वैष्णवों, नित्यविहारोपासकों, रामोपासकों, निर्गुणवादियों एवं सूफ़ियों के प्रेम-रस-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का अन्तर एवं इस अन्तर के आधारभूत कारण स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ है।

समस्त सगुणोपासक-सम्प्रदाय प्रभु-लीला के तत्त्व-दर्शन पर विकसित हुए हैं। इस लीला-तत्त्व को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित कर भक्ति-काल में उसके स्वरूप एवं महत्त्व का निर्धारण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने करना चाहा है। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन, ज्ञान एवं आस्वादन प्रत्येक वैष्णव का काम्य है। परन्तु इसके बाद अनेक प्रश्न उठते हैं—उपास्य का स्वरूप क्या है? यदि उपास्य युगल है तो प्रत्येक का स्वरूप, गुण तथा पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएँ कौन-सी हैं—पुराण-शास्त्र-वर्णित या और कोई? ये लीलाएँ कहाँ पर होती हैं, उस धाम का स्वरूप, गुण एवं प्रभाव क्या है? लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन-कौन होते हैं एवं उनके नाम, गुण, रूप, क्रिया तथा सम्बन्ध क्या होते हैं? साधक के लिये इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? इन प्रश्नों को लेकर विविध सम्प्रदायों में मत-वैभिन्य प्राप्त होता है। यह भी स्मरणीय है कि समस्त प्रेमाभक्ति का काव्य सृजन लीला-सम्बन्धी इन धारणाओं पर ही आधृत है, विना इन धारणाओं के सम्यक्-परिशीलन के इस साहित्य के मर्म को ठीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी कारण चतुर्थ अध्याय में विभिन्न लीलागायक भक्ति-सम्प्रदायों के उपास्य, धाम, परिकर, लीला एवं उपासना-सम्बन्धी धारणाओं का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। विश्लेशण करते समय विभिन्न सम्प्रदायों के पृथकतासूचक तत्त्वों अथवा सदृशताओं की ओर यथास्थान इंगित करने का प्रयास भी हुआ है। इस प्रकार इस वड़े एवं अत्यधिक

महत्त्वपूर्ण अध्याय के मध्य एकसूत्रता की रक्षा की गयी है। इस अध्याय में कुछ बातें और भी उल्लेखनीय हैं। हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इन प्रश्नों पर मतभेद इतना कम है कि उन्हें अलग-अलग विवेचित करने से प्रबन्ध का कलेवर अतिरिक्त रूप से अवश्य बढ़ जाता पर उससे लीला-सम्बन्धी किसी नवीनता का संकेत न होता, इसी कारण उन्हीं बातों के लिए नये उद्धरण जुटाने के स्थान पर दोनों सम्प्रदायों में जो यत्किंचित अन्तर है, उसे ही विवेचित करने का प्रयास प्राप्त होगा। शुक-सम्प्रदाय की विवेचना भी विशेष दृष्टिकोण से की गयी है। १८वीं शती में निर्गुण एवं सगुण सम्प्रदायों में समन्वय की एक तीव्र प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। शुक-सम्प्रदाय, प्रणामी-सम्प्रदाय आदि इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण की उपज हैं।

शुक-सम्प्रदाय की विवेचना समन्वय की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होगी। भारतीय भक्ति-साधना को सूफ़ियों ने भी बहुत प्रभावित किया है। हमने इस बात के संकेत किये हैं कि सगुणोपासकों की विरह को महत्त्व देने वाली धारणा सूफ़ियों से प्रभावित है तथा निर्गुणमार्गियों का प्रेम-दर्शन वस्तुतः सूफ़ियों का ही है—अतः इस अध्याय के अन्त में सूफ़ी प्रेम-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा भी उपस्थित की गयी है।

लीला-सम्बन्धी इन धारणाओं के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों में प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। इस साहित्य को लिखने वाले सदैव ऊँची श्रेणियों के या उच्च पदस्थ लोग ही नहीं थे। वह सारा साहित्य सुरक्षित भी नहीं है। सम्भवतः सदैव सुरक्षित रखने के अभिप्राय से यह लिखा भी नहीं गया। जो साहित्य सम्प्रदायों के उत्तराधिकारियों के पास हैं भी, वह शोधकर्ता के लिए लगभग अनुपलब्ध ही रहता है। अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादिता के कारण इन ग्रन्थों के दर्शन भी कठिन हो जाते हैं। कभी-कभी ग्रन्थ या रचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु स्पष्ट संकेतों के अभाव में उनका काल-निर्णय अत्यन्त दुरूह हो जाता है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी पंचम अध्याय में निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हरिदास, राधावल्लभ, ललित, रामोपासक निर्गुण मतानुयायी एवं सूफ़ी सम्प्रदायों के अस्सी से ऊपर कवियों का परिचय एवं रचनाओं का विवरण हमने उपस्थित किया है। इन कवियों में जो अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, उनके व्यक्तित्व एवं साहित्य के विश्लेषण तथा मूल्यांकन को अधिक स्थान दिया गया है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत अध्याय के एक उप-विभाग में रीतिकाल के सोलह कवियों की चर्चा भी की गयी है। हमने इन कवियों को मुख्यरूप से रीति, परन्तु गौण रूप से प्रेमाभक्ति का कवि माना है। इस उप-विभाग की भूमिका एवं मुख्य कवियों के विवेचन में इनके द्वैध व्यक्तित्व का आकलन करते हुए एक नये दृष्टिकोण से इनकी मानसिक स्थिति एवं सृजन-

प्रक्रिया को समझने का प्रयास भी है। इस प्रकार सब मिलाकर लगभग सौ कवियों को इस अध्याय में उपस्थित किया गया है।

षष्ठ अध्याय में इस उपलब्ध प्रेमाभक्ति-साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन की चेष्टा है। इस विश्लेषण में भी कृति का "आन्तरिक-अध्ययन" (इन्ट्रिज़िक स्टडी) करने वाली समीक्षा-विधि को अपनाने का प्रयास रहा है। केवल रस, अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति आदि के बँधे-बँधाये चौखटों में ढालकर इस साहित्य को परखने की शैली स्वीकार नहीं की गयी है। हमें लगता है कि इन स्थूल चौखटों में किसी भी साहित्य को ढालकर उसे महत्वपूर्ण बताया जा सकता है। वास्तव में किसी भी रचना में अभिव्यंजना के उपादान एवं मूल वक्तव्य-वस्तु एक साथ घुले-मिले रहते हैं; वे एक साथ मिलकर ही रचना को प्रभविष्णु बना पाते हैं। इसी कारण हमने आलोच्य-साहित्य की भाव-सम्पदा का विश्लेषण करते हुए उस के साथ ही काव्य सौन्दर्य का भी विश्लेषण किया है। शास्त्रीय विधि के भेदों-प्रभेदों में न जाकर भी मूलतः रस-दृष्टि का आग्रह इस विश्लेषण में बराबर बना रहा है। प्रेमाभक्ति की तीन स्पष्ट परम्पराओं—ब्रजलीला गान, निकुंज-लीला गान एवं प्रेम-प्रतीक भावधारा का अलग-अलग विवेचन करते हुए भी उनकी पारस्परिक स्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर हुआ है। इसी अध्याय में मूल्यांकन करते समय पूर्ववर्ती भक्तिकाल एवं समसामयिक रीतिकाल के साहित्य को परिपार्श्व में रखकर तुलनात्मक प्रविधि को अपनाया गया है। कोई भी रचना अपने समसामयिक कृतित्व के मध्य स्थित होने के साथ ही पूर्ववर्ती परम्परा की अपने समय तक की अन्तिम कड़ी भी होती है। इसी कारण मूल्यांकन के प्रसंग में इन दोनों सन्दर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। १८ वीं शती के इस प्रेमाभक्ति-साहित्य के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में अधिकांश सम्प्रदायों के प्रमुख-प्रमुख कवियों के कृतित्व को दृष्टिपथ में रखा गया है। इस अंश में लगभग ३५ कवियों की रचनाओं के उद्धरण देकर इसे सब प्रकार से प्रातिनिधिक बनाने का प्रयास उपलब्ध होगा।

इस प्रकार उत्तर भारत में भक्ति के नये आन्दोलन से उद्भूत इस साहित्य की अठारहवीं शती तक की परिणतियों, प्रभावों, सैद्धान्तिक आग्रहों तथा अठारहवीं शती की कृतियों के आकलन के साथ यह अध्ययन समाप्त होता है। उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन का विहंगावलोकन करते हुए मुख्य निष्कर्ष अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं।

—देवीशंकर अवस्थी

प्रथम अध्याय

मध्यकालीन भक्ति : नया आन्दोलन और अग्रणी व्यक्तित्व

उत्तर भारत में भक्ति का नया आन्दोलन

विद्वानों ने भागवत धर्म एवं भक्ति-मार्ग की प्राचीनता के पर्याप्त प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किये हैं।[१] इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन में न जाकर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भक्ति-मार्ग को केवल भागवत (वैष्णव) धर्म के साथ एकात्म करके न देखा जाना चाहिए। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, तन्त्र, योग आदि सम्प्रदायों की साधना-प्रणालियों में भी भक्ति किसी-न-किसी रूप में प्रकाशित होती रही है। हमें लगता है कि भक्ति-भाव अन्त:सलिला के रूप में इस देश के लोक-जीवन में बराबर प्रवाहित रहा है और अवसर पाते ही उसके सोते फूटते रहे हैं। पर इतना अवश्य है कि भागवत धर्म के साथ भक्ति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अधिक घनिष्ठ रहा है। सम्भवतः भागवत धर्म की लोकोन्मुखता

---

१. देखिए—

(क) आर० जी० भण्डारकर : वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स ऑफ़ इण्डिया।

(ख) बी० के० गोस्वामी : भक्ति-कल्ट इन एन्शण्ट इण्डिया।

(ग) हेमचन्द्र राय चौधरी : मैटीरियल्स फ़ॉर दि स्टडी आफ़ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि वैष्णव सेक्ट।

(घ) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य।

(ङ) डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास।

(च) बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय।

(छ) परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म।

(ज) डॉ० दीन दयालु गुप्त, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक आदि विद्वानों के भक्तिकाल से संबंधित विभिन्न शोध-प्रबन्धों के एतत्संबंधी अध्याय।

ने उसे सदैव अधिक प्रश्रय एवं महत्त्व दिया है।[1]

संवत् १००० के आसपास से मध्यदेश की स्मार्त आचार-परायण भूमि में आलवारों की भावभक्ति एवं प्रेम-प्रतीकवाद आचार्यों के शास्त्र-सिद्ध व्यक्तित्व के सहारे पहुँचते हैं। पूर्वी भारत की महायान-भक्ति और तन्त्र-साधनाओं, गुह्य-उपासनाओं के सम्मिलन से विकसित सहजिया से वैष्णव-तत्व का प्रेम-मार्ग एवं परकीयोपासना (जो आगे चलकर गोपीभाव का रूप धारण करती है) भी इसी में आ जुड़ते हैं। इसी काल में पश्चिमोत्तर भारत से प्रेम की पीर के गायक सूफी भी इस देश में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। तुर्क सुल्तानों के समय इन सूफियों के कार्यों को काफी व्यापकता और सफलता प्राप्त हुई थी। इसी समय मुसलमानों के आक्रमण भी होते हैं और कुछेक समय के लिये लगा कि यह दुर्दान्त शक्ति भारतवर्ष के श्रेष्ठतम को कुचल कर रख देगी। ऐसी दशा में इस अनुभव-वृद्ध देश के जन को श्रद्धा एवं भक्ति ने इस झंझावात के समक्ष खड़ा रह सकने की शक्ति प्रदान की। एक पाँचवाँ तत्व भी इसी काल में इस परम्परा में आ जुड़ता है। राधा एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की साहित्यिक परम्परा धर्म-भावना के अन्दर स्थान पा जाती है और यह लीलावाद उपर्युक्त समन्वय से अद्भूत प्रेम-प्रधान भक्ति को अपूर्व रस निर्भर बना देता है।

यहीं पर एक और तथ्य की ओर ध्यान दिला देना उचित होगा कि इस युग की संस्कृति मन्दिरों को केन्द्र बना कर बढ़ रही थी। प्रत्येक गाँव एवं मुहल्ले में छोटे बड़े अनेक मन्दिर विविध देवी-देवताओं के हुआ करते थे। ये मन्दिर एक

---

१. भक्ति के तत्त्वान्वेषण की प्रारंभिक स्थिति में विद्वानों ने भारतीय भक्ति-भावना के मूल स्रोत खोजने की ओर अपनी रुचि दिखायी थी। विभिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत निश्चित करने चाहे। ईसाई, सामी-पैग़म्बरी, द्रविड़ आदि विचारों को बहुधा भक्ति के मूल में देखा गया। भारतीय विद्वानों का एक वर्ग उसे आर्य-चिन्ता की उपज मानकर वेदों में उसके मूलतत्त्व खोजता रहा। इस समस्त विवेचन से एक ही सिद्धांत पर पहुँचने की अपेक्षा यह अनुभव किया जाने लगा कि भक्ति एवं श्रद्धा जैसे भाव प्रत्येक धर्म-मत एवं सुसंस्कृत समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी होते हैं तथा जीवन्त धर्म-साधनाओं में पारस्परिक प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इसी कारण साम्प्रतिक तत्त्वान्वेषण में इन पारस्परिक प्रभावों के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ी है। आवश्यकता इस बात की है कि विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भों को परिपार्श्व में रख कर इन प्रभावों का अध्ययन किया जाय।

प्रकार के विकेन्द्रीकरण के द्योतक थे।[1] बौद्ध विहारों में सामूहिक रूप से निवास, प्रार्थना एवं पूजन होता था, पर इन स्मार्त मन्दिरों में वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का अपूर्व समन्वय था। उनमें रहता कोई नहीं था, पूजन भी वैयक्तिक था, परन्तु उत्सव, व्रत एवं श्रद्धा सामूहिक थी। परिणामस्वरूप जब बख्तियार खिलजी जैसे मुसलमानों ने बौद्ध विहारों पर आक्रमण किया तो उन विहारों की विनष्टि के साथ ही बौद्ध धर्म को भी सांघातिक आघात लगा, पर मन्दिरों को तोड़ने के बाद भी मुसलमान न तो मन्दिरों के निर्माण का क्रम तोड़ सके और न मन्दिरों पर श्रद्धा रखने वाले जन की श्रद्धा को नष्ट कर सके। यह दृष्टव्य है कि भारत के अधिकांश श्रेष्ठतम मन्दिर इसी युग में बनते हैं। खजुराहो, कोणार्क, भुवनेश्वर हलेबीड, बेलूर आदि के मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी के बाद ही बने हैं।

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते तुर्कों के शासन का अन्त दिखायी पड़ने लगता है। मुसलमानों की अजेयता को इससे भारी धक्का लगता है तथा इस देश के हिन्दू के मन से मुसलमानों का आतंक उठने लगता है। यह तथ्य इस अर्थ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दुओं में इससे एक नये आशावाद एवं उत्साह का जन्म हुआ। इस उत्साह के मध्य ही पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति का नवोत्थान हमें प्राप्त होता है। उपर्युक्त तथ्य इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू-मुसलमानों के मध्य पारस्परिक बोध भी इस कारण बढ़ता है एवं सूफ़ीमत को फैलने-बढ़ने या प्रभावित करने अथवा प्रभावित होने का अवसर मिलता है। नये बने मुसलमानों के कारण यह प्रक्रिया और अधिक गति प्राप्त करती है।[2]

यहीं पर एक और तथ्य याद कर लेना आवश्यक है। बौद्ध धर्म ने अपनी अन्तिम परिणतियों में लोकार्षण का रास्ता ग्रहण किया था।[3] विशेष रूप से समाज की निम्न श्रेणियों में इसने आध्यात्मिक आकांक्षाएँ उत्पन्न कर

---

१. उस समय राजनैतिक शक्ति भी विकेन्द्रित थी। हमारा अनुमान है कि इस विकेन्द्रित रूप के कारण ही हिन्दुत्व मुसलमानों के भीषण आक्रमण को बरदाश्त करके भी जीवित रह सका। तथा आगे चलकर वैष्णवधर्म के प्रसार में भी इस स्थिति ने सहायता पहुँचायी होगी।

२. विस्तार से देखिये : हिन्दी साहित्य (भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग) में डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अध्याय, पृ० ५४-५६।

३. हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं सिद्ध-साहित्य : डॉ० धर्मवीर भारती में विस्तार से इसकी चर्चा की गयी है।

दी थीं; उनमें आत्मविश्वास का गौरव भी स्थापित हो गया था। इस प्रकार नीची कही जाने वाली जातियाँ एक प्रकार की समानता की इच्छा प्रकट करती हैं। एक विचित्र अन्तर्विरोध इस युग में दिखायी पड़ता है : एक ओर तो जाति-पाँति एवं कौलीन्य-भाव की जकड़बन्दी होती है और दूसरी ओर ये तथाकथित नीची जातियाँ ऊपर आने या समानता के स्तर की घोषणा करती हैं। इस अन्त-र्विरोध में भक्ति-भाव को गति मिली है—क्योंकि भक्ति ने कौलीन्य को चोट पहुंचाए बिना कम-से-कम धर्म और प्रेम (भक्ति) के क्षेत्र में सबको समान मान लिया। मध्यकाल की दृष्टि से यह समानता साधारण नहीं है। इसी समय मुसलमानी आक्रमणों ने एक और समानता स्थापित की। उनके अत्याचारों के शिकार छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे सभी हुये। इस प्रकार की स्थिति में यह अनिवार्य हो गया था कि जो भी साधना-मार्ग उदित हो वह व्यापक जीवन को समेटने वाला हो। १५ वी-१६ वीं शतियों में नये आवेश से जगनेवाले भक्तिमार्ग में प्रेम की यह साधना सारे लोक-जीवन के लिए ग्रहणीय शक्ति बन कर उदित होती है। समन्वय एवं सामंजस्य की प्रवृत्तियों से ओतप्रोत इस समाज में भक्ति का यह मार्ग सगुण को स्वीकार करने के बाद भी निर्गुण का प्रत्याख्यान नहीं करता एवं निर्गुण की बात उठा कर उसे प्रियतम या मालिक के अनेक गुणों से विभूषित भी कर देता है। यहाँ पर शर्त केवल एक रह जाती है—प्रेम। जैसे भी बने प्रेम होना चाहिए, इसके अतिरिक्त भक्तिकाल का कुछ भी काम्य नहीं रह जाता। जप, तप, तीर्थ, व्रत, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य सब इसी ओर उन्मुख हैं। आदर्श है—'रीझि भजो या खीझि।' प्रेम ही मुक्ति-प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति का भेद मिटाया जा सकता था। भक्ति-आन्दोलन का ध्येय न केवल आध्यात्मिक उन्नति था, वरन् सामा-जिक उत्थान भी था। बल्कि कहना यों चाहिए कि भक्तिकाल में आध्यात्मिक उन्नति एवं सामाजिक उत्थान दोनों ही पर्यायवाची-से बन गये थे। इसी कारण छोटे, उपेक्षित, अपढ़, निर्धन एवं अकुलीन भी इस युग में पूज्य बने। ध्यान रहे कि जुलाहे कबीर, अंधे सूरदास, निर्धन-तिरस्कृत तुलसीदास, बेलीक चलने वाली मीरा किन्हीं सिद्धियों, चमत्कारों या डाँट-फटकार के कारण श्रद्धेय नहीं बनते। ये सभी प्रभु, प्रभु-कृपा एवं प्रभु-सेवा और प्रभु-प्रेम के गुण गाकर ही सामान्य जन का हृदय जीत सके थे। आल्हखण्ड में एक पंक्ति आती है :—जननी ऐसा बेटा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।[1] (माँ, ऐसा पुत्र उत्पन्न करो जो या तो शूर कहलावे या भक्त) यह पंक्ति उस दृष्टिकोण को पूरी तरह व्यक्त कर रही है जो भक्ति को शूर वीरता (वह भी मध्यकाल की वीरता) के समकक्ष

१. हिन्दी साहित्य (भारतीय हिन्दी-परिषद), पृ० ४६२ पर उद्धृत।

स्वीकार करता है।

प्रेम के इस प्रसंग में हम यह याद दिला देना ग्रावश्यक समझते हैं कि ऊपर जिन तत्त्वों के ग्राधार पर मध्यदेश के क्षेत्र में भक्ति के वीज-वपन की चर्चा कर रहे हैं वे सब प्रेम पर ही वल देने वाले हैं। पूर्वी भारत में तन्त्र-मत एवं वैष्णव-मत का समन्वय जिस महायान भूमि पर हुग्रा था, उसमें भी प्रेम का ग्रतिशय महत्त्व था। ग्रनेक प्रकार की यौन-यौगिक क्रियाएँ उससे संवंधित थीं। दक्षिण की ग्रालवार भक्ति में प्रेम का भाव ग्रत्यन्त समृद्ध था ही तथा सूफ़ी-साधना प्रेम की पीर के प्रचारक-रूप में प्रसिद्ध ही है। राधा-कृष्ण लीला की साहित्यिक परम्परा भी रति-भावना के ही ग्राधार पर खड़ी थी। इधर स्मार्त विचारधारा में श्रद्धा ग्रौर उदारता का जो ग्रंश है उसने इन सभी प्रेम-प्रभावों को ग्रहण करने में सहायता दी। १५ वीं शती में भक्ति के नये ग्रान्दोलन[1] में प्रेमाभक्ति का स्वर ग्रत्यन्त प्रबल रूप ग्रहण होता है। परिणामस्वरूप इस युग में प्रेमाभक्ति के ग्रनेक सम्प्रदाय एवं उसके प्रचारक कृती एवं साधक महात्मा उभरते दिखायी देते हैं। ये ही महात्मा इस ग्रान्दोलन का नेतृत्व करते हैं।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती के भक्ति क्षेत्र में अग्रणी व्यक्तित्व : जीवनी, रचनाएँ, तथा सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापन

कैसा भी जन-ग्रान्दोलन क्यों न हो, कोई-न-कोई प्रतिभाशाली उस जन-शक्ति का नेतृत्व करता हुग्रा उसे लक्ष्य तक ले जाता है। रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, हित हरिवंश, हरिदास, हरिव्यास ग्रादि इस नव-जागृत शक्ति के अग्रदूत बने। यहीं पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि काशी ग्रौर राजस्थान निर्गुण-भक्ति के केन्द्र वने या फिर सगुण मर्यादावाद के। सम्भवतः शैव-नाथ पंथियों के गढ़ ये स्थान थे ग्रतः निर्गुण-भक्ति इनका स्वाभाविक विकास सिद्ध हुई, राम उनकी भक्ति के ग्रालम्बन बने। धुर पूरव वंगाल में सहजिया तांत्रिक साधना की पृष्ठभूमि में विकसित होनेवाले वैष्णव मतवाद का प्रेमतत्त्व परकीयो-न्मुख हुग्रा। राधा-कृष्ण के रूप को ग्रपनाकर ब्रज-प्रदेश (मथुरा-वृन्दावन) राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रमुख केन्द्र एक बार पुनः वना (ई० पू० शूरसेन प्रदेश में सात्वत या भागवत धर्म का ज़ोर था, ऐसा भण्डारकर, राय चौधरी ग्रादि सभी

---

१. भक्ति-ग्रान्दोलन का तृतीय उत्थान उत्तर भारत में १५ वीं शती के ग्रारम्भ में होता है। पंडित बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय, पृ० २३३।

विद्वानों को मान्य है)[1]। बल्लभ, चैतन्य, हित हरिवंश, हरिदास आदि के सम्प्रदाय और साधनाएँ यहीं पुष्पित-पल्लवित हुई। उत्तर-भारत में भक्ति-प्रसार में चतुः सम्प्रदायों के योग के प्रति कुछ असंतुलित एवं अत्युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण रहा है। यह योगदान अपने आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, इसलिये विस्तार में न जाकर हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि निम्बार्क-सम्प्रदाय को छोड़ कर और किसी सम्प्रदाय की व्रज में अवस्थिति बल्लभ-चैतन्य आदि के पूर्व की प्राप्त नहीं होती। रामानुज की परम्परा काशी में मिलती अवश्य है, परन्तु रामानन्द के पहले वह एकदम क्षीण थी तथा रामानन्द शुद्ध रामानुजी कितने रहे, यह काफ़ी विवाद की बात है। कुछ लोग तो उन्हें एकदम पृथक मानते हैं, जो रामानुज के साथ उन्हें सम्बन्धित करते भी हैं वे भी केवल दर्शन के क्षेत्र में बाक़ी उपासना-पद्धति, आचार-व्यवहार, तिलक, माला और मंत्र में उनकी भिन्नता स्वीकार्य है।

निम्बार्क के बारे में भण्डारकर[2], परशुराम चतुर्वेदी[3], बलदेव उपाध्याय[4] आदि सभी विद्वानों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि उनके सम्प्रदाय का प्रसार व्रज-प्रदेश (राजस्थान भी) तथा बंगाल में ही अधिक हुआ, दक्षिण में वह नितान्त नगण्य रहा। बलदेव उपाध्याय ने तो स्पष्ट संकेत किया है:—

---

१. व्रज प्रान्त में कुषाण वंशी राजाओं के राजत्व-काल (ईसा की प्रथम शताब्दी) में जो बहुधा बौद्ध मतावलम्बी थे, भागवत धर्म बहुत शिथिल था। कुषाण-वंशी राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म को ही प्रोत्साहन दिया, इसके अनन्तर गुप्त-वंश के राजत्व-काल में वैष्णव धर्म फिर प्रबल हुआ। हर्षवर्द्धन ने बौद्ध धर्म को अपना कर उसी का प्रचार किया। उस समय एक प्रकार से व्रज में भागवत धर्म का लोप हो गया। दक्षिण-भारत से आनेवाले आचार्यों द्वारा वैष्णव धर्म के प्रचार ने व्रज-प्रान्त में फिर से बौद्ध और शैव धर्मों को हटा कर भागवत धर्म का उत्थान कर दिया। चार आचार्यो, में से आचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य विष्णु के कृष्ण-रूप के उपासक थे। इसलिये चारों आचार्यों के मतों में से व्रजभूमि में कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, और निम्बार्क-सम्प्रदायों की भक्ति-पद्धति का ही, १५ वीं शती तक विशेष प्रचलन रहा।—डॉ० दीन दयालु गुप्त : अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, प्र० सं० पृ० ३९-४०

२. वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टिम्स, पृ० ९३।

३. वैष्णव धर्म : पृ० ८५

४. भागवत सम्प्रदाय : पृ० ३१४

"उत्तर भारत में विशेषकर मथुरा-मंडल में ही इन वैष्णवों की स्थिति निम्बार्क का सम्बन्ध व्रज-मण्डल में ही जोड़ती है।"[१] हम समझते हैं कि यह बात काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत की ही देन है। रामानुज के सिद्धान्त के आधार[२] पर उत्तर भारत के अनुकूल विकसित इस सम्प्रदाय को दक्षिण के साथ जोड़ना उचित नहीं है। भले ही निम्बार्क दाक्षिणात्य रहे हों पर उनका सम्प्रदाय उसी प्रकार उत्तर भारत का है जैसे दाक्षिणात्य बल्लभ का सम्प्रदाय भी उत्तर का ही था। हम कहना चाहते हैं कि निम्बार्क और रामानन्द ये दो प्रारम्भिक सेतु हैं जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। दर्शन-ज्ञान के क्षेत्र में शंकराचार्य पहले ही सेतु बन चुके थे। आगे बल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु ने अपने को विष्णुस्वामी एवं माध्व से संबंधित किया हैं। पर यह केवल प्रामाणिकता के लिए है, अन्यथा जैसा कि डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने भी कहा है कि नये सम्प्रदाय चतु:सम्प्रदायों से अपनी प्रतिभा में नितान्त पृथक् हैं।[३] प्रदेश-विशेष की स्थिति के साथ भक्ति-साधना में कुछ विभेद हो जाना असम्भव या अनुचित भी नहीं है। आगे हम उत्तर भारत के प्रमुख वैष्णवाचार्यों का संक्षिप्त जीवन-विवरण उपस्थित कर रहे हैं। इस विवरण से उस समय की साधना-दिशा के परिचय के साथ ही यह भी ज्ञात हो सकेगा कि इन लोगों ने कितना महान् कार्य संपादित किया था।

निम्बार्काचार्य—यथेष्ट ऊहापोह होने के बाद भी अब तक निम्बार्क का समय निश्चित नहीं हो पाया है। एक ओर बलदेव उपाध्याय तथा निम्बार्क-मतानुयायी अनेक आधुनिक विद्वान् उन्हें वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम मानते हैं।[४] दूसरी ओर भण्डारकर ने (और उनके ही अनुरूप परशुराम चतुर्वेदी, दीनदयालु गुप्त, हरवंश लाल शर्मा आदि हिन्दी के विद्वानों ने भी) उनका समय ११६२ ई० के आसपास, रामानुज के बाद, माना है। इनकी भक्ति-पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मान्य है।[५] यदि राधा नाम को उन्होंने सबसे पहले प्रमुखता दी है तो उससे यह सूचित होता है कि निम्बार्क बहुत पहले

---

१. वही. पृ० ३१४।
२. आर० जी भण्डारकर : वै० शै, पृ० ६३।
३. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५२।
४. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३१६।
५. भण्डारकर : वै० शै० पृ० ६२-६३।

के नहीं थे।[1] इस अर्थ में वे सर्वप्रथम आचार्य अवश्य हो जाते हैं कि राधाकृष्ण की भक्ति उत्तर भारत में उनके द्वारा ही प्रचारित हुई।[2] उन्हीं की शिष्य-परम्परा में आगे चलकर हरिव्यास देव (सं० १६०० के आसपास) ने निम्बार्क-सम्प्रदाय को अत्यधिक उन्नत किया। विद्वानों ने उन्हें बेलारी जिले के निम्बपुर ग्राम में उत्पन्न तैलंग ब्राह्मण माना है। उनके पिता का नाम जगन्नाथ था तथा माता का सरस्वती। जन्मतिथि वैशाख शुक्ल तृतीया बताई जाती है। मध्ययुग चमत्कारों का युग था। हर साधु-महात्मा एवं महापुरुष के साथ अनेक चमत्कारी कथाएँ जुड़ जाया करती थीं। निम्बार्क के साथ भी एक कथा जुड़ी हुई है कि नीम के वृक्ष पर सुदर्शन चक्र का इन्होंने आह्वान कर लिया था जिससे कि कुछ उपासक सूर्यास्त के बाद भी भोजन कर सकें। तभी से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ गया था। गोवर्धन के निकट इस स्थान का नाम आज भी निम्बग्राम है। निम्बार्क के दो ग्रन्थ मुख्य कहे जाते हैं—वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा दशश्लोकी। इस सम्प्रदाय को हंस, सनक या देवर्षि सम्प्रदाय भी कहते हैं। आगे निम्बार्क की परम्परा में तीसवें आचार्य केशव काश्मीरी ने गीता और ब्रह्मसूत्रों पर पुनः भाष्य लिखे। ३१ वें श्री भट्ट ने हिन्दी में रचना की।[3] तथा ३२ वें हरिव्यास देव ने अपनी संगठन-शक्ति के बल पर सम्प्रदाय का अभिनवीकरण भी किया। हरिव्यास देव के महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण इसे हरिव्यासी सम्प्रदाय भी कहा जाने लगा।[4] निम्बार्कीय सम्प्रदाय की देन हिन्दी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे चलकर घनानन्द, रूप रसिक देव, रसिक गोविन्द जैसे श्रेष्ठ कवि निम्बार्क-मतानुयायी हुए हैं।

---

१. ११-१२ वीं शती के पूर्व राधा का उल्लेख देवी के रूप में कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि जयदेव के गीतगोविन्द में वे अत्यन्त मनोहर, मानवीय, अनन्य प्रेमिका हैं, देवी नहा। गीत गोविन्द के दशावतार में कृष्ण के प्रसंग में राधा का उल्लेख नहीं किया गया है।

२. अंगेतु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्।
दशश्लोकी, ५

३. युगल शतक।

४. हरिव्यास देव को माधुर्य उपासना का प्रवर्त्तक तथा महावाणी का रचनाकार कहा जाता है। पर जैसा कि हम आगे निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धात एवं निम्बार्कीय कवियों के विवेचन के प्रसंग में बतलावेंगे कि हरिव्यास देव की अपेक्षा रूप रसिक जी को महावाणीकार मानना उचित होगा।

कृष्ण की 'अनुरूप सौभगा' राधा को निम्बार्क मत सामने लाया, यह इस सम्प्रदाय की बहुत बड़ी देन कही जाती है। (यद्यपि यह बात काफ़ी विवादास्पद है।) पर माधुर्य-भावना का पूर्ण विकास संभवतः बाद में इस सम्प्रदाय में हुआ और वह भी कभी उस सीमा तक नहीं पहुँचा जिस तक सखी, राधावल्लभीय या गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय में वह पहुँच सका। माधुर्य के साथ ही अन्य भावों को भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्यों ने मान दिया है।[1] परन्तु कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उपदेश स्वयं निम्बार्क ने पहले ही दिया था :—

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्
सदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंदितात्।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्य शक्तेरविचिन्त्य साशयात्।

—दशश्लोकी, श्लोक ८।

परन्तु यहीं पर हम उस विवाद की ओर इंगित कर देना चाहते हैं जो दशश्लोकी को लेकर है। विद्वानों का एक वर्ग दशश्लोकी को निम्बार्क-कृत नहीं मानता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी उसके १६ वीं शती की रचना होने का सन्देह किया है।[2] दूसरी ओर सम्प्रदाय के विद्वान् तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी,[3] बलदेव उपाध्याय[4] आदि उसे निम्बार्ककृत स्वीकार करते हैं। दोनों ही पक्षों में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। परन्तु इतना निश्चित है कि इनके वेदान्त-पारिजात-सौरभ और दशश्लोकी की भावना के मध्य कोई संवंध ज्ञात नहीं होता। दशश्लोकी में राधा और कृष्ण की भक्ति का विह्वल आह्वान है, पर वेदान्त-पारिजात-सौरभ में रमाकान्त, पुरुषोत्तम, वासुदेव आदि नाम तो आते हैं पर कृष्ण का नाम नहीं आता।[5] राधा और कृष्ण की रसपरक लीलाओं की गन्ध भी इस भाष्य में नहीं है। परन्तु केवल इसी आधार पर दशश्लोकी को नितान्त परवर्ती रचना भी नहीं कहा जा सकता। इस संवंध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव-राज, प्रयत्न कल्पवल्ली मन्त्र-रहस्य षोडसी आदि जिन ग्रन्थों को निम्बार्ककृत बताया गया है, अब वे

---

१. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३४७-४८।

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० १९८-१९९।

३. वैष्णव धर्म, पृ० ८४।

४. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३१८।

५. डॉ० शरण विहारी गोस्वामी ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भावना' में निम्बार्क के ग्रन्थों पर विस्तार से विचार किया है। देखिये पृ० ८०-८४ [अप्रकाशित प्रबन्ध]।

अधिकांश परवर्ती या अन्य ग्रन्थों के अंश सिद्ध किये जा चुके हैं।[1]

रामानन्द

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखण्ड ।।

इस कथन से इतना तो पता चलता ही है कि बहुत पहले से ही भक्ति का संबंध दक्षिण भारत से मान लिया गया था।[2] इधर विविध वैष्णवाचार्य एवं भक्तों के संबंध में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि उत्तर भारत में वैष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी में श्री वैष्णवों का बना। दक्षिण से भक्ति रामानन्द के गुरु राघवानन्द लाये थे। परन्तु सम्भवतः दक्षिण की परिस्थितियों में पले-पुसे राघवानन्द उत्तर भारत की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं बन पाये थे परन्तु अपने विद्रोही शिष्य रामानन्द को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा देकर उन्होंने एक समुचित कार्य किया था। स्वामी राघवानन्द के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है, परन्तु किंवदन्तियों आदि से यह पता चलता है कि वे वैष्णव आचार्य होने के साथ ही योग-विद्या में भी निष्णात थे। रामानन्द ने भी संभवतः अपने गुरु से योग-साधना सीखी होगी। काशी उन दिनों शैवमत का अखाड़ा भी था, अतः यह समझने में कुछ कठिनाई न होनी चाहिए कि वैष्णवों को भी उस चमत्कारिक युग में अपना स्थान सुरक्षित रखने के लिए योग-क्रियाओं से परिचित अवश्य होना पड़ा होगा। इस पृष्ठभूमि में रामानन्द एवं उनके शिष्यों की निर्गुण उपासना सहज समझ में आने वाली है। रामानन्द से ही यह योग-परम्परा समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा लगता है कि राघवानन्द-रामानन्द-सम्प्रदाय को प्रारम्भ से ही शैवनाथ-पंथियों से लोहा लेना पड़ा और फिर धीरे-धीरे इन्होंने उनको अपने भीतर आत्मसात् भी किया। डा० जी० एस० घुर्ये ने श्री कृष्णदास पवहारी की दास, तारानाथ आदि कथाओं का विश्लेषण करते हुए कहा है कि इस प्रमुख साधु की जीवन-विधि इस बात का उदाहरण है कि कैसे वैष्णवों, विशेषकर रामानन्दी वैष्णवों द्वारा शैव सम्प्रदायों, विशेष रूप से नाथ पंथियों, के बीच एक धीमी किन्तु दृढ़ रोपण-प्रक्रिया (प्रॉसेस ऑफ़ ट्रान्सप्लाण्टेशन) चलायी जा रही थी।[3] यानी कि योगमार्ग के वृक्ष पर भक्ति

---

१. वही, पृ० ८०-८४।

२. श्रीमद्भागवत् माहात्म्य्, प्रथम अध्याय, श्लोक ४८।
उत्पन्ना द्राविडे् साहं, वृद्धि कर्णाटके गता
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतां गता।

३. जी० एस० घुर्ये : इण्डियन साधूज, पृ० १८४-१९०।

की क़लम लग रही थी। राघवानन्द की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है।[१] बहुत संभव है कि वैष्णव पंथों ने मध्यकालीन योग-उपासकों को भी अपने में सम्मिलित कर अपने सम्प्रदाय को अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया होगा।[२]

जन्म :—स्वामी रामानन्द के जन्म को लेकर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। भण्डारकर उनका समय १३०० ई० के आसपास मानते हैं।[३] परशुराम चतुर्वेदी ने भी उन्हें १२९९ ई० में उत्पन्न माना है।[४] रामानन्द-सम्प्रदाय पर विशेष खोज करने वाले डॉ० वदरी नारायण श्रीवास्तव ने भी उन्हें संवत् १३५६ से १४६७ (१२९९ ई० से १४१० ई०) तक माना है।[५] गुरु-परम्परा के आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें स्थूल रूप से विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ तथा १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर स्वीकार किया है।[६] श्री बलदेव उपाध्याय ने भी सं० १५६७ के आसपास तिरोधान-समय मानकर शुक्ल जी का ही समर्थन किया है।[७] विलसन ने भी भण्डारकर इत्यादि के मत को असंगत बताते हुए उन्हें १४वीं शताब्दी के अन्त या १५वीं के प्रारम्भ के पूर्व नहीं माना।[८] हमारा विचार है कि शुक्ल जी एवं उपाध्याय जी के निर्णय अधिक तर्क संगत हैं। नाभादास के जिस छप्पय के आधार पर भण्डारकर इत्यादि ने अपने निर्णय किये हैं उसकी गुरु-परम्परा अधूरी है। इसके अतिरिक्त यदि रामानन्द को इतना पहले रखें तो फिर कबीर आदि उनके शिष्य नहीं सिद्ध होते और इस प्रकार उनका वह महत्त्व भी नष्ट हो जाता है जो लोक-परम्परा एवं शास्त्रज्ञ विद्वान दोनों के माध्यम से सुरक्षित चला आ रहा है। इसके अतिरिक्त रामार्चन-पद्धति को रामानन्द जी की प्रामाणिक कृति मान लेने के बाद कोई कारण शेष नहीं रहता कि स्वयं उनके द्वारा दी गयी गुरु-परम्परा को अस्वीकार किया जाय। इस परम्परा के अनुसार रामानुज की १४वीं पीढ़ी में रामानन्द जी का आविर्भाव हुआ। रामानुज का तिरोधान-काल वि० ११९४ या ११९६ माना जाता है अतः इस प्रकार उन्हें

---

१. बल्देव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय, पृ० २४५।
२. वही, पृ० २४७।
३. भण्डारकर : वैं० एण्ड शैं०, पृ० ९५।
४. वैष्णव धर्म, पृ० १०८।
५. हिन्दी साहित्य कोष में रामानन्द सम्प्रदाय पर टिप्पणी, पृ० ६४८।
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०८।
७. भागवत सम्प्रदाय, पृ० २५३।
८. एच० एम० विलसन : एसेज़ ऑन दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ़ हिन्दूज़, पृ० २४।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्ध में मानना असंगत सिद्ध नहीं होता ।

रामानन्द जी के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता परन्तु अगस्त्य-संहिता एवं भक्तमाल के आधार पर इन्हें पुण्य सदन शर्मा एवं सुशीला देवी का पुत्र माना गया है। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग के निकट इनका जन्म हुआ था। जीवन में इन्होंने लम्बी यात्राएँ की थीं इन यात्राओं ने भी संभवत: इनके मन पर समानता-सिद्धान्त का तर्क बिठाया होगा। डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव का अनुमान है, "रामानन्द ने तीर्थों का भ्रमण करके ही अपने दृष्टिकोण को युगधर्म के अनुकूल बना लिया था।"[1] अनुमान है कि तीर्थाटन से लौटने पर गुरु-मठ में उनके गुरुभाइयों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की होगी। उनका अनुमान है कि अपनी तीर्थयात्रा में रामानन्द ने अवश्य ही खान-पान सम्बन्धी छुआछूत का कोई विचार न किया होगा। अपने शिष्यों का यह आग्रह देखकर गुरु राघवानन्द को एक नूतन सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा दी। यह आज्ञा शिष्य के महत्त्व को तो सूचित करती ही है उस गुरु के महत्त्व को भी सूचित करती है जो शिष्य की स्वाधीन चिन्ता का मूल्य समझता है। यह अनुमान असंगत न होना चाहिये कि रामानन्द में जो आकाशधर्मी गुरुत्व आया, जिसके नीचे सगुण-निर्गुण सभी मतवाद पनप सके, उसकी एक बड़ी प्रेरणा स्वयं उनके अपने गुरु का आकाशधर्मित्व है। कहते हैं कि मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे।[2]

दक्षिण भारत की विधि-निषेधपरक जटिल समाज-व्यवस्था के बीच रामानुजाचार्य ने कम उदारता नहीं दिखायी थी।[3] पर उत्तरी भारत के शैवों एवं सारी समाज-व्यवस्था तथा वैदिक मान्यताओं को लात मारने वाले अन्तिम बौद्धों को आत्मसात् करने के लिये अधिक उदार भक्ति की आवश्यकता थी। रामानन्द ने उसको और अधिक सर्वजन-सुलभ बनाया। रामानुज ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता को सुरक्षित रखते हुये भी भक्ति का द्वार हज़ारों लोगों के लिये उन्मुक्त किया था। रामानन्द ने उस श्रेष्ठता को भी समाप्त कर दिया। हिन्दी साहित्य की भूमिका में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय-मध्ययुगेरसाधना से रामानुज हरिवर दास की हरि भक्ति-प्रकाशिका (भक्तमाल की टीका) का लगभग

---

१. बदरी नारायण श्रीवास्तव : रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ८५।

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४७।

३. श्री एस० डी० शर्मा : हिन्दुइज़्म थ्रू दि एजेज़ (भारतीय विद्याभवन, बम्बई); के० सी० बरदाचारी : आसपेक्ट्स ऑफ़ भक्ति (मैसूर यूनिवर्सिटी) १९५६।

१०० वर्ष पूर्व लिखा यह मत उद्धृत किया है :—रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया, उसके लिये वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसीलिये भगवद्भक्त को खानपान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिये। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार "सभी भाई भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।"[1] रामानन्द ने इस आदर्श को लेकर जीवन में सभी वर्गों को दीक्षा दी।[2] उसका परिणाम भी सामने है, उत्तर भारत में रामानन्दी वैरागियों की संख्या सबसे अधिक है और उनके इष्ट देवता राम उत्तर भारत के सबसे अधिक प्रेरक देवता साक्षात् भगवान हैं। उनके महान् और गत्वर व्यक्तित्व से अनुप्रेरित उत्तर भारत के दो श्रेष्ठतम साधक, भक्त, कवि एवं कल्याणकामी कबीर और तुलसी की विभूति से कौन परिचित नहीं है? एक उस निर्गुण-भक्ति-भावधारा का प्रतीक और प्रतिनिधि है जिसे रामानन्द ने अपनी योग-साधना और भक्ति-साधना के समन्वय द्वारा नाथ-पंथियों को आत्मसात् करने में प्रयुक्त किया था और दूसरा राम-सीता के उस सगुण आदर्श स्वरूप का पूजक है जिसे रामानुज के लक्ष्मीनारायण से हटकर राम-सीता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था। एक राम को दसरथ-सुत मानता है, दूसरा उनको 'आनमर्म' बताता है। रामानन्द के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध न होने पर भी ऐसा लगता है कि वे सदैव जिज्ञासु एवं प्रभाव-ग्रहण के प्रति अत्यधिक उदार रहे हैं। साथ ही हरि को भजनेवाली बात मूल में सदैव विद्यमान रही। भक्ति को उन्होंने रामानुजाचार्य की भाँति मात्र उपासना तक ही नहीं प्रेम और भजन के वास्तविक अर्थों में प्रतिष्ठित करने में सहायता दी। योगमार्ग और ज्ञान का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया पर भक्ति का अंग मानकर ही उसे स्वीकारा और तभी वे शैवों-बौद्धों को भक्तिमार्ग के भीतर जीत कर ला सके थे। उनके सम्प्रदाय में प्रभाव-ग्रहणशीलता का जीवन्त तत्त्व सदैव विद्यमान रहा। आगे चलकर कृष्ण-भक्ति की मधुर उपासना भी राम-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर एक प्रकार का सैनिक रूप ग्रहण करने में भी उनके सम्प्रदाय को देर नहीं लगी। दुष्ट-दलन धनुर्धारी राम के भक्तों में इस स्वर का उभर आना बहुत आश्चर्यजनक नहीं है।

ऊपर हमने रामानन्द की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है—

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४७।
२. रामानन्द के १२ प्रमुख शिष्य कहे जाते हैं। उनमें विभिन्न ऊँची-नीची जातियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं।

निम्नवर्गों को भी दीक्षा देना तथा अपने सम्प्रदाय के अधिकृत देवता लक्ष्मी-नारायण के स्थान पर राम-सीता (जो स्थानीय रंगत के कारण अवध-काशी में अधिक शक्तिशाली रहे होंगे) की प्रतिष्ठा। डॉ० भण्डारकर ने उनकी एक तीसरी विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है और वह है लोक-भाषाओं को बहुमान देना। यह उनकी और भक्तिमार्ग की जनवादिनी शक्ति और विशिष्टता की द्योतक है। रामानन्द ने वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत को ही परमधाम माना है। यहाँ से यथार्थ का आदर्शीकरण एवं उदात्तीकरण प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति शायद मुस्लिम अत्याचारियों के प्रभाव के फलस्वरूप बलवती हो गयी थी। यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वस्थ एवं आशावादिनी थी। यदि समाज केवल वैकुण्ठ की ओर प्रभावित होता तब उसे हम सुविधा के साथ पलायन कह सकते थे, परन्तु अपने ही नगरों एवं तीर्थों को वैकुण्ठ ही नहीं परमधाम मानना गहरे आशावादी एवं मानसिक रूप से संघर्षरत मन की उपज है। रामानन्द की रचनाएं अनेक कही जाती हैं पर उपलब्ध केवल दो "वैष्णव-मताब्ज-भास्कर" तथा "श्री रामार्चन पद्धति" हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी में कतिपय स्तुतिपरक पद भी मिले हैं।

बल्लभाचार्य

आचार्य बल्लभ के बारे में हमें अधिक प्रामाणिक विवरण प्राप्त होते हैं। एक स्वर से सभी विद्वानों ने इनका जन्म सं० १५३५ वि० और मृत्यु सं० १५८७ वि० में मानी है। इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। वे लोग तैलंग ब्राह्मण थे, जो उत्तर में बस गये थे। काशी में यथोचित शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् तरुण वय में ही उन्होने विजयनगर के राजा कृष्ण देव राय की सभा में मायावादियों तथा नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वैष्णवों को समर्थित किया। इसके पश्चात् ही मत-साम्य तथा प्रामाणिकता प्राप्ति-हेतु उन्होंने विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। पर जैसे रामानन्द अपनी भक्ति-पद्धति आदि में अपने आचार्य रामानुज से ही नहीं बँधे वैसे ही बल्लभ जैसे लोकनेता को किसी विशेष मतवाद के साथ बँध कर रहना पसन्द नहीं आया।[२] बल्लभ ने भी अपने जीवन में तीन यात्राओं में सारे

---

१. हिन्दी साहित्य : पृ०,, १०७-१०८।

२. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का यह मत भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है : "बल्लभाचार्य की भक्तिपद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य-भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी।"
—राधाबल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त, पृ० ५०।

भारत का भ्रमण किया। तीर्थ यात्राओं का वास्तव में इन आचार्यों पर (उस युग की साधना और समाज पर भी) बड़ा प्रभाव पड़ा है। इनमें उन्हें अपने युग और देश का वास्तविक परिचय मिला होगा। ये यात्राएँ जहाँ एक ओर व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं, वहीं दूसरी ओर मत-प्रचार एवं पारस्परिक संबोधि भी देती हैं। ऐसी ही एक तीर्थयात्रा में बल्लभ ने विजयनगर के शास्त्रार्थ में वैष्णव-मतवाद का झण्डा ऊँचा किया था। इन्हीं यात्राओं में ८४ स्थानों पर उन्होंने श्रीमद्भागवत का पारायण किया था जहाँ पर कि महाप्रभु जी की बैठकें बनवा दी गयी हैं, इनमें २२ केवल ब्रज में हैं। इससे पता चलता है कि श्रीमद्भागवत पुराण को अधिकारी ग्रन्थ मानकर ये वैष्णवाचार्य भक्ति का प्रसार कर रहे थे तथा ब्रज-भूमि के लिये भी प्रयत्नशील थे।

संवत् १५५६ में उन्होंने श्री नाथ जी के मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कराया, जो १५५६ वि० में ही समाप्त हुआ। यह मन्दिर आगे चलकर न केवल बल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र-पीठ बना, बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सृजन-भूमि भी बनने का गौरव भी इसीने प्राप्त किया। हिन्दी के भक्ति-साहित्य के निर्माण में इस मन्दिर का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। ब्रजभूमि की पुनर्प्रतिष्ठा में भी इस मन्दिर का प्रमुख हाथ है। बल्लभ ने कृष्ण-भक्ति एवं ब्रज भूमि को आदर दिया, उनका प्रभाव भी इस क्षेत्र में बहुत था। उनके इष्ट देवता श्रीनाथ जी का मन्दिर भी इसी क्षेत्र में था, परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि वे स्वयं प्रयाग के पास अड़ैल ग्राम में जीवन भर रहे तथा मृत्यु के निकट काशी में संन्यास धारण कर रहने लगे।

बल्लभाचार्य जी ने विवाह किया था और दो पुत्र भी थे। यह बात रामानन्दी सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न है। रामानन्द का सम्प्रदाय वैरागियों का था तथा पुष्टिमार्ग गृहस्थों का। संभवतः इसके पीछे भी (रामानन्दी वैराग्यी प्रधानता) शैवसाधना को आत्मसात् करने का प्रयास था।

बल्लभ के चौरासी प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके ऊपर 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' लिखी गयी है। इन्हीं में सूरदास 'कुंभनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास अष्टछाप के चार प्रमुख कवि भी हैं। पुष्टि सम्प्रदाय शिष्य-मँडली में श्री बल्लभाचार्य, 'आचार्य जी महाप्रभु' तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी 'गोसाईं जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहीं एक आश्चर्यजनक नाम-साम्य गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय से प्राप्त होता है। गौड़ीय वैष्णवों में भी चैतन्य को महाप्रभु कहा गया है और उनके षट् गोस्वामी शिष्यों के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ पर संभवतः बल्लभ के अनुयायी चैतन्य से प्रभावित हुए थे। यह भी हो सकता है कि गुरु-पूजा पर ज़ोर देनेवाली उस साधना के भीतर ही गुरु को इतना प्रमुख स्थान मिल गया था। उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के व्यवस्थित प्रचार एवं संगठन में अत्यन्त महत्वपूर्ण

कार्य किया है। इसके अतिरिक्त मधुर-उपासना की भी आधिकारिक स्वीकृति उन्होंने दी थी। पुष्टि-सम्प्रदाय की नींव बल्लभ ने रखी पर भवन-निर्माण विट्ठलनाथ ने किया था।

उपासना के क्षेत्र में बल्लभाचार्य की मुख्य देन बालकृष्ण-पूजा का प्रचार है। रामानुज की परम्परा को आगे बढ़ाते हुये बल्लभाचार्य ने भी अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी उन्होंने स्वीकार किया। लीला को बल्लभाचार्य ने बहुत ऊँचा स्थान दिया।

दर्शन के क्षेत्र में वे शुद्धाद्वैत के प्रतिष्ठाता थे पर दर्शन-विवेचन तो उपरले स्तर पर ही लोगों को प्रभावित करता था, बल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्ग या सेवा-मार्ग का विचार, आचार के क्षेत्र में किया वह उनके दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्ति और उपासना के जिस विधि-विधान को उन्होंने तथा गो० विट्ठलनाथ ने उपस्थित किया वह बड़े-बड़े नरपतियों के लिये भी आकांक्षा की वस्तु था। मानो सारे मुस्लिम-शासन के वैभव को इस परब्रह्म की पूजा-पद्धति द्वारा चुनौती दी गयी थी। इस सूक्ष्म एवं जटिल विधि-विधान के पीछे एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी लगी थी कि इसके माध्यम से भक्त के अहंकार को दूर रखा जाय क्योंकि विशद पूजन-विधान निभाना लगभग असम्भव है और साधक को अपनी सारी शक्ति इसी में लगानी पड़ती होगी। यों तो प्रभु के अनुग्रह को भक्ति के सभी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, पर पुष्टिमार्ग में इसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। पुष्टिमार्ग शब्द ही जिस 'पोषण' शब्द पर आधारित है, उसका तात्पर्य अनुग्रह है।[1] बल्लभ ने स्पष्ट कहा है:—"पुष्टि-मार्गोऽनुग्रहैक साध्यः"[2]। उनके अनुसार कालादि के प्रभाव को रोकनेवाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है।[3]

सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि बल्लभ की लिखी हुई ८४ पुस्तकें हैं। उनमें से आँफ्रेख्ट के 'कैटेलॉग्स कैटेलेगोरम' में निम्नलिखित नाम दिये गये हैं:—अन्तःकरण प्रबोध और टीका, आचार्य कारिका, आनन्दाधिकरण, आर्या, एकान्त रहस्य, कृष्णाश्रय स्तोत्र, चतुश्लोक भागवत टीका, जलभेद, जैमिनी-सूत्र भाष्य-मीमांसा, तत्त्वदीप निबन्ध (तत्वार्थ-दीप और टीका), त्रिविध लीला नामावली, नवरत्न और टीका, निरोध लक्षण और विवृत्ति, पत्रावलम्बन, पद्य-परित्याग परिवृढ़ाष्टक, पुरुषोत्तम सहस्रनाम, पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेद और टीका, पूर्व,

१. पोषण तदनुग्रह :···श्रीमद्‌भागवत २।१०।४
२. अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९ की टीका।
३. तत्त्व-दीप-निबन्ध : भागवतार्थ प्रकरण, (डॉ० हरवंशलाल शर्मा द्वारा सूर और उनका साहित्य, पृ० २५५ पर उद्धृत)।

मीमांसा कारिका, प्रेमामृत और टीका, प्रौढ़चरितनाम, बाल-चरित नाम, बाल-बोध, ब्रह्मसूत्राणु भाष्य, भक्तिवर्धिनी और टीका, भक्ति-सिद्धान्त, भगवद्गीता-भाष्य, भागवत् तत्त्वदीप और टीका, सुबोधिनी टीका, भागवत पुराण एकादश स्कन्ध, अर्थ-निरूपण कारिका, भागवत-सार समुच्चय, मंगलवाद, मथुरा माहात्म्य, मधुराष्टक, यमुनाष्टक, राजलीलानाम, विवेक धैर्याश्रय, वेद-स्तुति कारिका, श्रद्धा प्रकरण, श्रुतिसार संन्यास निर्णय और टीका, सर्वोत्तम स्तोत्र टिप्पण और टीका, साक्षात् पुरुषोत्तम-वाक्य, सिद्धान्त-मुक्तावली, सिद्धान्त-रहस्य, सेवा-फल स्तोत्र और टीका, स्वामिन्याष्टक, भागवत-पुराण दशम् स्कन्ध-अनुक्रमणिका भागवत-पुराण पंचम् स्कन्ध-टीका।[1]

इनमें से मधुराष्टक और स्वामिन्याष्टक तो निश्चित रूप से बल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ की रचनाएँ हैं। बल्लभ के ग्रन्थों की इस राशि में भागवत की सुबोधिनी टीका, ब्रह्म-सूत्रों का अणुभाष्य, पूर्व-मीमांसा कारिका तत्त्वदीप निबन्ध और उसकी टीका अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके सिद्धान्त-विवेचक १६ प्रकीर्ण ग्रन्थों ने भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त और व्यवहार पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। सुबोधिनी टीका एवं अणुभाष्य की अनेक टीकाएँ और भाष्य सम्प्र-दाय के परवर्ती विद्वानों ने लिखे हैं। तत्वार्थदीप में तीन विभाग हैं जिनमें से प्रथम शास्त्रार्थ-प्रकरण में दार्शनिक प्रकृति की १०५ कारिकाएँ हैं। द्वितीय विभाग सर्वनिर्णय-प्रकरण में कर्त्तव्य एवं जीवन के लक्ष्यों पर विचार हुआ है। भागवतार्थ-प्रकरण नामक तीसरे अध्याय में भागवत् के १२ स्कन्धों का संक्षेप दिया हुआ है, इस तीसरे खण्ड पर आगे चलकर पुरुषोत्तम जी महाराजा और कल्याणराज ने टीकाएँ लिखी हैं। छोटे ग्रन्थों में 'संन्यास-निर्णय' में कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के तीन प्रकार के संन्यासों का विवेचन २२ श्लोकों में किया गया है। बल्लभाचार्य का सेवाफल ८ श्लोकों की एक छोटी-सी रचना है जिसमें ईश्वर की पूजा के अवरोधों एवं प्राप्तव्यों की चर्चा की गयी है। भक्ति-वर्धिनी ११ श्लोकों की रचना है। यमुनाष्टक यमुना की स्तुति में ९ श्लोकों का संग्रह है। बाल-बोध के १९ श्लोकों में बल्लभ ने बताया है कि संसार में काम्य वस्तुयें दो हैं:—दुःख का अभाव और आनन्द। इन्हीं को मोक्ष और काम कहते हैं,। उनके अनुसार विष्णु की कृपा से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धान्त-मुक्तावली नामक ग्रन्थ के २१ छन्दों में भक्ति का विवेचन करते हुये उन्होंने बताया है कि व्यक्ति को अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर देना चाहिये। 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद' भी छोटा-सा ग्रन्थ है

१. एस० एन० दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफी, चतुर्थ भाग, पृ० ३७३ पर उद्धृत (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५)।

जिसमें २५ श्लोक हैं इसमें पुष्टि-प्रवाह और मर्यादा-मार्गों का संकेत करने के अतिरिक्त उन्होंने बताया है कि अहंकार, बुरे कर्म, कुसंगति विशेष स्थान अथवा काल में जन्म लेना यह पाँच स्वाभाविक बुराइयाँ होती हैं। जब सब कुछ भगवान को अर्पित कर दिया जाता है तब ये बुराइयाँ दूर होती हैं। नवरत्न के ९ श्लोकों में वैराग्य एवं सर्वस्व-समर्पण की भावना पर बल दिया गया है। अन्तःकरण-प्रबोध १० छन्दों की पुस्तिका है इसमें स्वपरीक्षण के साथ-साथ क्षमा प्राप्त करने के लिये भगवान की प्रार्थना पर ज़ोर दिया है और यह भी बताया है कि व्यक्ति को अपने मन में यह धारणा पुष्ट करनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है। 'विवेक धैर्याश्रय' में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ के अनुसार वह प्रत्येक वस्तु जानता है तथा सदैव हमारे कल्याण की चिन्ता करता है इसलिये प्रत्येक वस्तु को भगवान के आसरे पर छोड़ देना चाहिए। इस ग्रन्थ में १७ श्लोक हैं। कृष्णाश्रय ११ छन्दों की रचना है इसमें भी प्रत्येक बात में कृष्ण पर ही आश्रित रहने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि इसमें तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक वातावरण का सजीव चित्रण हुआ है। चतुश्लोकी में भी भगवान पर आश्वस्त भाव रखने की बात दुहराई गयी है। भक्तिवर्धिनी के ११ श्लोकों में बल्लभ ने बतलाया है कि ईश्वर के प्रेम का बीज हम सबके मन के भीतर होता है परन्तु अनेक कारणों से वह अवरुद्ध रहता है जब इसका अंकुरण होता है तब साधक प्रत्येक से प्रेम करने लगता है। इस ईश्वरीय प्रेम की सान्द्र अवस्थाओं में सांसारिक वस्तुओं के प्रति लगाव असम्भव हो जाता है तथा फिर इसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता है। पंच-पाद्य में केवल ५ श्लोक हैं तथा जलभेद में २०। जलभेद में साधकों के विभिन्न वर्गों एवं भक्ति के विभिन्न मार्गों की चर्चा की गयी है। बल्लभ के ये १६ ग्रन्थ ही संग्रहीत होकर षोडष ग्रन्थ कहलाते हैं। इनमें से प्रथम तीन संन्यास निर्णय, जलभेद एवं भक्तिवर्धिनी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके ऊपर लिखी गयी टीकाओं, वृत्तियों आदि की संख्या काफ़ी बड़ी है।

चैतन्य

भक्ति के कर्मकाण्ड को बल्लभाचार्य ने सुदृढ़ किया एवं उसके संवेग (इमोशन) पक्ष को चैतन्य ने। उनमें अद्भुत पाण्डित्य था और उसी आधार पर जो भक्ति विकसित हुई है उसमें दार्शनिक चेतना तो थी ही साथ ही सहजिया वैष्णवों की प्रेम-साधना भी ग्रहण कर ली गयी। श्री कृष्ण चैतन्य उत्तर मध्य-युग के सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों में प्रतीत होते हैं। लगता है कि उत्तर भारत में बुद्धदेव के बाद चैतन्य से अधिक मोहक और प्रभावशाली व्यक्तित्व दूसरा

नहीं हुआ। तुलसीदास की ख्याति दूसरे ढंग की है और वह उनके साहित्य के माध्यम से बढ़ी है जबकि चैतन्य की सारी महिमा उनके प्रत्यक्ष व्यक्तित्व में निहित है। जीवन में उन्होंने कुल ८ श्लोक लिखे हैं परन्तु उनके व्यवितत्व की गत्वरता इतनी मोहक थी कि जो भी उसके सम्पर्क में आया, उनका होकर रह गया। उनकी भक्ति-पद्धति का कितना गहरा असर अन्य भक्ति-सम्प्रदायों पर पड़ा है; इसकी मीमांसा हम आगे करेंगे। यहाँ पर इस मोहक व्यक्तित्व के बारे में इतता ही कहना यथेष्ट होगा कि भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाने के बाद शास्त्रार्थ में उनकी रुचि समाप्त हो गयी, उपदेशक बनने की उन्हें याद नहीं रही तथा जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास की कृतियों, ब्रह्म-संहिता तथा लीलाशुक बिल्वमंगल के 'कृष्ण कर्णामृत' को छोड़ कर अपने भावावेश में कुछ पढ़ने का फिर कभी अवसर नहीं मिला। राधाकृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण-संकीर्तन एवं हरि-बोल का निरन्तर उच्चारण बस यही उनके नैमित्तक कर्म, धर्म, प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की सान्द्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार थी जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक उनका नाम और प्रभाव विद्युत-वेग से प्रसरित हो गया, उनके जीवन-काल में ही। यह सामान्य उपलब्धि न थी। प्रसिद्धि रामानन्द एवं बल्लभ को भी प्राप्त हुई थी पर वह अपने शिष्यों-भक्तों तक सीमित थी। उसमें पावसनद का वह प्रवाह न था जो अपने साथ बहा ले जाय। चैतन्य के चरित्र में पर्वत-प्रवाहिनी का वेग था और पावसनद की गहराई एवं सर्वातिशामी प्रसार भी था।

कृष्ण चैतन्य का बाल नाम विश्वम्भर था। नवद्वीप के विद्वान पण्डित जगन्नाथ मिश्र के घर उनका जन्म सं० १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ था। बालपन के उद्दंड विश्वम्भर शीघ्र ही तर्क-विचक्षण पण्डित बन गये और फिर गया करते समय वे उन्हीं ईश्वरपुरी के सम्पर्क में आये जिनका एक बार वे मज़ाक उड़ा चुके थे। ईश्वरपुरी वृन्दावन के विरक्त विद्वान भक्त माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे। बहुधा चैतन्य के वट-कल्प व्यक्तित्व के सम्मुख लोग माधवेन्द्रपुरी को उसी प्रकार अनदेखा छोड़ जाते हैं जैसे रामानन्द के समक्ष राघवानन्द को उपेक्षित कर दिया जाता है। वृन्दावन के पुनः उद्धार[1] का वास्तविक श्रेय माधवेन्द्रपुरी को ही

१. महमूद ग़ज़नवी ने अपने आक्रमणों में मथुरा-वृन्दावन को उनके मन्दिरों की मुग्ध भाव से प्रशंसा कर-करके तुड़वा दिया था। कुछ समय के लिए इस विनाश ने इस प्रदेश को नितान्त श्रीहीन कर दिया था। उसके पश्चात् जो तुर्क आते रहे वे इसे नष्ट ही करते रहे। पन्द्रहवीं शती में वृन्दावन विजन का स्वरूप धारण कर चुका था।

है। माधवेन्द्रपुरी बंगाली थे तथा बलदेव उपाध्याय ने इनका जन्म १४५७ वि० (१४०० ई०) में माना है। चैतन्य चरितामृत में एक घटना का उल्लेख है कि उन्होंने गोपाल की मूर्ति का पूजन करने के लिये बंगाल से दो ब्राह्मण बुलवाए थे। कहा जाता है कि गोवर्धन के आन्यौर ग्राम में श्रीनाथ जी की मूर्ति की सेवा पूजा बंगाली वैष्णव माधवानन्द करते थे। जब बल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी का विशाल मंदिर बनवाकर उसमें कीर्तन-पूजन आदि की व्यवस्था की तब भी सेवा-का भार बंगाली वैष्णवों पर ही रहा। इनमें से एक माधवेन्द्रपुरी थे। बाद को कृष्णदास अधिकारी ने काफी कूटनीतिक ढंग पर इन बंगालियों को निकाल बाहर किया। ('चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इन बंगालियों की पूजा-पद्धति पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं थी), ये लोग साथ में एक देवी की भी उपासना करते थे।[1] अतः वल्लभ या अन्य किसी वैष्णव आचार्य के आगमन के पूर्व बंगाल का वैष्णव मत (जिसमें सहजिया साधना के अवशेष भी विद्यमान थे) ब्रज-प्रदेश में पहुंच चुका था और इसने आगे के वैष्णव मतों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित अवश्य किया होगा। बंगाल और ब्रज का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाले ज्ञात महापुरुष माधवेन्द्रपुरी ही प्रतीत होते हैं, जो ब्रज में रह कर वहाँ के तीर्थों का उद्धार करने में लगे थे। इन्हीं माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी से चैतन्य को वैष्णव भक्ति की दीक्षा मिली। संभवतः कृष्ण चैतन्य में वृन्दावन के तीर्थों के उद्धार के प्रति जो मिशनरी उत्साह प्राप्त होता है—जिसके वशीभूत हो उन्होंने लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ आचार्य को उनकी वृन्दावन इच्छा के विरुद्ध भेजा था—उसकी अप्रत्यक्ष प्रेरणा स्वयं माधवेन्द्रपुरी द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

वैष्णव दीक्षा (सं० १५६४) मिलने के उपरान्त उनका समस्त समय वैष्णव भजन-कीर्तन में व्यतीत होने लगा। भजनों-कीर्तनों की परम्परा पहले भी थी, पर चैतन्य ने जिस आवेग को उसमें भर दिया, उसकी समता भागवत में वर्णित मात्र कृष्ण के वेणु-गायन से ही की जा सकती है :—

निशम्य गीतं तदनंगवर्धन व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसा।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।
—१०।२९।४

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः
गोविन्दाय हृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।—१०।२९।८

---

१. इस प्रसंग से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि ये बंगाली सहजिया वैष्णव-मत के ही उत्तराधिकारी थे और चैतन्य स्वयं सहजियों के ही उत्तराधिकारी बने।

इसी प्रकार चैतन्य के इस संकीर्तन की सम्पृक्ति जिसे प्राप्त हो गयी वही इसकी माधुरी में आकण्ठ मग्न हो गया। नवद्वीप में श्रीवास के आँगन में होने वाले इस कीर्तन की ख्याति धीरे-धीरे बढ़ चली। फिर तो इसमें शान्तिपुर के प्रख्यात पण्डित अद्वैताचार्य तथा संन्यासी नित्यानन्द ही सम्मिलित नहीं हुए, मुसलमान भक्त हरिदास भी आ जुड़े। चैतन्य-सम्प्रदाय के विकास में आगे अद्वैत एवं नित्यानन्द (निताई) ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। नित्यानन्द की अधीक्षता में सहस्रों पथभ्रष्ट बौद्ध, नाथ-पंथी एवं शाक्त इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये।

चैतन्य का कीर्तन धीरे-धीरे नगर-कीर्तन का स्वरूप धारण कर लेता है। चैतन्य के बढ़ते हुये अनुयायियों का यह सूचक है कि सहस्रों की संख्या में निमाई (चैतन्य) के नेतृत्व में लोग सड़कों पर नृत्य-गान एवं कीर्तन करते-करते विह्वल होने लगे। चैतन्य का भी आवेश बढ़ता जा रहा था और सं० १५६६ में काटवा ग्राम में ईश्वरपुरी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास-दीक्षा लेकर वे घर, माँ एवं तरुणी पत्नी का रहा-सहा मोह तोड़ कर निकल पडें। यहाँ फिर सिद्धार्थ की याद हो आती है। अन्तर इतना है कि सिद्धार्थ जग के दुःख से पीड़ित होकर घर से निकले थे एवं चैतन्य ब्रह्मानन्द में डूब कर घर त्यागते हैं।

संन्यास लेने के पश्चात् चैतन्य जगन्नाथपुरी के लिये प्रस्थान करते हैं। वहाँ पर वेदान्ती पंडित, तर्कशास्त्री तथा न्याय के प्रतिष्ठाता वासुदेव सार्वभौम इनसे प्रभावित होते है। अद्वैताचार्य के बाद सार्वभौम की वैष्णव परिणति चैतन्य और उनकी भक्ति को विद्वानों में भी गहरी प्रतिष्ठा देती है। 'चैतन्य चन्द्रोदय, नाटक में कवि कर्णपूर ने सार्वभौम वासुदेव के कुछ अंश उस समय के उद्धृत किये हैं जबकि वे चैतन्य की शरण में आते हैं। उससे प्रतीत होता है कि चैतन्य को उनके समय तक अवतार माना जाने लगा था। अपने जीवन में ही इतने जल्दी अवतार की प्रसिद्धि चैतन्य को छोड़ कर शायद ही अन्य किसी को भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में मिली हो।

पुरी में कुछ दिन रहने के उपरान्त चैतन्य दक्षिण की तीर्थयात्रा पर निकलते हैं। लगभग दो वर्ष तक (सं० १५६७-६८) वे इन यात्राओं में रहे। इसी दक्षिण यात्रा में उनकी भेंट सुप्रसिद्ध रामानन्द राय से हुई थी जो स्वयं एक उच्च पदस्थ शासक थे। राय रामानन्द से वार्ता करने के बाद संभवतः चैतन्य की भक्ति-पद्धति का दार्शनिक-धार्मिक स्वरूप भी कुछ स्पष्ट हुआ। दक्षिण से ही चैतन्य ब्रह्म संहिता लाये थे जो आगे चलकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ बना। रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिशास्त्र के ग्रन्थों में इसका उपयोग प्रमाण-ग्रन्थ के रूप में किया है। इसी यात्रा में चैतन्य दक्षिण

भारत की भक्ति के निकट सम्पर्क में भी आये होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस यात्रा की यह है कि उन्होंने वैष्णवों के साथ ही शैव तीर्थों का भी भक्तिभाव पूर्वक भ्रमण किया। यहाँ तक कि शंकराचार्य के श्रृंगेरी मठ में भी वे गये। लौटते-लौटते चैतन्य इतने जनप्रिय हो चुके थे कि उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्र देव भी इनके प्रभाव में ग्रा गये। इसने चैतन्य-सम्प्रदाय को ग्रागे बढ़ने में ग्रौर सहायता दी।

चैतन्य के मन में प्रारम्भ से ही बृन्दाबन की यात्रा करने की इच्छा थी पर मार्ग में बराबर ग्रड़चनें ग्राती रहीं। पुरी-यात्रा के तीन वर्ष पश्चात् वे बृन्दाबन के लिये निकले। इसी यात्रा के रास्ते बंगाल के मुसलमान शासक के दो उच्च पदाधिकारी (जो ब्राह्मण होते हुये भी ग्रन्त्यजों के समान थे, केनेडी ने तो उन्हें मुसलमान ही लिखा है[1]) चैतन्य के शिष्य हुये जिनका नामकरण रूप ग्रौर सनातन किया गया। ग्रागे चलकर इन दोनों भाइयों ने सम्प्रदाय में ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया। वे लोग सम्प्रदाय के मस्तिष्क बन सके। चैतन्य मत को दार्शनिक, धार्मिक एवं रस-शास्त्रीय ग्राधार पर उन्होंने ही प्रदान किया। वृन्दावन के प्रसिद्ध ६ गोस्वामियों में ये दोनो बन्धु ग्रन्यतम सिद्ध हुए।

सं० १६७१ में वृन्दावन होकर लौटने पर प्रयाग में उनकी भेंट बल्लभाचार्य से कुम्भ के ग्रवसर पर हुई तथा बनारस पहुँचने पर शांकर वेदान्त के प्रख्यात विद्वान प्रकाशानन्द सरस्वती उनके मोहक व्यक्तित्व से ग्रप्रभावित न रह सके ग्रौर ज्ञान की सारी गरिमा को छोड़ कर चैतन्य के हो रहे। चैतन्य ग्रौर उनके मत की यह एक उल्लेखनीय विजय थी, जिसने उन्हें बौद्धिकों के बीच प्रतिष्ठा दी। यद्यपि चैतन्य ने कोई भाष्य नहीं लिखा था, किसी दार्शनिक मतवाद का प्रसार नहीं किया था, संभवतः तब तक चतुः सम्प्रदायों से उनका सम्बन्ध भी नहीं जुड़ा था; परन्तु ग्रद्वैताचार्य, नित्यानन्द, वासुदेव सार्वभौम, रामानन्द राय एवं प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे विद्वानों का ग्रासपास उपलब्ध समर्थन चैतन्यमत को (बौद्धिकों के बीच) प्रतिष्ठा देने में ग्रत्यन्त सफल रहा।

बनारस से चैतन्य पुनः पुरी पहुँचे तथा जीवन के शेष १७ या १८ वर्ष उन्होंने ग्रपने प्रेमोन्माद में वहीं बिताये। उनका ग्रावेश ग्रौर उन्माद बढ़ता ही गया। वे भौतिक जीवन को नितान्त भुला कर दिनरात विक्षिप्तों की भाँति केवल राधा-कृष्ण-लीलाग्रों में ही व्यस्त रहने लगे। ग्रनुमान है कि ऐसी ही विक्षिप्तावस्था में समुद्र के नील जल पर शुभ्र चन्द्र की ज्योत्स्ना को उन्होंने यमुनाजल पर कृष्ण की क्रीड़ा समझ कर उसी में डूब कर सं० १५९१ (जुलाई १५३४) में ग्रपने

---

१. एम० टी० केनेडी : चैतन्य मूवमेण्ट, पृ० ४५-४६ (ग्राक्सफ़ोर्ड यूनि० प्रेस १९२५)।

प्राण दे दिये।

चैतन्य ने जीवन में महान कार्य किया। प्रेमाभक्ति के आवेश को उन्होंने जन-साधारण तक पहुँचा दिया। उनके मुख्य सहायक नित्यानन्द ने इस परिपाटी को और बढ़ा दिया। रामानन्द और वल्लभ के समान ही उनके भी महान शिष्य हुए। रूप, सनातन, जीव, गोपाल भट्ट, कृष्णदास एवं रघुनाथ भट्ट ये षट्गोस्वामी किसी भी गुरु या सम्प्रदाय के लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं। बिना इनकी मान्यता के बंगाल तक का कोई वैष्णव ग्रन्थ चैतन्य मत में प्रामाणिक नहीं माना जाता था।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि चैतन्य को शीघ्र ही अवतार माना जाने लगा था। आगे उनकी प्रतिमा के पूजन की भी व्यवस्था हुई।

रामानन्द, बल्लभ और चैतन्य की इस वैष्णवाचार्य बृहत्त्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी साधना एवं साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हुए हैं। गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास–दो ऐसे ही व्यक्तित्व थे। बृहत्त्रयी के आचार्य स्वयं कवि न थे—उनमें से एक ने केवल शिष्यों को दृष्टि दी (रामानन्द), दूसरे ने सम्प्रदाय का विधिवत निरूपण और स्थापन किया (बल्लभ) और तीसरे ने अपने व्यक्तित्व के पारस-संस्पर्श से जिस लोहे (जनता) को सोना बना दिया उसने स्वयं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर दी (चैतन्य)। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इनकी अपेक्षा इनके शिष्यों का महत्त्व अधिक है (कबीर एवं रैदास, अष्टछाप के कवि तथा वृन्दावन के षट्गोस्वामी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण शिष्य हैं) परन्तु हितहरिवंश एवं हरिदास, ऐसा लगता है, आचार्य एवं शिष्य के समन्वित रूप थे। वे सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापक भी हैं और स्वयं उच्चकोटि के कवि भी; बल्कि यह कहना अधिक समीचीन लगता है, कि वे चैतन्य एवं अष्टछाप दोनों के मिले-जुले रूप हैं। वे चैतन्य की भाँति अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित करते हैं तथा अपने साहित्य एवं कला से भी। उनमें चैतन्य जैसी तन्मयता है एवं सूरदास जैसा काव्य-संवेग भी। कहते हैं कि हरिराम व्यास ओरछे में एक वैष्णव साधु के मुख से हितहरिवंश का एक पद सुनकर वृन्दाबन की ओर उन्मुख हो गये थे।[1] स्वामी हरिदास तो अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतज्ञ भी थे। प्रसिद्ध है कि अकबर भी छिप कर उनका गान सुनने आया था। इन लोगों ने चैतन्य की ही भाँति अपना कोई साम्प्रदायिक भाष्य भी नहीं लिखा। नीचे हम उनके जीवन और कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर रहे हैं।

स्वामी हरिदास

आपसी साम्प्रदायिक विद्वेष के फलस्वरूप वृन्दावन के भक्तों, आचार्यों

१. वासुदेव गोस्वामी : भक्त कवि व्यास जी, जीवनी खण्ड, पृ० ५४।

आदि का ऐतिहासिक स्वरूप निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है। जन्म संबत्, जन्म स्थान, गुरु-निर्णय, सम्प्रदाय-सम्बन्ध आदि को लेकर स्वामी हरिदास के सम्बन्ध में काफ़ी वितंडावाद खड़ा किया गया है, परन्तु इधर जो अनुसन्धान हुए हैं, उनके आधार पर स्वामी हरिदास का जन्म संवत् १५३७ माना जा सकता है।[1] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनका कविता-काल संवत् १६०० से १६१७ तक माना है।[2] यह समय-निर्धारण उपर्युक्त जन्मतिथि मानने पर अनुचित नहीं प्रतीत होता। स्वामी हरिदास जी के पिता का नाम आसधीर था। अलीगढ़ ज़िले के हरिदासपुर ग्राम में उनका जन्म हुआ था। शैशव से ही उनके साथ भी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ श्रद्धालु भक्तों ने जोड़ दी हैं, उनकी चर्चा यहाँ पर प्रासंगिक न होगी।

यह बात काफ़ी विवादास्पद है कि उनका विवाह हुआ था या नहीं, परन्तु यदि हुआ भी था, तो रमणी की रूपराशि उन्हें लुभा न सकी और कहते हैं कि राधाष्टमी के दिन अपने पिता आसधीर जी से युगल-मंत्र की दीक्षा लेकर विरक्त होकर ये घर से चले आये। सम्भवतः कुछ दिन इधर-उधर घूमते-घामते एवं तीर्थाटन करते रहे और संवत् १५६२ में वे वृन्दावन आ गये थे। इस प्रकार हरिदास जी वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाने वाले महात्माओं में प्रथम हैं। चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन संवत् १५७१ में पहुंचे थे (अपने दो शिष्यों को वे कुछ पहले ही भेज चुके थे) तथा हितहरिवंश जी सं० १५९१ में वृन्दावन आये थे। स्वामी हरिदासजी के उपास्य बाँके बिहारी जी का प्राकट्य सं० १५६७ में हुआ था। हितहरिवंश जी वृन्दावन आ जाने पर इन दोनों अपूर्व साधकों का घनिष्ठ परिचय हो गया था। उस समय के भक्तों (यथा हरिराम व्यास आदि ने इन दोनों रसिकों का नाम बड़े आदर से और कभी-कभी साथ-साथ लिया है।[3]) हितहरिवंश जी को अपनी उपासना-पद्धति के निर्माण में स्वामी हरिदास जी से प्रेरणा अवश्य प्राप्त हुई होगी।

स्वामी हरिदास जी अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतकार थे। तानसेन एवं बैजू बावरा उनके शिष्य कहे जाते हैं। यह भी प्रवाद है कि स्वयं अकबर उनका

---

१. (क) डॉ० नारायणदत्त शर्मा, स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, (अप्र० प्रब०) पृ० १७०।
(ख) डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखीभाव, (अप्र० प्रबं०), पृ० ४१९।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७२।

३. हरिवंशी हरिदासी जहाँ, मोहि करुना करि राखो तहाँ : भक्त कवि व्यास, पृ० ४०७।

संगीत सुनने के लिये उपस्थित हुआ था। संगीत एक ऐसी कला है जो अपनी नितान्त सूक्ष्मता एवं अशरीरीपन के कारण मनुष्य को रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक बना भी देती है। स्वामी हरिदास की रसिकता को अध्यात्म के ऊँचे स्तर तक उड़ाने में उनकी संगीत कला का कितना बड़ा हाथ रहा होगा, यह सहज अनुमान का विषय है, बल्कि कहना चाहिए कि समस्त कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों में संगीत की साधना ने लौकिक को अलौकिक के स्तर तक उठाने में सहायता दी होगी। यही स्थिति सूफ़ी सम्प्रदायों के बारे में भी कही जा सकती है।

सबसे बड़ा विवाद स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय को लेकर है। यद्यपि ग्राउज ने अपने 'मथुरा मेमॉयर्स' में उन्हें बहुत पहले ही एक पृथक् सम्प्रदाय वाला माना था।[1] सन् १९४२ में होने वाले निधुवन के झगड़े के फलस्वरूप स्वामी हरिदास की टट्टी-संस्थान वाली परम्परा ने अपना सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से जोड़ लिया। उसी काल के किशोरदास के 'निज मत सिद्धान्त' तथा सहचरिशरण द्वारा दी गयी गुरु-परम्परा के द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है। परिणाम स्वरूप श्री बलदेव उपाध्याय।[2] डॉ० हरवंशलाल शर्मा[3], परशुराम चतुर्वेदी[4], डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित,[5] प्रभृति लोगों ने उन्हें निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत मान लिया। परन्तु वास्तव में दोनों सम्प्रदायों में इष्ट, मंत्र, आचार का इतना बड़ा अन्तर है कि उन्हें एक मानना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त हरिदासी सम्प्रदाय के एक कवि भगवत् रसिक ने तो निम्बार्कियों के द्वैताद्वैत दर्शन का भी प्रत्याख्यान कर दिया है—

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नाहिं विशिष्ठाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत।[6]

इस प्रकार उनका एक स्वतंत्र मत प्रतीत होता है। अपनी उपासना में उन्होंने एकदम निराला ढंग अपनाया था। लोक-वेद की सभी रीतियों का परित्याग कर स्वामी हरिदास ने अपनी साधना-पद्धति आरम्भ की थी। राधाबल्लभीय भक्त ध्रुवदास ने उनकी इस विशेषता की ओर इंगित किया है।

---

१. श्री स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८३ पर उद्धृत।
२. भागवत् सम्प्रदाय, पृ० ३५१।
३. सूरदास और उनका साहित्य, पृ० १०१।
४. वैष्णव धर्म, पृ० ८६।
५. हिन्दी साहित्य कोष में सखी-सम्प्रदाय पर टिप्पणी, पृ० ८०४।
६. भगवत रसिक : अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० ८३।

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

रसिक अनन्य हरिदास जू, गायौ नित्य बिहार।
सेवा हू में दूर किय विधि-निषेध जंजार।[1]

इधर चतु:सम्प्रदायों में किसी से अपना सम्बन्ध जोड़ने के चक्कर में मगन बिहारी लाल गोस्वामी ने 'हरिदास-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में अपने निबन्ध 'श्री हरिदास जी का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय' (पृ० १०६-१८) में उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदायान्तर्गत सिद्ध करना चाहा है। परन्तु यह तो और भी भ्रमात्मक है। इस सम्बन्ध में डॉ० दीन दयालु गुप्त का मत सर्वथा उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार यह सम्प्रदाय भी भक्ति का एक साधन-मार्ग है, और अपने आरम्भिक काल में वेदान्त के किसी वाद अथवा किसी अन्य दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचारक मत नहीं था।[2] डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने भी इसे पृथक् सम्प्रदाय ही माना है।[3]

स्वामी हरिदास की रचनाएँ अधिक नहीं है। वे कवि से बड़े संगीतज्ञ थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने कहा है, "उनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ ऊबड़खाबड़ लगते हैं।"[4] इनका 'संग्रह' केलिमाल नाम से प्रकाशित है। सम्प्रदाय के भीतर इसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है।

हरिदास जी की मृत्यु के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। अनुमान है कि संवत् १६३५ के आसपास इनकी मृत्यु हुई होगी।[5] इधर वृन्दावन से प्रकाशित होने वाले 'श्री सर्वेश्वर' नामक पत्र में श्री विश्वेश्वर शरण जी ने स्वामी हरिदास पर एक लेखमाला लिखी है, जिसमें जन्म-संवत्, मृत्यु-संवत्, पिता, गुरु, सम्प्रदाय, कुल आदि के बारे में विचार किया गया है। उनके अनुसार 'सिद्धान्त पक्ष' में श्री स्वामी जी महाराज श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे; उनका जन्म वि० सं० १५३७ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को और निकुंज-प्रवेश १६३२ में हुआ था; वे सनाढ्य कुल के थे; उनका जन्म वृन्दावन के समीप ही राजपुर में हुआ था; उनके गुरुदेव श्री स्वामी आसधीर देव जी थे; वस्तुतः वे उनके पिता नहीं थे—पिता तो सनाढ्य कुल-भूषण श्री गंगाधर जी थे।[6] इनमें से जन्म-मृत्यु-संवतों से हमारा कोई विरोध नहीं है तथा हम उन्हें निम्बार्क का

---

१. भक्तनामावली (बयालीस लीला), पृ० २८।
२. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ६८।
३. राधा बल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५१-५२।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७२।
५. डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव (अप्र० प्रब०), पृ० ४१६।
६. श्री सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक २, पृ० २६।

अनुयायी नहीं मानते। शेष प्रश्न हमारे लिये अप्रासंगिक हैं।

परिचय-सम्बन्धी इन प्रसंगों के विवाद में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते और इससे हमारे मंतव्यों में भी कोई अन्तर नहीं आता। वे विक्रम की १६ वीं शती के अन्तिम हिस्से एवं सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। वृन्दावन के रसिक भक्तों में वे अन्यतम थे। उनके समकालीन एवं श्रद्धालु हरिराम व्यास के शब्दों में :—

ऐसो रसिक भयो ना ह्वै है भुवमंडल आकाश।[1]

भक्तमालकार नाभादास के अतिरिक्त उनके गुरु स्वामी अग्रदास (रामानन्दी सम्प्रदाय) ने आपको साक्षात् प्रेमावतारी ही माना है :—

नमो नमो श्री हरिदास बृन्दा विपिन वास
वर प्राण सर्वस बाँके बिहारी।
श्याम श्यामा जुगल रूप माधुर्य के
रसिक रिझवार प्रेमावतारी।
परम वैराग्य निधि बसत निधिवन सदा
भावना लीन सुप्रवीन भारी
कामना कल्पतर सकल संताप हर,
अग्रदास अलि कल्याणकारी।[2]

नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनकी निराली उपासना-प्रणाली की प्रशंसा की है।[3]

जहाँ तक सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त का प्रश्न हैं, हम समझते हैं कि न तो वे किसी व्यवस्थित सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं और न किसी दार्शनिक मतवाद के प्रचारक। वे तो अपने श्यामा-श्याम को लाड़ लड़ाने में अपनी संगीत-माधुरी से रिझाने एवं लीला-भावन में ही मगन रहने वाले रसिक भक्त थे।

स्वामी हरिदास जी स्वयं विरक्त साधु थे। आगे चलकर उनके अनुयायियों के दो दल हो गये। एक विरक्तों का—जिसका टट्टी-स्थान अलग बना तथा दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का—जिनके ऊपर बिहारी जी की सेवा-पूजा का भार है। उनके विरक्त शिष्यों में अष्टाचार्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उनकी वाणियों का एक संकलन 'अष्टाचार्यों की बानी' नाम से उपलब्ध होता है। इस वाणी को सम्प्रदाय में अत्यधिक श्रद्धा प्राप्त है।

---

१. व्यास वाणी।
२. श्री सर्वेश्वर, वर्ष ३, संख्या २, पृ० १४ पर विश्वेश्वर शरण जी द्वारा उद्धृत।
३. 'भक्तमाल', छप्पय सं० ९१।

स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली थी। अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उन्होंने प्रभावित किया था। सखी भाव की उपासना स्वामी जी की मुख्य देन है। दूर से ही लीलादर्शन एवं लीलागान के जो लक्षण गीतगोविन्द आदि से मिलने लगे थे[1] उनका श्रेष्ठतम परिपाक साधना के स्तर पर हरिदास जी में हुआ। उनकी यह साधना नितान्त ऐकान्तिक एवं सम्पूर्ण अनन्यता की है। वास्तव में यह साधना की अत्यधिक ऊँची स्थिति का नाम है। हमें लगता है कि उनकी साधना को सगुणोपासना कहना बहुत उचित नहीं है, क्योंकि कृष्ण के ब्रज-लीला वाले सगुण रूप को वे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कृष्ण नाम तक को स्वीकार नहीं किया। लीला का एक नितान्त गोपनीय रहस्यात्मक प्रकार उनको स्वीकार था। दार्शनिक चिन्तना एवं तार्किक निरूपण से एकदम असम्पृक्त रह कर वे जिस भावदशा में विभोर रहते थे, उसे रहस्यानुभूति की साधना कहना अधिक उचित होगा। वास्तव में प्रेमाभक्ति अपनी सर्वोत्तम परिणतियों को, स्वामी हरिदास जी की साधना में, पहुँच गयी थी।

उनके सम्प्रदाय में अलग से निरूपित कोई दार्शनिक पद्धति न होकर उपासना का मार्ग एवं तत्संबंधी व्यावहारिक कल्पनाएँ ही हैं। अतः यहाँ हम उनके दर्शन आदि पर विचार नहीं करेंगे उनकी लीला, उपास्य आदि की धारणाओं की विवेचना चतुर्थ अध्याय में की जायगी। यहाँ हम भगवत्‌रसिक का सम्प्रदाय की उपासना आदि का परिचय देने वाला पद उद्धृत करके इस प्रसंग को समाप्त करते हैं।

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगुल यन्त्र को जाप।
जुगुल मन्त्र को जाप, वेद रसिकन की वाणी
श्री बृन्दाबन धाम इष्ट स्यामा महरानी
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होई न कारज
भगवत सब सुखदानि, प्रकट में रसिकाचारज
नाहीं द्वैत अद्वैत हरि, नाहिं विशिष्टाद्वैत।
बंधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत।
ईश्वर इच्छा द्वैत करें सबही को पोषन।
आप रहे निरलेप, भगत सो माने तोषन।
भगवत रसिक अनन्य संग डोले गलबाहीं
करे मनोरथ सिद्ध, उचित अनुचित कछु नाहीं।[2]

१. राधामाधवोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलय : गीत गोविन्द।
२. भगवत् रसिक : अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० ४३।

गोस्वामी हित हरिवंश

हित हरिवंश जी के जन्म, स्थान, जन्म संवत्, पिता के नाम आदि[1] के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। पर इधर राधावल्लभीय विद्वान श्री ललिता चरण गोस्वामी[2] एवं दिल्ली-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक[3] के जो शोधपूर्ण ग्रन्थ आये हैं, उन्हीं के आधार पर हम यहां उनका जीवन-चरित्र दे रहे हैं। इन ग्रन्थों में विविध प्रश्नों पर गहरी छानबीन की गयी है।

गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म सं० १५५६ में मथुरा के निकट 'बाद' नामक ग्राम में वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार को हुआ था। इनके पिता का नाम व्यास मिश्र था, जो देवबन्द (सहारनपुर) के रहने वाले विद्वान—राज ज्योतिषी (सम्भवतः इब्राहीम लोदी से सम्मानित) थे। संस्कृत की शिक्षा स्वभावतः पिता से ही इन्हें प्राप्त हुई होगी। हरिवंश जी का संस्कृत ज्ञान बहुत अच्छा था, यह इस बात से ही प्रकट है कि उन्होंने संस्कृत में 'राधा-सुधानिधि' काव्य की रचना की थी। उनके बाल्य-जीवन से सम्बन्वित, मध्ययुगीन अन्य महापुरुषों की भाँति, अनेक अलौकिक चमत्कार प्रचलित हैं। कहा जाता है कि जब ये ६ मास के थे तभी 'राधा-सुधानिधि' इनके कण्ठ से निस्सृत हो पड़ी थी जिसका लेखन कार्य इनके पितृव्य श्री नृसिहाश्रम जी ने सम्पादित किया था। बाल्यकाल से ही राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं के अनुकरण में ही उनका मन लगता था।

गोस्वामी हित हरिवंश को दीक्षा स्वयं श्री राधिका जी से प्राप्त हुई थी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में राधा जी का गुरु रूप में बार-बार उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कथा है कि एक दिन राधा जी ने उन्हें स्वप्न दिया कि घर के बाहर के पीपल के वृक्ष की ऊँची डाल पर एक लाल पत्ते पर एक मंत्र अंकित है, उसे प्राप्त करो और उसे अपना दीक्षा-मंत्र मानो। उसी मंत्र से हित हरिवंश जी दीक्षित हुए। इस प्रकार की धारणा आज के वैज्ञानिक युग में बहुत प्रामाणिक

---

१. वासुदेव गोस्वामी : भक्त कवि व्यास जी : हित हरिवंश जी के निम्न पद को उन्होंने सुना था:—

आजु अति राजत दंपति भोर।
सुरति रंग के रस में भीने, नागर नवल किशोर।

जीवनी खण्ड। पृ० ५४।

२. गोस्वामी हित हरिवंश सम्प्रदाय और साहित्य।

३. राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य।

नहीं मानी जा सकती । परन्तु राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं (भागवत् इस समय तक अत्यन्त जनप्रिय ग्रन्थ हो चुका था. स्वयं आचार्य बल्लभ ने व्रज प्रदेश में विभिन्न स्थानों पर उसके २२ पाठ किये थे) का शैशव काल से ही ध्यान और अनुसरण करने वाला बालक स्वप्न में यदि कुछ प्रेरणा प्राप्त करे तो वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित न होगा ।

अस्तु, इस मंत्र की प्राप्ति के बाद उनकी प्रेमाभक्ति का रस निरन्तर सान्द्र होता गया। इस सम्बन्ध में यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है कि गृहस्थ बने रहते हुये भी उन्होंने अपनी निष्ठा एवं भक्ति में अन्तर नहीं आने दिया । "तत्कालीन महात्माओं में वैराग्य की लहर जिस रूप में फैल रही थी और दाम्पत्य जीवन के प्रति जो तिरस्कार भावना पैदा की जा रही थी, श्री हित हरिवंश जी ने स्वयं सद्गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर तथाकथित वैराग्य भाव को चुनौती दी।[1] माता-पिता की मृत्यु के बाद इनका मन स्वयं आराध्या की लीला-स्थली में जाकर वहाँ की रसमयी भक्ति-पद्धति में लीन होने के लिये व्याकुल हो उठा और संवत् १५९० में वे वृन्दावन के लिये चल पड़े। रास्ते में चिथरावल ग्राम में राधा जी के स्वप्नानुसार उन्होंने आत्मदेव नामक ब्राह्मण की दो तरुणी कन्याओं से विवाह किया तथा श्री राधा बल्लभ जी का विग्रह प्राप्त किया, जिसे उन्होंने वृन्दावन में प्रतिष्ठापित किया था। आधुनिक मूल्यों एवं मान्यताओं की दृष्टि से हित हरिवंश जी का यह विवाह बहुत उचित नहीं ठहराया जा सकता एवं इस कथा की व्याख्या दूसरे आधार पर भी की जा सकती है।[2] परन्तु मध्य कालीन आदर्शों एवं परिस्थितियों को सदैव आधु-

---

१. राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १०६ ।

२. कहते हैं कि वृन्दावन चलते समय उनकी प्रथम पत्नी रुक्मिणी देवी बच्चों के छोटा होने के कारण आ नहीं पायी थीं। क्या यह सम्भव नहीं कि किसी कारण वश कष्ट होने के कारण साथ न दे सकी हो, एवं तरुण भक्त हित हरिवंश की भक्ति-पद्धति की ओर वह ब्राह्मण और उसकी कन्याएं भी आकर्षित हुई हों एवं परिणाम इस विवाह के रूप में हुआ हो। (इस स्वप्न में कहा गया है कि राधा ने कहा था कि यह विवाह उनके भक्ति-भाव का विरोधी न होगा)। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि सम्भवतः प्रथम पत्नी उनकी भक्ति-पद्धति से सहमत न थी गृहस्थी के साथ भक्त के आदर्श का पालन करने वाले हित हरिवंश जी एवं उस युग की बहुविवाह-प्रथा को देखते हुए चारित्रिक दृष्टि से यह बात अनुचित नहीं प्रतीत होती।

निक जीवन के नैतिक मानदण्ड पर परखना उचित नहीं होता। १५९० वि० की फाल्गुन एकादशी को वे वृन्दावन पहुँचे। तत्कालीन ज़मींदार नरवाहन ने आपको अपनी साधना के लिये पर्याप्त भूमि प्रदान की।

उस समय तक वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रख्यात षट् गोस्वामी पहुंच चुके थे, गोवर्धन में श्री नाथ जी के मन्दिर की स्थापना हुये समय बीत चुका था, बल्लभ की तो अब तक मृत्यु हो चुकी थी एवं इसके अगले वर्ष चैतन्य की भी मृत्यु हो गई। अष्टछाप की स्थापना तो नहीं हुई थी पर सूरदास आदि क्रियाशील थे। राधा को इष्टदेवी और गुरु गोस्वामी हरिवंश ने पहले ही स्वीकार कर लिया था। वृन्दावन आकर वे इन वैष्णवों के सम्पर्क में आये होंगे। स्थायी रूप से वृन्दावन-वास करने का निश्चय करने के बाद श्री हरिवंश जी ने कदाचित वैष्णव धर्म में प्रचलित समस्त साधना पद्धतियों का अनुशीलन किया होगा और इस मनन-अध्ययन के बाद अपनी नूतन साधना-पद्धति प्रवर्तित की होगी। परम्परा से जो साधना-पद्धतियाँ वैष्णव-सम्प्रदायों में प्रचलित थीं, उनमें विधि-निषेध के साथ कर्मकाण्ड का प्रभाव बढ़ गया था और बाह्याचार की अनेक परिपाटियाँ प्रचलित हो गई थीं, उन्हें स्वीकार न करके श्री हरिवंश जी ने स्वकीय नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और अनेक बातों में सर्वथा अभिनव शैली स्वीकार की।[1] धीरे-धीरे उनके रुचिर एवं प्रेम-मय व्यक्तित्व, सरल कवित्व एवं सरस प्रेममयी साधना-पद्धति से प्रभावित होकर लोग उनके पास इकट्ठे होने लगे। नरवाहन, नवलदास, पूरनदास, हरिराम व्यास, आदि उनके मुख्य शिष्य हैं। इनमें विद्वत्ता एवं साहित्य की दृष्टि से हरिराम व्यास ही महत्वपूर्ण हैं। परन्तु आगे चलकर 'राधाबल्लभ सम्प्रदाय' में प्रभूत परिमाण में साहित्य का सृजन हुआ। बल्लभ सम्प्रदाय को छोड़ कर ब्रजभाषा में अन्य किसी वैष्णव सम्प्रदाय की साहित्य राशि इस परिमाण में उपलब्ध नहीं होती। सम्प्रदाय की जनप्रियता एवं प्रेरक शक्ति का यह स्पष्ट प्रमाण है।

वृन्दावन में रहते हुये उन्होंने आराध्य के सिद्ध- केलि स्थानों (मानसरोवर, सेवाकुंज, राम मंडल, और वंशीवट) का प्राकट्य किया। सेवाकुंज में राधा बल्लभ जी के विग्रह की स्थापना की एवं संवत् १५९१ में प्रथम पाटोत्सव इसी सेवाकुंज में सम्पन्न हुआ। रास मंडल की स्थापना करके उन्होंने कृष्ण भक्ति के प्रसार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। राधा बल्लभ जी के विग्रह-स्थापन के पश्चात् उन्होंने अपनी उस अष्टयामसेवा-पद्धति एवं रसभक्ति का

---

१. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १०८।

प्रचार प्रारम्भ किया जिससे अन्य सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए । यहाँ तक कि गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती स० १५९२ में वृन्दावन पधारे तो हित हरिवंश जी एवं उनकी भक्ति-पद्धति के प्रति अत्यन्त आकर्षित हुए । उन्होंने हित हरिवंश की स्तुति भी अपने अष्टक में लिखी है ।[1]

वृन्दावन आगमन के पश्चात् ही सम्भवतः उन्होंने ग्रन्थ रचना की होगी[2] उनके चार ग्रन्थ कहे गये हैं:—'राधा सुधानिधि', राधा की स्तुति में लिखा गया संस्कृत-स्तोत्र-ग्रन्थ है ।'हित चौरासी' में उनकी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति श्रेष्ठ काव्य के माध्यम से ब्रज भाषा के चौरासी पदों में हुई हैं । सत्ताइस स्फुट पद और दोहे भी ब्रजभाषा में ही प्राप्त हैं जिनमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त एवं भावनाएँ हैं तथा 'यमुनाष्टक' नामक संस्कृत स्तोत्र-ग्रन्थ भी उनका कहा जाता है । इनमें, 'हित चौरासी' निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है काव्य की दृष्टि से भी एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी । यह उनकी परिपक्वावस्था का लिखा प्रतीत होता है । इसे सम्प्रदाय का मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ होने का गौरव भी प्राप्त है ।

वंशी के अवतार कहे जाने वाले इस श्रेष्ठ भक्त कवि एवं आचार्य का निधन संवत् १६०९ में हुआ । राधा-कृष्ण युगल की सखी-भाव से आराधना करने का सन्देश देकर उन्होंने एक नये प्रकार का वैष्णव रहस्यवाद प्रवर्तित किया । प्रेम या हित तत्त्व को उन्होंने परात्पर तत्त्व की स्थिति तक पहुँचा कर प्रेम को भाव से दर्शन बना दिया । हित हरिवंश जी के योग्य शिष्य हरिराम व्यास ने राधा बल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य एवं उपासना-विधि आदि का संक्षिप्त परिचय एक ही पद में दिया है । पद इस प्रकार है:—

> रसिक अनन्य हमारी जाति ।
> कुल देवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिन सो पांति ।
> गोत गोपाल, जनेऊ, माला, सिखा सिखंडि हरि मंदिर भाल ।
> हरि गुन नाम वेद धुनिसुनियत, मूँज पखावज,कुस करताल ।
> साखा जमुना, हरि-लीला षटकर्म, प्रसाद प्रान-धन रास ।
> सेवा विधि-निषेध, जड़ संगति, वृत्ति सदा बृन्दाबन बास ।

---

१. त्वमसि श्री हरिवंश श्यामचन्द्रस्य वंश । परम रसद नादैर्मोहितः सर्वविश्वः अनुपमगुणदामैर्निमित्तोऽसि द्विजेन्द्र, मम हृदि तव गाथाश्चित्रलेखेव लग्नाः । प्रबोधानन्द ।

२. 'राधासुधानिधि' के बारे में यह ख्याति है कि वह उन्होंने शैशव में ही लिखी थी ।

अमृत भागवत, कृष्ण नाम संध्या, तर्पन गायत्री जाप।
बंसी रिषि, जजमान कल्पतरु, व्यास न देत असीस-सराप।
—भक्त कवि व्यास जी—पद संख्या ९३, पृ० २१५।

हित हरिवंश जी एव हरिदास के प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि परवर्ती समस्त कृष्णोपासक किसी न किसी स्तर पर युगल-विहार-लीलाओं के सखी भावापन्न गान को अपनाते हैं।

सूफ़ी सम्प्रदाय : संक्षिप्त इतिहास तथा तत्व दर्शन

संक्षिप्त इतिहासः—सूफ़ी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों की चर्चा में न पड़, हम उसके उस सामान्य अर्थ को ही इस विवेचन में अपने मन में रखेंगे जिसके अनुसार यह शब्द इस्लामी रहस्यवाद के लिये प्रयुक्त होता है। सन् ८०० के लगभग यह शब्द प्रयोग में आया था।[1] तथा शीघ्र ही ५० वर्षों के भीतर ही यह इराक़ तक फैल गया एवं ११ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते यह शब्द संपूर्ण मुस्लिम रहस्यवादियों के लिये प्रचलित हो गया था।[2]

सूफ़ीमत के मूल में तरह-तरह के सामाजिक-आर्थिक कारण विद्वानों ने खोजने चाहे हैं जिनकी चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक होगी, परन्तु इतना संकेत कर देना अनुचित न होगा कि सूफ़ीमत के मूल में परम शक्ति के प्रति जो भक्ति भाव, एकतत्त्व की भावना आदि बातें हैं वे सम्पूर्ण मानव जाति के अन्तरतम के निकट की धारणाएँ हैं। निकलसन ने अबुल हसन अलनूरी का एक कथन उद्धृत किया है कि सूफ़ीमत संसार के प्रति घृणा एवं प्रभु के प्रति प्रेम का प्रकाशन है।[3] जुनेद के अनुसार तसव्वुफ़ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है।[4] अलग़ज़ाली ने जगत् में शांतिपूर्वक रहते हुये सदा ईश्वर में लीन रहना ही सूफ़ी का लक्षण माना है।[5] स्पष्ट है कि ये समस्त विशिष्टताएँ समस्त उन्नत धर्मों में स्वीकृत हैं।

१—आर० ए० निकल्सनः लिटरेटी हिस्ट्री ऑफ़ दि अरब्स, पृ० २२६।
२—एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इस्लाम, पृ० ६८१-६८२।
३—ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ़ दि अरबस, पृ० ३९२।
४—वही, पृ० ३९२
५—मार्गरेट स्मिथः अलग़ज़ाली : दि मिस्टिक, पृ० १०४।

विद्वानों ने सूफ़ी मतवाद पर अनेक प्रभाव देखे हैं।[1] इनमें से एक वर्ग सूफ़ीमतवाद को भारतीय साधना से बहुत अधिक प्रभावित देखता है।[2] इन लोगों का कहना है कि ईरान की आर्य विचारधारा ने विजेता इस्लाम धर्म के प्रति जो विद्रोह किया वही सूफ़ीमत के रूप में प्रकट हुआ। परन्तु निकल्सन ने अत्यन्त ज़ोरदार शब्दों में इस मत का खंडन करते हुये कहा है कि यह सत्य है कि सूफ़ी सिद्धान्तों पर इस्लामेतर साधनाओं का भी प्रभाव पड़ा है, पर इस्लाम से ही उसका उद्भव हुआ है। उसके अनुसार इस बात का क्या उत्तर है कि कुछ प्रारम्भिक प्रमुख सूफ़ी प्रयोक्ता ईरान के आर्य न होकर सीरिया और मिश्र के थे, तथा जाति से अरब थे।[3] उसने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है, सत्य यह है कि सूफ़ीमत एक संकुल वस्तु है और इसलिये इस प्रश्न का कोई सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता कि वह कैसे उत्पन्न हुआ है।[4] यों निकल्सन ने ईसाई, नव अफ़लातूनी, ज्ञानवाद, बौद्धधर्म एवं वेदान्त के प्रभाव स्वीकार किए हैं। उसने सूफ़ियों के 'फ़ना' और 'बक़ा' सम्बन्धी विचारों पर बौद्ध विचारधारा का स्पष्ट ऋण स्वीकार किया है।[5] इन प्रभावों के होते हुये भी यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूफ़ियों को अपने रहस्य-दर्शन में स्वयं क़ुरान से भी प्रेरणा मिली है। ईश्वर एक है, तथा कल्याण और दया करने वाला है।[6] वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।[7] इस पृथ्वी और स्वर्ग में जो कुछ है उसी का है और अंत में सभी पदार्थ उसी में विलय हो जाते हैं।[8] ईश्वर असीम सौन्दर्यमय है,[9] ईश्वर उन्हें प्यार करता है जो सज्जन हैं। क़ुरान के ऐसे कथनों में रहस्यवाद के बीज विद्यमान हैं। मोहम्मद साहब को क़ुरान जिस प्रकार उद्भासित हुआ था वह सूफ़ी के लिये अत्यन्त

१—इसमें सन्देह नहीं कि सूफियों को अद्वैतवाद पर लाने वाले प्रभाव अधिकतर बाहर वाले थे।" पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १३१-१३२।

२—(क) वही पृ० १३२।
(ख) डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ० १५१।

३—दि मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम, भूमिका पृ० ९।

४— वही, पृष्ठ ९।

५—वही, पृ० १८।

६—योर गाड इज़ वन गाड, देयर इज़ नो गाड सेव हिम, द बेनीफिशन्ट दि मर्सीफुल—ग्लोरियस कुरान, २।१६३।

७—अल्लाह इज़ आल एम्ब्रेसिंग, आल नोंइग, वही, ५०।४।

८—वही, ५१४।

९—वही ३।१४८।

रुचिकर है क्योंकि यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य से ईश्वर बोलता है।[1] इसी कारण मुस्लिम रहस्यवादी यह आशा कर सकता है कि वह अपने इस नश्वर जीवन में ही उस अविनश्वर अमृत तत्त्व की झाँकी उपलब्ध कर ले। इस प्रकार सूफ़ी साधना का बीज-वपन मोहम्मद साहब के समय ही हो गया था।

प्रारम्भिक २०० वर्षों तक सूफ़ी मतवाद वैराग्य प्रधान रहा है। परन्तु इस समय के अन्त होते-होते प्रेम की भावना घर करने लगी थी। इसी समय राबिया (८०० ई० के लगभग) अपनी भक्ति-भावना में प्रिया की प्रेम-अनन्यता भरकर उपासना करती है। वह ईश्वर के प्रति एक अत्यन्त नैकट्य का अनुभव करती थी। सूफ़ीमत में दिव्य प्रेम का सिद्धांत सबसे पहले उसी की रचनाओं में प्रकट हुआ था।[2] एक स्थल पर वह कहती है : ओ मेरे प्रिय, तारे चमक रहे हैं मनुष्यों की आखें बन्द हैं, सम्राटों ने अपने द्वार बन्द कर लिये हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रियतमा के पास है और यहाँ मैं एक मात्र तुम्हारे पास हूँ।[3] एक अन्य स्थान पर उसने अत्यन्त भाव-विभोर कंठ से कहा है : ओ ईश्वर! यदि मैं नरक के भय से तुम्हारी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्नि में जला दो, और यदि मैं स्वर्ग की आशा में तुम्हारी उपासना करती हूँ तो तुम मुझे स्वर्ग से निकाल दो, परन्तु यदि मैं तुम्हारी उपासना केवल तुम्हारे लिए करती हूँ तो अपने शाश्वत सौन्दर्य को मुझसे न छिपाओ।[4]

इस प्रकार ईसवी सन् की नवीं शताब्दी में सूफ़ीमत प्रेम एवं अद्वैत-
चिन्तन के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है। बग़दाद में यह साधना अपनी पूर्णता को
पहुँचती है। इस साधना में दार्शनिक एवं सैद्धांतिक दृष्टि से 'वायज़ीद विस्तामी'
का नाम बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसने तसव्वुफ़ में ईश्वर की सर्वव्यापकता,
अद्वैतवाद एवं आवेश का तत्त्व समन्वित किया। उसने सबसे पहले फ़ना शब्द का
प्रयोग किया था जिसके अनुसार साधक अपनी अहंता को मारकर ईश्वर के
प्रति विशेष भाव से समर्पित हो जाता है। जुनून, अल हल्लाज, आदि ने अद्वैत-
वादी तत्त्व को और अधिक विकसित किया। ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में
अलग़ज़ाली ने शरीयत और तरीक़त (शास्त्र एवं व्यवहार) का समन्वय किया।[5]
यह इसलिये आवश्यक हो गया था कि धीरे-धीरे सूफ़ी सिद्धांत इस्लाम की मूल
विचारधारा से दूर हटते जा रहे थे। ग़ज़ाली ने उसे पुनः इस्लामी केन्द्र के निकट

---

१. ए० जे० आरबेरी : सूफ़िज़्म, पृ० १३
२. आरबेरी : सूफ़िज़्म, पृ० ४३।
३. मार्गरेट स्मिथ : राबिया दि मिस्टिक, पृ० २७।
४. आरबेरी द्वारा पृ० ४२ पर उद्धृत।
५. यूसुफ़ हुसैन : ग्लिम्सेज़ ऑफ़ मेडीवल इंडियन कल्चर, पृ० ३५।

लाने का उद्योग किया ।[1] यहीं पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफ़ी विचारधारा नवीं शताब्दी से केवल प्रेममार्ग पर ही नहीं चली, ज्ञानमार्गी धारा भी बराबर प्रवाहित रही है, पर प्रमुखता उसकी नहीं थी। सूफ़ी साधना प्रारम्भ से ही अपने स्वरूप में वैयक्तिक रही है परन्तु धीरे-धीरे यह सामान्य जन को अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी। इस कारण यह आवश्यक हो गया था कि सूफ़ी सिद्धांतों को एक व्यवस्थित रूपरेखा दी जाय एवं साधन-प्रणाली का स्पष्ट निरूपण किया जाय। ग़ज़ाली जैसे लोगों ने सूफ़ीमत की इस दार्शनिकता को इस्लाम की धार्मिकता के साथ समन्वित करके साम्प्रदायिक ढाँचे के भीतर व्यवस्थित करना चाहा। सनाई, अत्तार एवं जलालुद्दीन रूमी इसी परम्परा पर आगे चले हैं। १३वीं शताब्दी तक सूफ़ियों के अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय बन गये थे। ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक सूफ़ियों का स्वर्ण-युग कहा जाता है। जलालुद्दीन रूमी इस युग का अंतिम श्रेष्ठतम कवि था। रूमी में ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी दोनों धाराओं का समन्वय भी था एवं इस्लाम की धार्मिकता भी सुरक्षित रही। ज्ञान और प्रेम को इस युग में अलग-अलग करके नहीं देखा गया। यहीं पर सूफ़ियों की एक अन्य विशेषता की ओर इंगित कर देना उचित रहेगा। लगभग प्रत्येक सूफ़ी विचारक ने काव्य रचना की है। यह बात वैष्णव चिन्तकों में भी सुरक्षित है। शायद ही कोई वैष्णव चिन्तक आचार्य या महन्त ऐसा मिले जिसने काव्य रचना नहीं की है। प्रेम प्रधान ईश्वर को जब शास्त्र के विरुद्ध एवं उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुचित समझा जाने लगा, तब इन कवियों ने लौकिक प्रेम पात्रों (सुन्दर रमणी, किशोर) एवं वस्तुओं के प्रतीकों के माध्यम से अपनी सौंदर्य एवं प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करना शुरू किया। यह बात दूसरी है कि प्रेम के इन प्रतीकों का अवमूल्यन और ह्रास होकर ऐन्द्रियता भी बढ़ी—ठीक वैसे ही जैसे कि राधा और कृष्ण का ह्रास रीतिकाल की शृंगारिकता में हुआ है।

भारतवर्ष में प्रवेशः—

उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों के आक्रमण के साथ ही सूफ़ियों का भारत में प्रवेश होता है। संभवतः पश्चिमोत्तर भारत में सबसे पहले सुहरावर्दी सम्प्रदाय का आगमन होता है, परन्तु उनका प्रभाव क्षेत्र बहुत नहीं बढ़ा वे सिन्ध एवं पश्चिमोत्तर प्रांत तक ही सीमित रहे। प्रभावशाली रूप में चिश्तिया सम्प्रदाय सबसे पहले भारतवर्ष में प्रतिष्ठापित हुआ था। भारत में इस संप्रदाय को अत्यधिक सफलता मिलने का कारण यह था कि ये लोग नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने

---

१. रामपूजन तिवारी : सूफ़ीमतः साधना और साहित्य, पृ. २०५।

को बना सकने में समर्थ हुए थे।[1] ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (जन्म ११४३ ई०) ने शहाबुद्दीन ग़ौरी के आक्रमण के कुछ पूर्व सन् ११६१ में इस संप्रदाय का प्रवेश भारतवर्ष में कराया था। प्रसिद्ध सूफ़ी विचारक अली हुज्विरी (दाता शकरगंज) उसके पूर्व से ही लाहौर में रह रहे थे। चिश्ती उन्हीं के पास कुछ दिन रहे। तदुपरान्त वे दिल्ली और वहां से अजमेर चले गये। मुईनुद्दीन के व्यक्तित्व का तत्कालीन भारतीय जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था—विशेषकर छोटे वर्गों के लोग उनकी ओर आकर्षित हुए थे। इस तथ्य के कारण अजमेर-राजा के द्वारा उनको निकलवाने की चेष्टा भी हुई थी जो उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण सफल नहीं हो सकी थी।

चिश्ती-संतों को संगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बहुत अधिक विश्वास था एवं वे संगीतज्ञों का अत्यधिक आदर करते थे। संगीत की इन मजलिसों में वे आवेश में आकर मूर्छित तक हो जाते थे। मुईनुद्दीन के शिष्य ख्वाजा क़ुतुबद्दीन बख़्तियार काकी की ऐसे ही किसी आवेश की अवस्था में मृत्यु हो गयी थी। क़ुतुब साहब के बाद इस सम्प्रदाय के प्रधान बाबा फ़रीद गंजशकर हुये और उनके बाद निज़ामुद्दीन औलिया गद्दी के अधिकारी बने। दिल्ली के तुर्क सुल्तानों से लेकर साधारण जनता तक इनका सर्वत्र आदर था। ये सभी विरागी एवं ऊंची कोटि के साधक थे। कभी भी बादशाहों एवं सामन्तों के सम्पर्क को इन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया।

ग़यासुद्दीन तुग़लक जैसे बादशाह तथा धर्मान्ध मुल्लागण उनके बढ़ते हुये प्रभाव तथा संगीत गोष्ठियों को पसन्द नहीं करते थे, परन्तु कोई कठोर पग उठाने का उनका साहस नहीं हुआ। निज़ामुद्दीन औलिया का नाम वास्तव में भारतीय सूफ़ी इतिहास में प्रभाव की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके मधुर व्यक्तित्व तथा उदार दृष्टिकोण ने उन्हें अत्यधिक जनप्रिय बना दिया था। उनका जन्म संवत् १३६३ वि० में बदायूँ में हुआ था। वे कहा करते थे, ओ मुस्लिमो, मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि वह (प्रभु) उसी को प्यार करता है जो उसके लिये मानवों को एवं मानवों के लिये उसको प्यार करते हैं। आगे चलकर अकबर के समय के प्रसिद्ध शेख़ सलीम भी इसी संप्रदाय के भक्त थे।

सुहरावर्दी संप्रदाय के शेख़ वहाउद्दीन ज़करिया भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे जो मुलतान को अपना केन्द्र बनाये हुए थे। उनके गुरुभाई हमीदुद्दीन नागोरी भी संगीत के बड़ प्रेमी थे। नागोरी ने 'तवलिउशमल' तथा 'लवाइह' दो पुस्तकें भी फ़ारसी में लिखी हैं। ज़करिया के एक शिष्य हुसैन अमीर हुसैनी ने भी तसव्वुफ़ पर अनेक

१. यसुफ हुसैनः ग्लिम्पसेज ऑफ मेडीवल इंडियन कल्चर, पृ० ३६।
२. सियारुल औलिया (यूसुफ हुसैन द्वारा पृ० ४३ पर उद्धृत)।

पुस्तकें लिखीं। इसी संप्रदाय के संत जहांगश्त को मुहम्मद तुग़लक ने 'शेख़ उल-इस्लाम' नियुक्त किया था, पर उनकी प्रकृति उसमें रमी नहीं और वे छोड़कर चले गये। इस संप्रदाय के अन्तर्गत मूसा सुहाग और उनका सदा सुहागिन संप्रदाय आता है।

फ़िर दौसिया संप्रदाय के सूफ़ी संत शेख़ शरफुद्दीन याहिया मनैरी (मृ० १४३७ वि०) का सम्मान फ़ीरोज़ तुग़लक बहुत अधिक करता था। इस संप्रदाय ने अपना मुख्य कार्यक्षेत्र वर्तमान बिहार प्रदेश को बनाया था। मनैरी स्वयं एक बड़े दार्शनिक और विचारक थे। मक्तूबात उनके विचारों की दिग्दर्शक श्रेष्ठ रचना है। यह वह काल था जब इब्नुल अरबी (१२२२ ई०, सं० १२९७ वि०) के 'वहदतुल वुजूद' के सिद्धांत का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ रहा था। परन्तु मनैरी ने अपनी स्वतंत्र चिंतना के बल पर उसे अस्वीकार किया था। वे इस्लाम की कट्टर विचारधारा के अधिक निकट थे।

क़ादिरी संप्रदाय की स्थापना बग़दाद में संवत् १२२२ में हुई थी तथा मध्य एशिया एवं पश्चिमी अफ़्रीक़ा में इस्लाम को फैलाने में इसने बड़ा योग दिया था परन्तु भारतवर्ष में यह मत शाह नियामतउल्लाह तथा मख़दूम मुहम्मद जीलानी द्वारा १५ वीं शती के अंतिम हिस्से (सन् १४८२) में लाया गया था। उन्होंने भी गुजरात में सुहरावर्दी संप्रदाय केन्द्र उच्छ को ही अपना केन्द्र बनाया। इस संप्रदाय में और भी अनेक संत हुए हैं। इनमें से दारा शिकोह के गुरु मियां मीर प्रसिद्ध हैं।

नक़्शबन्दी संप्रदाय हमारे लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह संप्रदाय विक्रम की १७वीं शती के मध्य भाग के आस-पास भारतवर्ष में ख़्वाजा बाक़ी बिल्लाह (१६२०-१६६० वि०) द्वारा लाया गया था। यह संप्रदाय 'शरीअत' की पुनर्प्रतिष्ठा पर बल देता है। ऊपर कहे गये समस्त संप्रदाय मनैरी को छोड़कर प्रेममार्गी थे। मुग़लकाल की नीति के अन्तर्गत वे ख़ूब फले-फूले थे। परन्तु १७वीं शती का अन्त होते-होते धर्मान्धता, शास्त्रीयता, शुद्धता (और रीति) की प्रवृत्तियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में बल पकड़ती हैं। नक़्शबन्दी संप्रदाय इस प्रवृत्ति की देन है। बाक़ी बिल्लाह के शिष्य शेख़ अहमद सिरहिन्दी 'मुजाहिद' ने भी इब्नुल अरबी के सिद्धांतों का ज़ोरदार खंडन करते हुए इस्लामी शास्त्रीयता को पुनर्प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया। इस प्रयास में ही औरंगज़ेब और नक़्शबन्दी संप्रदाय एक दूसरे का सहयोग और ममत्व प्राप्त कर सके। ईश्वर और जीव के भेद पर बल देते हुये उसने वैदान्तिक अद्वैतवाद के प्रभाव से अपने को अलग कर लेना चाहा।

इन प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त अन्य कई सूफ़ी संप्रदाय भी भारतवर्ष में प्रचार-कार्य कर रहे थे। आईने-अकबरी में अबुल फ़ज़ल ने चौदह सूफ़ी संप्रदायों

के नाम इस प्रकार गिनायें हैं :—चिश्ती, सुहरावर्दी, ज़ैदी, इयादी, अधमी, दुबेरी, हवीजी, तफ़ूजा करर्वी, सकती, जुनैदी, काजरूनी, तूसी और फ़िरदौसी,[1]

निष्कर्ष—इस प्रकार १६वीं शती में हमें प्रेमाभक्ति का अप्रतिहत प्रवाह दिखायी देता है। निम्बार्क की राधा इस युग में रसोपासना की इष्ट बन गयीं। चैतन्य का राधा-भाव ही गोस्वामियों द्वारा श्रेष्ठतम रस प्रतिपादित होता है। हितहरिवंश और हरिदास की माधुर्य-उपासना छोटे-बड़े सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी। पुष्टि-मार्ग में बालकृष्ण के साथ किशोर कृष्ण की लीलाएँ भी शत-शत, सहस्र-सहस्र पदों की रचना करवाती हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषता है, परन्तु मूल में मधुर-उपासना है और उनके सम्मिलित रूप में परिणाम भी माधुर्यभाव का प्रचार-प्रसार ही है। इन विविध साधनाओं के साधकों में आज का जैसा विद्वेष भी न था। वे लोग साधक थे—महन्त नहीं। आपस में अत्यन्त सौहार्द्र था, इसलिये वे एक दूसरे से प्रभावित भी होते थे। ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि बल्लभाचार्य जी ने श्री नाथ जी की सेवा-पूजा का भार बंगाली वैष्णवों के पास ही रहने दिया था। वे प्रयाग में चैतन्य देव से मिले भी थे।[2] प्रबोधानन्द (प्रकाशानन्द सरस्वती जिन्हें काशी में चैतन्य ने शिक्षा दी थी) हित हरिवंश के अन्यतम प्रशंसकों में थे तथा हरिराम व्यास ने राधाबल्लभीय होते हुए भी अपने पुत्र किशोरदास को स्वामी हरिदास से दीक्षा दिलवायी थी। गौड़ीय षट्गोस्वमियों को वृन्दावन में अत्यन्त आदर के साथ देखा जाता था। एवं उनके भक्तिरस-संबंधी विवेचनों का प्रभाव निश्चित रूप से अन्य आचार्यों पर भी पड़ा। स्वयं चैतन्य दक्षिण से जो दो ग्रन्थ लाये थे, उनमें लीला शुक बिल्वमंगल का 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी का था। गौड़ीय वैष्णव मधुर-रस

---

१. डॉ० विमलकुमार जैनः सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ८३ पर उद्धृत।

२. "भक्ति के साधन-पक्ष में श्री बल्लभाचार्य जी के सम्प्रदाय पर श्री रूपगोस्वामी द्वारा विवेचित भक्ति-पद्धति का किसी हद में प्रभाव, श्री विट्ठल नाथ जी के समय में अवश्य हुआ।...संभव है कि श्री बल्लभाचार्य जी ने अथवा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने गान और वाद्य की महत्ता चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से ली हो।"

डॉ० दीन दयालु गुप्त : अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५८।

दृष्टव्य है कि गान और वाद्य की यह महिमा अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों में भी स्वीकार की गयी एवं उसका चरम रूप स्वामी हरिदास में उपलब्ध होता है।

के उपासक थे ही, निम्बार्क की दशश्लोकी में भी राधा की स्तुति है। निम्बार्कियों में मधुर-उपासना का प्रवाह श्री भट्ट से प्राप्त होने लगता है। यह बात दूसरी है कि बंगाल में राधा परकीया बनी रहीं पर वृन्दावन में वे स्वकीया बन गयीं; तथा हित हरिवंश एवं हरिदास की नित्य लीला में वे स्वकीया-परकीया निर्विशेष। यह प्रेम-साधना राधा एवं गोपियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। पीछे हम माधवेन्द्र-पुरी का जिक्र कर चुके हैं। श्रीनाथजी के विग्रह की प्रतिष्ठा बल्लभ ने की, उसके पूर्व पुजारी का नाम माधवानन्द (बंगाली) वार्तासाहित्य में आता है तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के बाल-गुरु माधवेन्द्र पुरी बतलाये गये हैं। ये दोनों यदि एक ही न भी हों, तब भी पुष्टिमार्गीय आचार्यों एवं गौड़ीय वैष्णव भक्तों का निकट सम्पर्क एवं सान्निध्य तो सिद्ध होता ही है। विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों ने सम्प्रदाय का ध्यान रखे बिना ही भक्तों के नामों का सादर उल्लेख किया है। हरिराम व्यास का एक पद देखिए :—

बिहारिहिं स्वामी बिनु को गावै।
बिनु हरिबंसहि, राधा बल्लभ, को रस रीति सुनावै।
रूप सनातन बिनु को बृन्दाविपिन-माधुरी पावै।
कृष्णदास बिनु, गिरिधर जू कों, को अब लाड़ लड़ावै।
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जान उर लावै।
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु, को सब बंधु कहावै।
परमानन्द दास बिनु, को अब लीला गाइ सुनावै।
सूरदास बिनु, पद रचना को, कौन कविहिं कहि आवै।
और सकल साधन बिनु, कों कलिकाल कटावै।
व्यास दास इन बिन को अब तन की तपन बुझावै।

भक्तों का गुणगान करते समय इन लोगों ने निर्गुण-सगुण जैसे अन्तर भी नहीं किए हैं।

राधाकृष्ण की भक्ति के इस स्वरूप ने सगुण मत के दूसरे मुख्य आराध्य राम के उपासकों-भक्तों को भी बहुत प्रभावित किया। १७वीं शती से यह प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था तथा १८वीं १९वीं शती तक यह प्रभाव बढ़ता ही गया। सगुणोपासक न होने के कारण संत-मत में इन दम्पति-लीलाओं की सीधी अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, परन्तु मधुर-भाव की जो मूल धारणा थी, उसका प्रकाशन साधक एवं आराध्य के मध्य प्रतीक रूप से अवश्य हुआ। इस प्रतीक पद्धति के लिये तत्कालीन साधनाओं में सूफ़ी प्रेम-भावना सीधी प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान थी। सूफ़ी प्रेम-भावना स्वयं इन प्रेमाभक्ति की विविध साधनाओं को

---

१. भक्त कवि व्यास जी, पृ० १९७, पद संख्या २६।

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही थी और स्वयं भी प्रभावित हो हरी थी। वास्तव में ये सभी साधनाएँ परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं हैं। परन्तु इन प्रभावों का आन्तरिक स्वरूप-निर्धारण एवं प्रभावित प्रक्रिया की गति का वस्तुपरक निर्णय कठिन है। जीवन्त साधनाओं की ग्रहण-प्रक्रिया इतनी जटिल एवं सूक्ष्म होती है कि उसकी समस्त शिराओं का विश्लेषण नितान्त दुरूह हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे अध्ययन के लिए व्यापक सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के आँकड़े भी इस समय तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। जब तक समाज के विभिन्न पक्षों एवं विचारों के प्रामाणिक इतिहास नहीं प्रस्तुत हो जाते तब तक प्रभावों की व्याख्या के लिए स्पष्ट और दृढ़ आधार नहीं मिल सकता है तथा सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन सब की निर्भ्रान्त व्याख्या भी संभव नहीं हो सकती।

द्वितीय अध्याय

भक्ति-विवेचन

भक्ति के तत्त्व

पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि भक्ति की प्राचीन परम्परा पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में आकर एक नये आवेश और शक्ति से समृद्ध हो उठती है। इसी काल में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का उद्भव होता है। यद्यपि बाद को भी कुछ सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, पर वे सभी मूलतः इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। इस अध्याय में हम भक्ति के स्वरूप-विश्लेषण का प्रयास करेंगे। भक्ति की विविध परिभाषाओं के अनुशीलन से हमें ऐसा लगा कि भक्ति के कतिपय सामान्य तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं। आचार्यों ने अपनी पूजा, भाव या दर्शन-विशेष के अनुसार इनमें से कभी किसी एक पर बल दिया है और कभी किसी दूसरे पर। नीचे हम भक्ति की कतिपय परिभाषाएँ दे रहे हैं:—

१. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता ९।१३-१४)

२. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वाममनुस्मरमतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

(विष्णु पुराण १-२०।२०)

(अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुये तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदय से कभी दूर न हो।)

३. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृशीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

(नारद पाँचरात्र, कल्याण, भक्ति, अंक, पृ० २६१ पर उद्धृत) तत्परतापूर्वक सम्पूर्ण उपाधियों से रहित होकर इन्द्रियों से विशुद्ध भवगत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।)

४. (क) मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
(श्री मद्भागवत, ३।२९।११-१२)

(सागर में स्वतः प्रवाहित गंगा के जल की धारा के समान जो मनोगति मेरे गुण-श्रवण मात्र से फलानुसन्धानरहित तथा भेददर्शन-विहीन (अनन्य भाव) होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तम में, अविच्छिन्न भाव से निहित होती है, वह मनोगति रूपा भक्ति ही निर्गुण भक्तियोग का स्वरूप है।)

तथा

(ख) देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।
अनिमित्ता भागवती भक्ति..............
(श्री मद्भागवत, ३।२५।३२-३३)

(तात्पर्य यह कि सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से जब भगवान में लगती है तो उसे भक्ति कहते हैं।)

५. मोक्षकारणसामग्रयाँ भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।।
स्वात्मतत्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।
(शंकराचार्यः विवेक चूड़ामणि, ३२, ३३)

(मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुन्धान करना ही 'भक्ति' कहलाता है। कोई कोई स्वात्मतत्त्व का अनुसन्धान ही भक्ति है—ऐसा कहते ।)

६. भज इत्येष वैधातुः सेवायां परिकीर्तिता।
तस्मात् सेवा बुधेः प्रोक्ता भक्तिसाधनभूयसी।
(गरुड़ पुराण, अ० २३१)

(भज् धातु का सेवन के अर्थ में प्रयोग होता है, इसलिये बुद्धिमानों ने सेवा को ही भक्ति का प्रधान कहा है ।)

७. **पूज्येष्वनुरागो भक्तिः** (पूज्य जनों में अनुराग ही भक्ति है।)
(देवी भागवत, ७।३१)

८. (क) **सा परानुरक्तिरीश्वरे** (वह ईश्वर में परानुरक्ति है।)
(शांडिल्य भक्तिसूत्र,२)

(ख) **द्वेष प्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः** । (वही, ६)

९. (क) **सा त्वस्मिन परमप्रेमरूपा** (वह ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपाहै)
(नारदभक्तिसूत्र,२)

(ख) नारद भक्ति सूत्र में बताया गया है कि भगवान की पूजादि में ('अनुराग' पाराशर के अनुसार भक्ति है तथा कथाओं आदि में 'प्रेम' गर्ग मुनि के के अनुसार भक्ति की परिभाषा है । सूत्र १६ एवं १७)

१०. (क) "**स्नेहपूर्वकमनुध्यानम्**"—रामानुज, विशिष्टाद्वैत कोश,
(संपादक, डी० टी० ताताचार्य, पृ० १८४)

(ख) **महनीयविषये प्रीतिरेव प्रीतिरूपापन्नध्यानम्, सा एव भक्ति योगः;**
परमाभक्तिरतिशयिता प्रीति
(परमाभक्ति अतिशय प्रेम है।) (वेदान्त देशिक, वही पृ०-१८४)

११. श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुसार "भक्ति का सार है प्रपत्ति··· प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा संपादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होती है।" (वही पृ० २१७-१८)

१२. **कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते**
यथाभवेत् प्रेम विशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिका परा॥
(निम्बार्काचार्य दशश्लोका ९)

(दैन्यादि गुणों से युक्त पुरुष के ऊपर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा प्रकट होती है।

उस कृपा के द्वारा उन सर्वेश्वर परमात्मा में प्रेम विशेष रूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यह भक्ति दो प्रकार की है—
(एक साधारण रूपा अपराभक्ति और दूसरी उत्तमा-पराभक्ति)

१३. माध्व संप्रदाय में मल रहित, निर्दोष (निःस्वार्थ) अमलाभक्ति को सायुज्य मुक्ति का उपाय माना है।

(बलदेव उपाध्याय: भागवत संप्रदाय, पृ० २२६)

१४. **सा तैलधारासमानित्य-संस्मृति सन्तानरूपेशिपरानुरक्तिः।**
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यनाद्यष्टसुबोधकांगा।।

(रामानन्द—वै० म० भा०, श्लोक ६५)

(तेलधारा के समान अविच्छिन्न रूप से नित्य स्मरणपूर्वक परम अनुराग ही भक्ति है। वह सात विवेकादि उपायों से उत्पन्न होती है तथा यनादि के आठ अंक उसके बोधक हैं।)

१५. **माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।**
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।

(बल्लभाचार्य:त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ४६)

(भगवान के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक उनमें सर्वाधिक और दृढ़ स्नेह का होना ही भक्ति है और उसी से मुक्ति होती है। मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

१६. **अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माधनावृतम।**
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा।

(रूप गोस्वामी: हरिभक्ति-रसामृत सिन्धुं, पूर्वक विभाग, १।११)

(सम्पूर्ण अभिलाषाओं से रहित तथा ज्ञान और कर्म से अनाच्छादित श्रीकृष्ण के अनुकूल अनुशीलन उत्तमा भक्ति है।)

१७. **द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकता ङ्गता।**
सर्वेशेमनसो वृत्तिर्भक्तिप्रित्यभिधीयने।

(मधुसूदन सरस्वती: भक्ति-रसायन, १।३)

(भागवत धर्मों को सेवन करने से द्रवित हुये चित की भगवान सर्वेश्वर के प्रति जो धारावाहिक (अविच्छिन्न) वृत्ति है, उसी को भक्ति कहते हैं।)

१८. **भक्तिर्भनस उल्लासविशेष:।** (भक्ति-भीमांसा-सूत्र, १)
(भक्ति मन का विशेष उल्लास है।)

१९. सर्वात्मनानिमित्तैव स्नेहधारानुकारिणी।
वृत्तिः प्रेम परिष्वक्ता भक्तिर्माहात्म्य बोधजा।।
(शांडिल्य संहिता, कल्याण, भक्ति-अंक, पृ० २४७ पर उद्धृत)

२०. निसिदिन हरि सों चितासक्ति, सदा ठग्यो सो रहिये।
कोऊ न जानि सके, यह भक्ति प्रेम लक्षणा कहिये।।
(सुन्दर दासः ज्ञान समुद्र, भक्ति निरुपण ४०)

इन परिभाषाओं तथा सम्वधित साहित्य के अध्ययन के पश्चात् हम भक्ति के निम्नलिखित तत्त्व निर्धारित कर सकते हैं :—

(१) **प्रेमः**—भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रेम है, यह कहना तनिक भी अनुचित न होगा।[1] वास्तव में यह तत्त्व ही वह आधार है जो भक्ति को अन्य साधनामार्गों से पृथक् ही नहीं करता, श्रेष्ठ भी बनाता है। यों तो भागवतकार ने कहा है, "जो पुरुष भगवान् में निरन्तर काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द का भाव रखते हैं वे भी तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं।[2]" तथा बल्लभाचार्य ने भी लिखा है, 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय। व्रजाधिपः...।[3] परन्तु जैसा कि पूर्व-कथित परिभाषाओं[4] से ज्ञात होगा कि रागतत्त्व का, भक्ति के क्षेत्र में, जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेमभावना (अनुरक्ति, स्नेह, लगाव) में होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह प्रेमभावना अनेक रूप ले सकती है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगें।

यहीं पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इस प्रेम से तात्पर्य क्या है? चैतन्य संम्प्रदाय में प्रेम को काम से अलग करते हुये उसे कृष्णसुख-तात्पर्य

---

१. (क) तत्त्ववस्तु कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेमरूप।
चै० च० आ० ली०, परि०२, पृ० १०।
(ख) प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई
रा० च० मा०, उ० का, ८९।
२. श्री मद्भागवत ३।२९।१५।
३. चतुःश्लोकीः १।
४. दृष्टव्य परिभाषा संख्याः२, ७, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १८, १९, एवं २०।

कहा ।[1] पुष्टिमार्गीय गोपेश्वर महाराज ने अपने 'भक्तिमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में प्रेमसम्बन्धी कतिपय विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार 'भक्ति-चिन्तामणि' में योग-वियोग-वृत्ति को प्रेम कहा गया है, यानी कि योग में वियोग की शंका और वियोग में योग की उत्कंठा ही प्रेम है। इसी से मिलता-जुलता गुणाकर का मत उद्धृत है—यथा 'योगे वियोग वृत्तिः प्रेम तथा वियोगे योगवृत्तिरपि प्रेम ।[2] गोविन्द चक्रवर्ती का मत है कि जो तमाम आपत्तियों के एवं कठिनाइयों के बीच भी नहीं छीजता, ऐसा गाढ़ व्यसन ही प्रेम है ।[3] परमार्थ ठक्कुन के अनुसार वस्तु के प्रति एक (गहन) अवर्णनीय पुकार (या खिंचाव) को प्रेम कहते हैं ।[4]

इन मन्तव्यों में एक विशेष आकर्षण या आकांक्षा-तत्त्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है, एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। विष्णुपुराण[5] रामचरित मानस[6] सुन्दर दास के ज्ञान समुद्र[7] आदि में इसी आकर्षण को स्वीकार किया गया है ।

आकर्षण जो जड़ के प्रति है वह चिद् के प्रति हो जाय— शर्त केवल इतनी है। जीव गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-सन्दर्भ' में स्पष्ट कहा है, "तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषय संसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्याय, तादृश

---

१. आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम
कृष्णोन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल
आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार
कृष्ण-सुख-हेतु करे सद्व्यव्हार ।

कृष्णदास कविराजः चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, परिछेद ४, पृ० २८

२. अब हम आगे चलकर देखेंगे कि राधावल्लभ-संप्रदाय जैसे रसिक मतों की प्रेम-भावना पर ऐसे मतों का गहरा प्रभाव है।

३. गाढ़-व्यसन-साहस्त्र सम्पातेऽपि निरन्तरम् न हीयते
यदिहेति स्वादु तत प्रेमलक्षणम् । भक्ति-मार्तण्ड, पृ० ७५

४. वस्तुमात्रविषयिणी वचनानर्हासमीहा प्रेम —वही

५. १।२०।२०

६. अन्तिम दोहा

७. भक्ति निरूपण, ४३

एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।[१] अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावतः ही विषयों के प्रति विषय-संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है जैसे आँखों आदि का सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, तब उसे राग कहते हैं।

परन्तु गोपेश्वर महाराज राग के इस आकांक्षा तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकांक्षा एक दूसरी आकांक्षा (पुरुषार्थ) का विषय नहीं बन सकती। उनके अनुसार भक्ति में 'भज्' धातु है एवं 'क्तिन्' प्रत्यय है। धातु का अर्थ सेवा है और प्रत्यय का प्रेम। इन दोनों से मिलकर यह शब्द बनता है, और दोनों ही अर्थों को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर होती है एवं सेवा के बिना प्रेम पूर्ण नहीं होता है।[२]

इस विवेचन से हम भक्ति के दूसरे तत्त्व पर पहुँचते हैं और वह है सेवा।

(२) सेवा—'गरुड़ पुराण' की परिभाषा में व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा है। 'नारद पांचरात्र' की परिभाषा में भी इन्द्रियों द्वारा सभी उपाधियों से मुक्त होकर तत्परतापूर्वक सेवा करने का ही निर्देश किया गया है।[३] निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वयं निम्बार्क ने कहा है कृष्ण के चरण कमलों की सेवा छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं हैं—

नान्या गतिः कृष्ण पदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंदितात्।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्य-विग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य साशयात्।[४]

वास्तव में जहां भी सखी-भाव या मंजरी-भाव की उपासना स्वीकृत है वहां पर सेवा-भावना अनिवार्य है। निम्बार्क, चैतन्य, राधाबल्लभीय, हरिदासी एवं राम-भक्ति के मधुरोपासक, इन सभी सम्प्रदायों में सखी द्वारा युगल रूप की सेवा सर्वात्मना स्वीकृत है। पुष्टि-मार्ग को तो सेवा-मार्ग भी कहते हैं। वहां पर तनूजा, वितजा और मानसी, तीन प्रकार की सेवाएँ मानी जाती हैं। बल्लभाचार्य

---

१. जीव गोस्वामीः भक्ति सन्दर्भ (षट् सन्दर्भ) पृ०—६४८ (प्र० श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)।
२. ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी; (चतुर्थ खंड) एस० एन० दास-गुप्त, पृ० ३५१।
३. देखिये परिभाषा सं० ६।
४. निम्बार्क : दशश्लोकी : श्लोक ८।

के अनुसार 'कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परामता ।'[1] बल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ सेवा-फल में सेवा का स्वरूप एवं परिणाम सभी विवेचित किये हैं। उनके अनुसार सेवा के तीन फल प्राप्त होते हैं—अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह। इनमें प्रथम सबसे श्रेष्ठ है जो कि मानसी सेवा का परिणाम है। पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध आचार्य हरिराय जी ने भी सेवा का विशेष विवेचन किया है। उनके अनुसार भी तीन प्रकार की प्रभु-सेवा में मानसी सेवा ही फल-रूपिणी एवं निरोधरूपा है तथा वह ब्रजभक्तों में यहीं दिखायी देती है। हरिराय जी ने तो सेवा और पूजा का भी अंतर स्पष्ट करते हुये बताया है कि सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है।[2] गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने सेवा-विधि की सांगोपांग व्यवस्था की थी। इस तत्त्व के अन्तर्गत ही विविध सम्प्रदायों की अष्टयाम सेवा भी आती है। दास-भाव की भक्ति का तो मुख्य आधार ही सेवा-तत्त्व है। वात्सल्य में पुत्र की सेवा होती है और सख्य भाव में भी सेवा का अभाव नहीं है।

सेवा या तो प्रिय की होती है (और प्रेम तत्त्व को हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं) या फिर महत् की। इस स्थापना के साथ ही हम भक्ति के तीसरे तत्त्व पर आते हैं।

(३) माहात्म्य-ज्ञान—नारद ने अपने भक्ति-सूत्र भक्ति-भावना के लिये 'यथाब्रजगोपिकानाम्'[3] कहा है। तत्पश्चात् अगले सूत्र में ही कह दिया है कि इस अवस्था में भी (गोपियों में) माहात्म्य-ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं, क्योंकि उसके बिना वह प्रेम जारों के प्रेम के समान है।[4] बोपदेव ने इसी बात को अपने 'मुक्ताफल ग्रन्थ' में दुहराया है कि स्नेह निषिद्ध तत्त्व तब बन जाता है जबकि देवता को देवता की तरह न देखकर मित्र के समान देखा जाता है।[5] वास्तव में बिना माहात्म्य-ज्ञान के जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा, एवं जब तक अहंता विद्यमान है तब तक प्रभु-प्राप्ति होती नहीं। माहात्म्य-ज्ञान होने पर ही प्रेम 'तत्सुखी' बनता है। इसीलिये बल्लभाचार्य ने 'सुदृढ़' एवं 'सर्वतोऽधिक प्रेम' को माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक होने पर ही भक्ति कहा

---

१. वल्लभाचार्य, सिद्धान्त-मुक्तावली, १।
२. गोस्वामी हरिराय : स्वमार्गीय सेवाफल-निरूपण, रूप-निर्णय, श्लोक ४८।
३. ना० भ० सूत्र, २१।
४. वही, सूत्र २२-२३।
५. के० सी० वरदाचारी : "आसपेक्ट्स आॅफ भक्ति" (मैसूर यूनिवर्सिटी, १९५६) में उद्धृत, पृ० १५।

है ।[1] यद्यपि प्रेम की श्रेष्ठतम स्थितियों में 'माहात्म्य-ज्ञान' का महत्त्व कम हो जाता है, ऐसा विद्वानों का कथन है । स्वयं गोस्वामी हरिराय के अनुसार, "श्री आचार्य जी के मारग को स्वरूप कहा है, जो माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक दृढ़ स्नेह सो सर्वोपरि है, सो ठाकुर जी को बहुत प्रिय है, परन्तु जीव माहात्म्य राखे । सो काहे ते । जो माहात्म्य बिना अपराध को भय मिट जाय तासों प्रथम दशा में माहात्म्य-युक्त स्नेह आवश्यक कहिये···सो ठाकुर जी भक्तन के स्नेहवश होय भक्तन के पाछे-पाछे डोलते हैं; सो जहां ताईं ऐसो स्नेह नाहीं होय, तहां ताईं माहात्म्य राखनो···तासों माहात्म्य विचारे और अपराध सो डरपे तो कृपा होय । जब सर्वोपरि स्नेह होयनों तब आप ही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कूं छुड़ाय देयगो ।[2] पर हमारा विचार है कि इस स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते माहात्म्य-ज्ञान अवचेतन में इतना गहरे पैठ चुका होता है कि बिना ऊपर से ध्यान रखे वह साधक के कार्यों का नियामक बन जाता है ।

(४) अविच्छिन्नता या नैरन्तर्य—यदि प्रेम-भावना, सेवा या माहात्म्य-ज्ञान आदि कभी-कभी ही मन में आवें तो मन में वह तीव्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान् को निजी संबंधों में बाँध देती है । इसी कारण भक्ति के परिभाषाकारों एवं व्याख्याताओं आदि ने बार-बार भक्ति की अविच्छिन्नता, नैरन्तर्य, धारावाहिकता या अव्यभिचारित्व एवं सातत्य की ओर संकेत किया है । पीछे दी गयी परिभाषाओं में गीता, भागवत, रामानन्द, मधुसूदन सरस्वती, शाण्डिल्य संहिता, सुन्दरदास आदि ने इसी तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है ।[3] पुष्टिमार्ग, चैतन्य, राधाबल्लभ आदि सभी सम्प्रदायों में भक्ति के इस नैरन्तर्य वाले तत्त्व की ओर इंगित किया गया है । देवी भागवत भी तैलधारा के समान अविच्छिन्नता को स्वीकार करती है ।[4]

(५) अनन्यता—अविच्छिन्नता का ही अलग चरण अनन्यता है । भागवतकार ने इस क्रम को अत्यधिक काव्यात्मक रूपक में कहा है । उनके अनु-

---

१. (क) परिभाषा सं० १५ एवं १९ ।
   (ख) वेदान्त देशिक (परि० सं० १० (ख) ने महनीय विषय में प्रीति कहकर माहात्म्य-ज्ञान की ही ओर संकेत किया है ।
२. अष्टछाप-वार्ता-कांकरौली, पृ० १८ ।
३. दे० परिभाषा सं० १,२,१४,१७,१९ एवं २० ।
४. देवी हिमालय से पराभक्ति के विषय में कहती है कि उसका साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा नाम-कीर्तन किया करता है एवं "कल्याणगुण-रत्नानामाकराणां मयि स्थिरम् । चेतसो वर्त्तनं चैव तैलधारासमं सदा ॥ ७।३७।११-१२ ।

सार सागर में स्वतः प्रवाहित गंगाजल की धारा के समान जब मनोगति अनन्य भाव से भगवान् में निहित होती है, तो उसे निर्गुण-भक्ति कहते हैं।[१] गंगा की धारा जहाँ नैरन्तर्य का द्योतक है, वहीं सागर में ही गिरना उसकी अनन्यता है। इसी प्रकार मात्र इष्ट देव में ही प्रेम, सेवा आदि निरन्तर लगे रहें तभी भक्ति की स्थिति संभव है। जब तक मन में द्विविधा, संशय या व्यभिचारित्व विद्यमान है तब तक वह एकाग्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान् को एक कर देती है। तुलसीदास ने अपने चातक के आदर्श[२] के माध्यम से इसी अनन्यता की ओर संकेत किया है। निम्बार्क की तथाकथित दशश्लोकी का "नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दगत्" (श्लोक ८) इसी अनन्यता की ओर संकेत करता है। गीता इसी अनन्यता की चाह करती है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥[३]

अर्थात् जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुक्त परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुये भजते हैं, उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों के योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ। नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति निरोधरूपा होती है।[४] भगवान् में अनन्यता एवं प्रतिकूल विषय में उदासीनता को निरोध कहते हैं।[५] फिर अनन्यता की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है।[६] वास्तव में प्रेमी भक्त के मन में अपने प्रियतम को छोड़कर और किसी की कल्पना ही नहीं होती है। रहीम ने ठीक कहा है :—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहां समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ॥

इसी प्रकार सुन्दरदास ने भी अपने ज्ञान-समुद्र में भक्ति-निरूपण वाले अध्याय में कहा है—

सुनै न कान और की, द्रसै न और अच्छना।
कहै न बात और की, सुभक्ति प्रेम लच्छना ॥[७]

---

१. श्री मद्भागवत ३।२९।११-१२।
२. चातक चौंतीसी, दोहावली—२७७ से ३१२।
३. गीता ९।२२ अथवा ११।५४।
४. ना० भ० सू०—७।
५. वही—९।
६. वही, १०।
७. ज्ञान समुद्रः भक्ति निरूपण, छंद ३९।

प्रह्लाद जब भगवान से अविचल भक्ति माँगते हैं, तब इसी अनन्यता की ओर ही इंगित करते हैं।[1] श्री रूप गोस्वामी ने अपनी भक्ति की परिभाषा[2] में यद्यपि अनन्यता का उल्लेख नहीं किया है, पर परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम अनन्यता वाले तत्त्व को निश्चित रूप से उपलब्ध करते हैं। जब कोई अन्य अभिलाषा नहीं है, ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है और मात्र अनुकूल-भाव से कृष्णानुशीलन है तो अनन्यता स्पष्ट प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'नारद पाँचरात्र' की परिभाषा[3] में भी अनन्यता का अभिप्राय निहित है। वास्तव में प्रेम-भावना के पश्चात् दूसरा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अनन्यता ही है। श्री संप्रदाय में प्रपत्ति के तीन विशेषण—अनन्य शेषत्व, अनन्य साधनत्व एवं अनन्य भोगत्व भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। अन्य भक्तिमार्गों की साधना-पद्धतियाँ भी अनन्यता को बराबर स्वीकार करती हैं।

(६) शरणागति या प्रपत्ति :—अनन्य या अविच्छिन्न भाव से किये जाने वाले प्रेम और सेवा की वह स्वाभाविक परिणति है कि भक्त अपने को संपूर्णतया भगवान् के चरणों में अर्पित कर दे। इस अर्पण का सर्वश्रेष्ठ रूप शरणागति है, जहाँ पर कि भगवान पर ही अपने सारे योग-क्षेम का भार सौंपकर वह निश्चिन्त हो जाता है। श्रीमद्भगवत्दगीता में इस शरणागति एवं आत्मसमर्पण के भाव की अत्यधिक विवृति हुई है:—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।[4]
मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामैवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे[5]
सर्वधर्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।[6]

अपनी सुरक्षा अधिक शक्तिशाली के हाथ सौंप देना स्वाभाविक ही नहीं विवेकपूर्ण भी है। पीछे हम परिभाषा संख्या ११ में श्री सम्प्रदाय का मत उद्धृत कर चुके हैं कि भक्ति का सार प्रपत्ति है। बल्लभाचार्य ने भी शरणागति को बहु-

---

१. नाथ योनिसहस्त्रेषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि। विष्णु पुराण १।२०।१९।
२. दे० परिभाषा सं० १६।
३. „ „ सं० ३।
४. गीता १८।६२।
५. वही १८।६५।
६. वही १८।६६।

मान दिया है।[1] जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति-सन्दर्भ में वैधि भक्ति के जिन ११ तत्त्वों की चर्चा की है, उनमें प्रथम शरणागति है एवं अंतिम आत्मनिवेदन। मानो एक ही भाव की दो स्थितियों से उसे सम्पुटित किया गया हो। नवधा-भक्ति का अंतिम तत्त्व आत्म-निवेदन तो सर्वविदित ही है। रामानन्द ने भी भक्ति के क्षेत्र में आत्मसमर्पण को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।[2]

आगम ग्रन्थों में प्रपत्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।[3] 'अहिबुध्न्य संहिता' एवं 'नारद पांचरात्र' में उसे ६ प्रकार की बताया गया है।[4] प्रथम है भगवान् की अनुकूलता का संकल्प अर्थात् जो भगवद्भाव के अनुकूल कर्त्तव्य हो उनके पालने का नियम। द्वितीय है प्रतिकूलता का त्याग। तृतीय प्रकार यह विश्वास है कि प्रभु निश्चय ही हमारी रक्षा करेंगे। एकान्त में भगवान् से अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करना (लक्ष्य-निर्धारण) शरणागति का चौथा प्रकार है। पंचम है आत्म-निवेदन, अपने को सम्पूर्णतया भगवान को समर्पित कर देना तथा कार्पण्य या कातरता का प्राकट्य (अन्य दिशाओं में) प्रपत्ति का छठवां रूप है। पर लौकिक व्यवहार एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक अनुकूल क्रम यों होगा—

(१) कार्पण्य (२) आत्म-निवेदन (३) विश्वास (४) गोप्तृत्व का वरण (५) प्रतिकूलता का वर्जन (६) अनुकूलता का संकल्प।

शरणागति और आत्म-समर्पण की महत्ता को भागवतकार ने अत्यधिक दृप्त शब्दों में व्यक्त किया है:

---

१. तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णशरणं मम
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।
वल्लभाचार्य, नवरत्न श्लोक ९।
(कल्याण, सन्त-वाणी अंक में संकलित)

२. बलदेव उपाध्याय, भागवत संप्रदाय- पृ० २६५।

३. के० सी० वरदाचारी : आसपेक्ट्स ऑफ भक्ति, पृ० ४१।

४. आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः
(अ० सं० ३७।२८)।

तथा प्रपत्तिरानुकूल्यस्य संकल्पो प्रतिकूलता।
विश्वासो वर्णनन्यास : कार्पण्यम् इति षड्विधा (नारद पांचरात्र, वरदाचारी द्वारा उद्धृत पृ० ४१।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा,
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्म भूयाय च कल्पते ।[१]

यानी कि मनुष्य जब सारे कर्मों का त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य की प्राप्ति के योग्य हो जाता है ।

जब साधक अपने को पूर्णतया भगवान् के भरोसे छोड़ देता है, तब उस परम ऐश्वर्य, परम मधुर एवं परम प्रिय से यह आशा करना अनुचित नहीं है कि वह भक्त पर कृपा करेगा । शरणागति के ६ रूपों में हम यह देख आये हैं कि उनमें से एक है—रक्षा का विश्वास । इस प्रकार जैसा कि श्री-सम्प्रदाय में कहा है, शरणागति या प्रपत्ति से प्रभु-कृपा प्राप्त होती है और वही कल्याण करने वाली होती है ।

प्रभु-अनुग्रह :—इस प्रकार भक्ति का सातवाँ तत्त्व प्रभु-अनुग्रह सिद्ध होता है । मध्यकाल के लगभग सभी भक्ति-सम्प्रदायों में प्रभु की कृपा स्वीकार की गयी है । ऊपर हम अभी 'श्री' सम्प्रदायानुसार प्रभु-कृपा प्राप्त होने की बात कह चुके हैं । वल्लभ-संप्रदाय का पुष्टिमार्ग नाम ही प्रभु-कृपा पर आधृत है ।[२] रामानुज प्रपत्ति के द्वारा प्रभु-कृपा संपादित करने को कहते हैं, वल्लभ ने क्रम बदल दिया । यहाँ पर प्रभु-कृपा प्रधान हो गयी । भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है, इसलिये भक्त को अपना सब कुछ भगवान् को ही समर्पित करना होता है । वल्लभ ने स्पष्ट कहा है, पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु-अनुग्रह द्वारा ही साध्य है;[३] तथा भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है ।[४] हरिराय जी ने भी पुष्टिमार्ग-लक्षणानि में कहा है, "अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी" ।[५]

निम्बार्क की भक्ति-परिभाषा[६] में भी कृष्ण-कृपा का स्पष्ट उल्लेख है । इस परिभाषा की आत्मा और वल्लभ के विचारों में पर्याप्त साम्य जान पड़ता है । यहाँ पर भी परमातमा की कृपा से दैन्यादि गुणों वाले व्यक्ति पर प्रभु की

१. श्रीमद्भागवत्, ११।२९।३४ ।
२. पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४ ।
३. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः, अणु भा० ४।४।९ की टीका ।
४. अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इतिस्थितिः ।
वल्लभः सिद्धांत-मुक्तावली, श्लोक १८ ।
५. पुष्टिमार्ग लक्षणानि—श्लोक २ ।
६. परि० सं० १२ ।

कृपा का उत्पन्न होना माना गया है और इस प्रभु-कृपा से ही उन सर्वेश्वर परमात्मा में प्रेम-विशेषरूपा भक्ति की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। निम्बार्क-सम्प्रदायानुसार सत्ता का अनुभव या साक्षात्कार श्रीकृष्ण की कृपा से उनके अनन्य भक्त को ही होता है[1] तथा प्रभु की कृपा का फल प्रभु की शरण प्राप्ति करना है।

गौड़ीय-वैष्णव-मत में तीन प्रकार की भक्ति मानी गयी है, साधन-भक्ति, भाव-भक्ति तथा प्रेम-भक्ति। ये उत्तरोत्तर एक दूसरी से श्रेष्ठ हैं, एवं एक स्थिति से दूसरी में प्रयाण होता है। परन्तु यह अनिवार्य क्रम नहीं है। कृष्ण-कृपा से किसी भी स्थिति में कोई भी प्रेम उत्पन्न हो सकता है। भक्ति का तीन प्रकार से उद्भव रूप गोस्वामी ने माना है :

साधनअभिनिवेशजा, कृष्णप्रसादजा, कृष्णभक्तप्रसाद जा।[2] प्रेमभक्ति को भी दो प्रकार की रूप गोस्वामी ने माना है—भावोत्य तथा हरिप्रसादोत्य[3] इस प्रकार हरिकृपा को पर्याप्त महत्त्व यहां भी प्राप्त है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के बारे में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है, "सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ-सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है ...। जब तक वह जीव-रूप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है, किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है तब वह सहचरी-रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनंद को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य-बिहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है।[4] स्वामी हरिदास के सम्प्रदायानुयायी विहारिणि दास का भी कहना है कि साधन और उद्यम सब व्यर्थ हैं, प्रभु की कृपा ही मुख्य है।[5] वास्तव में भक्त-कवियों के दर्जनों उदाहरण ऐसे दिये

---

१. डॉ० नारायणदत्त शर्मा : निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण भक्ति हिन्दी कवि (अप्रकाशित प्रबन्ध, पृ० १२८)।

२. कृपाफलं चेतत्प्रपत्तिलाभ लक्षणमित्येतत्

निम्बादित्य–दशश्लोकी, हरिव्यास देव, पृ० ३८।

हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पू० वि०, तृतीय लहरी, श्लोक ४।

३. वही, पू० वि०, चतुर्थ लहरी, श्लोक ३।

४. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २१९।

५. साधन श्रम कछु ना कियो ना कछु करिबे योग
कृपा बिहारिणिदास की सहज संयोगी भोग।
ऐसी स्वामिनि साहिं बिन रसिक अनन्य उदार
बिहारिणि दासि प्रसन्न व्है दियो अहार विहार॥

विहारिणिदास, रस के दोहा, १५० और १५१।

जा सकते हैं, जिनमें कि प्रभु-कृपा की महिमा का गान किया गया है। वस्तुतः निर्विशेष-समर्पण की यह अनिवार्य परिणति है और यह तत्त्व भी उसे अन्य साधन-मार्गों से विशिष्ट बनाता है।

(८) निष्काम एवं अहैतुकी वृत्ति :—यद्यपि श्रीमद्भागवत में सात्त्विक, राजस एवं तामस भक्तों को सकाम-भावना से युक्त बताया गया है, पर उसे श्रेष्ठ नहीं माना गया। वहाँ पर भी निर्गुण-भक्ति को अहैतुक्यव्यवहिता कहा गया है।[१] गीता आदि में भक्ति का उद्देश्य या भक्त का काम्य मुक्ति अथवा भगवान की प्राप्ति कहा गया है।[२] मध्व ने सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य माना था।[३] नारद-भक्ति सूत्र में भी कहा गया है कि मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।[४] बल्लभ की परिभाषा में भी मुक्ति को स्थान दिया गया है।[५] पर ध्यान में रखना होगा कि इन सबने भक्ति को निष्काम भावना ही माना था। नारद-भक्ति-सूत्र में ही तैंतीसवें सूत्र तक पहुँचने के पूर्व ही उसे "सान कामायमाना"[६] तथा स्वयं 'फलरूपत्वात्'[७] कहा गया है। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे यह विचार उठने लगा होगा कि मुक्ति की कामना भी कामना ही है। अतः मुक्ति की बात को भी भगवत्प्रेम एवं सेवा के आगे छोटा करार दिया जाने लगा। भक्त जब प्रसन्न हो गया तथा भगवान् ने उसके योगक्षेम को वहन करने का भार ले लिया तब फिर मुक्ति की कामना क्यों ? संभवतः इस बात को सबसे पहले भागवतकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, (भागवत का समय ई० की ६-७ वीं० शती माना जाता है।)"········ऐसे भक्तजन मेरी सेवा के सिवा सालोक्य, सार्ष्टि सामीप्य, सारूप्य और कैवल्य मोक्ष को दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते"[८] भागवत में ही वृत्रासुर ने भगवान् की सेवा छोड़कर सब प्रकार के वैभवों एवं मुक्ति को ठुकराने की बात कही है।[९] यों गीता में यह भावना अपरिचित नहीं है। गीताकार ने उपलब्धि के रूप में केवल भक्ति की ही चर्चा की है :

---

१. श्रीमद्भागवत् ३।२९।१२।
२. गीता ७।१४ एवं ८।५, १५ अथवा १०।१०।
३. भागवत संप्रदाय पृ० २२६, बलदेव उपाध्याय।
४. ना० भ० सू०, ३३।
५. परिभाषा सं० १५।
६. ना० भू० सू० ७।
७. वही सू० २६।
८. श्री भा० ३।२९।१३।
९. —वही ६-११।२४-२५।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिः लभते पराम् ॥ १८।५४

इसी भाव की और अधिक विवृति आगे होती है जब काल के भक्ति कवि एवं आचार्य मुक्ति को छोड़कर भक्ति को ही अपनाने की बात कहते हैं।[1] पुष्टि-मार्ग में भाव-भक्ति द्वारा पराभक्ति (निष्काम प्रेम) का प्राप्त करना ध्येय माना है। पराभक्ति अहैतुकी है। उस समय भक्त को भगवान् के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—नहीं चाहिए।[2] गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय में तो प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है—"प्रेमा पुमर्थो महान्।" कृष्णदास कविराज ने कहा है :

"पंचम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन कृष्णेर माधुर्य रस कराम आस्वादन"॥[3]

तथा 'भक्ति-फल प्रेम प्रयोजन।[4] राधावल्लभीय भक्त धुवदास का कहना है कि गोपियों के प्रेम में भी सकामता थी, इसी कारण निष्काम भाव-सम्पत्तिवाली सखियों की भावना उनसे भी श्रेष्ठ है :

गोपिन के सम भक्त न आहीं, उद्धव बिधि तिनकी रज चाहीं।
तिन मन कछु सकामता आई तातें बिच अन्तर परयो माई।
दुख को मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु, रसमें ध्रुव सुखधाम।[5]

परिभाषा सं० ३,४, १३, १६, १९ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तत्त्व के दो विभाग हैं--प्रथम निष्काम भाव, दूसरे कामना के क्षेत्र में केवल भगवान् की सेवा या प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा अर्थात् भक्ति का प्रयोजन भक्ति ही इस युग में स्वीकार कर लिया गया था।[6]

---

१. जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव।
कहैं कबीर वे क्यूं मिलैं निहकामी निज देव।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १९-२०

२. डॉ० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ५३८ (दि० भा०)।

३. चैतन्यचरितामृत, १-७-१३७।

४. वही, २-२३-२।

५. ध्रुवदास : अनुराग लता लीला (बयालीस लीला, पृ २७३)।

६. (१) प्रेम-प्रेम ही पाइयै तौ करै प्रेम को अंग।
प्रेमहि प्रेम पिछान लै झूठो सांचो संग।
(स्वामी बिहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा, ह० लि० प्रति)।

(९) सर्वजन अधिकारित्व-भक्ति-भावना प्रारंभ से ही लोकचेतना के साथ सम्पृक्त रही है। जो भी धर्ममत लोक के निकट आता है, निश्चय ही भक्तिभाव को स्वीकार करता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भुजा उठाकर घोषणा की है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।[1]

हे अर्जुनः स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि में कोई भी हो, वे भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त होते हैं। भागवत में भी भगवान् ने कहा है कि मेरी निर्मल सुयश-सुधा में गोता लगाने से चाण्डाल तक सम्पूर्ण जगत पवित्र हो जाता है, इसीलिये मैं विकुन्ठ कहलाता हूँ।[2]

'शांडिल्य-भक्तिसूत्र' में भी भक्ति की इस विशेषता की ओर इंगित करते हुये कहा गया है:

"आनिन्द्ययोन्मधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।"

वल्लभाचार्य ने भी कहा, "किसी साधन-सम्पत्ति द्वारा भगवान् भक्त से संतुष्ट नहीं होते परन्तु उसके केवल एक दैन्य भाव से ही वे संतुष्ट होते हैं।"[3] तथा जबउन्होंने कहा कि "भगवान् सर्वभाव से भजनीय हैं"[4] तब भी इसी सर्वजन-अधिकारित्व की ओर ही संकेत किया गया था। गौड़ीय वैष्णव मत में भी जीव-मात्र का साध्य भगवत्प्रेम ही बताया है।[5] राधावल्लभ संप्रदाय में भी समान रूप से प्रत्येक को प्रेम करने का अधिकार है।

इसके अतिरिक्त विषय-विरक्ति एवं रसात्मकता भक्ति के दो अन्य लक्षण कहे जा सकते हैं। शंकराचार्य के आधार पर भक्ति का एक और लक्षण स्वस्वरूप का अनुसन्धान है(परिभाषा सं० ५)। भक्तिकाल के कवि को यह नितान्त अस्वीकृत नहीं है। सूरदास ने बड़ी सशक्त भाषा में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। मनुष्य अपना "अपुनपो" भूल जाता है, इधर-उधर भटकता रहता है। अपने सहस्त्रशः पदों में इस भरमने वाले की ही वास्तविकता का अनुसन्धान भक्ति के

पिछले पृष्ठ का शेष:

(२) **भक्ति को साधन भक्ति जु आई।**
रसिक देव, भक्ति-सिद्धांत-मणि, ६०।

१. गीता ९।३२।
२. भागवत, ३।१६।६।
३. सुबोधिनी, फल प्रकरण, अध्याय ४।
४. चतुःश्लोकी, श्लोक १।
५. श्रीमद्वैष्णव सिद्धांत-रत्न-संग्रह, हकीम श्यामलाल, पृ० १६५।

माध्यम से उन्होंने कराना चाहा है।[1]

भक्ति के प्रकार :

प्रारम्भ से ही भक्ति के विवेचकों का ध्यान भक्ति के प्रकारों की ओर रहा है। यहां पर हम विभिन्न विचारकों द्वारा उपस्थित किये गये प्रकारों के चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि साधारणत: भक्ति के प्रकार-विभाजन के मूलाधार दो ग्रन्थ, श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्-गीता, ही रहे हैं। भागवत (दे० चार्ट सं० २) में गुणों के आधार पर भक्ति का विभाजन किया गया है। आगे चलकर देवी भागवत (चा० ३) नारद-भक्ति-सूत्र (चा० ६) सूरदास (चा० १२) एवं बोपदेव (चा० २३) आदि के विभाजनों पर हम 'भागवत पुराण' के भक्ति-प्रकार-निर्णय का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। बोपदेव ने तो विस्तृतियों तक में भागवत (३।२९।८,९,१०) का अक्षरश: अनुसरण किया है। 'गीता' के विभाजन का आधार भक्त-भेद है (चा० १)। 'शांडिल्य भक्ति-सूत्र' (चा० ५), 'नारद भक्ति सूत्र' (चा० ६) में उसे पूरी तरह स्वीकार किया ही गया है। उसके अतिरिक्त वल्लभाचार्य ने जब तीन प्रकार के 'जीव-भेद' स्वीकार करके तदनुकूल तीन प्रकार की पुष्टि भक्ति (चा० १०) मानी तो वे गीता की ही तर्क-पद्धति पर चले थे। कृष्णदास कविराज ने भी 'भक्त-भेद' के आधार पर भक्ति का विभाजन किया है (चा० १४)। साधनों के आधार पर 'नवधा' भक्ति का जो निरूपण भागवत में किया गया (७।५।२३-२४) उसे भी आगे बराबर स्वीकार ही नहीं किया गया, साधन-भक्ति के और भी प्रकार निश्चित हुए और उनमें नवधा भक्ति को अन्तर्भावित करने की बराबर चेष्टा की गयी। नवधा के आधार पर विकसित दशवा 'प्रेमाभक्ति' को विशेष मान्यता इस युग में मिली।

भक्ति के प्रकार-भेद के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टव्य बात यह है कि भक्ति के दो स्पष्ट रूप प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिये गये थे। उन्हें सामान्यत: गौणी

---

१. अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमिभ्रमि भूंकि मरयौ।
—सूरसागर, ना० प्र० स०, ३६९

तथा

अपुनपो आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।
—सूरसागर, ना० प्र० स०, ४०७।

और परा कहते हैं । उन्हीं को अपरा और परा, नवधा और दशधा, साधन-भक्ति और भाव या प्रेम-भक्ति, मर्यादा-भक्ति और पुष्टि भक्ति, मध्यमा और उत्तमा आदि अनेक नाम दिये गये हैं । भक्ति-क्षेत्र में वास्तव में दो न्याय प्रारम्भ से ही स्वीकार किये गये हैं । 'मर्कट-किशोर-न्याय' एवं 'मार्जार किशोर न्याय, ।'[1] बन्दर का बच्चा अपनी मां को स्वयं पकड़े रहता है पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चे को मुख में दबाकर ले जाती है । इस प्रकार प्रथम में साधना की स्थिति आती है । साधना की स्थिति में प्रभु के ऐश्वर्य और शक्ति आदि का ध्यान रखते हुये पूज्य बुद्धि की आवश्यकता रहती है । दूसरी दशा में प्रभु-अनुग्रह मुख्य होने के कारण प्रभु के प्रति प्रेम-भावना मुख्य हो जाती है । हम भक्ति के अधिकांश प्रकारों में इन दोनों धारणाओं की छाया देख सकते हैं । गो० हरिराय जी एवं कृष्णदास कविराज के विभाजन (चा० १३ एवं चा० १८) इस तथ्य को भलीभांति उजागर करते हैं । श्री रूप गोस्वामी (चा० १४) एवं सुन्दरदास (चा० २२) ने इन्हीं दो मुख्य प्रकारों को तीन में बाँट दिया है । इन लोगों ने पराभक्ति को ही दो भागों में और बाँटा है । बोपदेव की (चा० २३) निषिद्धा, तो भक्ति में परिगणन योग्य है ही नहीं, विहिता के दो विभाजन वास्तव में परा और गौणी ही हैं । भागवत को सात्विकी भक्ति (चा० २), निम्बार्क की अपरा भक्ति (चा० ८), वल्लभ की मर्यादा भक्ति (चा० ९), रूप गोस्वामी आदि की वैधी भक्ति (चा० १४) एवं बोपदेव की सात्विकी कर्म-मिश्रा (चा० २३) रसिकदेव की नवधा(चा० २१) एवं सुन्दरदास की कनिष्ठा (चा० २२) में कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता । ये सभी साधन भक्ति की ही विविध संज्ञाएँ हैं । इसी प्रकार पराभक्ति के लिये भी विभिन्न नामों का संकेत पीछे किया जा चुका है ।

साधन या गौणी भक्ति वास्तविक भक्ति (परा, निर्गुण, पुष्टि, प्रेम, हित, उत्तमा आदि)को प्राप्त करने की प्रथम सीढ़ी है । प्रभु का प्रेम प्राप्त करना इसका लक्ष्य है । इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता । यही पराभक्ति की अवस्था है । यहीं पहुँच कर नारद भक्ति-सूत्र के शब्दों में मनुष्य न किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है, और न उसे (विषय-भोगों में) उत्साह होता है ।[2] यह प्रेम-भाव की सर्वोत्तम अवस्था होती है, यही भक्त का चरम प्राप्य है,

१. इन्हें आत्यन्तिक मानकर न चलना चाहिये । प्रथम से दूसरी स्थिति में भी प्रयाण होता है और अनायास भी प्रभु-भक्ति का आविर्भाव हो सकता है ।

२. ना० भा० सू०, ५ ।

चरम सुख है, परम पुरुषार्थ है।[1]

चार्ट सं० १

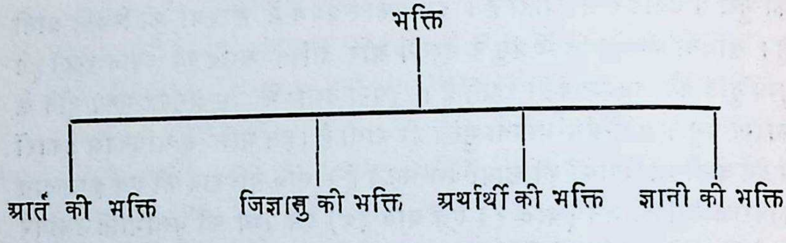

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—७।१६

चार्ट सं० २

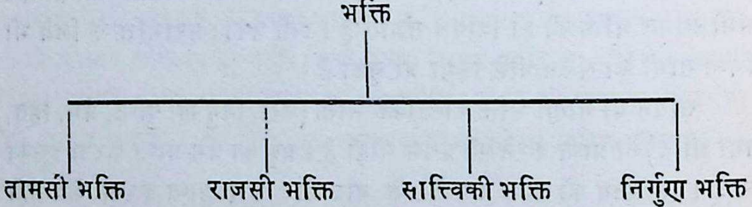

(यह भेद मनुष्यों के स्वभाव एवं गुणभेद के अनुसार हैं।
इनमें से प्रथम तीन के पुनः तीन-तीन भेद हैं)

श्रीमद्‌भगवद् गीता—३।२६।७

---

१. भक्ति समानी भाइ में भक्तन में भगवान।
श्री बिहारीदास सांची कहैं श्री भागवत प्रमान।
—श्री बिहारिणिदास. रस की दोहा, ५६६।

चार्ट सं० ३

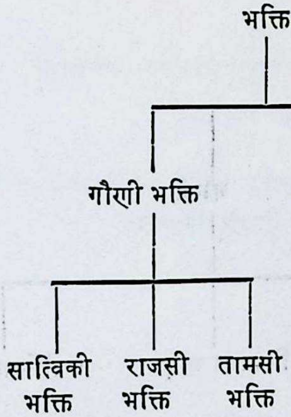

—देवी भागवत—७-३७

[कल्याण, भक्ति अंक, पृ० ६४ के आधार पर]

चार्ट सं० ४

गुणभेद से भक्ति तामसी, राजसी और सात्विकी प्रत्येक से दूसरी स्थिति में पहुँचा जा सकता है। सात्विकी भक्ति की परिणति अंततः पराभक्ति में होती है। इसका चार्ट इस प्रकार अधिक ठीक होगा।

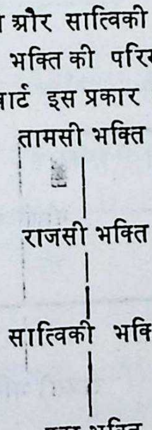

—देवी भागवत—७।३७।११-१२

चार्ट सं० ५

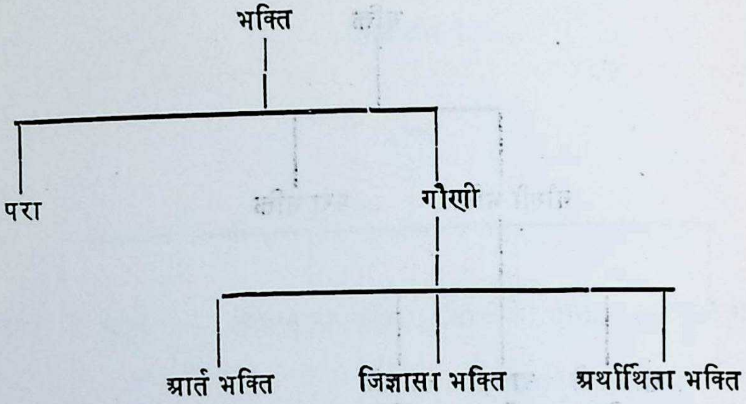

गौणी भक्ति को परा भक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है।

शांण्डिल्य-भक्ति-सूत्र—२।२।५६ तथा २।२।७२

चार्ट सं० ६

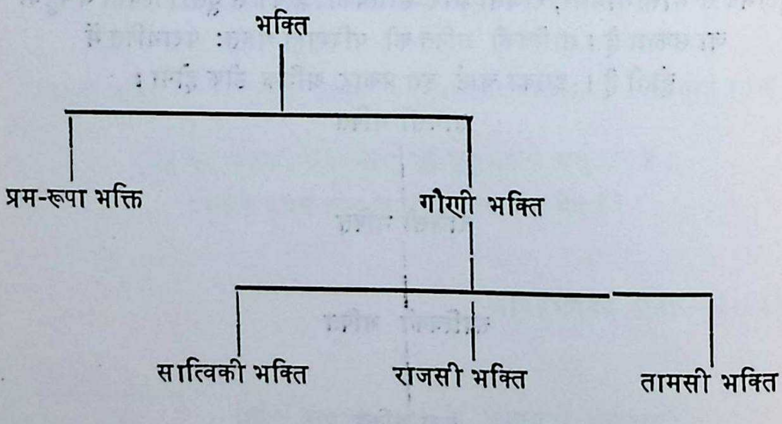

एक दूसरा विभाजन आर्तादि भेद के आधार पर भी होता है।

—नारद-भक्ति-सूत्र—५६

चार्ट सं० ७

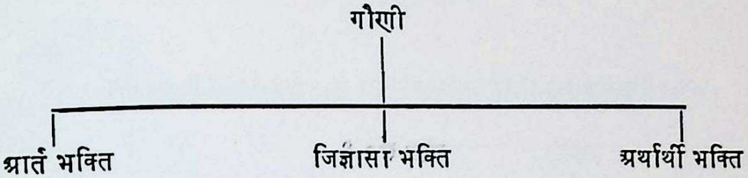

इनमें से उत्तर-उत्तर क्रम से पूर्व-पूर्व क्रम की भक्ति अधिक कल्याणकारिणी होती है।

—नारद-भक्ति-सूत्र, ५७

चार्ट सं० ८

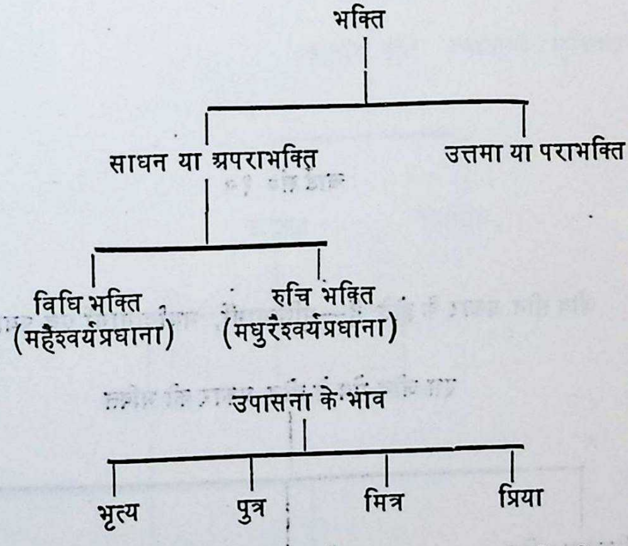

—मंत्र रहस्यषोडशी, १६

हरिव्यास देव ने नवधा भक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया है तथा साध्य प्रेमलक्षणाभक्ति को माना है।

सिद्धान्त-रत्नांजलि, पृ० ३७ के आधार पर।

निम्बार्क-सम्प्रदाय

चाट सं० ९

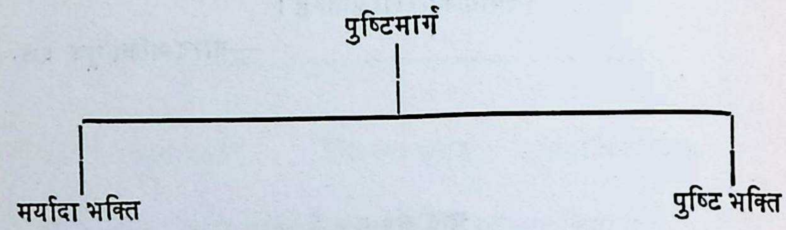

चार्ट सं० १०

जीव तीन प्रकार के होते हैं—पुष्टिमार्गी, मर्यादामार्गी एवं प्रवाही ।

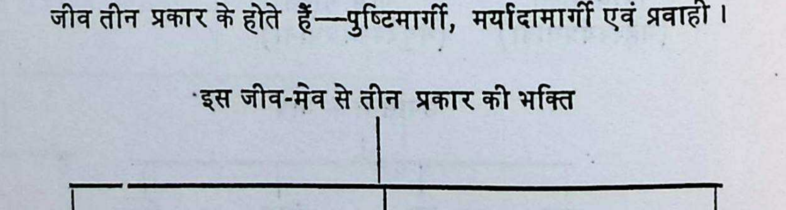

इनके अतिरिक्त सिद्धावस्था की एक शुद्ध पुष्टि, भक्ति भी मानी गयी है ।

चार्ट सं० ११

पुष्टिमार्ग के अनुसार एक और विभाजन किया जा सकताहै :—

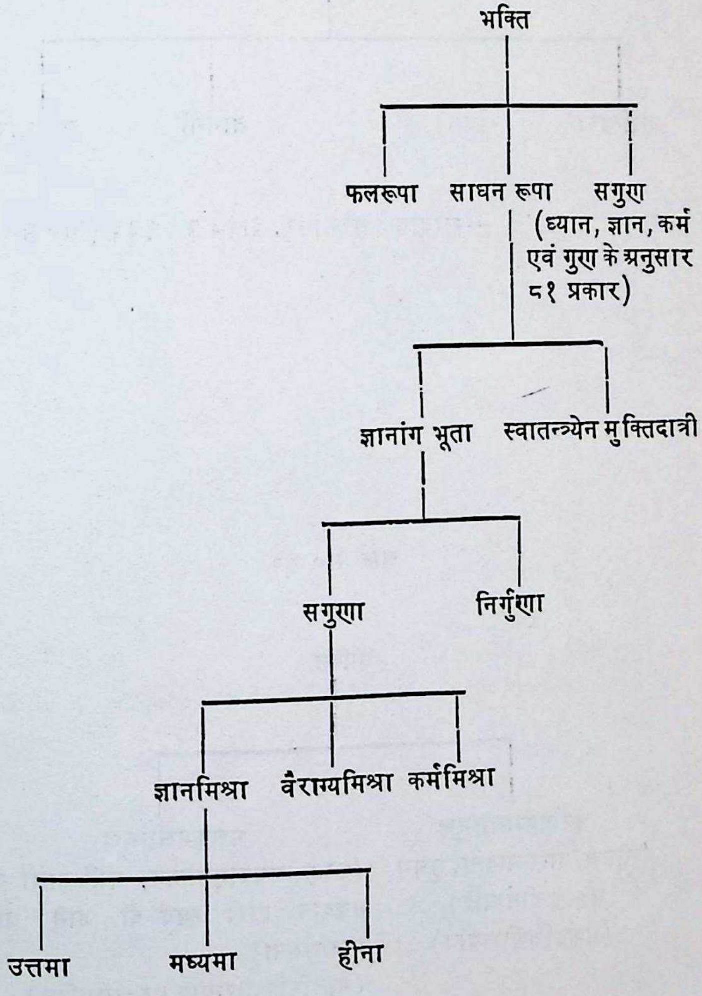

—एस० एन० दास गुप्ता : ए हिस्ट्री आफ इंन्डियन फ़िलासफ़ी, भाग४ में पृ० ३५३-३५४ के आधार पर।

चार्ट सं० १२

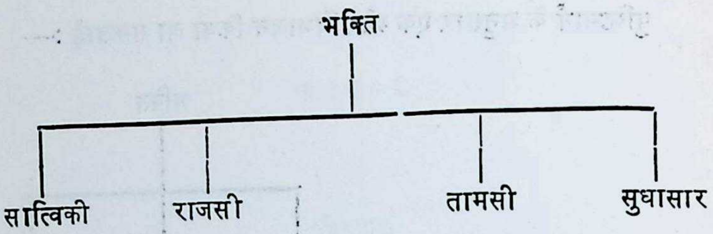

—सूरदास : सूरसागर, ३।१३ पृ० १३३ (ना० प्र० स०)

चार्ट सं० १३

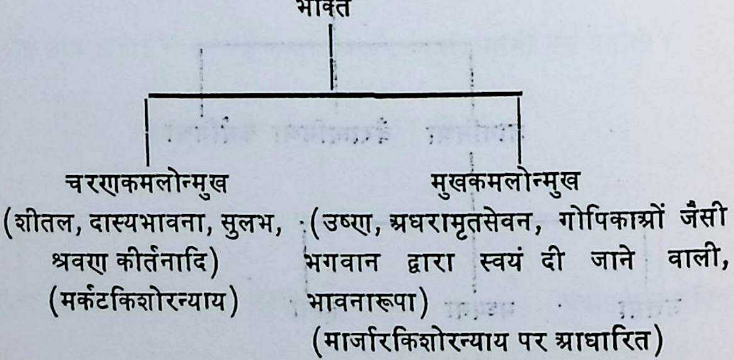

श्री हरिराय जी

—श्री हरिराय : भक्ति द्वैविध्य-निरूपणम् । श्लोक १-२-३ ।

चार्ट सं० १४

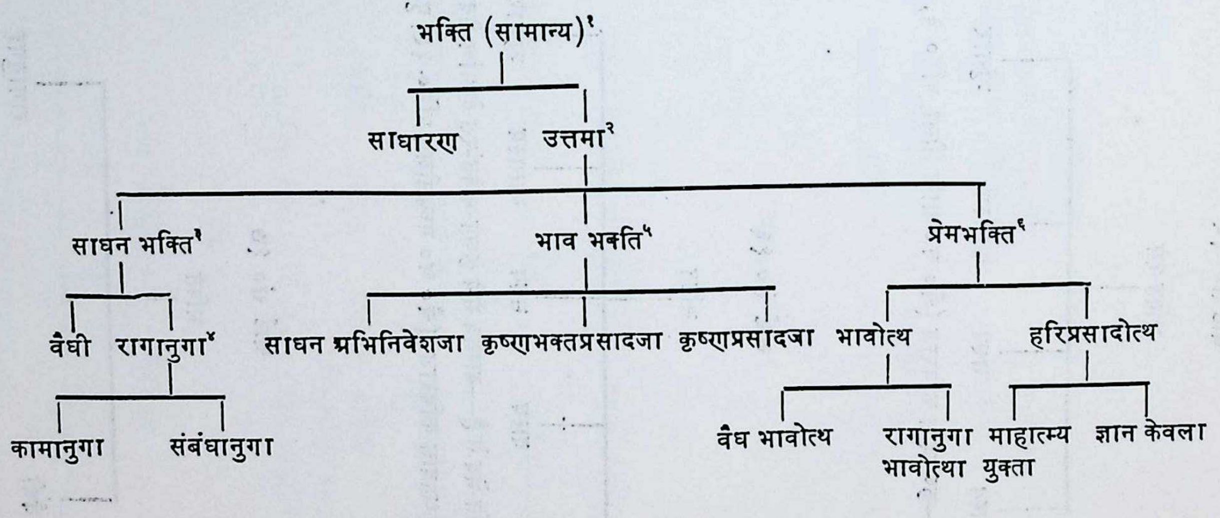

गौड़ीय वैष्णव-मतानुयायी रूप गोस्वामी के अनुसार

---

(१) हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु प० वि० प्रथम लहरी (२) वही, द्वितीय लहरी १ (३) —वही—वही २।३
(४) —वही—वही २।७५ (५) —वही ३।४ (६) —वही—वही, ४।३

चार्ट सं० १५

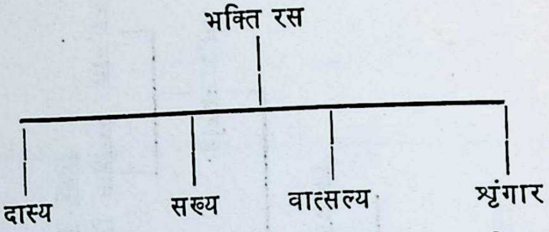

—कृष्णदास कविराज (चै० च० आदि लीला, परि० ३, पृ० १७)

चार्ट सं० १६

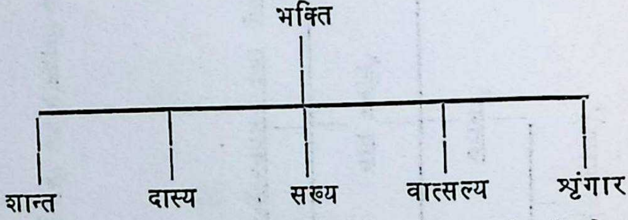

यह भेद रति-भेद से है—वास्तव में ये कृष्ण-भक्ति-रस के पाँच भेद हैं।

—कृष्णदास कविराज (चै० च० मध्यलीला, परि० १९, पृ० २५२)

चार्ट सं० १७

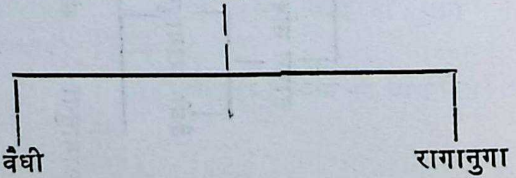

यह विभाजन साधन-भेद से है।

—कृष्णदास कविराज (मध्यलीला, परिच्छेद २२, पृ० २८४)

चार्ट सं० १८

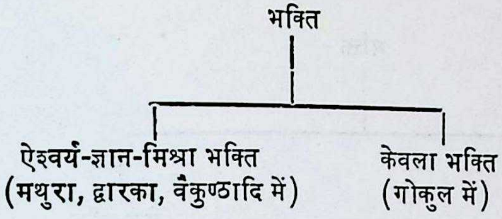

कृष्ण के स्वरूप-ज्ञान के भी प्रकार-भेद हैं।
—कृष्णदास कविराज (चै० च० मध्यलीला, परि० १६ पृ० २५२)

चार्ट सं० १६

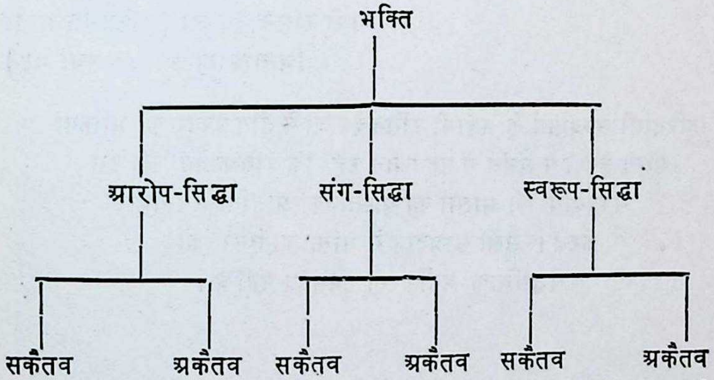

(इसे अकिंचन भक्ति भी कहते हैं)
—जीव गोस्वामी के अनुसार (भक्ति-सन्दर्भ के आधार पर)

चार्ट सं० २०

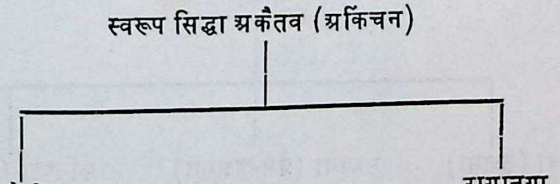

—जीव गोस्वामी के अनुसार (भक्ति-सन्दर्भ)

चार्ट सं० २१

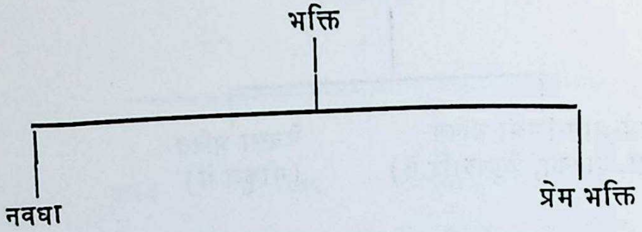

(इसे ही दशधा भी कहा है और बताया है कि यह भक्ति गोपियों की है। इसी को शुद्ध भक्ति भी कहते हैं, जिसमें कि और किसी भाव का मेल नहीं होता। इसकी ही परिणति सखी-भावना में उन्होंने दिखाई है।)

—स्वामी रसिक देव जी (भक्ति-सिद्धान्त-चिन्तामणि ७२।७३ तथा ८६)

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव जी ने तीन प्रकार की भक्तियां मानी हैं। इस संबंध में यह ध्यान रहे कि रसिक देव जी इस सम्प्रदाय की आत्मा का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते। सखी सम्प्रदाय में भक्ति का ऐसा कोई सैद्धान्तिक वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है।

चार्ट सं० २२

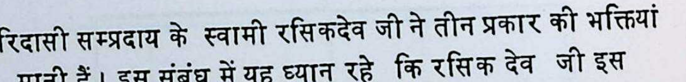

—सुन्दरदास (ज्ञान समुद्र : भक्ति-निरूपण, छन्द ४)

चार्ट सं० २३

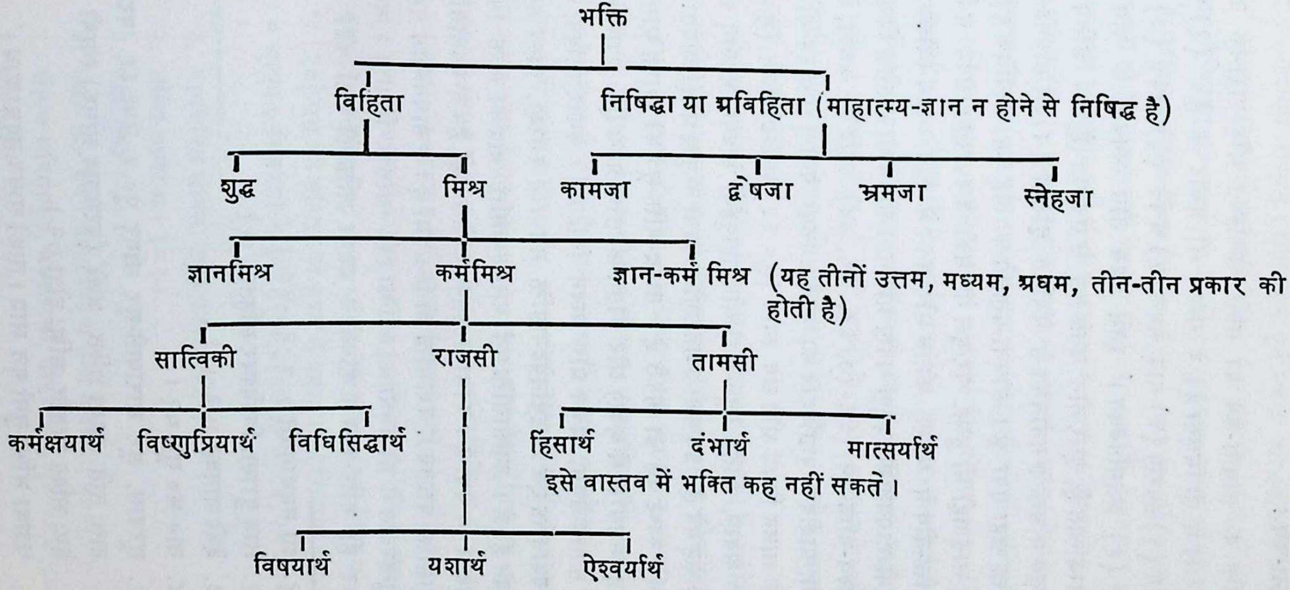

(इस वर्गीकरण की इन विस्तृतियों में भागवत ३।२९ व ८-१० को ही स्पष्ट किया गया है)

बोपदेव : मुक्ताफल के आधार पर।

भक्ति साधना-क्रम :

भक्ति के साधना-क्रम का सबसे व्यवस्थित और प्रारंभिक उल्लेख भागवत पुराण में ही मिलता है। ये साधन नौ प्रकार के हैं : (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पाद सेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन।[1] इनमें प्रथम तीन भगवान् के नाम और लीला से सम्बन्धित हैं, दूसरे तीन उनके रूप से संबंधित है एवं अंतिम तीन साधन वास्तव में भक्त के मनोजगत से संबंधित वृत्तियां हैं। इन साधनों को ही नवधा भक्ति कहा गया है। साधना-प्रणाली का यह क्रम अत्यधिक दृढ़ता के साथ सर्वत्र लागू नहीं भी हुआ, पर मूल में इसकी अवधारणा सदैव बनी रही है। शैव भक्ति-योग में श्रवण, कीर्तन और मनन में तीन साधन स्वीकार किये गये हैं।[2] देवी भागवत में सद्गुण श्रवण और नाम कीर्तन का उल्लेख किया गया है।[3] शांडिल्य-भक्ति-सूत्र (५६-५७, ६५, ६६, ७४) आदि में श्रवण, कीर्तन, ध्यान, पूजा, पादोदक, पत्रादिदान का उल्लेख किया गया है। नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के साधन विषय और संग त्याग (सू० ३५) अखण्ड भजन (सू० ३६) भगवद्गुण श्रवण, कीर्तन (सू० ३७) और महापुरुषों अथवा भगवान् की कृपा (सू० ३८) कहे गये हैं। इन सभी उदाहरणों में नवधा के कुछ अंग (विशेषत: श्रवण और कीर्तन) स्पष्ट देखे जा सकते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र की ग्यारह आसक्तियों[4] में गुण-माहात्म्यासक्ति में श्रवण और कीर्तन का तत्त्व प्राप्य है। रूपासक्ति और पूजासक्ति में पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन निहित हैं। स्मरणासक्ति, दास्या-सक्ति, सख्यासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति नवधा के स्मरण, दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन ही है। कान्तासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति बाद को भक्ति विवेचकों द्वारा स्वीकार की गयी हैं। नवधा में उनका उल्लेख नहीं है। तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति वास्तव में पराभक्ति की स्थितियां हैं। ये साधन-मार्ग नहीं हैं।

सुन्दरदास ने भी नवधा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। नवधा के आधार पर ही भक्ति-काल के कवियों ने दशधा भक्ति की चर्चा की है।[5] यह

---

१. श्री मद्भागवत ७, ५, २३-२४ ।
२. शिव पुराण, विश्वेश्वर संहिता १।२१ ।
३. देवी भागवत ७।३७।११ ।
४. ना० भ० सू० ८२ ।
५. सूरदास, सूर सारावली-सूर सागर पृ० ५ तथा ६९ 'परमानन्द दास, ताते दशधा भक्ति भली' (परमानंद सागर) स्वामी रसिक देवः भक्ति सिद्धांत मणिः दोहा ७२ ।
'दशधा भक्ति सुनौ मन लाय। ताको साधन नवधा आय।'

दसवीं प्रम-लक्षरणा भक्ति है। और इसके पूर्व नवधा को स्वीकार किया गया है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्ति-काल के आचार्यों ने इसमें नवीनता या मौलिकता की स्थापना नहीं की है। तुलसीदास ने रामचरित मानस में जिस नवधा का उल्लेख किया है वह ठीक भागवत का ही अनुवाद नहीं है। उसका क्रम यों है : (१) संतों का संग (२) राम-कथा में अनुराग (३) गुरु-सेवा (४) भगवान् का गुणगान (५) मंत्र-जाप और भजन (६) दमशील, कर्म-विरति एवं सद्धर्म में रति (७) संसार को भगवानमय देखना एवं राम से भी अधिक संत का सम्मान करना (८) यथालाभसंतोष तथा परदोष देखने की वृत्ति का नितान्त अभाव (९) छलहीनता, सबसे सरलता, भगवान में भरोसा तथा दीनता (दुख) का अभाव और हर्ष।[1] तुलसी ने अपनी नवधा में आचारपरायणता का भी समन्वय कर लिया है। स्वामी चरणदास ने भी अपनी नवधा में जहाँ भागवत के सारे तत्त्वों को स्वीकार किया है[2] वहीं तुलसी के समान आचार के भी तत्त्वों—साधु-संगति, भक्तों की सेवा, धैर्य, दृढ़ता, क्षमा, शील, संतोष, दया को नवधा के अन्तर्गत ही माना है।[3]

गौड़ीय वैष्णवों में वैधी के जो ११ लक्षण बताये गये हैं, उनमें से अन्तिम ९ भागवत के ही हैं एवं प्रथम दो शरणागति तथा गुरु-सेवा और बढ़ा दिये गये हैं।[4] उन दोनों ही बातों को भक्तिकाल में अत्यधिक मूल्यवान समझा गया था। वैधी भक्ति के चौंसठ साधन गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों ने बनाये हैं। इनमें नवधा का समावेश हो जाता है। इन ६४ अंगों में पांच को चैतन्यदेव ने सर्वश्रेष्ठ माना था। ये पांच साधन हैं: साधु-संग, नाम-संकीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरावास एवं श्रद्धा समेत मूर्ति-पूजन।[5] हरिव्यास देव (निम्बार्क सम्प्रदाय) ने दशधाभक्ति के समान भक्ति की दश-पैड़ियों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं :(१) रसिक जनों की सेवा (२) हृदय में दयाभाव (३) धर्मनिष्ठा (४) कथा-श्रवण (५) भगवच्चरणों में अनुराग (६) भगवान् के रूप में मन को लगाना (७) हृदय में प्रेम-वृद्धि (८) रूप, ध्यान, गुण-गान (९) निश्चय और दृढ़ता का ग्रहण (१०) रस की सरिता का हृदय में प्रवाह।[6] हरिव्यास देव की इन दश पैड़ियों में भागवत की नवधा के कुछ तत्त्व तो मिल ही जायेंगे, पर अपनी मौलिक-

---

१. रामचरित मानस, उत्तर काण्ड, ३५-३६।

२. भक्ति-सागर पृ० १८१।

३. वही, पृष्ठ १८०।

४. एस० के० देव : वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूवमेण्ट, पृ० २८०-२८२।

५. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परि० २२, पृ० २८४-२८५।

६. महावाणी, पृ० १८१।

कता भी द्रष्टव्य है। तुलसी के समान ही उन्होंने भी आचार के गुणों का उल्लेख किया है। यों साधक के आचार और रहन-सहन की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था, पर भक्तिकाल में आकर भक्ति की लोकवादिता तथा वाम-मार्गी साधनाओं की आचार-हीनता की प्रतिक्रिया के कारण भक्ति के साधनों के अन्तर्गत ही अनेक मानवीय गुणों एवं सदाचार को स्पष्ट स्थान दिया गया।[1]

गुरु-सेवा एवं साधु-संग को और अधिक महत्त्व मिला। हरिदासी, राधावल्लभीय आदि रसोपासक सम्प्रदायों में यद्यपि साधन-भक्ति या नवधा भक्ति को स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु गुरु-सेवा, रसिक-संग, आत्मसमर्पण, नाम-स्मरण, वाणी-अनुशीलन, अहंकार और विषय-हीनता तथा उपास्य-परिचर्या को वास्तव में साधन ही कहना चाहिए।

गौड़ीय वैष्णवों का साधनाक्रम अत्यधिक मौलिक एवं मनोवैज्ञानिक है। चैतन्यमतानुयायी गोस्वामियों ने साधक देह और सिद्ध देह, भक्त की दो अवस्थाओं को स्वीकार किया है। प्रथम अवस्था की चरम परिणति प्रेम में है, और प्रेम की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव में होती है जिसकी कि श्रेष्ठतम प्रतीक राधा हैं। यह क्रम इस प्रकार है: (१) श्रद्धा (यह भक्ति का बीज है—श्रद्धा विशेष बीज···(भक्ति संदर्भ) (२) साधु-संग (३) भजन-क्रिया (४) अनर्थ-निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (रति)। जब आसक्ति रुचि के द्वारा चित्त को मसृण बना देती है, तब उसमें शुद्ध सत्व विशेषात्माभाव का जन्म होता है। यह प्रेम-रूप सूर्य के उदय होने के पूर्व की अरुणोदय जैसी स्थिति है (९) प्रेम।[2] प्रेम उदय हो जाने पर साधक सिद्ध देह में आ जाता है। 'धार्मिक चेतना' (दि रिलिजस कान्शसनेस) नामक अपने ग्रन्थ में जे० बी० प्रैट ने रहस्यवादी साधना की तीन स्थितियाँ मानी हैं:—(१) निषेधात्मक साधना—इसके अन्तर्गत विषय-त्याग, नैतिक पवित्रता वैराग्य, व्रत-उपवास, प्राणायाम, अनिद्रा आदि का उल्लेख किया है। (२) विधेयात्मक—इस स्थिति को ध्यान-परक (मेडिटेटिव) या आलोकपरक (इल्यूमिनेटिव) कहा है। ध्यान, समाधि, चिन्तन, मूर्ति या लीला-कल्पना आदि इस अवस्था के भीतर हैं। (३) तीसरी अवस्था को एकात्म (यूनिटिव) स्थिति कहा गया है। इस अवस्था में ईश्वर-मिलन का परमानन्द प्राप्त होता है। यह स्थिति बहुधा तीव्र आवेश या मूर्च्छा के क्षणों में स्वीकार की गई है।[3]

---

१. पुष्टि भक्ति के १६ आन्तरिक और बाह्य साधनों में भी साधनों और आचार-धर्मों दोनों का ही समन्वय है।
२. हरिभक्ति रसामृत सिंधु, पूर्व विभाग, ४ लहरी, श्लोक ६-७।
३. जे०बी०प्रैट: द रिलिजस कान्शसनेस, अध्याय २७ एवं २८ के आधार पर।

उपास्य एवं उपासक के मध्य भाव सम्बन्ध :

भक्त और भगवान् के मध्य एक वैयक्तिक संबंध की कल्पना भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमें सम्भ्रम, भय, पवित्रता, निर्भरता, प्रेम, विश्वास आदि अनेक वृत्तियां और गुण गुम्फित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रूपों में हो सकती है और उसके स्वरूप की अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य सम्बन्धभाव (रिलेशनशिप) क्या रहे ? जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के सम्पर्क में हम आते हैं। इन सम्बन्धों के साँचे व्यवहार में ढले-ढलाये उपस्थित रहते हैं। और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है। उसी रूपान्तर के माध्यम से ही उस परम रूप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चितता तब और बढ़ जाती है जब ईश्वर धर्म "संस्थापनार्थाय" एवं "विनाशाय दुष्कृताम" इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार-कल्पना के साथ जब रक्षक का रूप मिल जाता है तब उसकी प्रभविष्णुता सहस्त्रगुणित हो उठती है। उसको हम पिता, माता, शिशु, गुरु, स्वामी, प्रिय, प्रेमिका या मित्रादि सामाजिक सम्बन्धों के रूप में भावित करने लगते हैं। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीकों के माध्यम से दिव्य प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मों की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलतः अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत हैं एवं लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत । प्रारम्भ में तो ये साहचर्यमूलक ही होते हैं और उपमेय के एकाध तत्त्वों की ही समानता उपमान में मिलती है पर प्रगाढ़ सम्बन्ध एवं सतत ध्यान से धीरे-धीरे यथार्थमूलकता का भी इनमें प्रवेश हो जाता है। हमारे समीक्ष्य युग में ये सम्बन्ध साहचर्य से हटकर यथार्थमूलक ही होगये थे। वैदिक साहित्य[1] वृहदारण्यक उपनिषद् (४, ३, २१) आदि में केवल साहचर्य तत्त्व पर ही बल दिया गया है। गीता में थोड़ा आगे बढ़कर साहचर्य से यथार्थ भूमि में लाया गया है।[2]

पर यहाँ भी बल साहचर्य-भावना या उपासना पर ही है। नारद-भक्ति-सूत्र में परम प्रेम-रूपा में रूप शब्द साहचर्य पर बल देता है एवं परम शब्द से ज्ञात होता है इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव में जब यह धारणा बल पकड़ती है कि भगवान भजनीय ही नहीं सर्वभाव से भजनीय हैं[3] तभी सम्बन्धों पर अधिक बल

---

१. डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ० १२८-१३२।

२. पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः प्रियप्रियायार्हसि देव सोढुम्

—गीता, ११।४४।

३. भागवत, १०।२९।१५।

दिया जाने लगता है, क्योंकि हमारा भाव-जगत हमारे प्रत्यक्ष व्यावहारिक सम्बन्धों से ही अनुशासित होता है। यों तो भगवान सर्वभाव से भजनीय हैं पर प्रेम भाव ही वास्तविक है। क्योंकि जीवन का सबसे गहरा और स्थायी भाव रति है। यह मनोवैज्ञानिकों को भी अमान्य नहीं है। इसलिये रति भाव की विभिन्न छायाओं को ही वैष्णव-विचारकों ने मुख्य रूप से उपस्थित किया। उनके अनुसार भाव या रति पांच प्रकार की होती है, जिनके अनुकूल ही पांच रस-भक्तियाँ हो जाती हैं। शम, प्रीति, प्रेय, वात्सल्य और मधुरा ये पांच रतियां हैं जिनसे कि शान्त दास्य, सख्य, वातसल्य और मधुर भाव की पांच भक्तियाँ (भक्ति-रस) उद्रिक्त होती हैं।

इष्ट देवता और उसके परिकर के प्रति एक विशिष्ट निजी सम्बन्ध की विविध स्थितियाँ गौड़ीय वैष्णव मत की अपनी मौलिक देन है।[1] क्योंकि उसके बिना यह सम्बन्ध एकदम अरूप साहचर्य का हो जाता है और अचिन्त्यभेदाभेदवादी दर्शन के मध्य इस सम्बन्ध को पहचानना कठिन हो जाता है। इसीलिये इन वैष्णव आलंकारिकों ने भक्ति-भाव (कृष्ण-प्रीति) की प्रारम्भिक स्थिति शान्त मानी है। इस दशा में भक्त और भगवान का सम्बन्ध स्पष्ट आकार नहीं ले पाता। संसार से विरक्ति एवं ईश्वर के प्रति चित्तवृत्तियों का लगाव तो हो जाता है। परन्तु ईश्वर को निजी सम्बन्धों की परिधि के भीतर नहीं देखा जा सकता।

वास्तव में शान्त का स्थायी भाव शम एक ऐसी मानसिक अवस्था का द्योतक है, जहां पर परमात्मा के साथ एकत्व की चेतना तो आ जाती है पर राग का आवेश नहीं होता। मध्य-युगीन वैष्णव रहस्यानुभव की आवेगमयी स्थिति के भीतर न समा सकने के कारण इसे वैष्णव आलंकारिकों ने कृष्णरति में सबसे नीचे की अवस्था में रखा है। वास्तव में प्रेम-प्रतीकवाद का यह यथार्थ भूमि की ओर संचरण है।

शान्त भक्ति :

संकल्प-विकल्प से रहित मन की वृत्ति शान्त रति है। इसे शम भी कहा जाता है। यह ममता-गंध-शून्य होता है। भागवत में उसे निष्ठा बुद्धि[2] कहा गया है। इस मानसिक स्थिति को ही गीता में ब्रह्मभूत और प्रसन्नात्मा कहा है।[3] विष्णु धर्मोत्तरपुराण में कहा गया है, 'जहाँ न सुख, न दुःख, न चिन्ता, न द्वेष, न

---

१. एस० के० दे : वै० फे० मू०, पृ० २८६।
२. भागवत ११।१९।३६।
३. गीता १८।५४।

राग, न कोई इच्छा है, मुनीन्द्रगण उस शम-प्रधान को शान्त कहते है।'[1] यह भक्ति वास्तव में मूलतः मन में वैराग्य-भावना को उत्पन्न करती है। वास्तव में सारे संसार के रहस्यवादियों ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर-काम नाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्य-मूलक है, पर यह निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है, तथा प्रेम भावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। प्रैट द्वारा गिनायी गयी प्रथम अवस्था (परगेटिव स्टेज) शान्त भक्ति के निकट की ही वस्तु है।[2]

शान्त भक्ति एक प्रकार की ज्ञानमिश्रा-भक्ति है और इसका लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना होता है। पर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि परा या प्रेमा भक्ति का साधक मुक्ति न चाहकर भगवान का प्रेम चाहता है। प्रेम सदैव व्यक्ति-गत सम्पर्क पर ही आधृत होता है। इसलिये भक्ति या श्रद्धा का तत्त्व होते हुए भी शान्त भक्ति श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी नहीं हो पाती। यद्यपि इसका अस्वी-करण नहीं किया गया। इस भक्ति के आदर्श सनत्कुमार आदि माने गये हैं। पर प्रेमा भक्ति की आदर्श तो ब्रजगोपिकाएँ हैं।[3] हमारे आलोच्य काल से सम्बन्धित सम्प्रदायों में शान्त भक्ति का अधिक रूप देखने को नहीं मिलता। निर्गुण साधकों में ही मुख्य रूप से हम इस भक्ति को देख सकते हैं। इनमें भी सूफी एवं कृष्णो-पासक प्रेम-भक्तों के प्रभाव एवं प्रेम-प्रतीकवाद के आग्रह से यत्र-तत्र दास्य भाव या कान्ता-भाव का स्वरूप मिलता है। निर्गुण कवियों में "पतिव्रता कौ अंग" तथा

---

१. हरिभक्ति रसामृत सिंधु, पश्चिम विभाग, प्रथम लहरी, श्लोक २९-३० तथा नारायण भट्ट : भक्ति-रस-तरंगिणी, पृ० ११३ पर उद्धृत।

२. जे० बी० प्रेट : दि रिलिजस कान्शसनेस पृ० ३७४।

प्रैट ने इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुये बताया है कि चरित्र और आध्यात्मिकता की भावना को दृढ़ करने में वैराग्य भाव बहुत सहायक होता है। बल्कि एक मत तो यह भी है कि मनुष्य के मन के जितना निकट अहंकार है, उतना ही निकट वैराग्य और त्याग भी। आधुनिक काल में उसका जितना अवमूल्यन हुआ है वह ठीक नहीं है(३८५-३८६)। वास्तव में इन साधनाओं के द्वारा अनाकांक्षित-अवांछित एवं विभ्रम उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को दूर रखने का मूल्यवान कार्य सम्पन्न होता है।

३. नारद-भक्ति-सूत्र, २१ तथा शाण्डिल्य भ० सू०, १४।

'विरहिणी कौ अंग' में कान्ता भाव की मधुर अभिव्यक्ति भी हुई है।[1] पर सब मिलाकर निर्गुणोपासक सभी संप्रदायों की भक्ति मुख्यतया शान्त भाव की ही है। इन लोगों ने संसार की असारता, क्षण-भंगुरता आदि को दिखाते हुए वैराग्य के अग की बड़ी चर्चा की है। और इसी प्रसंग में बार-बार राम का नाम रटने, राम से भक्ति करने का निर्देश भी करते जाते हैं। डा० वर्मा के निबन्ध में बताया गया है कि चेतावनी और उपदेश के अंग मुख्यतः शान्त रस से सम्बन्धित हैं।[2] क्रम और संख्या तालिका में इनका स्थान तीसरा है। उपदेश और चेतावनी से संबंधित साखी और शब्दों की संख्या क्रमशः २६८ और २३५ है। यह इनके महत्त्व का द्योतक है।

सगुणोपासक सम्प्रदायों में संसार की विरक्ति सम्बन्धी शान्त रस की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है, पर वह वास्तव में दास्य, सख्य, वात्सल्य या मधुरभाव की अंगभूत अभिव्यक्ति है। इनके अनुसार ये पाँचों भाव एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। उत्तरोत्तर एक का दूसरे में अंतर्भाव होता चलता है, तथा सर्वश्रेष्ठ कान्ता (या प्रियता) भाव में पांचों भावों का समन्वय रहता है।[3] इस प्रकार सगुणोपासक (चैतन्य, वल्लभीय, हरिदासी, राधा वल्लभीय, रामोपासक) सम्प्रदायों में शान्त भक्ति मुख्य नहीं है। वह भक्ति के अन्य भावों की पोषक मात्र है। शान्त भक्ति के विभावों की चर्चा करते हुए भक्ति-रसामृत-सिन्धु में भगवान चतुर्भुज तथा आत्माराम एवं तापस भक्तों को शान्त भक्ति का आलम्बन माना है।[4] सगुणो-

१. डॉ० रामकुमार वर्मा ने भारतीय हिन्दी-परिषद प्रयाग द्वारा प्रकाशित हिन्दी-साहित्य में पृ० २४१ पर अट्ठाइस संत कवियों की बानियों के आधार पर विभिन्न अंगों की जो तालिका दी है उससे प्रतीत होता है कि संत-संप्रदायों में प्रेम का स्थान काफी ऊंचा रहा है। इस तालिका में प्रेम के अंगों की शब्द और साखी संख्या १९८ है तथा उसका क्रमानुसार पांचवां स्थान है। प्रेम-प्रतीकों पर आधारित अंगों में 'पतिव्रता' का स्थान १५ वां है तथा उसकी शब्द-साखी संख्या ३८ है। तथा विरह या विरह का उराहना का स्थान प्रेम के बाद हैं। उसके अंगों की संख्या १४२ है। 'व्यभि-चारिन कौ अंग, का स्थान १७ वां है और साखी संख्या ८ हैं।

२. वही, पृ० २३४।

३. नारायण भट्ट ने भक्ति-रस-तरंगिणी में कहा है कि अंगी रसों में परस्पर अंगांगि भाव रहता है। वत्सलादौशान्तस्य यथा।
— भक्ति-रस-तरंगिणी पृ० ११० (बाबा कृष्णदास द्वारा प्रणीत)।

४. रूप गोस्वामी : हरिभक्ति रसामृत सिंधु, पश्चिम विभाग, १।१३-१५।

पासक सभी संप्रदायों के अनुयायी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों, भक्तों एवं गुरुओं की प्रशंसा में बहुत अधिक स्तुतियां की हैं। उन्हें हम शान्त रस के अन्तर्गत ही परिगणित कर सकते हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवियों द्वारा गुरु-वन्दन एवं सिद्धांत-निरूपण के प्रसंग में ईश्वर के स्वरूप-दर्शन, गुणगान आदि की चर्चा से युक्त तत्सम्बन्धी प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। १७ वीं शती के अन्तिम भाग के निम्बार्कीय आचार्य और कवि परशुराम देव का परशुराम-सागर तो मुख्यतः शान्त रस का ही ग्रन्थ है। हमारे आलोच्य युग में धनानन्द, नागरीदास में शान्त रस के यथेष्ट उद्धरण मिल जाते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टादश सिद्धान्त के पद, रसिक दास की रचनाएँ आदि सैद्धान्तिक निरूपण इसी के अन्तर्गत आवेंगे। इसी प्रकार सेवक, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, रूपलाल, चाचा हित वृन्दावन दास आदि में शान्त भक्ति की रचनाओं का विशाल भण्डार प्राप्त है। कृष्णदास कविराज की गौरगणोद्देश-दीपिका प्रियादास की भक्त-सुमिरनी, भक्तमाल की टीका आदि शान्त रस के ही ग्रंथ कहे जायेंगे। सिद्धान्त-निरूपण एवं गुरु-महिमा-गान वाली शान्त भक्ति का अभाव पुष्टि मार्ग में भी नहीं है। रामोपासना की मधुर साधना के अन्तर्गत भी शान्त रस का निषेध नहीं है।[1] शान्त भक्ति के जिन अनुभावों, उद्दीपनों एवं संचारी भावों की गणना वैष्णवाचार्यों ने की है, उनका भी अभाव उन सम्प्रदायों में नहीं है। पर ये सभी अंततः मधुर भाव की ओर मोड़ दिये गये हैं।

दास्य-भक्तिः

भक्ति के क्षेत्र में निजी वैयक्तिक सम्बन्धों का प्रथम स्फुरण दास्य भाव में होता है। निजी सम्बन्धों के कारण भक्ति-भावना यहाँ पर अधिक प्रगाढ़ हो जाती है। शान्त भक्ति की विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें एक विशेषता और जुड़ जाती है कि भक्त भगवान् को अपना स्वामी मानकर उसकी सेवा के भाव को जगा लेता है। इस प्रकार रूपवर्णहीन शान्त की अपेक्षा यह श्रेष्ठतर है। इसमें भगवान शाश्वत स्वामी एवं उनका परिकर शाश्वत सेवक माना जाता है।

---

१. रामोपासकः कामदेन्द्रमणि जी ने शान्त रस के उपासकों को भी प्रभु के परिकरों में माना है। उनको रुक्ष और रस-रूप दो भागों में बांटते हुए उन्होंने कहा है कि रस-रूप के उपासक महली सेवा और रस-भोग का मर्म जानते हैं। युगल-लीला में उनकी आस्था होती है। (भगवतीप्रसाद सिंह, रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय पृ० २२२-२२३ पर उद्धृत।)

इसमें भक्त के मन में सदैव यह धारणा रहती है कि भगवान् मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाले हैं और मैं अनुग्राहय हूँ। वे मेरे स्वामी और मैं उनका सेवक हूँ। भगवान् मेरी रक्षा और लालन-पालन करने वाले हैं और मैं उनका लाल्य या पाल्य हूँ। प्रीत या दास्य भक्ति में इस प्रकार रूप गोस्वामी ने सम्भ्रम और गौरव के दो भाव माने हैं।[१] सम्भ्रम में भगवान से भक्त अपने को अत्यन्त दीन एवं हीन समझता है।[२] भगवान के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड निवास करते हैं, वे कृपा के समुद्र हैं, क्षमाशील एवं शरणागत पालक हैं तथा वरीयान, बलवान एवं प्रेमवश्य हैं।[३] ऐसे प्रभु के प्रति उसका जो आश्रित, आज्ञाकारी एवं विश्वास का भाव तथा प्रभुता-ज्ञान से नम्र हुई बुद्धि है वही उसका सम्भ्रम प्रीत वाला दास भाव है।[४] दास चार प्रकार के होते हैं :—अधिकृत, आश्रित, पारिषद एवं अनुग।[५] उनके भी अनेक भेदोपभेद हैं। विस्तार-भय से हम उन सबकी चर्चा यहां नहीं करेंगे। सम्भ्रम-प्रीति उत्तरोत्तर बढ़कर प्रेमा, स्नेह एवं राग अवस्था को प्राप्त होती है।[६]

गौरव-प्रीति-सम्पन्न भक्त में सदा भगवान के द्वारा रक्षित और पालित होने की इच्छा रहती है, अथवा कृष्ण के द्वारा ही वह लालित और पालित होता है। यह अभिमान (लाल्याभिमान) रहता है।[७] इस प्रकार सेवकों में ऐश्वर्य-ज्ञान की ही प्रमुखता रहती है। गौरव-प्रीति भी प्रेमा, स्नेह एवं, राग इन तीन अवस्थाओं में उत्तरोत्तर विकसित होती जाती हैं।

जब प्रीति इतनी गाढ़ एवं-बद्धमूल हो जाय कि उसको ह्रास की तनिक भी आशंका न रहे तब उसे प्रेमा कहते हैं।[८] इसी प्रेमा भाव की सान्द्रता में तरलायित हुये चित्त को स्नेह कहते हैं। इस अवस्था में प्रभु का क्षणिक विश्लेषण भी सह्य नहीं होता। स्नेह का उत्कर्ष राग में परिवर्तित होता है तथा भक्त प्रभु के साक्षात्कार या तत्तुल्य स्फुरण अथवा कृपालाभ से कृष्ण का अन्तरंग बन जाता है। इस अवस्था में दुःख भी सुख हो जाता है। राग की अवस्था में उसे अपने प्राण-

---

१. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, प० वि०, द्वि० लहरी, ४।
२. वही वही ४०।
३. वही वही ७,११।
४. वही वही १२।
५. वही वही १३।
६. वही वही ४३।
७. वही वही ६४।
८. वही वही ४४।

नाश का भी भय नहीं रह जाता।[१]

स्पष्ट है कि दास्य भक्ति में प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान के साथ ही शरणागति या प्रपत्ति का भाव मिला रहता है। शरणागति या आत्मा-समर्पण प्रेम के राज्य में एक ऊंची चीज़ है। इसके अतिरिक्त दास्य भक्ति में सेवा का जो अंश है, वह भक्ति का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसे सभी प्रकार की भक्तियों एवं भक्ति-सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो यहां तक कह दिया है कि :

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि"[२]

वल्लभाचार्य ने भी दास्य भाव का तिरस्कार नहीं किया। अन्त:करण प्रबोध नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है, "यदि भक्त को फल नहीं मिलता तो उसे पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये। वह यही समझे कि मैं तो भगवान् का सेवक मात्र हूँ। श्रीकृष्ण को लौकिक स्वामी की तरह कभी न देखना चाहिये। सेवक का तो धर्म है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे"।[३] 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में भी दैन्य-भावना (जो दास-भाव का ही अंग है)को उन्होंने स्थान दिया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों में दास्य भाव के प्रचुर उद्धरण मिलते हैं।[४] डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सूर ने विनय एवं दैन्य के पद वल्लभाचार्य से मिलने के बाद नहीं लिखे और वह भी उस स्थिति में जबकि स्वयं वल्लभ ने 'दास्य भक्ति तथा दास्य-भाव की सेवा का भी विधान अपनी भक्ति-पद्धति में रखा है।'[५]

रामानुज एवं रामानन्दी सम्प्रदायों में दैन्य एवं दास-भाव को सदैव बहुमान मिला है। तुलसीदास की भक्ति दैन्य भाव की थी, यह बात प्रसिद्ध ही है। आगे चलकर जब रामोपासना मधुर-भावापन्न हो उठती है, उस समय भी अष्टयाम सेवा, अपनी हीनता आदि की भावनाएँ बराबर बनी रहती हैं।[६]

---

१. हरिभक्ति रसामृत सिंधु प० वि० द्वि० ४६ और उसकी दुर्गम, संगमनी टीका, पृ० ३४३।

२. रा० च० मा०, उ० कां० ११६ (क)।

३. अन्त:करण प्रबोध, षोडश ग्रन्थ, रमानाथ शर्मा, पृ० ५६-५७।

४. डॉ० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६०२।६०६

५. वही, पृ० ६०२-६०३।

६. रामोपासक महात्मा रसरंगमणि (१९वीं शती) ने वात्सल्य और दास्य को ही सब रसों का हेतु और आधार माना है :

वात्सल्य माता पिता, सब रस को है रेतु।
तिहि बिन जग लीला जुगल, बनत नहीं रस केतु।
बिना दासता भक्ति नहिं, भक्ति बिना रस नाहिं।
रसिक जीव रस रंग मणि, रामदास सब आहिं॥
—राम रस रंग, दोहा, पृ० १०-११।

निम्बार्क द्वारा भक्ति की परिभाषा में उद्धृत श्लोक (दशश्लोकी) में दैन्यादि गुणों की उत्पत्ति प्रभु-कृपा से मानी गयी है। इस प्रकार दास्य-भावना इस सम्प्रदाय में पूर्णतया मान्य है। यद्यपि निम्बार्क-सम्प्रदाय एवं हरिदासी तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों में जिस समय रसोपासना का विकास होता है, उसा समय रामोपासना के समान ही सेवक-भाव या कैंकर्य अंगीभाव न रहकर युगल-किशोर के माधुर्य का अंग और साधन मात्र हो जाता है। जीव का परतत्त्व से सम्बन्ध सेवक-सेव्य भाव का इन संप्रदायों में मान्य है। स्वा. हरिदास जब कहते हैं, "श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी प्रानन के आधारिनि,"[1]। तब स्वामी शब्द से यह सेवक, सेव्य-भाव प्रकट हो जाता है। वास्तव में सखी सहचरी, मंजरी या किंकरी भाव मूलतः दास्य भावना की हो अभिव्यक्तियाँ हैं। स्त्रीपदवाची होने से अन्तरंग विलास में इनका प्रवेश हो जाता है, जबकि पुरुष, दास या सेवक का अधिकार नहीं होता। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दास या दासी में कोई अन्तर नहीं है।

गौड़ीय वैष्णवों में भी दास्य भाव अमान्य नहीं है। ऊपर हमने हरिभक्ति रसामृत सिन्धु के आधार पर ही इसका विवेचन किया है । इस भक्तिरस को रूप गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, एवं जीव गोस्वामी आदि ने पांच मुख्य भक्ति-रसों में ही माना है। पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकास-क्रम में दास्य का भी अन्तर्भाव मधुर भाव में हो जाता है। मधुर भाव ही श्रेष्ठ है,.इस धारणा के कारण गौड़ीय भक्त-कवियों ने भी मधुर भावान्तर्गत ही इसका चित्रण किया है।

निर्गुणी कवियों ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। डॉ० राम कुमार वर्मा द्वारा विवेचित (पीछे उद्धृत) तालिका में शब्दों एवं सखियों की सबसे अधिक संख्या विनय या विनती के अंगों की २८० है।[2] इस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व दास्य या प्रीति भक्ति को ही निर्गुण कवियों ने दिया, ऐसा प्रतीत होता है। दास्य के दैन्य, विनय, आत्मदोष-कथन शरणागति आदि के अतिरिक्त राजा[3] स्वामी[4], पिता,[5] जननी,[6] आदि रूपों में जहां कल्पना की गई है, वे स्थल भी दास-

---

पूर्व पृ० से : पर वास्तव में वात्सल्य और दास्य को उन्होंने अन्ततः 'युगल लीला' की ओर प्रयोजित कर दिया है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से ये अंगी न होकर अंग ही हुये।

१. अष्टादास सिद्धांतके पद, २।

२. हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग), भा० हि० परिषद्, पृ० २४१।

३. कबीर ग्रन्थावली पृ० १४३।

४. वही ग्रन्थावली पृ० ६।

५. वही ग्रन्थावली पृ० १८४।

६. वही ग्रन्थावली पृ० १२३।

भाव के ही हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से दास्य भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है।

सख्य-भक्ति (प्रेयस् रति) :

दास भावना में प्रभु के गौरव एवं महत्ता की अनुभूति के कारण साधक का बहुत समीपी सम्पर्क नहीं हो पाता। स्वामी और सेवक के मध्य एक प्रकार का दुराव अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त स्वामी को सेवक के कार्यों में उतनी गाढ़ रुचि भी नहीं होती।

अतः भक्ति की और विकसित स्थिति में जिस सामाजिक भाव-सम्बन्व की कल्पना की गई वह सख्य भाव है। सखाओं में परस्पर सामीप्य-बोध अधिक होता है, उनमें पारस्परिक अन्तरंगता हो जाती है। वे एक दूसरे के गुप्त रहस्यों से परिचित ही नहीं होते, एक दूसरे के कार्यों में गहरी रुचि भी लेते हैं।

दास्य भक्ति के सम्बन्ध में हमने सम्भ्रम शब्द का नाम लिया था। रूप गोस्वामी के अनुसार सम्भ्रम की समाप्ति-अथवा विश्रम्भ यानी कि बिना किसी प्रकार के अन्तराय के गाढ़ विश्वास को ही सख्य का स्थायी कहना चाहिये।[१] गाढ़ विश्वास वाली यह सख्य रति बढ़कर प्रणय, प्रेमा, स्नेह तथा राग में परिणत होती है।[२] इनकी फिर अनेक स्थितियों का निरूपण रूप गोस्वामी ने किया है।

सखा भी पुर तथा ब्रज-सम्बन्ध से दो प्रकार के माने गये हैं।[३] ब्रज-सखाओं के पुनः चार भेद हैं:—सुहृत, सखा, प्रियसखा, प्रिय नर्म सखा।[४] इनमें अन्तिम सर्वश्रेष्ठ होते हैं। सुहृत सखा कृष्ण से आयु में बड़े और कृष्ण के प्रति किंचित वात्सल्य से युक्त माने गये हैं। सखा भगवान से आयु में कुछ कम, प्रिय सखा समान आयु के। प्रिय नर्म सखा उनसे भी अधिक मान वाले तथा अन्तरंग गोपनीय लीलाओं के सहचर होते हैं।[५]

इन सभी सखाओं के आलम्बन कृष्ण सुन्दर वेश धारण करने वाले, सुपण्डित, अत्यन्त प्रतिभाशाली, दक्ष, वीर शेषर, विदग्ध-बुद्धिमान, समृद्ध एवं सुखी हैं। ऐसे भगवान के साथ उपर्युक्त सम्बन्धों का अनुकरण करते हुये जो भाव-प्रतिभा मन में स्थापित होती है, वह सखा-भक्ति की ही होती है। इसमें शान्त भक्ति के निरभिमान, विरक्ति आदि भी हैं, दास का सा सेवा-भाव है (सखा सेवा

---

१. ह० भ० र० सि० प० वि० ३।५४-५५।
२. वही वही ३।५६।
३. वही वही ३।६।
४. वही वही ३।१०।
५. वही वही ३।२०।

भी करता है) और साथ ही मित्रता का खुलापन और आत्मीयता भी हैं—इसी कारण इसे पूर्वोक्त दोनों से श्रेष्ठ माना गया है।

पुष्टि-सम्प्रदाय में सख्य-भावना को सबसे अधिक स्वीकृति और पूर्णता मिली है। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की गोप-लीलाओं की ही चर्चा नहीं की है—पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र और मित्रता की समस्त छायाओं को उन्होंने अत्यधिक यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इस निरूपण में ऊपर गिनाये गये ब्रज-सखाओं के समस्त भेद और उपभेद भी हमें सूरदास में मिल जाते हैं। पर केवल लीला-गान में ही नहीं अपने वास्तविक जीवन में भी अष्टछाप के कवि सखा-भाव की मानसिक अवस्था का अनुभव करते थे। वार्ता-साहित्य में गोविन्द स्वामी एवं चतुर्भुजदास के जीवन के सख्यभाव को प्रकट करने वाले अनेक प्रसंग आते हैं। वे श्रीनाथ जी के साथ सखा जैसा ही व्यवहार करते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों को अष्ट सखा भी कहा जाता है। और कृष्ण के आठ सखाओं का ही प्रतिरूप उन्हें मानते हैं।

रामोपासक सम्प्रदाय में भी सख्य भाव की स्वीकृति है। सख्य रसावेशी भक्तों ने अन्य रसों को सख्य के अन्तर्गत ही माना है।[1] उनके अनुसार हितैषणा, स्नेह तथा एकात्म भावना सख्य के, विशिष्ट रूप से, अपने गुण हैं और वे वात्सल्य में कृपा-रूप से, दास्य में सेवा-रूप से एवं शृंगार में काम रूप से व्याप्त रहते हैं। उनकी धारणा है कि शृंगार में जो प्रिया के प्रति आसक्ति है, वह वास्तव में नारी-विशिष्ट में केन्द्रित सख्यासक्ति ही है। इसी आधार पर उन्होंने सखी भाव और सखा भाव को एक माना है। रूप गोस्वामी से मिलते-जुलते सखाओं के विभाजन यहां भी किये गये हैं। मधुर सखा राम से आयु में छोटे होते हैं, ये अवध की गलियों में खेलते हुये महलों में समाचार पहुँचाते हैं, नर्म सखा श्रीरामचन्द्र का शृंगार करते हैं,[2] लीला के समय ये कैंकर्य[3] सीता जी की पेवा करते हैं।[4] प्रिय सखा अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की सेवाएँ करते हैं। रसमयी बातों में योग देते हैं तथा हास्य-विनोद एवं भोजन में भी साथ देते हैं।[5]

सुहृत सखा आयु में राम से बड़े माने गये हैं। ये लोग रास में भाग नहीं लेते। तथा राम सीता के विवाह, द्विरागमन लीलाओं के आयोजन और ध्यान में व्यस्त रहते हैं। उनके राज्य, कोष, प्रासाद आदि की रक्षा में तत्पर रहते हैं,

---

१. अवधशरणः सख्य-सिन्धु-चन्द्रोदय, पृ० ३२।
२. हनुमत्संहिता, पृ० ३१।
३. नृत्य-राघव-मिलन, दोहा, पृ० ४५-४६।
४. महाराज रघुराज सिंहः भक्ति-विलास, पृ० ४७।
५. वही, वही, पृ० ४७।

जिससे कि युगल अपनी लीलाओं में निर्विघन रत रहें।[१] रामभक्ति शाखा में सख्य भाव की रसोपासना के मुख्य प्रवर्तक रामसखे हुये हैं। ये अपने को राम का प्रिय सखा मानते थे।

स्पष्ट है कि इस सख्य भाव की परिणिति भी अन्ततः रस-भावना या मधुर उपासना की ओर है। साधक दम्पति-लीलाओं में सख्य भाव के आवेश में सम्मिलित हो सकता है। इस संप्रदाय में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सखा-भाव और सखीभाव में उतना भेद नहीं किया गया।

पर कृष्णोपासकों में सखा-भाव और सखी-भाव में स्पष्ट अन्तर माना जाता है। स्त्री-रूप में ही सर्वस्व अर्पण है—स्वसुख और तत्सुख दोनों ही रूपों में। ब्रज-भूमि के रसोपासकों ने इसी कारण सखा-भाव को महत्त्व नहीं दिया है। पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त गौड़ीय वैष्णवों में ही इस भाव को छोड़ दिया है। हरिदासी, राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों में सखियों की भावना ही मान्य है। निर्गुण-सम्प्रदायों में मित्र के प्रतीक[२] रूप में सख्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है पर सब मिलाकर भक्ति के इस रूप का वहां नितान्त अभाव है। वास्तव में सख्य भक्ति क्रीड़ापरक एवं लीलागान पर ही आधृत होती है। निर्गुण-मतावलम्बी चूंकि सगुण-लीला पर विश्वास नहीं करते अतः भगवान के साथ सख्य सम्बन्ध भी बनाना उनके लिये कठिन होता है। इसके अतिरिक्त सख्य की समानता का भाव भी शून्य महल में रहने वाले अविनाशी, अनीह, अखण्ड, निर्गुण ब्रह्म के साथ स्थापित करना उनके लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संभव नहीं था। इसी कारण प्रतीक रूप में भी मित्र-भाव का प्रकाशन इन संत कवियों द्वारा कम ही हुआ है।

वात्सल्य-भक्ति :

मित्रता में समानता का व्यवहार होता है। यदि एक मित्र (चाहे वह प्रभु ही क्यों न हो) भाव का प्रतिदान देने में समर्थ नहीं है तो वह मित्रता ठहर नहीं सकती। इस तरह प्रदान के साथ आदान सख्य भाव में अनिवार्य हो जाता है, परन्तु पुत्र के स्नेह न करने पर भी माता-पिता उससे प्रेम करते रहते हैं। अतएव निष्कामता की अभिव्यक्ति पुत्र-स्नेह में सबसे अधिक होती है। इसके अतिरिक्त माता-पिता पुत्र की सेवा दास से भी अधिक करते हैं, सखा के समान उसका मनोरंजन करते हैं, उसके साथ खेलते-खिलाते हैं। इस रूप में

---

१. महाराज रघुराज सिंह : भक्ति-विलास पृ० ४७।

२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७।

पूर्व कथित भाव-दशायें भी वात्सल्य में अंतर्भुक्त हो जाती हैं। जीवन की तीन मूल वृत्तियों – जिजीविषा, कामेच्छा, एवं सृजन-कामना में से एक सृजन-कामना का साकार विग्रह सन्तान होती है। इस रूप में भी वात्सल्य जीवन का अत्यधिक व्यापक और सार्वभौम भाव है। लौकिक जीवन के इस अनुभव को भी पारमार्थिक जीवन के क्षेत्र में घटाया गया है।

जिस समय भक्त परमात्मा को पुत्रवत् मानकर (नंद, यशोदा, दशरथ, कौशल्या आदि की भाँति) उन्हें लाड़ लड़ाता है, उनकी सुरक्षा और सुविधा का ध्यान रखता है, एवं बिना प्रतिदान में कुछ चाहे निष्काम भाव से उनके प्रति स्नेह रखता है, तब ऐसी भाव-भक्ति को वात्सल्य भक्ति कहा जाता है। यहां पर न तो सम्भ्रम है न विश्रम्भ, बल्कि अनुकम्पनीय पर अनुकम्पा का भाव ही स्थायी है।[1] यह वात्सल्य रति पूर्वकथित अन्य रतियों की भाँति ही प्रौढ़ होने पर प्रेमा, स्नेह एवं राग अवस्थाओं को प्राप्त होती है। श्यामल गात, रुचिर, समस्त श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, प्रियवाक्, सरल, बुद्धिमान, विनयी, माननीयों का मान करने वाले भगवान कृष्ण (या राम) इस रति के आलम्बन हैं।

माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरुजन आदि इस भाव के आश्रय होते हैं। कुमारादि वय, रूप, वेष, शैशव की चपलता, जल्पना, स्मिति, आदि लीलाएँ ही उद्दीपन हैं।[2] मस्तक का सूँघना, आशीर्वाद, आज्ञा, हितोपदेशदान, चुम्बन, आश्लेष तथा स्तन्यस्राव आदि अनुभाव हैं।[3]

रामोपासकों में वृद्ध वात्सल्य एवं लघु वात्सल्य, ये दो भाग किये गये हैं। वृद्ध वात्सल्य से तात्पर्य ऊपर विवेचित वात्सल्य से है, पर लघु वात्सल्य है, जब राम सीता को पिता-माता मान कर साधक स्वयं को शिशु रूप में कल्पित करता है।[4]

जहां तक शिशु की क्रीड़ाओं, बाल-लीलाओं आदि के वर्णन का प्रश्न है, वात्सल्य भाव की निवृत्ति संसार के समस्त साहित्य में प्राप्त होती है। सूरदास तो इस चित्रण के अधीश्वर ही हैं। बाल-लीला एवं माता-पिता की अनुभूतियों का उनसे बड़ा चितेरा संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ है पर मानसिक धरातल पर इस भाव की साधना अत्यधिक कठिन है। जो भगवान् है, ईश्वर है, परमात्मा है, समस्त चराचर ब्रह्माण्ड के उद्भव स्थिति एवं निलय का हेतु है, उसे एक

---

१. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, प० वि०, ४।२४।
२. वही, वही, ४।२७३।
३. वही, वही, ४।८।
४. वही, वही, ४।२०-२२।
५. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० २५०।

नगण्य साधक शिशु मानकर व्यवहार करे—यह स्थिति तनिक कठिन है। स्वयं को शिशु एवं ईश्वर को पिता मानकर एक प्रकार की प्रतीकोपासना संभव है, लेकिन यहाँ भी एक सुविकसित-प्रौढ़ व्यक्तित्व बालचेष्टाएँ, कठिनता से ही धारण कर सकेगा। इसलिये इस भाव की अभिव्यंजना हमें मध्यकालीन वैष्णव-साहित्य में कम मिलती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल-रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है, एवं सूर और परमानन्ददास ने वात्सल्य भाव-सम्बन्धी प्रचूर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की। परन्तु फिर वल्लभ-संप्रदाय में भी मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गयी। स्वयं सूरदास ने अपने अंतिम पद में 'युगल रूप' में ही अपनी चितवृत्ति के रमे रहने का उल्लेख किया है।"[१]

गौड़ीय वैष्णव-कवियों ने इस भाव के प्रकाशन की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। उनका मन कृष्ण और राधा की किशोर-लीलाओं में ही रमा रहा।

निम्बार्क-संप्रदाय में भट्ट, हरिव्यासदेव, वृन्दावन देव[२], घनानन्द आदि ने बाल-क्रीड़ाओं के वर्णनों के अतिरिक्त बधाई के पदों में वात्सल्य की अभिव्यक्ति की है। यों सब मिलाकर इस संप्रदाय का मुख्य काम्य मधुर रस ही है। वात्सल्य के वर्णनों में भी बहाने से राधा-कृष्ण मिलन के प्रसंग इन्होंने ढूँढ़ लिये हैं। गोपाल बन से गोचारण के उपरान्त लौट रहे हैं तो दूलह के समान हैं[३] और सखियों के यूथ के आगे आगे आ रही राधा दुलहिन के समान हैं। "इस सम्प्रदाय के कवियों के वात्सल्य रस के वर्णन में इस रस का वर्णन कवियों का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वरन् उससे सम्बन्धित रति बालक कृष्ण और राधा के पोषण में सहचरी-भाव की नित्य-विहार-दर्शन की सुख-लालसा छिपी है।"[४]

हरिदासी एवं राधावल्लभीय संप्रदाय में व्रजलीलाओं का महत्त्व ही नहीं है। वहां तो युगल की नित्य-विहार-लीलाओं का ही गान है, अतः

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भावप्रकाश, पृ० ७८६।

२. वन्दावन देव की रचना 'गीतामृत-गंगा' का प्रथम घाट जन्मोत्सव एवं द्वितीय घाट पौगण्ड-लीलाओं का है।

३. गोपाल लाल, दूलह बराती।
गोधन आगे सखिन यूथ में राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुन्दुभि दूध दोहन की बाजी राजी सब गोपाल सजाती।
आरति पलक गहि जल मोती, श्रीभट रूप पिवाती।
—श्री युगल शतक, पद २०।

४. निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवि : डॉ० नारायण दत्त शर्मा, पृ० ५१७ (अ० प्र०)।

वात्सल्य भाव की अभिव्यंजना का प्रश्न ही नहीं उठता। यों सखी-संप्रदाय (हरीदासी) के अष्टाचार्यों में से एक रसिक-दास इसके अपवाद हैं। उन्होंने वात्सल्य भाव का पर्याप्त अंकन किया है। यद्यपि यहाँ भी प्रवृत्ति वात्सल्य के मध्य मधुर भाव के प्रसंगों की योजना की ही रही है। बाललीला, नामक एक छोटी सी ४६ छंदों की, इनकी पुस्तक है, उसमें कृष्ण के जन्म, बालपन आदि का वर्णन है तथा अन्त में एक गोपी राधा को कृष्ण से गोचारण के बहाने लाकर वन में मिला देती है। युगल-मिलन में परिसमाप्ति होते हुए भी संप्रदाय की दृष्टि से यह ग्रन्थ कुछ अनोखा है। यों रसिकदास जी ने स्वयं अपनी भावना स्पष्ट करते हुये लिखा है कि युगलकिशोर एक ओर सदा नित्य विहार में लगे रहते हैं एवं दूसरी ओर नन्द एवं वृषभानु के घर जन्म भी लेते हैं।

रसोपासक संप्रदायों में वात्सल्य-भावना को रामोपासना के भीतर पर्याप्त स्थान मिला है, यद्यपि प्रवृत्ति 'युगल-किशोर' के नित्य विहार में सहायक होने की है। राम-सीता का विवाह, गौना करा दिया जाय, उनके विहार में कोई कष्ट असुविधा न रहे, यह भाव इन भक्तों में मुख्य है इसके अतिरिक्त राम-सीता की बालचेष्टाओं आदि का भी चित्रण शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से भी मिल जाता है। 'रामप्रियाशरण' प्रेमकली, ने अपने, 'सीतायन,' नामक विशाल प्रबन्धकाव्य में 'सीता' की बाल लीलाओं का अच्छा वर्णन दिया है :

छबीली जनक ललिन की जोरी
करि सिंगार निरखति नयनन भरि, जननि सकल तृण तोरी।
छम-छम चलति अरति पुनि दौरति, मणि प्रतिबिम्ब गहोरी।

इसी प्रकार सूरकिशोर जी की जानकी जी में वात्सल्यनिष्ठा थी। कहते हैं कि ये अयोध्या का पानी भी नहीं पीते थे, दामाद के नाते राम से परमपद तक की उन्होंने याचना नहीं की। पं० उमापति वसिष्ठ-भाव से भगवान् की आराधना करते थे। वे इसी कारण राम को प्रणाम नहीं करते थे।

निर्गुणोपासकों में न तो बाल-लीलाओं का स्थान है और न प्रभु को पुत्र मानने का ही प्रश्न है। इसी कारण वात्सल्यभाव की विवृत्ति वहां पर नहीं के बराबर है। स्वयं ईश्वर की पिता-रूप में चर्चा अवश्य आयी है—पर वह मात्र प्रतीक है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। पिता या माता रूप में अनेक सन्त-कवियों ने ईश्वर को माना है, इसकी चर्चा हम पीछे दास्य भक्ति के प्रसंग में कर चुके हैं।

मधुरा या कान्ता भक्ति :

वात्सल्य में भी एक प्रकार की दूरी माता, पिता और पुत्र के मध्य

अवश्य रहती है। जैसा सर्वस्व समर्पण, जितना सान्द्र प्रेम एवं जितनी एकात्मानुभूति स्त्री-पुरुष के प्रेम में होती है, उतनी अन्यत्र नहीं। स्त्री-पुरुष के मध्य की काम-भावना जीवन की गहनतम, व्यापकतम एवं सार्वभौम वृत्ति है।, इस भावना में पूर्ववर्ती सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा-सखी की भांति मनोरंजन भी करती है, माँ के समान हित-चिंता भी करती है एवं पत्नी के रूप में अपना संपूर्ण व्यक्तित्व पति को अर्पित कर देती है। प्रेमभाव की यह सर्वोच्च अवस्था है एवं संसार के सभी आस्तिक धर्मों में इस प्रतीक का व्यवहार किया गया है। पर वैष्णवों में यह प्रतीक के स्तर पर न रहकर वास्तविकता के स्तर पर ले आया गया है। गोपियाँ इस प्रेम की आदर्श आश्रय हैं एवं गोपियों में राधा साक्षात् महाभावरूपा हैं। सौन्दर्य एवं माधुर्य के घनविग्रह श्याम सुन्दर ही इसके आलम्बन हैं। भगवतरति का श्रेष्ठतम रूप यह मधुर भाव ही है। हमारे आलोच्य युग में इसी मधुर प्रेम के सूर्य की किरणों से सारे सम्प्रदाय आलोकित हो उठे थे। इस साधना की पृष्ठभूमि, विकास, स्वरूप एवं विभिन्न सम्प्रदायों में उसके रूप की विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

ऊपर हम जिन पांचों भक्तियों का उल्लेख कर आये हैं उनके अनुरूप भाव-सत्ता वाले प्राणी पहले हो चुके हैं। चाहे सनक-संनंदन जैसे संत हों, या हनुमान, शुकदेव, संजय विदुर जैसे दास हों, अर्जुन, श्रीदामा, सुबल जैसे सखा हों, दशरथ, कौशल्या, नन्द, यशोदा, वसिष्ठ जैसे गुरुजन हों या व्रज-गोपिकाएँ (राधा आदि) सीतादि हों—ये सभी अखिल भुवन-मोहन श्यामसुन्दर के प्रति तत्तत् भावों की प्रतिमाएँ थीं। इनकी रति रागात्मिका थी। (इष्ट में गाढ़ तृष्णा राग का स्वरूप-लक्षण एवं इष्ट की आविष्टता उसका तटस्थ लक्षण है।[1]) इस रागभाव की भक्ति ही रागात्मिका होती हैं। व्रजवासी-जनों की प्रीति ऐसी ही थी।[2]

जीव स्वभावतः कृष्ण-दास है, वह व्रजवासी-जनों के समान तो नहीं है, पर उसे चाहिए कि अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार व्रजवासियों के उस-उस भाव का अनुकरण करे। इसे ही रागानुगा भक्ति कहते हैं—यानी कि रागात्मिका का अनुकरण करने वाली। साधक अपने भावानुसार स्वयं को दास, सखा, माता पिता या प्रिया अनुभव करे। अपने ही ऊपर उन का आरोप करे। धीरे-धीरे अभ्यास से वह वैसे ही भाव एवं प्रेम को मन में जगा सकेगा। सारे संसार के साधकों में

---

१. इष्टे गाढ़तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थ लक्षण॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्य ली०, परि० २२।८६ः।

२. ह० भ० र० सि०, पू० वि० २।६०-६२।

संवेग, कल्पना आदि रोमान्स तत्त्वों की प्रबलता मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार की हैं।[1]

उपर्युक्त परिगणित भाव-भूमियाँ वास्तव में उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित हैं, जिसमें अनुभूति और कल्पनाएँ तथा इन पर उसका विश्वास एक दूसरे के सहारे बढ़ते जाते हैं तथा इन्हीं के साथ उसकी संवेगात्मक ज़िन्दगी और उसकी श्रद्धा भी समय के साथ बढ़ती जाती है।...(हिज़ इमोशनल लाइफ़ ऐण्ड हिज़ फ़ेथ इन इट इन्क्रीज़िंग विद द इयर्स)।[2]

---

१. दि मिस्टिक इज़ इसेन्शियली ए रोमैण्टिसिस्ट। बाइ सेयिंग दिस आइ मीन दैट ही एक्ज़िबिट्स इन अ लार्ज डिग्री दैट कान्फ़िडेन्स इन इमोशन एण्ड इमेजिनेशन विच आर एट दि बाटम ऑफ़ रोमैण्टिसिज़म'। (रहस्यवादी अनिवार्यतः स्वच्छन्दतावादी होता है। यह कहने से मेरा तात्पर्य है कि वह उन कल्पनाओं और संवेगों पर अधिकांशतः वैसा विश्वास प्रदर्शित करता है जो कि स्वच्छंदतावाद के मूल में होते हैं।)

—जे० बी० प्रैट: द रिलिजस कान्शसनेस, पृ० ३६६।

२. वही, पृ० ३६७।

तृतीय अध्याय | उज्ज्वल-रस-मीमांसा

मधुर-भाव का विकास : पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्त्व

पिछले अध्याय में हम संकेत कर चुके है कि मधुरा भक्ति के मूल में स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंध की धारणा विद्यमान है। अपने इष्टदेव कृष्ण के प्रति जो राग (स्वारसिकी आविष्टता) ब्रजगोपिकाओं के हृदयों में था, उसी का अनुगमन करके मन में जो भावचिन्तन किया जाता है, वही मधुराभक्ति में परिणत हो जाता है। समस्त साधना इसी उज्ज्वल भाव तक पहुंचने के लिए होती है। साधना के इस स्वरूप को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहां पर हम संक्षेप में इस साधना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास की रेखा स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

इस साधना का प्रारंभिक और एतत् संबंधी रूप काफी पुराना एवं उपमानपरक है। लौकिक संबंध उपमान, एवं पारलौकिक संबंध उपमेय होता है। वैदिक संहिताओं के ऐसे अंशों की ओर संकेत किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद का एक मंत्र भी इस संबंध में बहुधा उद्धृत किया जाता है :—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यम् किंचन वेदनान्तरम्।
एवमेवायम् पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यम् किंचनवेदनान्तरम्।[1]

यहां पर वास्तव में संबंधों के भी साद्दश्य की ओर संकेत न करके स्थिति-साद्दश्य को व्यंजित किया गया है। इस उपनिषद वाक्य में यौन-सम्मिलन से उत्पन्न विलय को समाधि के आनन्द के समतुल्य बताया है। ब्रह्म और जीव के मध्य का स्त्री-पुरुष वाला संबंध दिखाना उद्दिष्ट प्रतीत नहीं होता।

'काम' जीवन की एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। वैदिक ऋषि ने अनुभव किया था कि जगत्-जीवन के मूल में काम है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथम यदासीत'[2]। भारतीय समाज-चिन्तकों ने इस शक्तिशाली वृत्ति को पालतू बनाने के लिये विवाह की जिस संस्था का निर्माण किया उसने काम को उन्नीत अवस्था में लाकर उसके माध्यम से पितृ-ऋण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पा-

---

१. वृहदारण्यक उपनिषद ४।३।२१।

२. ऋग्वेद ८।७।१७, अथर्व १९।५२।१।

दित कराने चाहे। पतिव्रत एवं पत्नीव्रत के रूप में जो आदर्श सामने आते हैं वे इस अमर्यादित वृत्ति को सीमाबद्ध करते हैं। पति-पत्नी विवाह के पश्चात् लौकिक वासना तृप्ति करते हुए भी एक अभिन्न एवं अपरिवर्तनीय सूत्र में बंध कर जो सुखलाभ करते हैं, उसमें 'काम' महत्त्वहीन हो जाता है अथवा यों कहें कि अधिक उदात्त बन कर मनुष्य को शक्ति और प्रेरणा देता है। धीरे-धीरे स्त्री की सामाजिक हैसियत पुरुष की अपेक्षा गिरती जाती है। पतिव्रत धर्म का महत्त्व बढ़ जाता है एवं एक पत्नीव्रत का आदर्श समाप्त हो जाता है। पत्नी समर्पणशीला बन जाती है, पति की दुर्बलताओं एवं तिरस्कार को सहन करके भी वह अपनी असीम गंभीर प्रेमवृत्ति के साथ पुरुष के प्रति अनुरक्त रहती है। उसके चरित्र में एक कोमल मानवीय गहनता के साथ ही दिव्य एवं अलौकिक गुणों का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। इस निष्ठावान् अधिबल प्रेम की प्रतिमूर्ति ही भारतीय काव्य-पुराण की नायिकाएं हमें मिलती हैं। हमें लगता है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूट कर आये हुये इस निष्ठावान् अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में यथेष्ट सहायता दी है। एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ हैं एवं ये स्त्री रूपी जीवात्माएँ अपने प्रियतम से ऐसा ही दृढ़ प्रेम करें जैसा कि स्त्री अपने पति से करती है—यह आदर्श महत्त्वपूर्ण बनजाता है।

स्त्री-पुरुष-संबंधों एवं प्रेम-वृत्ति के सामन्तीकरण (फ़्यूडलाइज़ेशन ऑफ़ लव) का एक और प्रभाव भी हमें मधुर साधना में विकसित होता मिलता है। जैसे एक सामन्त के ऊपर दूसरा सामन्त होता है और उसकी सीढ़ी-दर-सीढ़ी सेवा होती है। प्रेम की लगभग वैसी ही सेवा हमें उत्तर मध्ययुग में प्राप्त होने लगती है। राधा हैं, कृष्ण हैं, उनकी प्रधान-प्रधान सखियाँ है, यूथेश्वरियाँ हैं फिर उनकी भी सेविकाएं, दासियाँ या मंजरियाँ हैं। यह सारा ढाँचा पूरी तौर से सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम या घृणा अधिक सशक्त थे। देश भक्ति की भावना की अपेक्षा शरण में आये हुए को रक्षा देने की या मित्र के लिये प्राण देने की या प्रेमिका के लिये सब कुछ बलिदान कर देने की भावनाएँ बड़ी प्रबल थीं। इस वैयक्तिक आवेश के कारण ही प्रेम और विश्वासघात दोनों का ही रूप महान् था। मध्ययुग में प्रेम का आवेग एक नये रूप में शक्तिशाली हो उठा, यह बात दूसरी है कि उसकी वेशभूषा कुछ पुरानी ही रही। नम्रता, शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार भी इस प्रेम के अंग बन गए। सामन्त और प्रजाजन का संबंध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित होते हैं। तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं। सामन्ती विधान के भीतर पत्नी सम्पत्ति के एक टुकड़े की भाँति स्वीकृत थी, अतः उसके साथ प्रेम के अति आदर्शीकरण या रूमानी भावना को

जोड़ने का प्रश्न नहीं उठता था। वह तो 'प्राप्त' ही थी। ज़मींदार के लिये जैसे भूमि वैसे पति के लिये स्त्री—यह सामान्य धारणा थी। इस प्रकार विवाह 'प्रेम' के लिये बहुत उपयोगी नहीं था। यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता स्वीकृत थी—'ऐन्द्रिक प्रसन्नता तथा घरेलू सुख-भावना के लिये। पर इसमें मध्ययुग का वह रोमान्स कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया-प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिये महत्त्वहीन, पर वही स्त्री प्रेमी के लिये प्राणाधिक प्रियतमा हो जाती है। सी० एस० लेविस का यह कथन इस प्रसंग में नितान्त सार्थक है--एनी आइडियलाइजेशन आफ़ सेक्सुअल लव, इन ए सोसाइटी ह्वेयर मैरिज इज़ प्योरलीयूटिलिटेरियन, मस्ट बिगिन बाई बीइंग ऐन आइडियला-इज़ेशन आफ़ ऐडल्टरी"[1]। (अर्थात् विवाह को मात्र उपयोगी मानने वाले समाज में, यौनप्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारंभ होगा।) उत्तर मध्ययुग में परकीया प्रेम के इस आदर्शीकरण के उदाहरण भारतीय भाषाओं के वैष्णव-भक्ति साहित्य में विरल नहीं हैं।[2]

इस परकीया प्रेम के पीछे एक और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा भी स्वीकार की जा सकती है। पीछे हम कह चुके हैं कि दाम्पत्य जीवन में जिन हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, उनमें 'काम' का स्थान महत्त्वहीन हो गया था। धीरे-धीरे उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रेम को धर्म के वैराग्यशील पक्ष ने अनुचित ठहराना शुरू किया। स्त्रियों की भाँति-भाँति की निन्दा के स्वर हमें गौतम बुद्ध से लेकर उत्तर मध्ययुग के कवियों-साधकों तक में मिलते हैं। परन्तु साहित्य में, चित्रों में जब-जब परकीया प्रेम का चित्रण हुआ वह मानो एक प्रकार से धार्मिक वर्जन-शीलता के प्रति विद्रोह था। विद्रोह की आत्यंतिक विजय तब होती है जब कि

---

१. सी०एस० लेविस: एलिगरी आफ लव, पृ० १३ (आक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९४८)।

२. परकीया प्रेम के इस सामन्ती रूप का अनजाने ही एक प्रकाशन भागवत में हो गया है। शुकदेव से महाराज परीक्षित ने कृष्ण के परदाराभिमर्शन के औचित्य के बारे में प्रश्न किया, उसका उत्तर उन्होंने दिया—"तेजस्वियों के लिये कोई भी चीज़ दोष की नहीं है जैसे कि सर्वभुक् अग्नि (को मलिनता स्पर्श नहीं करती) ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य है, आचरण सर्वैव सत्य नहीं होता......।" इस उत्तर में मानो कोई कह रहा है कि सामर्थ्यवान शक्तिशाली सामन्त के लिये कुछ भी दोष नहीं है। उसका शब्द ही क़ानून है, सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। यह उत्तर सामन्ती भावना की आत्मा के एकदम अनुकूल है।

साहित्य की प्रेमदेवी राधा अनन्यशक्तिरूपा बन कर धर्म के सिंहासन पर भी आसीन हो जाती है एवं राधा-कृष्ण का उद्दाम प्रेम, आवेगमयी लीलाएँ शत-शत कंठों से धर्म की पवित्रता के साथ फूट पड़ती है। परकीयावाद इन्हीं के साथ एक बौद्धिक-दार्शनिक व्याख्या की मान्यता भी प्राप्त कर लेता है तथा इस विद्रोह का सबसे ऊबड़खाबड़ रूप हमें वज्रयानियों के वेदविरोधी धक्कामार स्वर मे मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्नी के समान आत्मसमर्पण, दृढ़निष्ठा एवं परकीया जैसा उद्दाम प्रेम एवं लीला एक ही समाज व्यवस्था की मनः स्थितियों की देन हैं।[1]

इस सामाजिक प्रेरणा के अतिरिक्त पूर्व वैदिक युग के मातृसत्ताक कुटुम्बों ने भी धर्मसाधनाओं के भीतर से इस माधुर्य-भाव को विकसित होने में सहायता दी है। स्त्री की प्रजनन-सामर्थ्य के कारण धर्म साधनाओं एवं सृष्टि-संबंधी विश्वासों में मूलतः एक शक्ति की कल्पना मातृसत्ताक कुटुम्बों की देन मानी जा सकती है। इस शक्तिवाद के साथ ही एक प्रकार की गुह्य-यौगिक साधना भी इस देश में प्रारंभ से ही पल्लवित होती रही है। इन दोनों ने समस्त भारतीय साधनाओं, धर्ममतों, उपासना-प्रणालियों एवं दार्शनिक मान्यताओं को भीतर-भीतर प्रभावित किया है। इस शक्तिवाद के प्रभाव की विस्तृत विवेचना डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रंथ 'श्री राधा का क्रम विकास' में की है।[2] शक्तिमत के प्रभाव में ही प्रत्येक देवता के साथ उसकी शक्ति की कल्पना की गयी है। दार्शनिक रूप में शक्ति का चाहे जो स्वरूप हो, अपने लोक-बोध के अनुरूप धर्म-बोध को ग्रहण करने वाला समाज देवता और शक्ति को पति-पत्नी-रूप में देखता है। तथा सामाजिक जीवन के पति-पत्नी के आदर्श ही उनके ऊपर आरोपित करता है। यह शक्तिवाद ही वैष्णवों में श्री या लक्ष्मी का रूप धारण करता है। अहिन्य संहिता में परमात्म-धर्म-धर्मी लक्ष्मीरूपा शक्ति को जगत् की योनि कहा गया है—या च सा योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी[3]। यह शक्तिवाद जब आर्य-दार्शनिक मेधा के सम्पर्क में आया तो एक निरपेक्ष सत्ता के प्रवृत्त्यात्मक और निवृत्त्यात्मक दो रूप माने गये। निरपेक्ष रूप में अद्वय स्थिति मानी गयी पर 'होने' की प्रक्रिया में तथा सृष्टि-निर्माण में यह इन दो रूपों में बँट जाती है। इस

---

१. इस विषय का विस्तृत अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं रोचक हो सकता है। विस्तार एवं प्रसंग से बाहर चले जाने के भय से हमने इस सम्बन्ध में केवल संक्षिप्त रूपरेखा ही दी है।

२. देखिये प्रथम से लेकर षष्ठ अध्याय तक।

३. अहि० सं० ५६।७।

द्वित्व की भावना से गुजरना ही बन्धन और दुख है और उससे छुटकारा ही मोक्ष है। तमाम गुह्य साधनाएँ इस द्वैत के नाश और अद्वैत की प्राप्ति का ही प्रयास करती हैं। अद्वैत की इस अवस्था को ही अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, समरस, युगल, सहजसमाधि अथवा शून्यसमाधि कहा गया है।

यह सृष्टि क्यों होती है, इसकी व्याख्या के दौरान में लीलावाद की उत्पत्ति हुई। वैष्णव पंचरात्रों में लीलावाद का स्पष्ट स्वर हमें मिलता है। समस्त सृष्टि को ही लीलास्पन्दन कहा गया तथा भगवान् को लीलारस समुत्सुक बताया गया है।[1] अहि०सं० में ही शरणागति के छह प्रकारों की गिनती हुई है, शरणागति के इस रूप के साथ पहले विवेचित पत्नी-प्रेम के आदर्श को मिलाकर देखा जाय तो आश्चर्यजनक समानता प्राप्त होती है। इस समानता ने भी माधुर्य भाव के विकास में सहायता पहुँचायी होगी। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता पर ध्यान तो नहीं दिया पर शरणागति-तत्त्व को मधुर-उपासना में सहायक अवश्य माना है।[2]

पुराणों आदि के माध्यम से शक्तितत्व पत्नी प्रतीक को स्वीकार करता प्रतीत होता है। पुराणों में तत्त्व दर्शन एवं लोक प्रचलित उपाख्यान एक में मिल जाते हैं। (आगे चलकर सूफ़ियों में भी यही प्रतीकवाद किंचित् बदले रूप में प्राप्त होता है) परन्तु उनमें युगल तत्त्व की स्वीकृति नहीं है। इस मिलन में लोक प्रचलित किंवदन्तियाँ ही नहीं, साधनाएँ, विश्वास और रूढ़ियाँ भी संबंधित हो गयी हैं। परिणामस्वरूप तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में पुराणकारों ने बड़ी आसानी के साथ सांख्य के पुरुष और प्रकृति को तंत्र के शिव-शक्ति से और वैष्णवों के विष्णु लक्ष्मी से बिलकुल अभिन्न कर डाला है। इसके फलस्वरूप पुराणों में वर्णित लक्ष्मी स्तव में विष्णु और लक्ष्मी, वेदान्त के ब्रह्म और माया सांख्य के पुरुष और प्रकृति, तन्त्र के शिव और शक्ति सभी अपनी-अपनी स्वतंत्रता छोड़ कर मिल-जुल कर एक युगल मूर्ति धारण किये हुए हैं। बाद वाले काल के राधाकृष्ण ने भी बड़ी आसानी से आकर इस युगल के सामने ही आत्मसमर्पण किया है।[1] इस प्रकार से भारतीय हृदय के पुरामान्य आदि युगल को हम प्रतिष्ठित देखते हैं। यह सब इतने लौकिक स्तर पर सम्पन्न होता है कि तत्त्वदर्शन का प्रतीक न रह कर

---

१. अहि० सं० ४१।४।

२. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि: अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा अंक, पृ० ४६५—'यह षड्विधि शरणागति माधुर्य भक्ति के पूर्व की स्थितियों में प्रपत्ति या पुष्टि का परिचय देने वाली है।

३. डॉ० शशिभूषणदास गुप्त : राधा का क्रम विकास, पृ० ७२।

वास्तविक सामाजिकता का भ्रम (इल्यूजन आफ़ रियलिटी) पैदा कर देता है।

यह शक्तिवाद वैष्णव मतवाद को ही नहीं, शैव, शाक्त और बौद्ध-साधनाओं को भी प्रभावित कर रहा था। वैष्णव शैव और शाक्त शास्त्रों में प्राप्त शक्तिवाद भाव भाषा या विचार किसी भी दृष्टि से परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं।

बौद्ध साधना का मार्ग जब महायान के अन्तर्गत जनसाधारण के लिये उन्मुक्त हो गया तब सहज ही लोग अपने परंपरागत विचारों 'मान्यताओं, देवी-देवताओं 'भूत प्रेत' जादू-टोने के विश्वासों समेत उसके भीतर आ गये। उनके साथ ही हठयोग, लययोग, राजयोग, मंत्रयोग भी घुसे और इन सब ने एक व्यवस्थित बौद्ध तांत्रिक साधना-विधि खड़ी कर दी। जिसका कि नैतिक-धार्मिक दृष्टिकोण ही मूलरूप से भिन्न हो गया।[1] इसी में मिथुनयोग भी आ मिला। यहीं पर धार्मिक निषेध की पूर्वचर्चित प्रतिक्रिया को हम याद कर लें। इस प्रतिक्रिया के कारण ही इन लोगों ने जिन पंचमकार आदि प्रतीकों का प्रयोग किया वे मनुष्य की उद्याम यौन वृत्तियों से भी संबंधित थे।

अस्तु, शिव-शक्ति, विष्णु लक्ष्मी, शून्यता और करुणा, प्रज्ञा और उपाय, चन्द्र और सूर्य ही राधा-कृष्ण तथा राम-सीता का रूप उत्तर मध्ययुग में धारण कर लेते हैं। भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में शक्तिवाद तीन रूपों में दिखाई पड़ता है :

१. एक अद्वय समरस तत्त्व निरपेक्ष सत्ता है। शिव और दोनों शक्ति उसके अंशमात्र हैं।
२. शिव ही परमतत्त्व तथा शक्ति के मूल आश्रय हैं। अतः वे ही उपास्य हैं शक्ति उन्ही में निहित है।
३. शक्ति ही परमतत्त्व हैं और जिसके भीतर वे आधारीभूता हैं वे ही शिव हैं। अतः उपास्य शक्ति हैं न कि शिव।

बौद्ध साधनाओं एवं सहजिया वैष्णवों में प्रथम स्थिति अधिक मान्य रही है, शैवों, तथा प्रारंभिक वैष्णव सम्प्रदायों (श्री निम्बार्क एवं वल्लभ) में दूसरी स्थिति के निकट पहुँचती हुई मान्यताएँ स्वीकृत हैं। गौड़ीय वैष्णवों में तीसरी विचार-धारा (शाक्तमत) की ओर झुकाव होता है जो कि हरिदासी, राधावल्लभीय और हरिव्यासी (परवर्ती निम्बार्कीय मत) सम्प्रदायों में अधिक विकसित हुआ है, तथा जिसकी चरण पराकाष्ठा वृन्दावन के 'ललित-सम्प्रदाय' में दिखाई पड़ती है।

साधना के क्षेत्र में बौद्ध सिद्धों, रसेश्वर दर्शनों एवं कौल, कापालिक सम्प्रदायों में पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करके अद्वय या युगनद्ध स्थिति की

---

१. डॉ० एस० बी० दास गुप्ता : ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्, पृ० २१-२२।

उपलब्धि का प्रयास किया जाता था। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष अंश······ (शिव और शक्ति) मनुष्य-शरीर के भीतर ही हैं। उनकी अद्वय उपलब्धि के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रणालियों का आश्रय लिया जाता था तथा स्त्री का प्रयोग साधन रूप में भी स्वीकार्य था। सब मिला कर इनमें यौन-यौगिक साधनाएँ प्रचलित थीं। इन्होंने मधुरभाव के प्रसार में पर्याप्त सहायता दी।

सहजिया वैष्णवों में आकर इस विश्वास का रूप थोड़ा बदल गया। यहाँ पर प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का तत्त्व स्वीकार किया गया। इसके लिये 'आरोप' साधना की कल्पना की गयी। पुरुष किसी स्त्री में राधा का आरोप कर वैसा ही चिन्तन करे, उसके लिए व्याकुल हो एवं स्त्री पुरुष को कृष्ण-रूप में देखे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के ही शरीर साधन बन गये। इस आरोप-साधना के लिये परकीया भाव स्वीकार किया गया क्योंकि मिलन की चेष्टा वहीं अधिक तीव्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहन होती है।

गौड़ीय वैष्णवों को यह सहजिया साधना उत्तराधिकार में मिली। उन्हीं के प्रभाव में उन्होंने परकीया भाव को स्वीकृति भी दी जो कि मध्यदेश में आकर या तो स्वकीया हो जाती है—(पुष्टि मार्ग) या परकीया-स्वकीया-विवर्जित (राधावल्लभीय)। पर सहजिया वैष्णव-आरोप-साधना वैष्णव मतवादों में आकर कुछ भिन्न रूप धारण कर लेती है। यहाँ पर किसी दूसरे की स्त्री पर राधा या दूसरे पुरुष पर कृष्ण का आरोप करने के स्थान पर अपने मन पर किसी पूर्व रागात्मिका भक्ति के साधक का आरोप करना होता है। इसे ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। आरोप की यह साधना मनोवैज्ञाननिक शब्दावली में आत्म-सुझाव (ऑटो-सजेश्चन) कहलायेगी तथा रहस्यानुभूति के क्षेत्र में इसको सर्वत्र मान्यता मिली है। पर दोनों प्रकार के आरोपों में आरोप का केन्द्र बदल जाता है। सहजिया वैष्णवों में किसी दूसरे को राधा या कृष्ण मानकर चलना होता है एवं वैष्णव मतवादों में अपने को ही नन्द-यशोदा, हनुमान, सुबल, उद्धव या गोपी आदि अनुभव करने का अभ्यास करना पड़ता है।

आरोप के इस अभ्यास के सफल हो जाने के बाद ही वैष्णवों ने भाव और प्रेम-भक्ति की अवस्थाएँ मानी हैं। उस समय के आनन्द की कोटियों में समानता है। साधना की दृष्टि से बौद्धों, नाथ-तन्त्रों और वैष्णवों आदि में एक समानता और भी है। तन्त्रों के सात आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है जिसमें कि कोई भी नियम नहीं है। वैष्णवों के यहाँ भी प्रेम की श्रेष्ठ स्थितियों में किसी भी प्रकार के विधि-निषेध को स्वीकार नहीं किया गया है।

अस्तु, इस मधुर-साधना की पृष्ठभूमि को सामाजिक प्रेरणा एवं सम-सामयिक साधनाओं के अतिरिक्त, प्रभावित करने वाला तीसरा तत्त्व है—साहित्य की परम्परा। साहित्य का अवलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और

प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त राधा प्रेम का ढाँचा पूर्ववर्ती प्रेम-कविता से ही लिया गया है[1]। भारतीय साधारण काव्य-प्रणाली तथा प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों को ही वैष्णव-भक्त कवियों ने पूरी तरह ग्रहण कर लिया है। इसमें उन्होंने अपनी-अपनी प्रतिभा और कल्पना से नये प्रसंगों, नयी लीलाओं, नये काव्यरूपों एवं कथन-भंगिमाओं का भी समावेश किया है।

चौथा अन्यतम तत्त्व है दक्षिण की भक्ति का प्रभाव। सी० एच० वादवील ने कहा है कि भागवतधर्म (महाभारत-गीता-काल) लौकिक प्रेम-संबंध तथा लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच सादृश्य स्वीकार नही करता था।[2] भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रक्खे जैसी एक निष्ठावती नारी अपने पति के प्रति रखती है, यह बात कहीं भी ध्वनित नहीं होती।[3] लेखिका के अनुसार तमिल शैव संत माणिक वाशकर का 'तिरुक्कोवह', ब्रलजीव के गूढ़ संबंध को व्यक्त करने के लिये लोकप्रिय रोमांस के प्रतीकात्मक प्रयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है।[4] वादवील ने एक लोक कथा के बहाने इस सम्बन्ध की अभिव्यंजना का संबंध सूफी प्रभाव से जोड़ा है।[5] हम इस बात की विस्तृत परीक्षा न करके मात्र इतना संकेत करना चाहते हैं कि पुराणों में लोकाख्यानों और तत्त्ववाद दोनों को समन्वित करके प्रेम प्रतीकवाद के यथेष्ट उदाहरण मुस्लिम-पूर्व युग के मिल जाते हैं। जैनियों में भी प्रेम कथाओं के माध्यम से वैराग्य के उपदेश दिये गये हैं। यह बात दूसरी है कि जैनियों के उपसंहार कुछ भद्दे ढंग से आते हैं, पर यह तो कलात्मक विकास हो सकता है—तथा लक्ष्यों की भिन्नता के के कारण भी संभव है।

अस्तु शैवभक्तों के प्रेमप्रतीकवाद को वास्तविकता के स्तर पर आलवार भक्त ले आये। नाम्मालवार तथा आण्डाल ने अपने को गोपी तथा श्री रंगम की पत्नी मानकर परमात्मा से प्रेम किया। यह भी एक प्रकार से सहजिया वैष्णवों की आरोप भावना के अनुकूल था। नारद-भक्ति-सूत्र में इसे ही "यथा ब्रजगोपिकाना" कहा-गया है। शांडिल्य-सूत्र के स्वप्नेश्वर भाष्य में भी तीसरे सूत्र के संस्था शब्द के अर्थ की ओर एक संकेत दिया गया है। महाभारत के एक अवतरण के आधार पर संस्था का आशय पति के प्रति पत्नी की भक्ति से है।

---

१. डॉ० श० भू० गुप्त : श्री राधा का क्रम विकास, पृ० १४८।
२. सी० एच० वादवील : भागवत धर्म में प्रेम प्रतीकवाद—अनुशीलन डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० २७१।
३. वही, पृ० २६९।
४. वही, पृ० २७२।
५. वही, पृ० २७४।

उत्तर भारत की वैष्णव मधुरभाव की साधना में इस भाव के उत्तराधिकारी अधिकांशतः निर्गुण साधक और मीराबाई हैं। अन्य साधकों ने अपनी कल्पना सखा या सखियों के रूप में की है, न कि प्रेमिका या पत्नी के रूप में। वास्तव में दक्षिण के भक्तों में प्रेम-प्रतीकवाद विकसित हुआ था जबकि उत्तर भारत में युगल रूप का तत्त्वदर्शन। इसी कारण दक्षिण के उत्तराधिकारी अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं, पर राधा वल्लभी, हरिदासी, निम्बार्कीय आदि संप्रदायों में नित्य विहार लीला के दर्शन और उस विहार में परिचर्या का महत्त्व है। पुष्टिमार्ग, शुक संप्रदाय एवं स्वसुखी शाखा के रामोपासकों में प्रेम प्रतीकवाद दक्षिण की परम्परा में ही विकसित हुआ है।

माधुर्योपासना को बढ़ावा देने वाला अंतिम मुख्य तत्त्व है—सूफ़ी तत्त्व दर्शन। सूफ़ी भी अपने इष्ट को लौकिक प्रेम-प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। विरह भाव का इनमें अत्यधिक प्राधान्य है। इन्होंने भी निर्गुणोपासकों को मुख्य रूप से अपने इश्क़ के रँग में रंगा है।[1] यों सगुणोपासकों में वल्लभ एवं गौड़ीय वैष्णवों में जो विरह का भाव है, उस पर भी सूफ़ी मतवाद की छाप देखी जा सकती है। रसोपासकों में नित्य विहार के अन्तर्गत विरह की स्थिति सूफ़ी भाव से भिन्न हो गयी है।

ऊपर कही हुई सारी बातों को यदि समेटकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मधुर भाव के मूल में दो तत्त्व हैं :(१) लीलावाद तथा (२) मधुर रस (कांता भाव)। प्रथम तत्त्व का विकास शक्तिवाद के माध्यम से विभिन्न साधनाओं के बीच से हुआ है तथा द्वितीय तत्त्व का आरंभ प्रेम-प्रतीकवाद के रूप में होता है जो धीरे-धीरे यथार्थता का बाना धारण कर लेता है। संभवतः इन दोनों का प्रथम कलात्मक समन्वय श्रीमद्भागवत में होता है एवं चरम परिणति १६वीं-१७ वीं शती के वैष्णव काव्य में प्राप्त होती है।

भमधुर रस का स्वरूप :

काव्यशास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है।

इसी प्रकार रागमूलक शृंगार का भक्ति के क्षेत्र में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लौकिक आलम्बन के प्रति जो रति होती है, उसी का जब उन्नयन हो जाता है, और उसका विषय स्वयं भगवान् हो जाता है, तब

---

१. निर्गुणोपासक एवं सूफ़ियों दोनों का ही सम्मिलन राजपूताने एवं पंजाब में मुख्य रूप से प्रारम्भ में हुआ होगा। यह प्रभावग्रहण १३-१४ वीं शताब्दी में ही पूरी तरह हुआ होगा।

वह मधुर रस में परिणत होता है। भक्ति रस शास्त्र में जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, कृष्ण विषया रति ही मूल स्थायी भाव होता है और उसी के पाँच मुख्य एवं सात गौण प्रकार होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर १२ रसों (९ काव्यशास्त्र के तथा दास्य, सख्य और वात्सल्य) को इस ढांचे के भीतर स्थापित किया गया है। इनमें पांच मुख्य (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) में से चार का संक्षिप्त परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। श्री रूप गोस्वामी जी ने पंचम मधुर रस को भक्तिरसराट्[1] तथा निवृत्तों के लिये अनुपयोगी, दुरूह तथा विततांग बताया है।[2] निवृत्तों के लिये अनुपयोगी कहकर उन्होंने यह पहले ही संकेत कर दिया है कि लौकिक शृंगार रस के यह सदृश है, पर वास्तव में यह सादृश्य ऊपरी है। वैष्णव रसशास्त्रियों (रूप, जीव, विश्वनाथ चक्रवर्ती, कृष्णदास कविराज) ने बार-बार इस बात के लिये सावधान किया है कि इसे लोक के शृंगार के समान समझने का भ्रम न किया जाय। अस्तु इस भक्ति रसराज के निरूपण के लिये रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का नाम जितना ही प्रतीकात्मक है,[3] उतना ही सूक्ष्म, जटिल एवं विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण है।

अस्तु इस मधुर-रस की परिभाषा करते हुये उन्होंने कहा है कि वक्ष्यमाण विभावादि के द्वारा पुष्ट मधुरा रति मनीषियों (भक्तों) के हृदय में,

---

१. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ।।
—उ० नी० म०, पृ० ४।

श्री जीवगोस्वामी ने अपने 'प्रीति संदर्भ' (पृ० ७०४-७१५ तक) में भगवान की दो प्रकार की लीलाएँ, ऐश्वर्य एवं माधुर्य बतायी है। तथा इनमें उन्होंने माधुर्य को श्रेष्ठ बताया है। इस प्रकार भी मधुर रस ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। (काव्यमाला संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२)

२. निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुहत्वादय रसः ।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितांगगोऽपि लिख्यते ।
—ह० भ० र० सि०, प० वि०, ५।२ (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, संवत् १९८८)

३. शृंगार के लिये उज्ज्वल शब्द का प्रयोग भरत ने भी किया है, शृंगार का वर्ण नील (श्याम) माना गया है तथा मणि समुद्र से निकलती है इस प्रकार हरिभक्ति रसामृत सिंधु से निकला हुआ वह उज्ज्वल नीलम है जो सदैव धारण करने योग्य है।

आस्वादित होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है ।[1] मधुरा या प्रियता रति का स्वरूप वे 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं । उसके अनुसार श्रीकृष्ण एवं गोपियों को दोनों को परस्पर संयोग के लिये प्रेरणा देने वाली मधुरा या प्रियता रति कही जाती है ।[2]

मधुर रस की यह सारी योजना पूरी तरह से संस्कृत काव्यशास्त्र (शिंग भूपाल के रसार्णव सुधाकर' का आधार सबसे अधिक लिया गया है) पर आधारित है । इसके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली और सामान्य धारणायें (जनरल कन्सेप्ट्स) सीधे-सीधे संस्कृत काव्यशास्त्र से उठा ली गयी हैं । परन्तु उन सबको 'कृष्ण रति' की ओर किस प्रकार मोड़ा गया है, जिस ढंग से तमाम विस्तृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है एवं फिर समस्त कथनों को नाना स्रोतों से समर्थित, अनुमोदित एवं उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है, वह सब आश्चर्यजनक है ।

नायक कृष्ण एवं उनकी नायिकाओं, परिकर आदि की विविध मनः स्थितियों, पहलुओं, परिस्थितियों, क्रिया, चेष्टा, वचन आदि का जैसा मार्मिक विवेचन एवं उद्घाटन श्री रूप गोस्वामी (जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, विश्वनाथ चक्रवर्ती, नारायण भट्ट आदि ने भी लगभग उन्हीं का अनुकरण-समर्थन किया है ।) ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । यही कारण है कि अन्य समस्त समसामयिक वैष्णव संप्रदायों को इस भक्तिरस शास्त्र ने गहरे ढंग से प्रभावित किया है । सारे के सारे अलंकारशास्त्र को उन्होंने भक्ति की ओर जिस प्रकार मोड़ा वह उनके व्यक्तित्व की प्रौढ़ता, पांडित्य एवं प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है । अलंकार शास्त्र एवं भक्ति-भावना का उनमें विचित्र मणि-कांचन-संयोग था ।

अस्तु, इस प्रियता या मधुरा रति के सर्वतोभावेन आलम्बन हैं—नायक चूड़ामणि कृष्ण एवं उनकी वल्लभाएँ ।[3] नायक के रूप में कृष्ण में विविध (२५) गुण गिनाये गये हैं ।[4] और वे स्वभाव से धीरोदात्तादि चार प्रकार के बताये गये

---

१. उ० नी० म० १—३, पृ० ५ अथवा ह० भ० र० सि०, प० वि०, ५।१

२. मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम् ।
मधुरा परपर्याया प्रियताऽऽख्योदिता रतिः ॥
—ह० भ० र० सिं०, द० वि०, ५।२७-२८ ।

३. अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च बल्लभाः ।
—उ० नी० म०, पृ० ५ ।

४. वही पृ० ८ ।

हैं ।[१] नायिका की दृष्टि से पति और उपपति के भेद से पुनः कृष्ण के दो रूप हैं। उपपति के रूप में वे कन्याओं एवं परोढ़ाओं के प्रेमी हैं। (यहीं पर यह याद दिला देना आवश्यक है कि सहजिया वैष्णव साधना तथा कामशास्त्र से प्रभावित अलंकारशास्त्र के प्रभाव में उपपति (परकीया भाव) की धारणा का समावेश तो उन्होंने किया है पर रूप और जीव दोनों ही गोस्वामियों ने यह बताने में अत्यधिक परिश्रम किया है कि वास्तव में उपपतित्व ऊपर से प्राकृत लीला में हैं, वस्तुतः वे नायक स्वाकीयाओं के ही हैं। गौड़ीय वैष्णवों में परकीया भाव १८ वीं शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती की मुहर पाकर ही पूर्णतया प्रामाणिक बन पाता है। इसके पूर्व दार्शनिक स्तर पर जीव गोस्वामी आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया था। इस उपपति वाले रूप में ही शृंगार की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है।[२]

नायक कृष्ण के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—ये चार रूप प्रेमी-चरित्र के अनुसार और भी बताये गये हैं।

परम्परागत अलंकार-शास्त्र के अनुसार ही नायिकाओं का विभाजन किया गया है।[३] परन्तु एक मौलिक विभाजन उन्होंने भक्ति एवं धर्मशास्त्र की दृष्टि से किया है। यह विभाजन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें कृष्णवल्लभाओं को सीधे-सीधे भक्त की यथार्थता दे दी गयी है। इस विभाजन को आगे दिये गये खाके से समझा जा सकता है।[४] इस विभाजन के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नित्य प्रिया नायिकाओं में साक्षात् महाभावस्वरूपिणी राधा सर्वश्रेष्ठ है।[५] राधा की प्रामाणिकता तन्त्रों इत्यादि के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हुये उन्हें ह्लादिनी या महाशक्ति कहा गया है।[६] हरि के समान ही संख्यातीत गुणोंवाली वृन्दावनेश्वरी राधा की पाँच प्रकार की सहचरियाँ हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी, परम श्रेष्ठ सखी।[७] सखियों सम्बन्धी अवधारणा मधुरोपासना में अत्यधिक

---

१. उ० नी० म०, पृ० ९

२. अत्रेव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। वही, पृ० १४

३. कृपया संलग्न चार्ट देखिये।

४. उ० नी० म०, पृ० ६३-६४, ६७ के आधार पर।

५. उ० नी० म०, पृ० ७३

६. ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्ति वरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तंत्रे प्रतिष्ठिता।
—उ० नी० म०, पृ० ७५-७७।

७. तास्तु वृन्दावनेश्चर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।।
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठ सख्यश्च विश्रुताः। —वही, पृ० ९७।

महत्त्वपूर्ण हैं । हम आगे इस पर विस्तार से विचार करेंगे ।

नायिका की सखियों के समान ही नायक के भी चेट, विट, पीठमर्द, विदूषक तथा प्रिय नर्मसखी आदि सहायक हैं । श्रृंगार-अभिसार में दूती का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है । 'उज्ज्वल नीलमणि' का एक पूरा अध्याय इस विवेचन में लगा हैं ।

नायिका के भागवत प्रयोजन की दृष्टि से मधुरा रति साधारणी, समंजसा और समर्था तीन प्रकार की मानी गयी है । साधारण रति में नायिका में स्वसुख की भावना होती है, जैसे कि कुब्जा ने कृष्ण के अंगसंग से स्वयं आनन्द चाहा था । समंजसा में नायक के भी सुख का ध्यान अपने सुख के साथ ही होता है । इसमें पत्नीस्वाभिमान भी रहता है । समर्था रति में अपने सुख की तनिक भी चाह नहीं होती, मात्र कृष्ण-सुख की ही कामना रहती है । गोपियों की रति ऐसी ही थी । यह महाभाव की अवस्था तक संचरण करती है ।[1]

कृष्ण एवं नायिकाओं की कायिक, मानसिक एवं वाचिक चेष्टाओं तथा प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों की भी लम्बी सूची है । इसी प्रकार भाव, हाव, हेला, सात्विक आदि परम्परागत अनुभाव समेटे गये हैं । इसके अतिरिक्त नीवी विश्रंसन, उत्तरीय स्खलन जैसे सात उद्भास्वरस अनुभावों का परिगणन लेखक की मौलिकता है । वाचिक अनुभावों को भी निपुणतापूर्वक उपस्थित किया गया है ।[2] व्यभिचारी भावों के प्रकरण में भी प्रचलित काव्यशास्त्र के ही संचारियों को गिनाया गया है । उग्रता एवं आलस्य को अवश्य छोड़ दिया गया है । भावोत्पत्ति (भावोदय), भावसन्धि, भावशलता एवं भावशांति का भी संक्षिप्त निरूपण इसी प्रकरण में प्राप्त हो जाता है ।[3]

स्थायिभाव प्रियतारति को प्रबुद्ध करने वाले कारण अभियोग, विषय, संबंध, अभिमान, उपमा तथा स्वभाव होते हैं । उत्तरोत्तर एक दूसरे से इनमें श्रेष्ठ होता है । अभियोग में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी भावनाओं का आरोप होता है । शब्द, स्पर्श, गंध आदि इन्द्रियों के विषय दूसरी कोटि के अन्तर्गत आते हैं । इनके कारण भी रति उत्पन्न होती है । सौन्दर्य, कुल आदि के गौरव की भावना संबंध है तथा एक विशेष वस्तु को ही अपने पास रखने की इच्छा अभिमान के अन्तर्गत है— जो कि रति-प्रादुर्भाव का हेतु बन सकती है । किसी सुन्दर वस्तु को कृष्ण सदृश देखना उपमा के अन्तर्गत है तथा बहिर्हेतुओं का अनपेक्षी निसर्ग या स्वरूप दो प्रकार वाला स्वभाव होता है । यह कृष्ण-निष्ठ भी हो सकता है

---

१. वही पृ० ४०७ से ४१५ तक ।

२. वही, पृ० २६५ से ३४० उद्दीपन और अनुभाव प्रकरण ।

३. वही, व्यभिचारी प्रकरण, पृ० ३४२ से ३८८ ।

और ललना-निष्ठ भी ।[1]

धीरे-धीरे मधुरा रति सान्द्र होती हुई विभिन्न स्थितियों को पार करके महाभाव की सर्वश्रेष्ठ अवस्था में पहुँचती है। जैसे कि ईख का बीज ही इक्षु दंड, रस, गुड़, खण्ड, शर्करा, मिश्री, सितोपल (ओला) आदि अवस्था भेद से अनेक रूप धारण करता है, वैसे ही रति भी प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव (महाभाव) की अवस्था तक पहुँचती है।[2]

(१) **प्रेम**—नाश का कारण होते हुये भी जो कभी नाश नहीं होता है तथा जो दोनों (नायक-नायिका) को भावबन्धन में बाँधता है, वह प्रेम है। प्रौढ़ मध्य और मन्द भेद से यह तीन प्रकार का होता है। प्रौढ़ प्रेम में वियोग एकदम असह्य होता है। मध्य प्रेम में कष्टपूर्वक वियोग सह्य बन जाता है तथा मन्द प्रेम में भगवान् सम्बन्धी स्मृति कभी-कभी मलिन भी पड़ जाती है।[3]

(२) **स्नेह**—प्रेम के परम उत्कर्ष की दशा में द्रवीभूत चित्त की वृत्ति ही स्नेह कहलाती है। यह भी श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ, उत्कृष्टता भेद से तीन प्रकार का होता है।[4] स्नेह भी धृत स्नेह और मधु स्नेह दो प्रकार का होता है। प्रथम में धारावाहिकता होती है तथा दूसरे में अत्यंत ममतामय मधुरता।[5]

(३) **मान**—जो स्नेह उत्कर्ष को प्राप्त होकर एकदम अनुभूत आस्वाद का अनुभव कराते हुये वामता (बाह्य उपेक्षा) भाव को धारण करता है, वह मान कहलाता है।[6] स्नेह ऊपर दो प्रकार के कहे जा चुके हैं, ये ही क्रमशः उत्कृष्टता को प्राप्त कर उदात्त (धृत स्नेह द्वारा) एवं ललित (मधु स्नेह द्वारा) मान में परिवर्तित हो जाते हैं। चन्द्रावली प्रथम प्रकार के आदराश्रित मान की आश्रय हैं एवं श्री राधा अतिवाच कुटिलता धारण करने वाले 'ललितमान' की आश्रय हैं। यहीं यह कह देना भी अनुचित न होगा कि भारतीय कामशास्त्र का 'मान' शब्द अपने आप में अप्रतिम है। इसमें प्रेम, मिलनोत्कण्ठा, उपेक्षा, रूठना इत्यादि इतने मनोवेग मिले हैं कि इसे सहज ही दूसरी भाषा बोलने वाले के लिये समझना कठिन हो जाता है।

---

१. उ० नी० म०, पृ० ३६०-४०६।
२. वही, पृ० ४१६-४१७।
३. वही, पृ० ४१८-४२४।
४. वही, पृ० ४२४-४२६।
५. (क) वही, पृ० ४२८-४३१।
(ख) **मधुसूदन सरस्वती ने भी अपने भक्ति रसायन में चित्त की द्रुति तथा धारावाहिकता को अत्यधिक महत्त्व दिया है।**
६. वही, पृ० ४३२।

(४) **प्रणय**—जब प्रिय के गौरव का भाव एकदम मिट जाता है तथा विश्रम्भ और विश्वास का उदय होता है तब गाढ़ हुआ मान ही 'प्रणय' कहलाता है।[१] इस अवस्था में कान्त और कान्ता के प्राण, मन, बुद्धि, देह आदि के मध्य भेद की भावना नहीं रहती। इसे यों भी समझना चाहिये कि मान में तो वाम-गन्धता होती है, पर मान खुलने पर प्रिया अपने प्रियतम से एकमेक होकर मिलती हैं, जैसे बाँध तोड़कर नदी समुद्र से मिलती है। यह उत्कृष्ट भावावेग की अवस्था होती है। प्रणय भी दो प्रकार का होता है—सुमैत्र प्रणय एवं सुसख्य प्रणय।[२] प्रथम में गौरव की भावना किंचित् अवशिष्ट रहती है, पर दूसरे में बिल्कुल नहीं। वास्तव में ये उदात्त और ललित मान के क्रमशः विकसित रूप हैं। यों विकास-क्रम में यह भी स्वीकार किया गया है कि कभी मान से प्रणय उदित होता है और कभी-कभी प्रणय से मान भी उद्भूत होता है।[३]

(५) **राग**—प्रणय और अधिक उत्कृष्ट हो जाने पर 'राग' कहलाता है। इस अवस्था में दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है।[४] यह राग भी रूप गोस्वामी के अनुसार नीलिमा और रक्तिमा दो भाँति का हो सकता है। नीलिमा राग के पुनः दो भेद हैं:(१) नीलीराग, जो कि व्यय-संभावनाहीन, वाहर अधिक न प्रकाशित होने वाला तथा बहुत कुछ अव्यक्त रहता है। (२) श्यामा राग, नीली-राग की अपेक्षा किंचित प्रकाशमान्, भीरुता-मिश्रित तथा विलम्ब से सिद्ध होने वाला श्यामाराग होता है। रक्तिमा राग के भी दो भेद हैं—कुसुम्भ राग एवं मंजिष्ठा राग। (१) कुसुम्भ राग में चित्त शीघ्र ही रंजित हो जाता है तथा यह अन्य राग-छवि को भी व्यंजित करता है। (२) मंजिष्ठा राग कभी नष्ट नहीं होता, उसे अन्य रागों की अपेक्षा नहीं होती तथा उसकी कान्ति कभी नष्ट नहीं होती। राधा-माधव के मध्य यही राग प्रतिष्ठित रहता है।[५]

(६) **अनुराग**—सदा अनुभूत होने वाले प्रियतम को भी जो राग नित्य नव-नव रूप में दिखलाता रहता है, उसे अनुराग कहते हैं।[६] इसके अनेक पहलू होते हैं तथा परस्पर वशीभाव, प्रेमवैचित्य (मिलन में भी विरह की आशंका), अप्राणिजन्य जड़ वस्तुओं में जन्म धारण करने की लालसा तथा विप्रलम्भ में विशेष स्फूर्ति आदि इस अवस्था में विरह में भी प्रिय की झलक प्राप्त होती रहती है।

---

१. उ० नी० म०, पृ० ४३७।
२. वही, पृ० ४३८।
३. वही, पृ० ४४०।
४. वही, पृ० ४४३।
५. वही, पृ० ४४६-४५१।
६. वही, पृ० ४५४।

(७) **भाव**—अनुराग 'स्वसंवेद्य' दशा को प्राप्त होकर, यानी कि जब उसका अनुभव अनुराग को छोड़कर अन्य किसी भाव से न किया जा सके, प्रकाशित हो तब यह वृत्ति भाव कहलाती है।[१] स्वयं कृष्ण की पट्टमहिषियाँ (समंजसा-रति) भी इस दशा को नहीं पहुँच पाती, ब्रजदेवियों द्वारा संवेद्य यह भाव ही महाभाव भी कहलाता है।[२] इसके पुन: दो भेद हैं :

(१) **रूढ़**—इस अवस्था में सात्विक अपने चरम उद्दीप्त रूप में पहुँच जाते हैं। रूढ़ भाव की अवस्था में एक क्षण का भी वियोग असह्य हो उठता है, इसमें समीपवर्ती जनों को भी आलोड़ित कर सकने की क्षमता होती है, कल्प को क्षण (सुख में) एवं क्षण को कल्पवत् (वियोग में) समझने की सामर्थ्य आ जाती है। प्रिय के सौख्य में भी आर्ति की आशंका रहती है, अमूर्च्छित अवस्था में भी अपने आप तथा अन्य अपने से सम्बन्धी वस्तुओं का विस्मरण प्रेमी कर देता है।

(२) **अधिरूढ़**—जिस अवस्था में रूढ़ के ऊपर कहे गये अनुभाव एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होते हैं उसे अधिरूढ़ कहते हैं।[३] इसके भी मोदन और मादन दो प्रकार माने गये हैं।[४] (१) सात्विकों का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव मोदन के अन्तर्गत होता है। यह राधा यूथ में ही प्राप्त होता है। तथा विश्लेष की अवस्था में इसे ही मोहन कहते हैं।[५] इस अवस्था के भी अत्यन्त प्रभावशाली सात्विकों का उल्लेख इसकी सान्द्रता को सूचित करता है। यह जब राधा में उदित होता है तो दूर अन्य कान्ताओं से आलिंगित होते हुये भी कृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं।[६] सारे ब्रह्माण्ड में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। राधा दिव्य उन्माद की अवस्था में आ जाती हैं। दिव्य उन्माद भी उद्घूर्णा एवं चित्र जल्पादि आदि अनेक भेदों वाला कहा गया है। कोई एक विलक्षण विवशतामयी चेष्टा का नाम उद्घूर्णा है। प्रियतम के मित्र के साथ भेंट होने पर रोष से अनेक भावमय जल्पों का उदित होना एवं उसके अंत में तीव्र उत्कंठा का उदय 'चित्रजल्प' कहलाता है। इस चित्रजल्प की भी दस अवस्थाएँ होती हैं।

(२) **मादन**--जब ह्लादिनी शक्ति का सार स्वरूप प्रेम 'रति से लेकर 'महाभाव पर्यन्त सब भावों के उद्गम से उल्लसित होता है, मोदन, मोहन आदि से जो परात्पर है एवं श्री राधा में ही जिसकी प्रतिष्ठा है, ऐसे भाव को

---

१. उ० नी० म० पृ० ४५९-४६०।
२. वही, पृ०४६२।
३. वही, पृ० ४७२।
४. वही, पृ० ४७३।
५. वही, पृ० ४७७, एवं चै० चै०, म० ली०, परि० २३, पृ० २९०।
६. वही, पृ० ४७७।

'मादनाख्य' महाभाव कहते हैं।[1] इस अवस्था में विरह का अभाव होता है। हज़ारों नित्य लीलाएँ इस भाव की विलास हैं।[2] उ० नी० म० के स्थायी भाव-प्रकरण के श्लोक सं० २०८ की टीका में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी विचित्रता की ओर संकेत करते हुये कहा है, "प्रकाश भेद से मिलन और विच्छेद पृथक विद्यमान रहते हैं और, प्रकाश भेद से इन दोनों में अभिमान का भी भेद रहता है। अर्थात् जिस प्रकाश में संभोग विद्यमान रहता है वहां प्रिया जी को यह अभिमान रहता है कि मैं संयोगिनी हूँ और जिस प्रकाश में विच्छेद होता है, उस जगह श्री राधारानी को यह अभिमान होता है कि मैं विरहिणी हूँ। जिस समय मादनाख्य "महाभाव का स्वयं उदय होता है उस समय चुम्बन, आलिंगन आदि सुखों के अनुभवों के मध्य भी वे विविध प्रकार के वियोगों का अनुभव करती हैं। इस प्रकार एक ही प्रकाश के रहते हुये दो प्रकाश-धर्मों का अनुभव होना ही विलक्षणता है।[3] इस अवस्था में ईर्ष्या का कारण न होने पर भी ईर्ष्या होती है तथा संभोग काल में भी नायक से सम्बन्धित विविध बातों का चिन्तन, स्मरण आदि होता है।"

हम रति के साधारणी, समंजसा और समर्था तीन भेद ऊपर कह आये हैं। इनमें साधारणी रति केवल प्रेम की अवस्था तक पहुँचती है, अनुराग तक समंजसा रति का संचरण होता है पर भावदशा तक एक मात्र समर्था रति ही पहुँच पाती है। भावदशा का ही श्रेष्ठ स्तर महाभाव है। राधा स्वयं महाभाव स्वरूपा हैं उनके पूर्व की जो रति से लेकर भाव तक की आठ अवस्थायें हैं वे मधुरभाव की साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

अस्तु इस भाव दशा में पहुँचकर मधुरा या प्रियता रति उज्ज्वल शृंगार रस को प्राप्त होती है।

परम्परागत काव्यशास्त्र के अनुसार रूप गोस्वामी ने इस शृंगार के भी विप्रलंभ और संयोग दो भेद किये हैं। विप्रलम्भ के बिना संयोग पुष्ट नहीं होता है तथा इसके पूर्वराग मान, प्रेम-वैचित्य एवं प्रवास पुनः चार भेद हैं।[4] इनमें से १, २ और ४ तो काव्यशास्त्र कामशास्त्र के ही हैं पर प्रेम-वैचित्य एक नया प्रकार है जिसमें कि प्रिय की उपस्थिति में भी विरह की आशंका बनी रहती है।[5] इन विविध विप्रलंभ-प्रकारों के भी अनेक उप प्रकार इस ग्रन्थ में गिनाये गये हैं।

---

१. उ० नी० म० पृ० ४६६।
२. वही, पृ० ५०२।
३. वही, (आनन्द चन्द्रिका टीका), पृ० ५०३।
४. वही, पृ० ५०६-५०८।
५. वही, पृ० ५४८।

संभोग शृंगार भी मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है—जाग्रत अवस्था में होने वाले प्रत्यक्ष संभोग के भी चार भेद (विप्रलंभ की चारों दशाओं के समरूप) होते हैं—संक्षिप्त (पूर्वराग के पश्चात्), संकीर्ण (मान के पश्चात्), संपन्न (थोड़ी दूर के प्रवास के बाद), समृद्धिमंत (सुदूर प्रवास के अनन्तर) ।[1] स्वप्न आदि की अवस्था में होनेवाला संभोग गौणसंभोग शृंगार होता है । इसके भी संक्षिप्त, संकीर्ण, संपन्न एवं समृद्धिमान चारों भेद रूप गोस्वामी ने गिनाये हैं ।[2] दर्शन स्पर्श, वर्त्मरोधन (राह रोकना), रास, वृन्दावन क्रीड़ा, यमुना जल केलि, नौकाविहार, वंशी चोरी, वस्त्रहरण, चुम्बन तथा साक्षात् यौन-संप्रयोग आदि शृंगार के विभिन्न तत्त्व या चेष्टाएँ हैं । श्री रूप गोस्वामी के अनुसार---

अयमुज्ज्वल-नीलमणिर्गहनमहाधोष-सागर-प्रभवः ।

भजतु तव मकर-कुण्डल-परिसर-सेवौचितीं देव ।[3]

काम और भगवत प्रेम में अन्तर :

पीछे हम कह चुके हैं कि भक्ति-रस विवेचकों ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए बार-बार भगवद्-रति को लौकिक काम से भिन्न कहा है । भक्ति-रस के आकर ग्रन्थ श्रीमद् भागवत ने स्वयं इस शंका को ध्यान में रखते हुये स्पष्ट कहा था :

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

र्भजिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते । १०।२२।२६

जिनकी बुद्धि मुझमें लीन रहती है, उनकी कामनाएँ संसार के भोगों के हेतु नहीं होती (उनसे सांसारिक विषय सुख नहीं उत्पन्न होते क्योंकि उनका विषय साक्षात् परमात्मा होता ।) जैसे कि भुने या उबले हुए धान अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकते ।

श्री रूप गोस्वामी ने जब उसे निवृत्तों के लिये अनुपयोगी बताया था, तब भी वे यह संकेत कर रहे थे कि यह लौकिक काम से मिलता-जुलता है । गौतमीय तन्त्र में कहा भी है "प्रेमेव गोप रामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्," गोपरा-

---

१. उ० नी० म०, पृ० ५७१-५७६ ।

२. वही, पृ० ५९१-५९२ ।

३. वही, अंतिम छन्द, पृ० ६०७ ।

भाश्रों का प्रेम ही लोक में काम कहा गया था। परन्तु यह वास्तव में लौकिक काम से भिन्न है। इस तथ्य की ओर जीव गोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज ने स्पष्ट ध्यान दिलाया है। जीव गोस्वामी ने 'भक्ति-संदर्भ और प्रीति-सन्दर्भ' में कहा है कि गोपियों की कृष्ण के प्रति रति लौकिक काम नहीं है। यदि यह काम है भी तो गोपियों में यह प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है—तादृशीनां कामो हि प्रेमैक रूपः। क्योंकि समस्त 'कामसंभोग सी' लगने वाली लीलाओं में गोपियों ने कभी भी अपने सुख की चाह नहीं की, उनकी सारी प्रकृत सी लगने वाली चेष्टाएँ कृष्ण के आनन्द के लिये थीं। कृष्णदास कविराज ने भी इसी बात को कहा है:—

> **आत्म सुख दुःख गोपी ना करे विचार।**
> **कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार।**
> **कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग।**
> **कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग।**[1]

इसी कारण उनका स्पष्ट मत है कि गोपीगणों का प्रेम शुद्ध और निर्मल है वह काम कभी नहीं है।[2] कामक्रीड़ा से कुछ साम्य होने के कारण लोग उसे काम कह देते हैं अन्यथा वह तो सहज प्रेम है।[3] काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुये कविराज ने अत्यन्त सही परिभाषा दी है कि:—

> **आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम काम।**
> **कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।**[4]

इस कसौटी पर गोपियों के प्रेम को कसने पर उनका निर्णय है कि "गोपी-भाध का तात्पर्य कृष्ण-सुख है, गोपियों को निजेन्द्रिय सुख-वांछा नहीं थी, वे कृष्ण को ही सुख देने के लिये संगम और विहार करती थीं।"[5]

इस कसौटी पर कुब्जा की प्रीति व्याघात उपस्थित करती है, इसे विचक्षण पंडित एवं दार्शनिक जीव गोस्वामी ने अनुभव कर लिया था। अतः वे एक

---

१. चै० चै०, आ०ली० परि० ४, पृ० २८ (पूर्णचन्द्र शील, कलकत्ता)।
२. वही, पृ० २८।
३. वही, म० ली०, परि० ८, पृ० १५२।
४. वही, आ० ली०, परि० ४, पृ० २८।
५. वही, म० ली०, परि० ८, पृ० १५२।

तर्क प्रयोजन नहीं बल्कि आलम्बन के स्तर पर देते हैं। उनके अनुसार कुब्जा ने यद्यपि स्वसुख के लिए कृष्ण-संभोग की चाह की, पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने कृष्ण से तुच्छ सांसारिक विषय-भोग न चाह कर साक्षात् भगवान् की कामना की एवं उसकी चाह में मन का आवेग पूरी तीव्रता से उपस्थित था।[1] ऐसी स्थिति में उस प्रेम को गोपियों के प्रेम से तो हीन माना जा सकता है, पर लौकिक काम से वह नितान्त भिन्न ही है।[2]

जीव गोस्वामी ने दार्शनिक स्तर पर भी इस शंका का समाधान किया है। वेदान्त-सूत्रों के 'लोकवत् तु लीला केवल्यम्' (२।१।३३) के अनुसार उन्होंने बताया है कि परम तत्त्व अपने ही अनन्त रस में स्वतः स्फूर्त लीला किया करते हैं।[3] यह लीला यद्यपि अप्राकृत होती है पर लौकिक जीवों के सदृश ही उसका भी रूप होता है। इसके अतिरिक्त गोपियाँ ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति की ही अंशरूपा हैं और उनके साथ क्रीड़ा ब्रह्म की एक स्वाभाविक वृत्ति है।

जीव गोस्वामी ने व्यावहारिक जीवन के आधार पर एक चौथा तर्क भी दिया है। उनके अनुसार पदम्पुराणादि में वर्णन आता है कि ज्ञानियों, मुनियों एवं श्रुतियों तक ने इस लीला में भाग लेने की इच्छा प्रकट की थी और उन्होंने ही गोपियों के रूप में अवतार लिया था। पीछे हम दिखा चुके हैं कि रूप गोस्वामी ने अपने नायिका-भेद में इनको परिगणित किया है। उद्धव जैसे विरक्त ने भी गोपियों के समान ही प्रेम की आकांक्षा प्रकट की थी। स्त्रियां ही नहीं पुरुष भी चूंकि इस प्रेम-चेष्टा को प्राप्त करने की कामना करते हैं अतः जीव गोस्वामी का निष्कर्ष है कि यह ऐन्द्रिकता से सर्वथा रहित प्रेमभाव है—न प्राकृत काम देवोद्भावितः प्राकृतः कामोऽसौ।[4]

यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन तर्कों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि वास्तव में यह प्रेम काम ही है पर उसका उदात्त-उन्नयित रूप है और इसीलिये श्रेष्ठ और वरेण्य है। प्रथम तर्क स्वसुख और पर सुख संबंधी दिया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान मानता है कि परसुख में भी एक प्रकार का सुख मिलता है। द्वितीय तर्क में आलम्बन का देवत्व है तथा तीसरा दर्शन को आधार बनाता

---

१. सा तु भगवन्तमेव कामयते इति परम सुमनीषिप्येवेति भावः।
—भक्ति संदर्भ, पृ० ६५७।

२. सेरन्ध्रयास्तु भावो रिरंसा-प्रायत्वेन श्री गोपीनामिव केवल-तत्-तात्पर्य्याभावात्तदपेक्षयेव निन्द्यते, न तु स्वरूपतः।
—वही, पृ० ६५६ (षट् सन्दर्भ)।

३. लीला त्वत्र स्वभावतैव सिद्धा —भक्ति संदर्भ, पृ० ६५७।

४. वही, पृ० ६५८।

है। आलम्बन बदल जाने से मूल मनोवृत्ति का बदलना मनोविज्ञान को स्वीकार्य नहीं है, तथा दर्शन का क्षेत्र उसके परीक्षण के क्षेत्र से बाहर का है। जहाँ तक चतुर्थ तर्क है फ्रायड इन सारे संबंधों (सम लिंगी, पूज्य के प्रति) रति, या दूसरे की रति में आनन्द प्राप्त करना आदि को कामभावना के अन्दर ही रखता है। बल्कि इन्हें तो वह काम की विकृति (परवर्ज़न) कहना पसन्द करेगा।[1]

यों प्रेम को काम का पर्याय मनोवैज्ञानिक भी नहीं मानते। प्रेम एक भाव (इमोशन) है तथा काम मनोवृत्ति (इन्सटिन्क्ट) है। शैंड के अनुसार प्रेम विचित्र परिस्थितियों में विभिन्न मनः स्थितियों को समुचित व्यवहार के भीतर संयोजित करता है।[2] अर्थात् प्रेम एक पद्धति है जिसमें अनेक प्रकार के संवेग सन्निहित होते हैं। शैंड की इस परिभाषा के आधार पर हम भक्ति के प्रेम को भी इसी भाँति समझ सकते हैं। भक्ति के क्षेत्र का प्रेम भी विभिन्न स्थितियों में उन अनेक संवेगों एवं व्यवहारों को जन्म दे सकता है, जो भक्ति-रस विवेचकों द्वारा उपस्थित किये गए हैं। सरलीकृत रूप में हम कह सकते हैं कि भक्ति लौकिक प्रेम का ही उन्नयन है और यही इसकी सार्थकता भी है।

भक्ति रस का इतिहास : काव्यशास्त्र के आधार पर

भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तन में रसों की संख्या को लेकर एक विवाद चलता रहा है। परन्तु यह एक विचित्र बात है कि इस सारे विवाद के बावजूद प्रामाणिक रूप से रसों की संख्या बढ़ाई नहीं जा सकी। रस की संख्या संबंधी परम्परागत धारणा ही कार्य करती रही है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ ही रस स्वीकार किये थे। शान्त को उन्होंने स्पष्ट मान्यता नहीं दी।[3] उनके द्वारा स्वीकृत रस हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत इन्हीं के क्रमशः स्थायीभाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय।[4] संभवतः वैराग्य प्रधान धर्मों (जैन, बौद्ध) के प्रसार के साथ-साथ शांत

---

१. फ्रायडः ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइको-एनैलिसिस का बीसवां व्याख्यान।

२. ए० एफ० शैण्ड : फाउण्डेशन्स ऑफ़ कैरेक्टर, पृ० ५०। (द्वितीय संस्करण, १९२०)

३. डॉ० वी० राघवन के अनुसार नाट्यशास्त्र के वे अंश प्रक्षिप्त हैं जिनमें शान्त सहित नौ रसों का उल्लेख हुआ है।
—नम्बर आफ रसाज़, पृ० १५-१६।

४. नाट्य शास्त्र (काव्यमाला संस्करण) ६।१५-१७।

को भी रसरूप में मान्यता देने की बात जोर पकड़ती गयी तथा अंततः अभिनव गुप्त द्वारा यह मान्यता पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी। अभिनव गुप्त का समय वि० ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। हम जानते हैं कि इस समय तक भक्तिमार्ग का यथेष्ट प्रचार हो चुका था। अधिकांश पुराण एवं उप पुराण बन चुके थे। नायनारों, आलवारों के भाव विह्वल गान जनमानस को आन्दोलित कर रहे थे। भक्तिपरक स्तुतियाँ एवं स्तोत्र उस काल तक प्रभूत मात्रा में लिखे जा चुके थे। संभवतः 'नारद-भक्ति-सूत्र' एवं 'शांडिल्य-भक्ति-सूत्र' भी, इसी युग के आसपास निर्मित हुये होंगे। भागवत पुराण, नारद एवं शांडिल्य के भक्ति-सूत्र भक्ति के आनन्द को ब्रह्मानंद एवं मोक्ष-सुख से भी ऊपर बता चुके थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि भक्ति को भी रसरूप में परिगणित कराने की बात और ज़ोर पकड़े।

छठी और सातवी शताब्दी में भामह और दण्डी ने कथन के एक प्रकार विशेष 'प्रियतराख्यानम्' को प्रेयम् कहा था।[1] रुद्रट ने नवम् शती उत्तरार्ध में 'प्रेयस्' को दसवां रस मानने की बात उठायी। अलैंगिक प्रेम के लिये उन्होंने 'प्रेयम्' नाम प्रस्तुत किया था; क्योंकि शृंगार केवल स्त्री-पुरुष के प्रेम के लिये ही प्रयुक्त होता था और यह रति कामगन्ध-मुक्त होती है। इस तरह 'प्रेयस्' के साथ भक्ति जैसे प्रेम सम्बन्धों को भी काव्यशास्त्र में प्रविष्ट होने का रास्ता खुलता है। यद्यपि रुद्रट के काव्यालंकार में "प्रेयान्" को मैत्रीभाव के रूप में ही लिया गया है, पर धीरे धीरे चार प्रकार के अलैंगिक प्रेम अ लंकारिकों के समक्ष आते हैं :

(१) मैत्री भाव (२) वात्सलय (३) प्रीति—(नेता एवं अनुगतों, राजा एवं दरबारियों का पारस्परिक प्रेम) तथा (४) भक्ति—पूज्य व्यक्तियों या परमेश्वर के प्रति अनुराग। इन सभी का अतर्भाव 'प्रेयस्' के भीतर होता रहा। परन्तु धीरे-धीरे भक्ति-काव्य के निर्माण के साथ-साथ भक्ति (वात्सलय का भी) का अधिकार बढ़ता गया। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा कि लोग ईश्वर प्रणिधान विषयक भक्ति, श्रद्धा, आदि को भी रसरूप में स्वीकार करने को कहते हैं।[2] पर अभिनव गुप्त उन्हें शांत रस का ही अंग मानने का निर्णय देते हैं। अभिनव गुप्त के समकालीन धनंजय ने दशरूपक में प्रीति और भक्ति का अलग-अलग उल्लेख करते हुये उन्हें हर्ष, उत्साह आदि ऐसे ही भावों के अन्तर्गत परिगणित

---

१. दण्डी ने भक्ति के महत्व को स्वीकार किया था तथा भक्ति और प्रीति को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है।

—काव्यादर्श, २।२७७।

२. अभिनव भारती, १।६।३४० (गायकवाड़ सीरीज़)।

करना चाहा है।[1] संभवत: ईश्वर विषयक एकता (आलम्बनगत एकता) के कारण अभिनव ने भक्ति को शान्त के अन्तर्गत करना चाहा था। इसके अतिरिक्त उस समय तक भक्ति को मुक्ति से नितांत अलग भी नहीं किया गया था। बल्कि अधिकांशत: उसे भी मुक्तिदात्री ही समझा जाता था। उधर शान्तरस में भी वैराग्य एवं मोक्ष कामना स्वीकार थी, अत: अभिनव अपने समय तक बहुत अनुचित नहीं थे; पर धनंजय का हर्ष, उत्साहादि में अर्न्तभावीकरण समझ में नहीं आता। संभवत: प्रयास के उत्साह तथा हर्ष के परिणाम (अनुभावादि) को सोचकर उन्होंने यह सम्मिलित किया होगा। मम्मट (१२ वीं शती) ने देवादि विषयक रति को भावदशा के अन्तर्गत रखकर उसे रस मानने से इन्कार कर दिया।[2] हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ० ६८) में स्नेह, भक्ति और वात्सल्य रति के ही विशेष रूप माने। शार्ंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में कहा कि कुछ लोग भक्ति, स्नेह एवं लौल्य को तीन रस मानते हैं तथा श्रद्धा, आर्द्रता और अभिलाषा इनके स्वामी स्थायिभाव बताते हैं, पर यह असत् है। ये रति के ही भेद हैं तथा स्थायी न होकर व्यभिचारी मात्र हैं।[3] चौदहवीं शती उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में वात्सल्य की तो प्रतिष्ठा कर दी पर भक्ति को रस उन्होंने भी नहीं माना। अंतिम प्रसिद्ध संस्कृत काव्यशास्त्री पंडितराज जगन्नाथ (विक्रमीय १८ वीं शती) के समय तक गौड़ीय वैष्णवों का 'भक्तिरस' संबंधी पांडित्यपूर्ण एवं गहन विश्लेषणयुक्त विवेचन सामने आ चुका था, अत: वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भक्ति के विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि का सम्यक् उल्लेख तो किया पर इससे 'मुनि वचन खंडित होता है', यह कहकर परम्परा के संकीर्ण नाम पर उसे रस मानने से अस्वीकार कर भाव ही माना।[4] हिन्दी में देव ने भक्ति रस पर विचार किया है और उसके प्रम, शुद्ध एवं प्रेम शुद्ध तीन भेद किये हैं। पर उसे निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक रूप से स्वतंत्र रस की सत्ता दे सकने में वे भी असमर्थ रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के पूर्व तक काव्यशास्त्र में भक्तिरस को प्रामाणिक मान्यता नहीं मिल सकी। जिस देश में इतने अधिक परिमाण में भक्तिकाव्य की रचना हुई हो, उसमें यह स्थिति वदतो व्याघात सी प्रतीत होती है। इस सारी परम्परा में केवल कवि कर्णपूर का 'अलंकार कौस्तुभ' एक अपवाद है जो परम्परागत अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ होकर भी 'प्रेमन् और

---

१. दश रूपक, ४।८३ (साहित्य निकेतन, कानपुर, संस्करण)।
२. काव्य प्रकाश, ४।३५ (चौखम्भा प्रकाशन)।
३. संगीत रत्नाकर, पृ० ८३६।
४. रस गंगाधर, पृ० ४५-४६।

भक्ति' को रस के रूप में स्वीकार करता है।[1] पर 'अलंकार कौस्तुभ' भारतीय काव्यशास्त्र का बहुत मान्य ग्रंथ नहीं है। इसके अतिरिक्त कर्णपूर स्वयं चैतन्य के जीवनीकार एवं मतानुयायी थे।

ऐसी स्थिति में भक्ति की रसात्मकता की स्थापना का भार स्वयं भक्ति-शास्त्रियों पर पड़ा। भागवत, नारद एवं शांडिल्य के 'भक्ति-सूत्र' 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि', 'भक्ति संदर्भ', 'प्रीति संदर्भ', कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृत' नारायण भट्ट की 'भक्ति रस-तरंगिणी', मधुसूदन सरस्वती का 'भक्तिरसायन' आदि ग्रन्थों के माध्यम से इस रस को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है।

भागवत के प्रारम्भ में ही भगवान्-सम्बन्धी अलौकिक रस तथा उसका अहरह पान करने वाले भावुक रसिकों का उल्लेख किया गया है।[2] नारद भक्ति सूत्र में उसे परम प्रेम रूपा और अमृत स्वरूपा[3] बताकर रसता की ओर भी संकेत किया गया है। कर्मज्ञान योग से अधिक बताकर[4] नारद ने मानो उसे शान्त रस से सन्निविष्ट करने के अभिनव गुप्त के प्रयास का प्रत्याख्यान किया है। शांण्डिल्य ने उसे रस शब्द से प्रतिपाद्य रागस्वरूपा बताया है।[5]

इन्हीं बातों को अधिक व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय ढंग पर मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्ति रसायन में उपस्थित किया है। उन्होंने भक्ति को परम पुरुषार्थ[6] माना (धर्म, अर्थ, काम. मोक्ष के अतिरिक्त) तथा ज्ञान को उसका संचारी बना दिया। इस प्रकार मोक्ष और ज्ञान दोनों से अलग करके उन्होंने अभिनव गुप्त के आधार पर ही प्रहार किया। उन्होंने यह भी कहा कि ज्ञान और

---

१. कवि कर्णपूर की अलंकार कौस्तुभ में, प्रेमन् की धारणा कुछ विचित्र सी है। वैष्णव आलंकारिकों के मधुर रस को उन्होंने यह संज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला जब सखी-भाव से सेव्य हो गई तब इस रस की कल्पना की आवश्यकता पड़ी। इसी कारण इसे अंगीरस भी उन्होंने स्वीकार किया है। कर्णपूर के अनुसार प्रेमन् अंगी है और शृंगार अंग। बल्कि अन्य सारे रस इस रस समुद्र में उठने वाली तरंगों के समान है।

(अलंकार कौस्तुभ, पृ० १४८)

२. श्रीमद्भागवत, १।१।३।

३. ना० भ० सू०, संख्या २,३।

४. वही, २५।

५. शा० भ० सू०, ६।

६. भक्ति रसायन, १।१।

भक्ति पृथक्-पृथक् अधिकारियों के लिए हैं। इस प्रकार आश्रय-भिन्नता के द्वारा भी भक्ति को शान्त के अन्तर्गत मानने का निरसन कर दिया।

अपने विवेचन में उन्होंने भक्ति को एक नया मनोविज्ञान ही दिया। इसके अनुसार अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति है। भक्ति की पीछे दी गयी परिभाषा में भी इसी तथ्य की ओर संकेत है। चित्त तरल होकर भगवान की ओर प्रवाहित होता है एवं उस सांचे में वही आकार धारण कर लेता है। इस बात को उन्होंने टीका में और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

उनके मतानुसार भगवान आलम्बन हैं, तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव हैं, नेत्र विक्रियादि अनुभाव हैं, निर्वेदादि व्यभिचारी हैं तथा भगवदाकार चित्त-वृत्ति ही स्थायीभाव है।[1] स्थायी भाव के नाम से कुछ नवीनता अवश्य है पर आगे पृ० १६ पर उन्होंने इस चित्तद्रुति को प्रणय, अनुराग, स्नेह आदि रति के विभिन्न पर्यायों से भी अभिहित किया है। इस संयोग से परमानंदरूप जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह स्वयं भगवान् है। (भगवान को रस के साथ पर्याय रूप में देखने की यह प्रवृत्ति आगे रसोपासकों को बल देती है।)भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, ह्रास, विस्मय, उत्साह, शोक, जुगुप्सा और काम उन ११ स्थायी भावों को रस रूप में परिणत होने वाला माना है। इनमें से उत्साह के धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स, शम, ईर्ष्या से उत्पन्न द्वेष, भय, रौद्र और भयानक ये भक्ति रस के अंग नहीं बन सकते। शेष में भक्तिरस के अंग बनने की क्षमता है। इस विभाजन में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मधुसूदन सरस्वती शान्त को भक्ति से पृथक् कर देते हैं। शान्त को वे अद्रुत चित्त के लिये मानते हैं पर भक्ति के लिये चित्त-द्रुति अनिवार्य है। मम्मट आदि के देविदा-विषयारति का उत्तर देते हुये वे कहते हैं कि यह बात अन्य देवताओं (इन्द्रादि) के लिये लागू होती है, परमानन्द रूप परमात्मा के लिये नहीं। उनके अनुसार भक्ति ही वास्तविक रस है, वह सूर्य के समान है तथा शृंगारादि अन्य रस खद्योतों के तुल्य हैं।[2]

अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं पूर्णतम कार्य भक्तिरस-शास्त्र के क्षेत्र में गौड़ीय वैष्णव रूप गोस्वामी का है। रूप गोस्वामी का रचनाकाल विक्रम की सोलहवीं शती का अंत एवं १७ वीं शती का प्रारंभ है। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' का रचनाकाल सं० १५९८ है। उज्ज्वल नीलमणि इससे कुछ बाद का होगा इस समय तक उत्तर भारत भक्ति के मेघजल से आप्लावित हो चुका था। वैष्णव प्रेमकाव्य की प्रभूत रचना हो चुकी थी।

---

१. भ० र० पृ० १३ [टिप्पणी भाग]।

२. वही, प्रथम उल्लास, पृ० ७४-७८।

काव्य गुणों की दृष्टि से ये रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ काव्य में परिगणन योग्य हैं, पर परम्परागत काव्यशास्त्र या तो इन्हें भाव मात्र मानता है या फिर लौकिक श्रृंगार रस के अन्तर्गत इनका विवेचन करता है—जो कि इन भक्त-कवियों का किसी भी प्रकार अभिप्रेत नहीं है। रीतिकाल की श्रृंगारी कविता भक्ति-काव्य को सही परिप्रेक्ष्य में न लेकर उसे सामान्य श्रृंगार की प्रेरणाभूमि के रूप में ही स्वीकार करती रही, इसका मुख्य दोष समीक्षकों (काव्यशास्त्रियों) पर है।

अस्तु, रूप गोस्वामी ने अपने दो ग्रन्थों 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' में इस वैष्णव प्रेम-भक्ति-काव्य का पूरा व्याकरण और शास्त्र उपस्थित कर दिया। भक्ति को रस कहकर उसकी भावात्मकता को प्रतिष्ठा देने के बाद उन्होंने उसके मनोविज्ञान को पूरी तौर पर विवेचित किया। इस विवेचना की सारी शब्दावली और धारणाएँ परम्परागत काव्यशास्त्र या कामशास्त्र की ही हैं। सहृदय का स्थान भक्त ले लेता है। इस भक्त के हृदय में कृष्ण रति-रूप स्थायी भाव समुचित विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट होकर भक्ति रस का रूप ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' का यह अंश द्रष्टव्य है। 'विभाव' अनुभावादि की परिपुष्टि से भक्ति परम रस रूपा हो जाती है। विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यत्व को प्राप्त कराया गया जो कृष्ण-रति रूप स्थायी भाव है, वह भक्ति में परिणत होता है। जिनके हृदय में प्राक्तन अथवा आधुनिक जन्म की सद्भक्ति की वासना या संस्कार हैं, भक्ति रस का आस्वाद उन्हीं के हृदय में होता है।''[1] इसे सहृदय भक्तों के और भी गुण गिनाये गये हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र को अन्यत्र चतुरतापूर्वक भावनात्मक भक्ति के क्षेत्र में व्यवहृत किया गया है। एवं इन समस्त स्थापनाओं को लगभग ६०० उद्धरणों (स्वयं रूप द्वारा रचित तथा प्रचलित भावनात्मक एवं धार्मिक साहित्य से गृहीत) द्वारा समर्थित किया गया है। सारा का सारा दृष्टिकोण साहित्यिक, श्रृंगारिक एवं धार्मिक वृत्तियों का विचित्र समन्वय है, एवं समस्त योजना अत्यधिक जटिल है।[2]

रूप गोस्वामी ने 'कृष्ण-रति' को ही मुख्य स्थायी भाव माना और फिर उसी के पाँच प्रमुख तथा सात गौण भेद किये। उसी के अनुसार ५ मुख्य भक्ति रस शान्त, क्षम्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर माने तथा ७ गौण रस हैं—हास्य, अद्भुत वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स। इस सारी योजना को ध्यान

---

१. ह० भ० र० सि०, द० वि० १।५-७।

२. एस० के० दे: वै० फ़० मू०, पृ० १२५।
(जनरल प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता, संस्करण १९४२)।

से देखने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र के नवों रसों को भी इसी कृष्ण भक्ति रस के अन्तर्गत ले लिया है। उनके शान्त एवं शृंगार मुख्य रसों में परिगणित हैं तथा शेष गौण रस हैं। इसके अतिरिक्त भामह और दण्डी के युग से ही जो सख्य और वात्सल्य (और प्रीति, दास्य भी) के सम्बन्व में मत चले आ रहे थे उनको भी मुख्य भक्तिरसों में परिगणित कर लिया। इस तरह दोनों परम्पराओं का समन्वय उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया। लौकिक काव्यशास्त्र का रसराज शृंगार यहाँ भक्ति के क्षेत्र में मधुर नाम से 'भक्तिरसराज' कहा गया है। इस सारी योजना के लिये श्री सुशील कुमार के द्वारा दिये गये चार्ट हम आगे उपस्थित कर रहे हैं यहाँ अलग से इनका विवेचन हम विस्तार-भय से नहीं कर रहे हैं।

कृष्णदास कविराज, जीव गोस्वामी एवं नारायण भट्टादि ने रूप गोस्वामी का ही मुख्यतः अनुकरण किया है। जीव ने कुछ काव्यशास्त्रीय प्रश्नों को उठा कर अवश्य अपनी मौलिकता का परिचय देते हुये इस विवेचन को और अधिक पूर्ण बनाया।

रूप गोस्वामी ने भक्ति को रसरूप में स्थापित तो कर दिया था पर उन्होंने काव्यशास्त्रियों के भक्ति को रस न मानने के आक्षेपों का उत्तर नहीं दिया था। भक्ति को रस कहा जाना चाहिये, इसके पक्ष में जीव ने शक्तिशाली ढंग से तर्क उपस्थित किये। वास्तव में जीव गोस्वामी की प्रवृत्ति कुछ तार्किक थी। यह सारा विवेचन अत्यधिक शास्त्रीय शैली पर हैं। उनके अनुसार भगवत्-प्रीति ठीक ही स्थायी भाव मानी जाती है। प्रीति के नाते इसमें भावत्व तो है ही तथा साथ ही लौकिक काव्यशास्त्रों द्वारा निरूपित स्थायी भाव के लक्षण भी इसमें विद्यमान हैं। भक्ति रसावस्था को नहीं पहुँच सकती, मम्मट आदि के इस तर्क का उत्तर उन्होंने भी मधुसूदन सरस्वती की ही भाँति देते हुये कहा है कि यह सामान्य देवताओं से संबंधित रति (प्राकृत देवादि विषया) के बारे में तो कहा जा सकता है, परमतत्त्व कृष्ण के बारे में नहीं। कृष्ण रति में सारे तत्त्व विद्यमान हैं। उनके अनुसार वास्तव में कृष्ण रति से संबंधित विभाव, अनुभावादि ही अलौकिक होते हैं। काव्यशास्त्र के विभावादि लौकिक एवं इसीलिये दोषपूर्ण एवं हीनतर होते हैं। उनका अलौकिकत्त्व कवि की प्रस्तुतीकरण की चतुराई के कारण दिखता है। लौकिक प्रीति मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न प्राकृत सत्वगुण का ही संशोधित रूप है और इसलिये स्वरूपशक्ति द्वारा उत्पन्न भगवत्-प्रीति के सुख और रसत्त्व की वह समता नहीं कर सकती। लौकिक रति क्षणिक एवं अन्ततः दुःख लाने वाली होती है। पर अलौकिक रति स्थायी एवं विशुद्ध आनन्द है। इसलिये यह कहना ग़लत है कि लौकिक विभावादि से ही रस उद्‌बुद्ध हो सकता है। वास्तविक रस तो अलौकिक कृष्ण आदि ही जगा सकते हैं, एवं रस के तथाकथित सारे तत्त्व कृष्णरति के साथ विद्यमान हैं।

रस की निष्पत्ति किसके हृदय में होती है—इस प्रश्न को भी जीव गोस्वामी ने उठाया है। उन्होंने काव्यशास्त्र के चार मत उद्धृत किये हैं, (१) अनुकार्यों में, (२) अनुकर्त्ता में, (३) सहृदय सामाजिक में, (४) अनुकर्त्ता एवं सामाजिक में। जीव के अनुसार भगवत-प्रीति रस के रूप में अनुकार्य, अनुकर्त्ता (भक्तादि) एवं सामाजिक (भक्ति-काव्य आदि को पढ़ने वाला) तीनों में निष्पन्न होती हैं। पर अनुकार्यों (भगवान का परिकर) में रस की उत्पत्ति मुख्य है। वहीं रागात्मिका है और उसी का अनुकरण अनुकर्त्ता रागानुगा भक्ति के नाम से करते हैं। इस रस के लिये भक्ति होना आवश्यक है और इस प्रकार अनुकर्त्ता और सामाजिका दोनों भक्त ही होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, रसाभाव आदि का भी लगभग रूप गोस्वामी से मिलता-जुलता विस्तृत निरूपण किया है। विस्तार-भय से हम उसे यहां पर नहीं दे रहे हैं। इसी अंश में उन्होंने लीला के प्राकृत-अप्राकृत तत्त्वों को समझाते हुये उसकी 'काम' से अलौकिकता तथा 'परकीया' भाव का वास्तविक अर्थ भी विवेचित किया है।[1] आगे १८ वी शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस परकीया भाव को पूर्ण शास्त्रीय सिद्धता प्रदान की, तथा उसे श्रेष्ठतम रति बताया। परम्परागत काव्यशास्त्र परकीया प्रेम को श्रृंगार रस के अन्तर्गत नहीं रखता, पर विश्वनाथ चक्रवर्ती की वैष्णव रसशास्त्र को यह प्रमुख देन थी। यद्यपि परकीया की धारणा भागवत, वल्लभ, चैतन्य, रूप, सनातन, जीव आदि में भी प्राप्त होती है, पर उन लोगों ने उसके दार्शनिक एवं प्रतीकात्मक अर्थ करके नैतिक दृष्टि से सम्मान्य बनाने का प्रयास किया है, जबकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करके प्रामाणिकता दी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वल्लभ, हितहरि वंश एवं रसिकोपासक राम संप्रदाय में भी कोई न कोई 'आध्यात्मिक रस सिद्धांत' अवश्य होगा।[2] अब तक की हुई खोजों के अनुसार फुटकर सिद्धांत ग्रन्थ एवं संकेत तो प्राप्त होते हैं, किन्तु पूर्व-चर्चित ग्रन्थों की भाँति सांगोपांग विवेचन करने वाले ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुये। राम भक्तों के रसिक संप्रदाय में १८ वीं शती में गलता गद्दी पर मधुराचार्य थे। उनका जीव गोस्वामी की टक्कर का लिखा गया छः सन्दर्भों का ग्रन्थ पूरा प्राप्त हो जाने पर शायद अभीष्ट की पूर्ति कर सके। अभी तक उसका केवल 'सुन्दरमणि' संदर्भ ही प्राप्त है। (वैदिक मणि संदर्भ का केवल एक भाग मिला है।) प्राप्त भाग में सीता जी का चरित्र ही मुख्यतः वर्णित है, रसशास्त्रीय संकेत यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं। हम आशा करते हैं कि शायद

---

१. एस० के० दे: वै० फे० मू०, पृ० ३०४-३०९ के आधार पर।

२. आलोचना अंक ६, पृ० ८६-८७।

भविष्य में यह पूरा ग्रन्थ प्रकाश में आ सके। यों अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम अन्यत्र विभिन्न संप्रदायों की रसोपासनाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

अस्तु, ऊपर किये गये विवेचन से इतना स्पष्ट प्रकट होता है कि भक्ति-रस और काव्यरस की दो शास्त्रीय परम्पराएँ मध्यकाल में अस्तित्व में आ गयी थीं। भक्तिशास्त्री भक्ति को ही एकमात्र रस मानता था तथा काव्यशास्त्री भक्ति को भाव से आगे स्वीवार करने को प्रस्तुत न थे। शायद दोनों ही अनुभव करते थे कि सचमुच ही इनकी सत्ता अलग है। वस्तुतः विभावन व्यापार का बहुत बड़ा उत्तर इन दोनों के मध्य में है एवं दोनों के सामाजिकों के लिए जिस संस्कार या साधना की आवश्यकता होती है वह परस्पर बहुत भिन्न जाति की होती है। काव्य का सामाजिक एक सामान्य सांस्कृतिक वातावरण एवं अभिरुचि से संबंधित होता है जबकि भक्त वैयक्तिक साधना के द्वारा भक्तिरस के रसास्वाद के लिए अपने को तैयार करता है। हमारा विचार है कि दोनों को अलग-अलग मानने का मध्यकालीन विवेचकों का आग्रह अनुचित नहीं था।

गौड़ीय वैष्णव, नित्य-विहारोपासक, रामोपासक, निर्गुणवादी एवं सूफ़ियों के प्रेम-दृष्टिकोण सम्बन्धी अन्तर :

भक्ति-विवेचन के प्रसंग में पीछे हम देख चुके हैं कि प्रेम उसका एक अनिवार्य एवं सर्वप्रधान तत्त्व है। प्रेम ही वह मुख्य साधन है जो भगवान् को खींच लाता है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान् की प्रेमवश्यता स्वीकार की जा चुकी थी। यह प्रेम मानव-सम्बन्धों के पांच आकारों में मुख्य रूप से ढलता है जिनमें कि सर्वश्रेष्ठ माधुर्य-भाव है। इन सबका विस्तृत विवेचन करते हुए हम यह भी देख चुके हैं कि रूप गोस्वामी एवं मधुसूदन प्रभृति विद्वानों ने इन्हें 'रस रूप' में प्रतिष्ठित कर दिया था। यह सब होने के बावजूद प्रेम की भावना थी साधन ही—साध्यवस्तु थी भगवान् की कृपा या स्वयं भगवान्। रस की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के पूर्व लौकिक या मानवीय प्रेम सादृश्य-व्यंजक था पर चूंकि भक्ति में सम्बन्धमूलकता का आग्रह अनिवार्य है, इसलिये जो प्रेम-प्रतीकवाद था वह भक्ति-रस तक आते-आते भाव-जगत् का सत्य बन गया। संवेदना एवं गहरी भावनामूलकता से यह क्षेत्र आप्यायित हो उठा। परन्तु यह अन्तिम परिणति न थी, धीरे-धीरे प्रेम साध्य हो गया, रस लक्ष्य बन गया काव्यशास्त्रीय चिन्तन में ही न रुककर वह स्वयं शास्त्र अथवा दर्शन बन गया। इस क्षेत्र में भक्ति की वे समस्त विस्तृतियाँ, जिनका अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उद्घाटन रूप गोस्वामी ने किया

था, बहुत अर्थवान नहीं रहीं। आगे के पृष्ठों में हम उज्ज्वल रस एवं रसोपासकों के विभिन्न सम्प्रदायों के साम्य, वैषम्य विकास या संकोच तथा पारस्परिक प्रभाव की रेखाओं का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

गौड़ीय वैष्णव-रस-शास्त्रियों के सामने एक समस्या और भी थी, जिसको कि उन्हें शास्त्रीय तर्कसिद्ध रूप देना था। भागवत, विष्णु ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों एवं वैष्णव तंत्रों आदि में श्रीकृष्ण की नानाप्रकार की लीलाएँ थीं। रूप, सनातन, जीव प्रभृति गोस्वामियों ने इन लीलाओं को भक्ति-काव्य-शास्त्र के रस-विवेचन के अन्तर्गत स्वीकार करने का उत्तरदायित्व भी निभाया एवं इन्हें दार्शनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित भी रहने दिया। इसी कारण उसके रस-विवेचन में कतिपय असंगतियों भी प्राप्त होती हैं। सबसे विचित्र असंगति यह है कि वे काव्य-शास्त्र की परिपाटी तो स्वीकार करते हैं पर काव्य-सृजन-प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करना चाहते।[1] काव्य प्रक्रिया में कवि-प्रतिभाजन्य विभावन-व्यापार को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह व्यापार ही काव्य के क्षेत्र में लोक की प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक अनुभूतियों को अलौकिक रसास्वादन बदल देता है—इसी कारण अनुकार्यों में रस की स्थिति मानने वाले लोल्लट एवं शंकुक के मत को रसनिष्पत्ति के क्षेत्र में अमान्य क़रार दिया गया। परन्तु जैसा कि हम पीछे मधुर रस के विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं, जीव गोस्वामी ने भक्ति-रस की अलौकिकता, विभावादि (अनुकार्य आदि) निष्ठ कर दी न कि विभावन-व्यापार-निष्ठ। काव्य-रस की सत्ता क्षणिक है, पर विषय (आलम्बन) की गरिमा एवं भक्त का समस्त रहनी-करनी आदि को दृष्टिपथ पर रखने के कारण उन्होंने रस की सत्ता को भक्ति के क्षेत्र में नित्य स्वीकार किया। यों आधुनिक मनोविज्ञान प्रथम तर्क का उत्तर देते हुये कह सकता है कि अनुकार्य एवं सामाजिक के रस में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, एक का ही परिष्कृत एवं परिवर्तित रूप दूसरा है। तथा गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्रियों ने रागात्मिका एवं रागानुगा का जो अन्तर पहले ही विवेचित कर दिया है वह रस की मनोविज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष एवं परोक्ष अनुभूतियों के औचित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। जहाँ तक रस की नित्यता का प्रश्न है यह तो भक्ति-रस-शास्त्री भी नहीं कहते कि सदैव भक्त रसावेश में ही रहता है। परन्तु इस विवेचन के बाद भी यह तर्क अनुत्तरित ही रहता है कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया वे स्वीकार नहीं करते। यह बात काव्य शास्त्र का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कवि-प्रतिभाजन्य विभावन-व्यापार रस-सिद्धांत में मूलतः अनिवार्य है। उसके स्थान पर जब आलम्बन की

१. श्री ललिता चरण गोस्वामी : गोस्वामी हितहरिवंश : सम्प्रदाय और साहित्य।

अलौकिकता, महत्ता, गुरुदया प्रभु-अनुग्रह अथवा भक्त (सामाजिक) की अपनी साधना पर बल दिया जाने लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह रस काव्य-रस से कुछ भिन्न प्रकार का है। वास्तव में ऐसी विसंगतियाँ धर्मदर्शन एवं काव्य दर्शन को एक में ही मिला देने से उत्पन्न होती हैं। इस विसंगति के होते हुये भी गौड़ीय वैष्णवों का यह विवेचन काव्यशास्त्र की विस्तृतियों में इतना सूक्ष्म और प्रामाणिक है तथा कृष्ण की समस्त काव्य-पुराणादि में वर्णित लीलाओं को इतनी निपुणता के साथ अपने भीतर समेट लेता है कि साधारण बुद्धि को तर्क की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिये इस रस-शास्त्र का बड़ा गहरा प्रभाव हमें अन्य समकालीन एवं परवर्ती विचारों पर प्राप्त होता है। निम्बाकीर्य हरि-व्यास देव[1] की 'सिद्धांत रत्नांजलि' में रसों के प्रकार आदि में उनका अनुगमन किया गया है :

शान्तं दास्यं च वात्सल्यम् सख्यमुज्जवलमेव च।
अमी पंच रसा मुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः ॥

(सि० र०, रस प्रकरण, पृ० १२५)

रामोपासक सम्प्रदाय की रसिक-भाव की साधना का रस-शास्त्र गौड़ीय वैष्णवों का ही है जिसे कि राम के प्रचलित स्वरूप के अनुसार ढाल लिया गया है। शुक सम्प्रदाय के भी ऊपर इस रसशास्त्र का प्रभाव है। पुष्टि-मार्ग का अलग से कोई रसशास्त्र प्राप्त नहीं होता। पुष्टिमार्गीय भक्तों ने संभवतः इसी शास्त्र को स्वीकार किया था, हां प्रभु-अनुग्रह सेवाशैली आदि के क्षेत्र में उनकी अपनी देन है। रसोपासकों (सखी एवं राधा वल्लभ प्रभृति संम्प्रदाय) ने यद्यपि रस-विवेचन के क्षेत्र में एकदम नया रास्ता अपनाया पर जाने-अनजाने गौड़ीय वैष्णव रस-विचारों से वे प्रभावित होते रहे (संभवतः प्रभावित करते भी रहे हैं)। इन संप्रदायों ने काव्यशास्त्र का पल्ला पकड़ा ही नहीं—प्रारम्भ से ही इन्होंने भक्ति रस की अपेक्षा रस-भक्ति की बात

---

१. हरिव्यास देव को लोग १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध तक खींचते हैं, पर श्री गोपालदास शर्मा के मत (हरिदासी संप्रदाय और उसका वाणी साहित्यः अ० प्र०) से हम सहमत हैं कि उनका समय १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। सिद्धांत रत्नांजलि का रस-विवेचन भी उन्हें परवर्ती ही सिद्ध करता है। यदि वे पूर्ववर्ती होते तो रूप गोस्वामी निश्चित रूप से उनको प्रमाणरूप में उद्धृत करते। सिद्धान्त रत्नांजलि के श्लोक के रस वेदिभिः, भी हमें गौड़ीय वैष्णवगण मालूम पड़ते हैं।

कही और अन्त में वृन्दावन-रस को प्रतिष्ठित किया। अपने इस रस उन्होंने काव्य के रस या लोक के रस से भिन्न हा रखा--उन्हें समान स्तर पर रखने की आवश्यकता ही नहीं थी। यहां पर न आलम्बन है न आश्रय।[1] भगवान स्वयं रस-स्वरूप हैं, आनन्द-स्वरूप हैं, प्रेम-स्वरूप हैं, यह प्रेम क्रीड़ा-परायण होता है और इसीलिये युगल के रूप में अवतरित होता है। यह युगल सहज ही प्रकट होता है, अजन्मा है, नित्य किशोर है, सम वयस् है। वे पहले भी थे, अब भी हैं, आगे भी रहेंगे।[2]

यह स्थापना उन तमाम भागवत एवं काव्यादि में वर्णित कथाओं को व्यर्थ कर देती है जिनको ऐतिहासिक रूप से सत्य मानने के कारण रूप गोस्वामी प्रभृति विद्वानों को नाना प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना करनी पड़ी थी। कोई कृष्ण का दास है, कोई सखा है, कोई माता-पिता है तो कोई वल्लभा के रूप में हृदय दे बैठा है। इन्हें भक्त मानते हुये नाना प्रकार के संबंधों के आधार पर भक्ति रसों की कल्पना करनी पड़ती है। स्वयं मधुर भाव वाले उज्ज्वल शृंगार रस के क्षेत्र में नाना प्रकार की हरिवल्लभाएँ, सखियां, सखा, दूती, विरह, मिलन आदि को स्थापित करके गौड़ीय वैष्णवों ने समस्त कृष्ण लीलाओं को औचित्य प्रदान कर दिया है। चूंकि इन लौकिक-सामाजिक सम्बन्धों का उदात्तीकरण विवेचना में हुआ था, इसीलिये लौकिक काव्यशास्त्र की परिपाटी को भी ग्रहण करना आवश्यक हो गया था। बिना उसकी राह को स्वीकार किये वे सफल हो नहीं सकते थे। वास्तव में गौड़ीय वैष्णवों ने इस अर्थ में भी अत्यंत गुरुतम दायित्व को वहन किया कि समस्त लिखित या मौखिक परम्परा को क्रमशः स्वीकार कर लेने के बाद उसे अध्यात्म की राह मोड़ दिया। साधारण शक्ति का कार्य यह नहीं था। इस सारी परम्परा को उन्होंने एक अनोखी व्याख्या दे दी।

रसोपासक (हरिदासी, राधावल्लभीय, परवर्ती निम्बार्कीय आदि)

---

१. तहाँ न नायक नायका रस करवावत केलि

—ध्रुवदासः रति मंजरी लीला, (बयालीस लीला, पृ० १९४)।

२. माई री सहज जोरी प्रकट भई रंभ की गौर श्याम घन दामिनि जैसे,
प्रथमहुँ हुती अबहूं आगेहूँ रहिहें न टरिहें तैसे।
अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे।
श्री हरिदास के स्वामो स्यामी, कुंजविहारी समवैसे जैसे।

—स्वा० हरिदासः केलिमाल, पद १।

तथा

मेरे नित्य किशोर अजन्मा, विहरत एक प्रान द्वै तन मां

(बिहारिणिदासः चौबोला १४२।

चूंकि इस सारी परम्परा को अस्वीकार कर सके थे, इसीलिये उनका रस-संबंधी चिन्तन भी परम्परागत काव्यचिन्तन से पृथक रह सका। प्रेम या रस या हित ही वह परतत्त्व है जो सृष्टि में प्रवाहित हो रहा है। युगल किशोर उसी के साक्षात् विग्रह हैं। वे दिन-रात प्रेमकेलि में पड़े रहते हैं। अप्राकृत प्रेम और काम के दो सिंधु उनके प्रहृदयों में प्रवाहित हैं।[1]

प्रेम के रूप का बड़ा मार्मिक चित्रण ध्रुवदास ने किया है "प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एक रस रुचि तरंग बढ़त रहे। सहज सुछन्द मधुरता, मादिकता, जाको आदि अन्त नहीं, छिन-छिन नूतनता स्वाद।"[2] नेम, मदन, काम आदि को लगभग समानार्थक रूप में इस साहित्य में प्रयुक्त किया गया है। पर यह काम भी सामान्य नहीं है। इसे प्रेम का प्रकाशन अथवा प्रेम की अभिव्यंजना भी कह सकते हैं। लेकिन इसकी अलौकिकता इस बात में है कि यह सब प्रेम द्वारा यन्त्रित होता है। लोक में काम स्वतंत्र होता है, पर यहां प्रेम द्वारा यन्त्रित होने में ही उसकी सार्थकता होता है।[3] निज प्रेम ही नेम है जिसे शृंगार रस के पोषण के लिये अलग से कहा गया है।[4] प्रेम तो अनादि, अनन्त है पर काम या मदन या नेम सादि और सांत है। काम क्रीड़ा है, प्रेम मूल वृत्ति है। क्रीड़ा में चैतन्यता आवश्यक है, भाव-वृत्ति अपने में विवश कर लेती है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्रुवदास प्रतिष्ठापित कर सके थे।[5] इस प्रकार प्रेम और काम दोनों ही नित्य विहार में बने रहते हैं।[6] ललित किशोरी देव के मत से प्रतीत होता

---

१. प्रेम मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन हीय।
कगहुं बिबस चेतत कबहुं छिन-छिन प्यारी पीय।
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस विलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहो कोउ वरने कैसे।
—ध्रुवदास: सिद्धांत विचारलीला, बयालीस लीला, पृ० ४६।

२. ध्रुवदास: सिद्धांत विचार लीला (ब० ली०, पृ० ४३-४४)।

३. वही, पृ० ४५।

४. वही, पृ० ४७।

५. जब प्रेम रूपी सिन्धु के तरंग छावैं तब विजस होइ।
जब मदन रूपी सिन्धु के तरंग छावैं तब चैतन्य होहि।
कबहूँ खिलारी खेल वस, कबहू खिलारी बस खेल। वही, पृ० ४६।

६. जहाँ काम तहं प्रेम है, जहां प्रेम तहं काम।
इन दोउन की संधि में विलसत श्यामाश्याम।
—वही०, पृ० ४६ ललित किशोरी देव, साखी सं० ८६६।

है कि प्रेम का निवास नेत्रों में है और काम का अंगों में। प्रेम में प्रेमी एक दूसरे को देखते रहना चाहते हैं, काम में एकमेक हो जाना चाहते हैं। जब एक दूसरे को देख नहीं पाते तब भी छटपटा उठते हैं, जब एक दूसरे से केलि नहीं कर पाते तब भी अधीर हो उठते हैं :...

जब दरसें तब परसनचाह, जब परसें तब दरसन दाह।
तनु मन मिले मिलन की आस, अंग अंग सिथिल मंदघन वास ।।

—६७८

दरस जु कहिये प्रेम रस, परस केलि सुख काम।
गौर स्याम आसक्ति अति रोम रोम अभिराम ।। ७५७

—स्वा० ललित किशोरी देव, साखी

इस प्रेम और काम की लोक से एक स्पष्ट भिन्नता और है। लोक में काम दो भिन्न व्यक्तियों को परस्पर निकट लाता है। उनकी पारस्परिक दूरी को वह कम करता है। परन्तु इस प्रेम में एक ही तत्त्व दो रूपों में विभक्त होकर भोक्ता और भोग्य के रूप में रस का आस्वादन करता है। फिर लौकिक प्रेम और काम निज स्वार्थ के लिये होने पर यह प्रिय-सुख के लिये है। एक-दूसरे के सुख की चिन्ता ही इन्हें रहती है।[1] जो जो प्यारे कहते हैं वही प्यारी को अच्छा लगता है एवं जो जो प्यार करे वही तो प्रिया को पसन्द आता है। प्यारी प्रियतम के नेत्रों में ठौर बनाना चाहता है, प्रियतम भी प्यारी के नैनों की पुतलियाँ बनने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। राधा के लिये वल्लभ अपने तन, मन और प्राण से भी अधिक प्यारे हैं एवं वल्लभ वल्लभा के लिये अपने कोटिक प्राण हारने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। यहां न और वल्लभाएँ हैं न गोपियाँ जो लोक कानि, आरज पथ छोड़ कर गंगा के समान सागर की ओर उमड़ती चली आवें। यह तो अनन्यता का क्षेत्र है। प्रेम का यही एक स्वरूप है। रूप गोस्वामी ने भी समर्था रति का रूप यही दिया है पर अन्य लोक प्रचलित चरित्रों के कारण साधारणी एवं समंजसा

---

१. **जोई जोई प्यारो करै सोई सोई भावै।**
भावै मोहि जोई सोई सोई करैं प्यारे।
मोकों तो भांवती ठौर प्यारे के नैनिन में।
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्राण हूँ ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।

—श्रीहित हरिवंश: हित चौरासी, पद १

रतियों की भी कल्पना उन्हें करनी पड़ी है। पर यहां इन चरित्रों की अवधारणा न होने से ऐसी कोई रति-श्रेणी-भेद मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। फिर जब वे अनादि हैं, अजन्मा हैं। केवल नित्य विहार ही जिनके ध्येय है, जिन्हें ठकुरई सुहाती नहीं,[1] सारे अवतारों के स्वामी जो हैं[2] वह केवल व्रजलीलाओं में बन्धा नहीं हैं। भक्ति के विविध प्रकारों (संभवत: गौड़ीय पद्धतियों को ध्यान में रखकर) के प्रसार के लिये[3] अथवा रस के विस्तार के लिये ही यह युगल स्वरूप व्रजलीला करता है।[4] ऐसे युगल तत्त्व के बीच स्वकीया, परकीया, विरह, मान, प्रवास आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। न तो उन्हें गुरुजन का भय या संकोच है, न सोते का डर और न प्रवास आदि का ही प्रश्न उनके सामने है। परिणामस्वरूप वहां विरह और मान भी प्रेम की नित नवता के लिये उठने वाली तरंगे मात्र हैं—स्थूल विरह या स्थूल मान का प्रश्न ही नहीं उठता। देह का न्यारा हो जाना या अंचल की ओट हो जाना ही विरह है।[5] बल्कि कभी-कभी तो मिलन ही में विरह की अनुभूति होने लगती है,[6] इसी कारण मिलन में भी मिलन की चाह बनी ही रहती है।[7] गौड़ीय वैष्णवों ने इसे प्रेम-वैचित्य की अवस्था कहा है, पर जैसा कि पूर्व विवेचन में कहा जा चुका है यह विरह के चार प्रकारों में से एक है, एवं महाभाव की अवस्था में भी इस प्रकार का अनुभूति मानी गयी है। पर इन युगलविहार के रसोपासकों में अन्य दशाओं की चर्चा ही नहीं है। इसी

---

१. ताहि सुहाइ न ठकुरई बड़ो प्रताप बिस्तार

—बिहारिणिदास : रस के दोहे, १४२।

२. अंसकला सब अवतारिन अवतारी भरतार

—बिहारिणिदास सिद्धांत के पद, १४१।

३. श्री कृष्ण चरित्र घात्र भूवन बहुभक्ति भेद विस्तार वही

४. एक समैं विहरत बन मांही, कियो मतो विवि दुन की छांही।
यह निज रस कीजै विस्तारा, रसिक जननि को अति प्यारा।
रस निधि लीला ब्रज प्रगटाई, रसिक जननि कौ अति सुखदाई।

—ध्रुवदास: व्रजलीला ब० ली०, पृ० २५६।

५. ध्रुवदास, सिद्धांत विचारलीला, ब० ली०, पृ० ५०।

६. मिलैं तो जिय व्याकुल रहें, बिघुरे रह्यो न जाइ,
जहां अपुनपा भूलई, ता सुख सुखै समाइ ॥

—स्वा० बिहारिणिदास की साखी।

७. परम नेह की बात यह मो पै कही न जाय।
तनु मन सों प्यारी मिती तऊ लाल अकुलाय।

—ललित किशोरी देव:साखी १४०।

प्रकार मान के भी यहां स्थूल कारण नहीं हैं, पर मान में रस की जो प्रतिक्षण वर्द्धमान स्थिति होती है उसके लिये प्रिया-प्रियतम इस छद्म मान को भी धारण करते हैं। इसे लाड़ भाव भी कहा गया है—

अति प्रवीन हैं लाड़िली रतिपति चाह बढ़ाय।
लाड़ मान रूखी भई, कपट प्रगट मुसकाय ॥[1]

मान में मनाने का जो सुख है और रूठने में प्रिय के लगाव का जो अनुभव है उससे यह नित्य जोड़ी वंचित कैसे रह सकती है? इसी लिये उन्हें तूठने से रूठना अधिक पसन्द है:—

रुठनौ तूठनौ रस बूठनौ तूठनैं तैं अति रुठनौं भावै।
प्रेम प्रवीण प्रिया पिया आतुर चातुर केलिकला गुरु गावै।
नाहिं करै तब पाईं परै, हंस आसल यों मन मोद बढ़ावै।
श्री बिहारीदास के प्रेम अभंग सुरंग मैं रंग अनंग लड़ावै।
(विहारिणिदेव : सवैया, १४५)

ऐसे ये युगल केलि में रत रहते हैं। वास्तव में वे दोनों प्रेम के ही खिलौने हैं। प्रेम के खेल ही खेलते हैं, प्रेम के पुष्पों से ही उनकी प्रेमशैया रचित है। उनकी चितवनि, मुसुकानि प्रेम की ही है। प्रेम से रंजित बातें करते हैं एवं दोनों के मध्य प्रेम केलि मची है।[2] यों सूरदास ने भी कहा है कि प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है, प्रेम से व्यक्ति पार होता है, प्रेम से ही संसार बंधा है एवं प्रेम से ही परमार्थ की प्राप्ति होती है। और प्रेम का जो निश्चय है उससे गोपाल मिलते हैं। जबकि इन रसोपासकों को युगल नहीं युगल-केलि रस की वांछा रहती है और इसी में उन्हें रस मिलता है। उनके प्राणों का आधार यह निकुंज-माधुरी ही है।[3] नारद, शांडिल्य, भागवतकार आदि ब्रज देवियों के प्रेम को श्रेष्ठ बताते हैं।

---

१. ललित किशोरी देव : साखी, ६१४
२. प्रेम के खिलौना दोऊ, खेलत हैं प्रेम खेल।
प्रेम फूल फूलनि सों प्रेम सेज रची है।
प्रेम ही की चितवनि, मुसुकनि प्रेम ही की।
प्रेम रंगी बाते करें, प्रेम केलि मची है।
—ध्रुवदास (ललिता चरण गोस्वामी द्वारा गो० हित हरिवंश: सिद्धांत और साहित्य में पृ० १८२।
३. ध्रुवदासः सिद्धांत विचार लीला, ब० ली० पृ० ४५।

'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में गौतमीय तन्त्र का उल्लेख हुआ है कि "प्रमैव व्रज-गोपरामाणांकामं इत्यगमत् प्रथाम्।[1] पर कहा यह जाता है कि उनके काम में कृष्ण-सुख की चाह ही अधिक थी। कृष्णदास कविराज ने भी गोपी-प्रेम को 'कृष्ण सुखैक तात्पर्यप्राप्त' ही कहा है। पर वास्तव में अंग-संग द्वारा सुख तो वहां प्राप्त होता है और इस प्रकार से शारीरिकता की गन्ध बनी ही रहती है। पर इन रसोपासकों ने सहचरियों को केवल इस निकुंज माधुरी-रस से ही आप्यायित होना माना है और इसीलिये इसे गोपियों के प्रेम से भी ऊपर कहा है :—

गोपिनु के सम भक्त आहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं,
तिन मन कछु सकामतां आई, तातें बिच अन्तर परयौ माई।
दुख कौ मूल सकामतां, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहां कछु रस में ध्रुव सुखधाम।[2]

इन गोपियों के मन में तनिक भी विकार नहीं है। इस बात को स्वयं राधा भी जानती हैं कि जो उनको अच्छा लगता है वही सखियों को भी रुचता है—

मो मन मोहे सांवरो मेरे नहीं विकार।
हौं तोहि पूछों लाड़िली ताकौ कहा विचार।
तब हंसि बोली राधिका सखि कत पूंछत मोहि।
जो मेरे मन में बसैं सो मोहत है तोहि।।

—स्वामी रसिक देव: सि० के दोहा ५, ६।

सहचारियां इस रस क्रीड़ा की अनिवार्य अंग हैं। 'सखी' सम्प्रदाय में तो हरिदास स्वामी को खिलाड़ी तथा लाड़िली लाल को खेल कह दिया गया है। इस प्रकार खेल खिलाड़ी के वश में रहता है।[3] प्रेम की उत्तुंग तरंगों वाली नदी में विहार के आवर्त में पड़े युगल को सखी ही अपने साहस से किनारे लाती हैं।[4] यह लीलारस सखियों

---

१. प्रस्तुत लेखक को गौतमीय तंत्र की उपलब्ध प्रति में यह कथन प्राप्त नहीं हो सका है।

२. ध्रुवदास: अनुरागलता लीला, बयालीस लीला पृ० २४०-२४१।

३. ललितकिशोरी देव: सिद्धांत की साखी ७७३ एवं ८४१।

४. तरुन तरंगिनि में परे उरझे वार सिवार।
पैरहिं साहस सखी के अति आवर्त विहार।।१२९
श्रमहिं निवारत कर धरत, कबहूँ लावत तीर।
श्रीबिहारिनिवास हुलास मन देत अधीरन पीर।१३०
—बिहारिणिदास: सिद्धान्त दोहा।

के लिये ही है।[1] इन सखियों का प्रेम सर्वोपरि है, इसके ऊपर न और सुख है न और रस।[2] लाल लाड़िली के प्रेम से ही इन सखियों का प्रेम भी सरस है :—

लाल लाड़िली प्रेम ते सरस सखिनु को प्रेम।
अटकी हैं निजु प्रेम रस, परसत तिनहिं न नेम।[3]

सखियाँ ही इस रस की इस प्रकार प्रेरक भी हैं। और वे इस प्रेम-रस का आस्वादन भी करती हैं। युगल-रूप भी रस-रूप है—'रसोवैसः' तथा भोक्ता और भोग्य (लाल और लाड़िली) रूप में प्रकट होकर आस्वादक भी हैं। इस प्रकार हम कह सकेते हैं कि रस ही कार्य है, रस ही कारण हैं और रस ही प्रयोजन है।[4] प्रिया प्रियतम एक हैं, वे रस के लिये ही दो हैं और जीव स्थानीया सहचरियों का भी परम प्रयोजन इस रसकेलि का आनंद लेना है। गौड़ीय वैष्णव 'प्रेमा पुमर्थो' महान् तक पहुँचे थे, पर इन्होंने एक कोटि और आगे स्थापित की कि युगल प्रेम का रस ही परम पुरुषार्थ है। केवल प्रेम कह देने से तो स्वयं भगवान् के प्रति किसी भी भाव से (प्रिया भाव से भी) भजन हो सकता है, पर इस रसचिन्तन में इसके लिये अवकाश नहीं छोड़ा गया। रसिक उपासक का प्रेम युगल-स्वरूप लाल-लाड़िली की प्रेम-मदन मयी केलि से रस रूप बना रहता है। जो प्रेम श्यामा-श्याम के हृदयों में प्रवाहित है, उसी का प्रकाश उपासक के चित्त में भी है। इस प्रकार यह रस अनुकार्य-निष्ठ होते हुए भी सामाजिकनिष्ठ भी हो जाता है। इसे विवेचकों ने 'वृन्दावन-रस'[5] कहना चाहा है। वृन्दावन-रस इसलिए कि इसमें ब्रजलीला का मर्यादाएँ नहीं हैं। यों इसे उज्ज्वल रस, मधुर-रस आदि नामों से प्राचीन वाणीकारों ने अभिहित किया है। इस रस की प्रकृति को ठीक ही पहचान कर हरिराम व्यास ने कहा था :—

---

१. **दिव्य केलि कल जगल विराजैं।**
लीलारस सखियन हित काजैं।
—गो० हितरूपलाल: रस रत्नाकर, हस्तलिखित प्रति।

२. **ध्रुवदास: सिद्धांत विचार लीला, ब० ली०, पृ० ४५**

३. **वही, प्रेमलता लीला ,, २४५**

४. **जब रसिकन नै रस सुनि पायो, रसै समुझि रसिकन में आयो।**
रस स्वादी रस स्वाद बतायो, स्वाद पाइ रस गाइ बताओ।
—स्वा० बिहारिणिदास: रस के चौबोला, सं० १५।

५. **रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊँ, वृन्दावन रस कछु इक गाऊं,**
—ध्रुवदास : रस मुक्तावली, ब० ली०, पृ० १४७।

यहि रस नवधा भक्ति उबीटी,
रति भागौति कथा की।
रहनि कहनि सब ही तें न्यारी,
'व्यास' अनन्य सभा की।

—व्यास वाणी, पद ७६ (भ० कवि० व्यास जी, पृ० २११)

रस सम्बन्धी इन अन्तरों के होते हुए भी यह भक्ति अपने चरित्र और स्वभाव में रागानुगा ही है। ब्रज के जनों की भक्ति रागात्मिका कही गयी है तथा उनका अनुकरण करने वाली भक्ति रागानुगा है जिसमें कि विधि-निषेव की मर्यादा नहीं होती। कूलों को उचारती नदी सी इसकी गति होती है। ठीक वही स्थिति नित्यविहारोपासकों की भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ ब्रज के परिकर में अनेक भावनाओं वाले व्यक्ति हैं पर यहाँ पाँच सखियाँ हैं अतः उन सखियों के ही गुणों का गान करते हुये उनकी सेवा को ही हृदय में विचारते रहना चाहिए। ध्रुवदास ने 'सिद्धांत-विचार लीला' में स्पष्ट कहा है या रस की अधिकारनी सखी हैं कै जिन भक्तनि के सखियन को भाव है।[1] उनका निर्देश है कि "इनको भाव धरि याही रस की उपासना में कपट छांड़ि भ्रम छांड़ि निशिदिन मन दें यह विचार में रहै।"[2] अन्यत्र उन्होंने सखियों के नाम, रूप एवं क्रिया आदि की चर्चा करते हुये कहा है कि 'गौतमी तंत्र' में इन सबके नाम दिये हुए हैं, सबसे प्रथम इनके चरणों की वन्दना करके स्यामास्याम का सेवन करो। सखियों की इस सेवा को जो नित्त विचारता रहता है उसे यह प्रेम-रस निश्चित ही मिलता है तथा उसी सुख से उसका चित्त रंगीन रहता है।[3] इस स्थिति पर पहुँचने के लिये आवश्यक है कि मन से पुरुष-भाव एकदम समाप्त हो जाय। रागानुगा की श्रेष्ठतम अवस्था यही तो है, जब भक्त अपनी भौतिक देह के स्थान पर भावदेह ग्रहण कर लेता है।[4] नित्य विहार की इस साधना का परिणाम और फल यही है कि जब तक यह हाड़-माँस का शरीर है तब तक प्रिया का भजन एवं तन छूट जाने पर प्रिया के संग के नित्य परिकर में प्रवेश।[5] रागानुगा के समान ही विधिनिषेध के जंजाल

---

१. ध्रुवदासः ब० ली०, पृ० ४६।

२. वही, पृ० ४५।

३. वही, रस मुक्तावली लीला, पृ० १५२।

४. सखी भाव तब जानिये, पुरस भाव मिट जाई
—स्वा० रसिकदेवः सिद्धांत के दोहा, १३।

५. जौं तन रहे तो प्रिया भजै, तन छूटे प्रिया संग,
दोउ विधि आनंद अति निरखैं केलि अमंग।
—ललित किशोरी देवः साखी ३२३।

को दूर करके ही स्वा० हरिदास की पद्धति प्रारम्भ हुई है ।[1]

श्री बांके बिहारी जी की सेवा पद्धति में स्वा० हरिदास जी ने विधि-निषेध को निकालकर रसोपासकों की माधुर्य की भावना के अनुकूल पूजा-पद्धति बताई ।[2] राधावल्लभ संप्रदाय के मुख्य भक्त एव सिद्धांत प्रतिपादक सेवक जी का भी मत है 'या रस में विधि नहीं निषेध, तहां न लगन ग्रहन के वेध, तहां कुदिन दिन में कछु नहीं । नहीं शुभ अशुभ मान अपमान, स्नान क्रिया जप तप नहीं ।[3] भक्ति में न जनेऊ का प्रश्न है न जाति का ।'[4] वास्तव में विधि-निषेध के बन्धन तो अन्य धर्म रूपी मृगों के लिये हैं, भागवत धर्म तो केहरि के समान निर्बन्ध है, उसके लिये इन नियमों की क्या आवश्यकता ।[5] यहीं पर इतना ध्यान दिला देना हम आवश्यक समझते हैं कि विधि-निषेध की मर्यादा के उल्लंघन का तात्पर्य सामाजिक आचार एवं नैतिक मर्यादाओं का अस्वीकरण नहीं है । समस्त भक्ति संप्रदायों में नैतिकता, वैराग्य, परोपकार, निरभिमानता, अक्रोध, करुणा और सहानुभूति आदि नैतिक मानवीय मूल्यों को महत्त्वपूर्ण माना गया है । इन भक्तों का नैतिक प्रदेय वास्तव में अपने आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, इसीलिये हम उसे यहाँ विस्तार से विवेचित नहीं कर रहे हैं । विस्तार में जाना हमारे लिये प्रसंगान्तर भी होगा । वस्तुत: विधि-विषेध के अस्वीकरण का तात्पर्य मात्र इतना है कि बाह्य साधनों पर अधिक अवलम्बित रहने की अपेक्षा अपने वैयक्तिक परिष्कार, चिन्तन (कन्टेम्प्लेशन) एवं प्रभुकृपा पर अधिक विश्वास रखना चाहिए । इन संप्रदायों में साधन भक्ति (वैधी भक्ति, मर्यादा भक्ति, गौणी भक्ति, विहिता भक्ति, अपरा भक्ति, शास्त्र-भक्ति आदि) का कोई स्थान न होकर मात्र फल-भक्ति (रागानुगा, प्रेमा, परा, अविहिता, साध्य, पुष्टि आदि) का ही विवेचन हुआ है ।

---

१. रसिक अनन्य हरिदास जू, गायो नित्य विहार,
सेवा हू में दूरि किय विधि निषेध जंजार।
—ध्रुवदास : भक्तनामावलि लीला पृ० २८ ।

२. गोपालदत्त शर्मा: स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उनका वाणी साहित्य, पृ० ४४१ (अप्र० प्र०) ।

३. सेवक वाणी, पृ० ८२ ।

४. "भक्ति में कहा जनेऊ जाति",
—हरिराम व्यास: पद १०४ (भक्त कविव्यास जी, पृ० २१७) ।

५. विधि निषेध के बन्ध हैं और धर्म मृग मानि ।
केहरि पुनि निर्बन्ध है, भगवत धर्मंहि जान ।
—ध्रुवदास: भजन संत लीला, ब० ली० पृ० ७२ ।

रामोपासक संप्रदायों में भी रागानुगा भक्ति ही विकसित हुई है। जो छोटे-मोटे अन्तर प्राप्त होते हैं, वे राम की ऐतिहासिक—पौराणिक लीला के आग्रह के कारण हैं। जब कि कृष्ण के प्रसंग में द्वारका-मथुरा की लीलाओं को उपेक्षित करके माधुर्य-भाव को ही सर्वोत्तम बताया जा सका था, वहीं पर राम का राजा रूप इतना अधिक प्रतिष्ठित था कि उसकी उपेक्षा संभवतः साधारणी-कृत भावन के विपरीत बैठती। इसी कारण माधुर्य के साथ ऐश्वर्य-भाव भी उस साधना में प्रतिष्ठित बना रहा।[1] ऐश्वर्य भाव की इस स्वीकृति के कारण परिकर, धाम, सेवाविधि एवं भाव सम्बन्धों में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। जिस समय नित्यविहारोपासना में लोग स्वीकार करते हैं, उस समय भी ऐसे जनों की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। जो राज्य की व्यवस्था करते हैं, परामर्श देते हैं या अन्य ऐसी व्यवस्थाएँ करते हैं जिससे कि युगल के विहार में व्याघात न उपस्थित होने पाये। परिकर का यह विस्तार हो जाने से शान्त, दास्य, सत्य या वात्सल्य के वे संबंध जीवित रूप से स्वीकृत हो जाते हैं जिनका कृष्ण-भक्ति-माधुर्य के वेग में कृष्णोपासक संप्रदायों में अभाव हो गया था। राजा को राजभवन में अनिवार्य रूप से रहना ही चाहिए, बन-विपिन उनके लिये कुछ काल के लिये ही हो सकते हैं। इसी कारण वृन्दावन धाम जैसी कल्पना इस संप्रदाय में नहीं हुई। कनक-भवन अवश्य कल्पित हुआ पर वृन्दावन का जैसा माहात्म्य प्रतिष्ठित नहीं हुआ। वास्तव में रामोपासकों में सखी-भावना एवं गोपी-भावना जैसा स्पष्ट अंतर बहुत विकसित नहीं हुआ। सीता की भी श्रेष्ठतम परिणति इस संप्रदाय में वैसी नहीं हुई जैसी कि कृष्णोपासक, राधावल्लभीय या ललित-संप्रदाय में हुई है। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि रामोपासकों में विविध संप्रदायों का स्पष्ट विभाजन एवं धारणाओं का स्पष्ट अन्तर नहीं हुआ। गद्दियां एवं अखाड़े अलग हुए पर जैसे संप्रदाय वृन्दावन में अलग-अलग विकसित हुए हैं उसका रामोपासकों में अभाव रहा है। इसी कारण रामोपासना अधिक समन्वय-प्रधान रह सकी है। संभवतः इसी कारण डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने उसे 'मध्यम मार्ग' की साधना कहा है।[2] परन्तु इन कतिपय लीला-संबंधी अंतरों के होते हुये भी रस-दृष्टिकोण रामोपासकों का गौणीय वैष्णवों से अभिन्न है। जो कुछ वहाँ कृष्ण एवं राधा को

---

१. गहि केवल ऐश्वर्य करि, माधुरि रीति में अंक।
तेहि न उपासक मानिये, महारुक्ष मति रंक॥
गहि केवल माधुर्य पुनि, धरैं न चित्त ऐश्वर्य।
रसिक ताहि नहि मानिये, राम उपासक वर्य॥
—जनक राज किशोरी शरण : रसिक अली। अनन्यतरंगिनी पृ० ३।

२. रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय, पृ० १४८।

ध्यान में रखकर कहा गया है, उसी को राम एवं सीता तथा परिकर के लिये अपने पक्ष में मोड़ लिया गया है। मूल रस-दृष्टि की इस एकता के कारण ही हम उसका अलग से विवेचन नहीं कर रहे हैं।

जहां तक निर्गुणवादियों के रस-दर्शन का प्रश्न है, उसे पंच भक्तिरसों के विभाजन के अन्तर्गत लाया तो जा सकता है, परन्तु एक विशिष्टता को ध्यान में रखना होगा कि वे लोग किसी प्रकार की ऐतिहासिक-पौराणिक सगुण-लीला एवं अवतारतत्त्व को स्वीकार नहीं करते। इस कारण रागानुगा विधि उन पर लागू नहीं होती। अपने भीतर पूर्ववर्ती किसी व्यक्ति के भावों को जगाने के स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से (बिना किसी माध्यम के) प्रभु से संबंध जोड़ते हैं। पर प्रभु की कोई सगुण-साकार कल्पना भी उन्हें स्वीकार नहीं है, दूसरी ओर भक्ति में प्रभु के साथ एक निजी संबंध की कल्पना अनिवार्य है। इस द्वैध स्थिति में एक ही रास्ता शेष रहता है कि भगवान् के लिये प्रतीक-पद्धति में ही वे जनक, जननी, स्वामी, व राजा, प्रियतम या भरतार हो जाते हैं। एवं भक्ति के आवेश में जब ये प्रतीक वास्तविकता ग्रहण करने लगते हैं तो उसे हम रागात्मिका भक्ति कह सकते हैं न कि रागागुगा।

सूफ़ियों में भी प्रेम-प्रतीक वाली भाव-पद्धति ही स्वीकार्य है, पर काव्य के क्षेत्र में उसका प्रकाशन कहानी के माध्यम से होता है। स्पष्ट है कि कहानी में पात्र घटनाएँ, परिस्थितियाँ एवं स्थल विशेष होंगे। इस रूप में एक प्रकार की लीला-कल्पना अपने आप हो जाती है सूफी साधक इस प्रकार सगुण-लीला-गायकों के कुछ निकट आते प्रतीत होते हैं। पर एक दूसरा अन्तर यहां ध्यान में रखना होगा: सगुणोपासकों की लीला ऐतिहासिक एवं पौराणिक सन्दर्भों द्वारा अनुकूलित होकर जन-मानस में प्रतिष्ठित रहती है एवं गौड़ीय वैष्णवों आदि को उस सीमा के भीतर ही सिद्धांत-कथन तथा कलात्मक अभिव्यंजनाएँ करनी पड़ी हैं। पर सूफ़ियों के सम्मुख ऐसा कोई बन्धन नहीं रहता। वे कथा का संघटन, प्रतीकों एवं अभि-प्रायों का प्रयोग अपने मनोनुकूल करने के लिये स्वतंत्र होते हैं। इतना ही नहीं, कथा के ये पात्र, घटनाएँ आदि भी प्रतीक ही होते हैं। अतः यदि कहानी का तत्त्व अलग कर दिया तो अपनी प्रतीक-पद्धति एवं भक्ति-योजना में ये निर्गुणोपासकों के निकट आ जायेंगे। इतना अवश्य है कि कहानी तत्त्व एवं सुन्दर वस्तु में परमात्मा का स्वरूप देखने की प्रवृत्ति के कारण सूफ़ियों की अभिव्यक्तियाँ अधिक भाव-प्रवण एवं रसात्मक प्रतीत होने लगती हैं।

अगले अध्याय में हम इन विविध भक्ति-संप्रदायों के सैद्धांतिक रूप को अधिक विस्तार से विवेचित करेंगे। उपास्य, धाम, परिकर, उपासना-भाव एवं लीला-तत्त्व का यह विस्तृत विवेचन इन संम्प्रदायों के साहित्य को समझने की समुचित दृष्टि दे सकेगा।

परिशिष्ट-क [भक्तिरस संबंधी विविध चार्ट]

डॉ० सुशीलकुमार दे के आधार पर

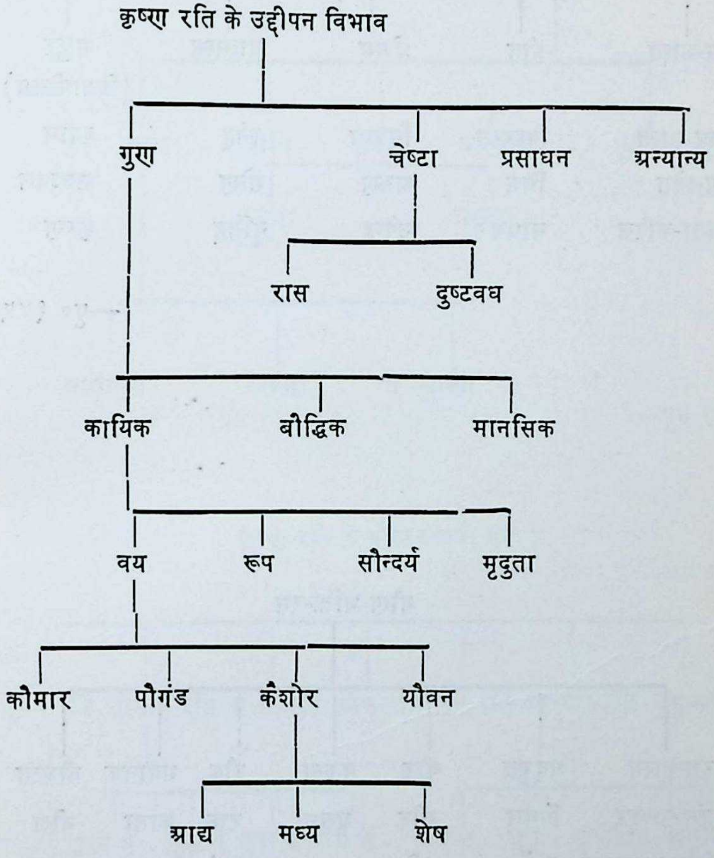

—वै० फ़े० मू०, पृ० १३८

मुख्य भक्ति रस

रस-शान्त	प्रीत	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर (प्रियाप्रीतम)
भाव-शान्त	विश्वस्त	मित्रता	स्नेह	श्याम
रंग-श्वेत	चित्र	अरुण	शोण	उज्ज्वल
देवता-कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

—पृ० १४५

गौण भक्ति-रस

रस-हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रंग-पाण्डुर	पिंगल	गौर	धूसर	रक्त	काला	नील
देवता-बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भार्गव	वाराह	मत्स्य

—पृ० १४५

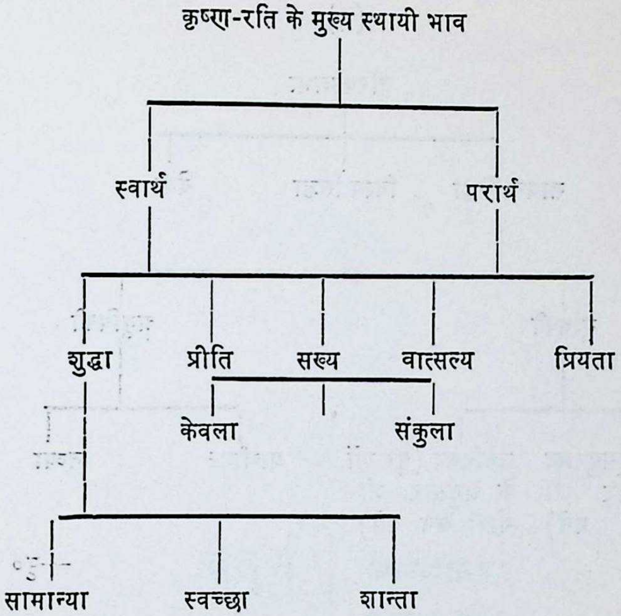
कृष्ण-रति के मुख्य स्थायी भाव
स्वार्थ
परार्थ
शुद्धा
प्रीति
सख्य
वात्सल्य
प्रियता
केवला
संकुला
सामान्या
स्वच्छा
शान्ता

—पृ० १४४

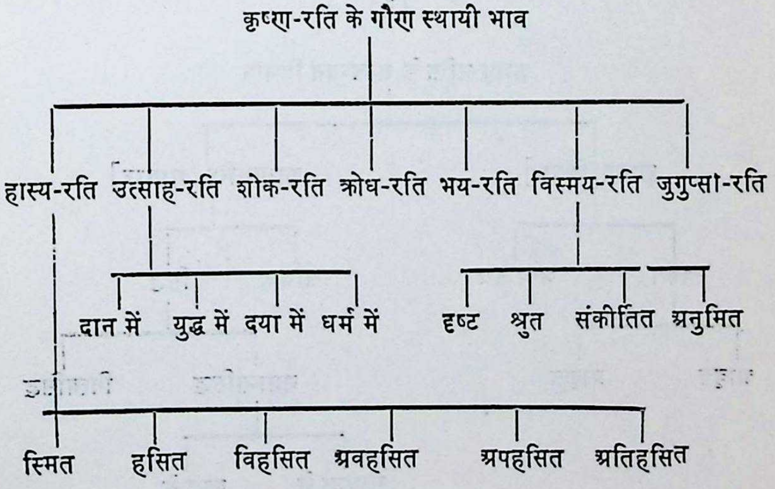
कृष्ण-रति के गौण स्थायी भाव
हास्य-रति
उत्साह-रति
शोक-रति
क्रोध-रति
भय-रति
विस्मय-रति
जुगुप्सा-रति
दान में
युद्ध में
दया में
धर्म में
दृष्ट
श्रुत
संकीर्तित
अनुमित
स्मित
हसित
विहसित
अवहसित
अपहसित
अतिहसित

—पृ० १४४

(१)

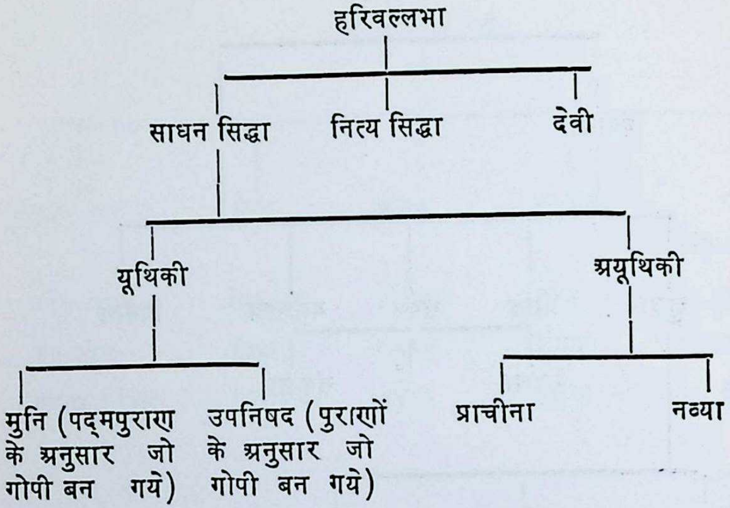

—पृ० १५६

(२)

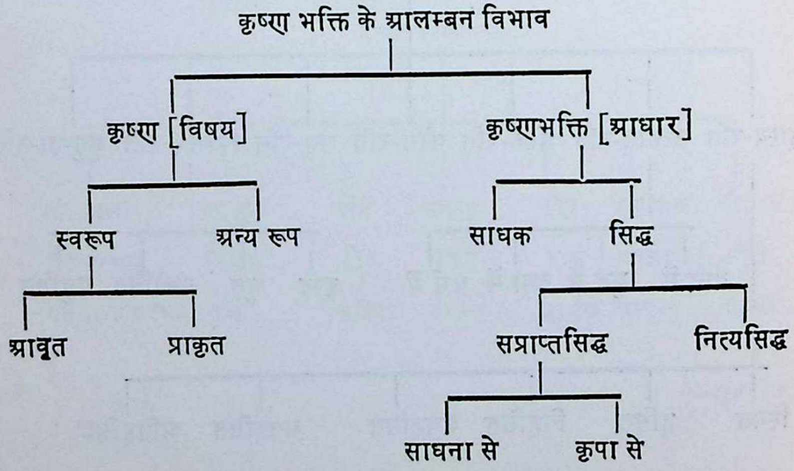

—पृ० १३६

चतुर्थ अध्याय

प्रेमाभक्ति का साधना-दर्शन

लीला-तत्त्व का परिप्रेक्ष्य

पीछे हम व्रज-लीला एवं वृन्दावन अथवा निकुंज-लीला का अनेक बार उल्लेख कर चुके हैं। व्रज एवं निकुंज-लीलाओं के पीछे स्थित धारणाओं का मुख्य अंतर लीलाओं के इन स्वरूपों को लेकर हुआ है। मध्य युग के वैष्णव-साहित्य की दो मुख्य विशेषताएँ कही जाती हैं—लीलावाद तथा मधुर रस की प्रधानता। यों तो हरिलीला-तत्त्व की परम्परा विद्वानों ने वेदों से ढूंढ़ निकाली है।[1] पर उसके ऐतिहासिक क्रम-विकास को दिखाना हमारा उद्दिष्ट कार्य नहीं है। इस ऐतिहासिक क्रम-विकास में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात है कि लीला सृष्टि-क्रिया से आगे बढ़ कर स्वरूप-शक्ति से संबंधित हो जाती है। प्रारम्भ में सृष्टितत्त्व की व्याख्या के रूप में ही लीलातत्त्व सम्मुख आता है, मूल में इसके शक्तितत्त्व था। शक्तितत्त्व मातृसत्ताक प्रथा का प्रदेय है धर्म-साधना को। शाक्त ग्रन्थों में विश्वव्यापिनी आद्याशक्ति को योनिरूपा कहा गया है। पांचरात्रों में भी परमात्म धर्मधर्मी लक्ष्मी-रूपा शक्ति को जगत की योनि संबोधित किया गया है।[2] इसी पांचरात्र संहिता में भगवान् पुरुषोत्तम को 'लीलारस समुत्सुक' भी बताया गया है।[3] इस प्रकार स्त्री-पुरुष-मिथुन के प्रतीक-रूप में यह कल्पना आ जाती है। शैव दर्शनों में भी 'प्रसरच्छक्तिकल्लोल जगल्लहरि केलये' कह कर धारामयी शक्ति के कल्लोल के अन्दर से ही संसार रूपी लहरी की संभूति मानी है। इस जगत्-लहरी को लेकर ही परमेश्वर केलि या लीला करते हैं। इस प्रकार लीला का क्षेत्र बहि:सृष्टि तक रहा। पर श्री वैष्णवों ने लीलावाद को ब्रह्म की स्वरूपभूता शक्ति के साथ संबद्ध कर दिया। पद्म पुराण में भी इस संबंध में एक अस्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जिसमें कि परव्योम (विष्णु के स्वधाम) को भोगार्थ एवं निखिल जगत-लीला के लिये कहा गया है। भोग में ही उनकी नित्य स्थिति

---

१. डॉ० मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूर साहित्य-चतुर्थ अध्याय।

२. या च सा योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी—अहिर्बुध्न्य संहिता-५९।७।

३. वही ४१।४

भी स्वीकार की है। भोग और लीला दोनों ही उनकी शक्तिमत्ता पर आधृत है[1] पर अभी भोग शब्द लीला से अलग बना हुआ है। श्री वैष्णवों ने उसे पूरी तरह स्वरूपशक्ति के साथ संबंधित कर दिया। यामुनाचार्य ने जिस भाव-विभोर कंठ से लीला-गान किया है, परवर्ती वैष्णव काव्य की रस-विदग्ध लीलाएँ दार्शनिक दृष्टि से भी ठीक उसकी परम्परा में ज्ञात होती हैं :—

अपूर्वनानारसभावनिर्भर-प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया।
क्षणाणुवत् क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयेत महिषीं महाभुजाम् ॥[2]

अर्थात् परादिकाल जहाँ क्षण के समान नगण्य हैं, ऐसी अपूर्व नाना रस-भाव निर्भर, प्रबुद्ध, मुग्ध और विदग्ध लीला द्वारा ही विशाल भुज (पुरुषोत्तम) अपनी वल्लभा को हर्षयुक्त कर रहे हैं।

इस उद्धरण में निर्भ्रान्त रूप से लीला स्वरूप-शक्ति के साथ संबंधित ही नहीं होती, मधुरता की ओर भी प्रयाण करती है। इसी से मिलाकर बारहवीं शती में रचित लीलाशुक बिल्वमंगल के कृष्ण-कर्णामृत का निम्न श्लोक पढ़ा जाय तो ज्ञात होगा कि यामुनाचार्य में जो लीला वर्णनमात्र है वह भक्त का प्रयोजन बन जाती है। श्लोक यों हैं :—

यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां
ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखा :
ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीला मुखाम्भोरुहे
धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे ।[3]

अर्थात् तुम्हारा जो चरितामृत धन्यात्माओं द्वारा आस्वादन योग्य है तथा शैशव एवं चपलता से उत्पन्न राधा के अन्तःपुर (में केलि करने के लिए) की ओर उन्मुख जो क्रीड़ाएँ हैं अथवा तुम्हारे मुखारविन्द पर जो भावयुक्त वेणु-गीत गति लीलाएँ हैं, वे ही धारावाहिक रूप से निरन्तर मेरे हृदय में बहती रहें।

इस प्रकार स्वरूपशक्ति के साथ की जाने वाली ये लीलाएँ प्रधान ही नहीं हो उठती हैं, उनका आस्वादन परमपुरुषार्थ भी बन जाता है। लीला-दर्शन, लीला-आस्वादन एवं लीला-गान ही भक्तों का ध्येय बन जाता है। सहस्रों कवियों, भक्तों ने लक्ष-लक्ष पदों में नाना भाव से इसी को उपलब्ध करना चाहा है। स्वयं

---

१. पद्म पुराण २२७।९-१०।
२. यामुनाचार्य : श्री स्तोत्र रत्न : ४४।
३. लीलाशुक कृष्णामृत १०६।

जयदेव ने भी दूर से ही इस लीला को गाया है।[1] बहिर्लीला का एक प्रयोजन था—सृष्टि-रचना पर इस स्वरूप-लीला का कोई प्रयोजन नहीं रहा। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कर दिया—"नहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति, लीला एवं प्रयोजनत्वात्।"[2] इस दृष्टिकोण की ही तर्कसिद्ध परिणति है जब यह कहा गया कि लीला-ग्रास्वादन ही अपने ग्राप में चरम ध्येय है, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति भी नहीं। मध्य युग का सारा वैष्णव साहित्य इस दृष्टिभंगी से पूरी तरह ग्रनुरंजित है। यहीं पर यह याद कर लेना भी ग्रनुचित न होगा कि साहित्य की प्रेमदेवी राधा जब वैष्णव तत्त्व-दर्शन से सम्पृक्त हुई तो वे साक्षात् भगवान की स्वरूप शक्ति की श्रेष्ठतमवृत्ति ह्लादिनी शक्ति की सारभूत विग्रह मान ली गयीं। उन पर ग्राधारित सारा प्रेम-काव्य इस नव-तत्त्वदर्शन के ग्रालोक में एक नये ग्रर्थ से भर ही नहीं उठा, उससे ग्रागे के साहित्य के लिये जो राजपथ उद्घाटित हुग्रा वह १९वीं शताब्दी तक बराबर जनाकुल बना रहा।

पद्मपुराण के पीछे उद्धृत ग्रंश में परव्योम को ही भोगार्थ कहकर उसके धामत्त्व का संकेत किया था। परन्तु ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक ग्रनेक उपादान ग्रादि ग्रा जुड़े तो व्रज, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन, गोलोक, श्वेत-द्वीप, साकेत-ग्रयोध्या ग्रादि तत्स्थानीय बन गये। इसी क्रम में परिकर, उनके नाम-रूप-सेवा, उपास्य एवं परिकर के मध्य विविध संबंध ग्रादि भी सम्मिलित एवं विवेचित होते गये। परवर्ती वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों के ग्रन्तर मुख्यतः इन विस्तृतियों को लेकर ही हैं। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन, ज्ञान एवं ग्रास्वादन सबका काम्य है (निर्गुणियों एवं सूफियों की चर्चा हम ग्रलग से करेंगे)। इस संबंध में हमें तनिक भी मत-वैभिन्य प्राप्त नहीं होता। सभी इस लीला की मुख्य प्रवृत्ति प्रेम, रति या भक्ति का जयगान करते हैं। पर इसके बाद ग्रनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं—युगल का स्वरूप क्या है? उनमें से प्रत्येक का ग्रलग-ग्रलग स्वरूप एवं गुण तथा पारस्परिक संबंध क्या है? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर ग्रनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएँ कौन सी हैं? शास्त्र-पुराण-वर्णित या ग्रौर कोई? ये लीलाएँ कहाँ पर होती हैं तथा उस धाम का स्वरूप, गुण एवं प्रभाव क्या है? इस लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन-कौन है? उनके नाम, रूप, गुण, क्रिया एवं संबंध क्या हैं? साधक के लिए इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? ये ही कुछ प्रश्न हैं जिन पर विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में हमें मत वैभिन्य दिखाई पड़ता है ग्रौर जिनके

१. राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः—जयदेवरचित गीत गोबिन्द श्लोक १।
२. वल्लभाचार्य : ग्रणुभाष्य, पृ० ६०१ (ब्रह्मसूत्र २।१।३३ का भाष्य)।

आधार पर प्रत्येक अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा करता है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों की चर्चा करते हुए इन विविधताओं, पृथकतासूचक तत्त्वों अथवा समानताओं का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण, राधा, वृन्दावन, गोपा एवं सखी-संबंधा धारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन

उपास्य, धाम एवं परिकर का स्वरूप

उत्तर मध्य-युग की समस्त हिन्दी-काव्य-धारा राम और कृष्ण इन दो नामों के चतुर्दिक ही प्रवाहित है। इन दोनों नामों में इतिहास एवं तत्त्वदर्शन का कुछ ऐसा विचित्र मेल हो गया है कि इनका व्यक्तित्त्व अश्रुतपूर्व आकर्षण से भर उठा है। यद्यपि हमारे आलोच्य काल तक आते-आते इन देवताओं का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था, परन्तु फिर भी नयी-नयी लीलाएँ कल्पित होती रहीं, नये संदर्भ में वे प्रतिष्ठित किये जाते रहे। सारांश यह कि संवत् १५०० से सं० ९०० वि० तक के काल में उनका रूप निरन्तर नवनवायमान ही रहा। उनकी रूप-माधुरी, उनकी लीला, उनका विलास, उनका अनुग्रह अप्रतिरोध्य गति से हिन्दी-प्रदेश के जन-मानस में संचरण करता रहा। वे कृष्ण बने, गोपीवल्लभ हुए, राधा-अधर-सुधा-लंपट, हुए कुंज-बिहारी हुए, भक्त पर सहज अनुकम्पा, का वारि बरसानेवाले वारिद भी बने। मथुराधीश, द्वारकापति, रुक्मिणीकान्त, गोपसखा, नन्दपुत्र, यसोदा-सुवन आदि नाना प्रकार के स्वरूप भी उनके हुए। राम शार्ङ्गपाणि जो धरा का भार हटाने आये थे तथा गीता में जिनके लिये कहा गया था—रामः शस्त्रमृतामहं, वे भी तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम बने ; पर वहीं तक न रुक कर और विकास होता है। इस विकास में परिकर द्वारा नाना भाव से सेवित और उपास्य तो हैं ही, साथ ही—"जांनक्य सह संप्रीतः क्रीड़ारसविलम्पटः" तथा "महारासरसोल्लासी विलासी सर्वदेहिनाम्" भी हो गये। आगे विविध सम्प्रदायों की अवधारणाओं के अनुसार इन लीला-विग्रहों का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में कृष्ण, उनके धाम एवं परिकर-सम्बन्धी धारणा

गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है। ब्रह्म को साधारणतया निर्विशेष माना जाता है, पर इस सम्प्रदाय में वे सविशेष एवं सशक्तिक

हैं। भागवत के श्लोक :—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्यते।—१।२।११

में कहे गये ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् इन तीनों शब्दों में भगवान् शब्द को ही स्वीकार करके सर्वोच्च माना गया। दार्शनिक दृष्टि से शक्ति-प्रकाश के प्रकार भेद और तारतम्य को लेकर एक ही अद्वय-अखंड परमतत्त्व की तीन अवस्थाएँ ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् हैं। पर भगवान् में सभी शक्तियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रहती हैं, इसलिये उनको इस मत में श्रेष्ठतम माना गया है।[१] इसके पश्चात् भागवत के आधार पर कृष्ण को स्वयं भगवान माना गया।[२] इस प्रकार कृष्ण ही अवतारी हैं, शेष अवतार हैं।[३] पुरुषावतार, गुणावतार लीलावतार सब उन्हीं के प्रकाश हैं। अद्वय-ज्ञान और तत्त्ववस्तु कृष्ण ही हैं[४] तथा कृष्णदास कवि राज के अनुसार :

कृष्ण एक सर्वाश्रय कृष्ण सर्वधाम,
कृष्णेर शरीरे सर्व विश्वेर विश्राम,[५]

वे सर्वकारण कारण हैं[६]। वे विरुद्ध धर्माश्रय हैं[७]। यों तो भगवत्-तत्त्व की अनन्त शक्तियाँ हैं पर इनमें तीन प्रधान हैं—स्वरूपशक्ति, माया शक्ति और जीव-शक्ति। इन्हें अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था शक्ति भी कहते हैं[८]। अंतरंगा, या स्वरूपशक्ति सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण का स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है अतः यह स्वरूप-शक्ति भी तीन प्रकार की है। आनन्द वंश से उद्भूत शक्ति ह्लादिनी

---

१. जीव गोस्वामी, तत्त्व-सन्दर्भ (षट् संदर्भ, संस्करण)।
२. एते चांशकलाःपुसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम्—भागवत् १।३।२८।
३. अवतार सब पुरुषेर कला अंश स्वयं भगवान् कृष्ण सर्व अवतंस
चै० च०, आ० ली०, परि० २, पृ० १४।
४. वह पृ० १४।
५. वही पृ० १६।
६. ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम्। ब्रह्म-संहिता ५-१।
७. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह-पृ० ५८।
८. शक्तिश्चत्रिधा, अन्तरंगा बहिरंगा तटस्था च
—जीव गोस्वामी : भगवत्संदर्भ, पृ० ६५।

और सत् अंश से उद्भूत शक्ति सन्धिनी और चिद् अंश से उद्भूत शक्ति संवित कहलाती है।[1] स्वरूप-शक्ति के इन प्रकारों की चर्चा हम आगे श्री राधा के प्रसंग में करेंगे। वहीं पर हम देखेंगे कि गौड़ीय वैष्णव मतवाद में इनका स्थान कितना महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। बहिरंगा या मायाशक्ति है जो जगत का कारण है तथा तटस्था-शक्ति जीवशक्ति है जो अनन्त है।[2] इस शक्ति-कल्पना के पीछे विष्णु-पुराण की परा-क्षेत्रज्ञ-अविद्या शक्तियों का कथन विद्यमान है। स्वयं जीव गोस्वामी ने उन्हें प्रमाण रूप में उद्धृत किया है (भगवत सन्दर्भ, पृ० ६६)। यहीं पर यह भी याद रखना होगा कि ये शक्तियाँ भगवान् की ही हैं। भगवत्-तत्त्व में स्वरूपशक्ति एवं माया-शक्ति दोनों का ही योग है—केवल एक नहीं। बहिरंगा -शक्ति के रूप में भी भगवान का ही वैभव प्रकाशित एवं विकीर्ण होता है। इसे शंकर की माया के समान भ्रमात्मक न समझना चाहिए। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति भगवान् की ही बहिरंगा-शक्ति से बताकर जगत को सापेक्ष रूप से सत्य ही नहीं, भगवान् की शक्ति का परिणाम भी बता दिया है। वास्तव में सारे वैष्णव सम्प्रदाय परिणामवादी हैं विवर्तवादी नहीं। जीव-संबंधी इनकी धारणा भी महत्त्वपूर्ण है। जीव न तो अन्तरंगा-शक्ति है न बहिरंगा। उसमें दोनों सीमाओं की ओर जाने की क्षमता या प्रवृत्ति होती है—वह दोनों से ही संबंधित है और दोनों से अलग एक प्रकार से तटस्थ ही नहीं, मध्यस्थ जैसी उसकी स्थिति है।[3] इन शक्तियों के अतिरिक्त भी भगवान् की अनन्त शक्तियों की कल्पना की गयी है तथा भगवत्तत्त्व की नराकार कल्पना में इन शक्तियों को स्त्री रूप में देखा गया है।[4] इस नराकार वैयक्तिक भगवत्तत्त्व के साथ ही लीला, धाम, एव परिकर की कल्पना न्यायोचित ही है। जीव गोस्वामी ने इनका विस्तृत विवेचन 'भगवत् परमात्म, तत्त्व एवं कृष्ण संदर्भ, में किया है, यहां हम उस सारी दार्शनिक

---

१. चैत० चरि०म०ली०परि० ८, पृ० १४६(सं० क्षीरोदचन्द्र गोस्वामी पूर्णचन्द्र शील कलकत्ता।

२. (क) चै० चरि० आ० ली० परि २०, पृ० १६।

(ख) तत्रान्तरंगया स्वरूपशक्त्याख्यया पूर्णनेव स्वरूपेण वैकुण्ठादि-स्वरूप वैभव-रूपेण च तदवतिष्ठते, तटस्थया रश्मि-स्थानीय चिदेकात्मशुद्धजीवरूपेण बहिरंगया मायाख्यया प्रतिच्छविगत-वर्णशावल्यस्थानीय तदीय, बहिरंग वैभव जड़ात्म-प्रधानरूपेण चेति चतुर्धात्वम। जीव गोस्वामी, भग० संदर्भ, पृ० ६५-६६।

३. (क) एस० के० दे० : वै० फ़े० मू०, पृ० २१२-२१३।

(ख) जीव गोस्वामी, भग० संदर्भ पृ० ६५-७४।

४. जीवगोस्वामी, भगवत्-संदर्भ, पृ० २६८।

धार्मिक चर्चा में नहीं पड़ेगे।

पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कृष्ण कुछ अजीब अद्भुत है। वैष्णव कवि की स्पष्ट घोषणा है कि कृष्ण के जितने भी खेल हैं उनमें सर्वोत्तम नरलीला है। नरवपु ही उनका स्वरूप है, वे गोपवेशधारी हैं वेणुकरधारी हैं, नव किशोर हैं, नटवर हैं और अपने अनुरूप ही नवलीलाएं करते है:

कृष्णेर जतेक खेला, सर्व्वोत्तम नर लीला, नरवपु ताहार स्वरूप,
गोपवेशवेणकर, नवकिशोर नटवर, नव लीला हय अनुरूप[1]।।

भगवत्तत्त्व की चर्चा करते हुये गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने उसे विशिष्ट रूपाकार एवं गुणोंवाला पूर्णतम व्यक्तित्व प्रदान किया है। इस व्यक्तित्व-प्रदान का यह स्वाभाविक विकास है कि देवता का एक अपने ही अनुरूप सबको अतिक्रान्त करता हुआ धाम हो, उसका अपना वर्ण एवं प्रसाधन-सज्जा हो तथा अपने सहयोगी (परिकर) हो। यद्यपि यह सत्य है कि वह जीव में भी रहता है एवं जगत् में भी उसकी व्याप्ति है क्योंकि ये सब उसकी शक्तियों के ही अंश हैं, परन्तु माया शक्ति और जीवशक्ति का आवास परमात्मा है न कि साक्षात भगवान्। भगवतत्त्व के रूप में उसका अपना एक पृथक धाम, रूप एवं परिकर है। रंग उसका श्याम है एवं आकार के रूप में मानवाकृति की कल्पना है। नाना प्रकार के प्रतीकार्थों वाले उसके आभरण भी गिनाये गये हैं, उन सबकी चर्चा में पड़ना हमारे लिये प्रसंगान्तर होगा।

धाम का परमात्मा की स्वरूपभूत प्रकाशशक्ति कहा गया है[3]। तात्पर्य यह कि भगवान् और उनके परिकर का आवास और धाम स्वरूपशक्ति की ही अभिव्यंजना है। स्वरूपशक्ति के प्रकाश इस लोक को स्वरूपशक्ति के ही एक अन्य प्रकाश भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है[1]। इस प्रकार धाम भगवान् का नित्य और सत्य अंश हो जाता है, भगवतविग्रह के समान ही सत्य होते हुए भी यह उस साधक के लिये ही प्रकट होता है जो द्वारका, मथुरा, वृन्दावन आदि भौमिक स्थानों में नित्य होने वाली लीला की धारणा करता है[4]।

---

१. चै० च०, म० ली०, परि० २१, पृ० २७५।
२. जीव गोस्वामी भगवत्-संदर्भ, पृ० १६६।
३. वही पृ० १६४ ह्लादिनी सारांशप्रधानं गुह्यविद्या·· एवं भक्ति तत्प्रवर्तकलक्षणा वृत्ति द्वयकया गुह्यविद्यया तद्वृत्तिरूपा प्रीत्यात्मिका भक्तिः प्रकाशते।
४. एस० के० दे० : वै० फ़े० मू०, पृ० २२२।

यही बात भगवान् के परिकर के लिये भी कही जा सकती है। परिकर भी ह्लादिनी शक्ति का विलास है।[1] परिकर उनके माधुर्य का उपभोग करता है न कि ब्रह्मत्व का। यह धारणा महत्त्वपूर्ण है। इसी से सम्बन्धित गोपीभाव एवं सखीभाव आदि की साधनाएँ हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे अधिक विस्तार से विवेचना करेंगे। जीव गोस्वामी ने 'भगवत् संदर्भ' के अन्त में अपने सारे भगवत् तत्त्व विवेचन को संक्षेप में अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में उपस्थित किया है। इसमें कहा गया है कि: "जो सच्चिदानन्दैक रूप. स्वरूपभूत-अचिन्त्यविचित्र अनन्त-शक्तियुक्त हैं, जो धर्म होकर भी धर्मी हैं, निर्भेद हो कर भी भेदयुक्त है, अरूप होकर भी रूपी है, व्यापक होकर भी परिच्छिन्न हैं, जो परस्पर विरोधी अनन्त गुणों के निधि हैं, जो स्थूल-सूक्ष्म-विलक्षण स्वप्रकाशखंड स्वरूपभूत श्रीविग्रह है, स्वानुरूपा स्वशक्ति की आविर्भावलक्षणा लक्ष्मी के द्वारा जिनका वामांश रंजित है, जो निजधाम में स्वप्रभाविशेषाकार-रूप-परिच्छद और परिकर-सहित विराज-मान हैं, जो आत्माराम मुनिगणों के चित्त को भी स्वरूप शक्ति के विलासरूप अद्‌भुत गुणलीलादि द्वारा लीलारस से चमत्कृत करते रहते हैं, जो स्वयं सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्मताव के रूप में अवस्थित हैं, जो जीवाख्य तटस्थाशक्ति के और जगत्-प्रपंच की मूलीभूता मायाशक्ति के आश्रय है, वही भगवान् है।[2]"

भगवान् सम्बन्धो इन दार्शनिक स्थापनाओं की रूपरेखा देने का तात्पर्य यहां पर मात्र इतना है कि आगे के विवेचन के लिये अपेक्षित परिप्रेक्ष्य बना रहे। जब कृष्ण को 'स्वयं भगवान्' कहा गया तो उसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह है कि कृष्ण में वे समस्त विभूतियाँ, नित्यत्व एवं विशिष्टताएँ स्वीकार की जाएँ जो भगवततत्त्व के बारे में कही जा चुकी हैं। इसी स्थल पर गौड़ीय वैष्णवों की महत्त्वपूर्ण देन प्रारम्भ होती है। उन्हें सारी कृष्णलीला की दार्शनिक व्याख्या करनी थी, उसे शास्त्र एवं धर्म की मान्यता देनी थी। ऐसा लगता है कि कृष्ण-लीला-वर्णन के क्षेत्र में भी दो स्पष्ट परम्प-राएँ थीं जिनका समझौता एवं समन्वय उन्हें करना पड़ा है। एक परम्परा भाग-वत पुराण की थी जिसमें गोपियों को सर्वश्रेष्ठ भक्त मान लिया गया था, नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र इसी परम्परा को दृढ़ करते हैं। दूसरी परम्परा लौकिक (सेक्यूलर) साहित्य की थी जो राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित कर रही थी। बारहवीं से शताब्दी तक आते-आते इस दूसरीपर-म्परा को धर्म एवं तत्त्व-दर्शन के भीतर स्थान मिलता प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ओर गोपियां प्रेम की आदर्श थीं जिन्होंने अपना सब कुछ कृष्ण के अर्पण

---

१. जीव गोस्वामी : भगवत्सन्दर्भ, पृ० १६८।

२. वही, पृ०, १६६-२००।

कर दिया था और दूसरी ओर राधा थीं जो प्रेम की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थीं। भक्ति के क्षेत्र में कान्ता भाव के ये दो आदर्श सामने थे। पर भागवत पुराण में गोपीभाव को ही स्वीकार किया गया। यहीं पर एक प्रश्न उठता है कि भागवतकार ने राधा नाम क्यों नहीं अपनाया। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि या तो भागवतकार को राधा नाम ज्ञात नहीं था या वह राधा-भाव का विरोधी था। पर इतना तो "अनयाराधितोनून" (१०।३०।२४) वाले श्लोक से लगता ही है कि एक कृष्णप्रिया गोपी से वह परिचित है भले ही उसका उपयोग गर्वहरण के नैतिक उपदेश के लिये किया गया हो। भागवत के पहले के विष्णुपुराण[1] और खिल हरिवंश में भी एक विशेषप्रिया गोपी का उल्लेख मिलता है अतः इस गोपी से भागवतकार यदि परिचित था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की प्रेमगीतियों की परम्परा हाल की 'गाहा सतसई' से लगातार प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होती है। भागवतकार जैसा सिद्धवाक् साहित्यकार इस परम्परा से अपरिचित रहा हो यह भी स्वीकार करने को मन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के तत्त्व-दर्शन के बहुत अनुरूप राधा नहीं पड़ती थीं। गोपियाँ तो जीव की प्रतीक हैं, जो सर्वस्व अर्पित कर देतीहैं ; भक्त स्थानीया हैं जो निस्संकोच निर्विशेष भाव से कृष्णशरणापन्न हो जाती हैं, पर राधा का स्वरूप परम्परा से ऐसा न था। वे कुछ बराबर की हक़दार थीं। 'गीत गोविन्द' में हम स्पष्ट देखते हैं (इस लौकिक काव्य-परम्परा की सर्वोत्तम परिणति इसमें ही हुई है) कि राधा ही कृष्ण के विरह में व्याकुल नहीं होतीं कृष्ण भी राधा-अभाव-विह्वल दिखायी पड़ते है। ऐसा पात्र भागवत पुराण की प्रतीक-योजना के बहुत अनुकूल नहीं प्रतीत होता। शरदरास एवं वसंतराम की जिन पृथक परम्पराओं का अनुमान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लगाया है[2] संभव है कि वे गोपीभाव एवं राधाभाव अथवा भागवत-प्रेम-प्रतीकवाद एवं लौकिक श्रृंगारिक-भावना-मूलक प्रेम की परम्पराओं से संबंधित रही हों। गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने इन दोनों परम्पराओं एवं आदर्शों का अत्यन्त निपुण भाव से धर्म-दर्शन स्तर पर सामंजस्य किया। इस सामंजस्य से राधा-कृष्ण लीलागान की परम्परा को अत्यधिक बल मिला, यही नहीं एतत्संबधी तत्त्व-विवेचना ने पूरे प्रेमाभक्ति के साहित्य के मूल की दार्शनिक आधार भूमि का कार्य किया। ऊपर के निर्माण शिल्प में कुछ

---

१. अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलंकृता।
अन्य जन्मनि सर्वात्मा, विष्णुरभ्यर्चितो यया। विष्णुपुराण,
५।१३।३५।

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्य कालीन धर्मसाधना,
पृ० १३५।

कंगूरे या जालियाँ अथवा बाह्य सज्जा में भले ही कुछ अन्तर हो, पर मूलाधार वही रहा।

गौड़ीय वैष्णवों के सामने एक दूसरी समस्या और भी थी, "गौड़ीय गोस्वामियों के आविर्भाव के बहुत पहले ही वृन्दावन, मथुरा, द्वारका में श्रीकृष्ण की विचित्र लीला काव्य-पुराणादि में बहुप्रकार से पल्लवित हो उठी थी। सोलहवीं शताब्दी के पहले राधा की कहानी भी लोकमानस का आकर्षण बन चुकी थी। वृन्दावन के गोस्वामियों को जब राधा-कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या करनी पड़ी तो श्रीकृष्ण की विचित्र लीला से सम्बन्धित उपाख्यानों को उन्हें लेना पड़ा और उनके मूल-सिद्धान्त से संगति रखकर व्याख्या करनी पड़ी[1]।" अस्तु, ब्रज, मथुरा, द्वारका आदि विविध स्थानों पर फैली विविध प्रेम-प्रसंगों को कल्पित करनेवाली उस अनन्त वैचित्र्यवाली लीला की भी चूल अपने सिद्धान्त के साथ उन्हें मिलानी थी। इन गौड़ीय तत्त्व-विवेचकों ने इस समस्या का भी सामना अपनी प्रतिभा के बल पर किया। बल्कि कहना यों चाहिए कि दोनों ही समस्याओं का समाधान उन्होंने एक ही स्तर पर किया। आगे हम इसी की चर्चा कर रहे हैं।

यह सारा दुष्कर-सा प्रतीत होनेवाला कार्य, वास्तव में, भगवान की शक्ति-कल्पना पर आधारित है। प्रमुख शक्तियों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं तथा यह भी कह चुके हैं कि एक ही अद्वय परमतत्त्व शक्ति की वैचित्री एवं स्फुरणा के आधार पर ही ब्रह्म, परमात्मा या भगवान कहा जाता है। ब्रह्म में शक्ति का अस्तित्व या लीलावैचित्री का अनुभव नहीं होता, परमात्मा में जीवशक्ति एवं माया-तत्त्व से प्रत्यक्ष संबंध होता है परन्तु भगवान-तत्त्व में इन तटस्थ एवं बहिरंग शक्तियों का मूल आश्रयत्व तो रहता ही है साथ ही स्वरूप शक्ति के साथ प्रत्यक्ष लीला-मग्नता भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार भगवान लीलानन्दमय एवं महैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम सिद्ध होते हैं[2]।

भगवत्-तत्त्व के प्रकटीकरण की एक और क्रमपद्धति भी इस सम्प्रदाय में स्वीकार की जाती है। शक्ति के त्रिधा भेद के स्थान पर प्रकटीकरण की चार भूमिकाएँ भी मानी गयी हैं। प्रथम तो सदा स्वरूप में अवस्थान, श्री कृष्ण परम तत्त्व के ऐसे ही प्रथम अवस्थान हैं। दूसरी भूमिका तद्रूपवैभव में अवस्थान की है। भगवान कृष्ण के अवतारादि शुद्ध सत्वयुक्त वैकुण्ठादि धाम एवं धाम के नित्य परिकरगण इस द्वितीय भूमिका के ही प्रकाशन हैं। यह दोनों ही भूमिकाएँ स्वरूप-शक्ति से संबंधित हैं। तटस्था-शक्ति द्वारा परमतत्त्व के अवस्थान की तृतीय भूमिका जीव है एवं बहिरंगा-माया-शक्ति द्वारा जगत् के रूप में परिणति इस

१. डॉ० शशिभूषण दास गुप्त : श्री राधा का क्रम-विकास : पृ० २१४।
२. श्री जीव गोस्वामी के भगवत्-संदर्भ के आधार पर।

तत्त्व के अवस्थान की चतुर्थ भूमिका है।[1] यह सब भगवान् की अचिन्त्य शक्ति द्वारा संभव होता है। अचिन्त्य होने के कारण ही ये शक्तियां कल्पना न होकर स्वाभाविकी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वरूपशक्ति के द्वारा पूर्ण-भगवान्, धाम, परिकर आदि के रूप में परमतत्त्व व्यंजित होता है तथा माया शक्ति के द्वारा जगत्-रचना का कार्य होता है। माया-शक्ति का रूप बहुत कुछ परम्परा प्राप्त ही है, पर उसे परमतत्त्व के ही एक रूप में परमात्मा से संबंधित करके माया-सृष्टि को मिथ्या नहीं सत्य सिद्ध कर दिया गया है।[2] इस बात का उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं। गौड़ीय वैष्णवों के शक्ति सिद्धान्त में तटस्थाशक्ति की कल्पना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। साधारणत: जीव को माया-शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है पर इस सिद्धान्त में वह तटस्थाशक्ति है जो न पूरी तरह माया-शक्ति के अधीन है और न वह स्वरूपशक्ति के ही अन्तर्गत है। वह दोनों ओर जा सकता है। माया यदि विमोहित कर ले तो वह विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाय पर यदि भक्ति (जो स्वरूपशक्ति ही है) जाग जाय तो वह स्वरूपशक्ति की लीला वैचित्री का आनन्दपान करने में समर्थ हो जाता है। माया चूंकि जड़ है, अत: वह इस चेतनशक्ति को विमोहित कर सकने में सदैव समर्थ नहीं होती। लीला के क्षेत्र में भगवान् की स्वरूपशक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वरूपशक्ति के साथ ही भगवान् का विचित्र लीला-विलास चलता है। इसी शक्ति के संदर्भ में भगवान में पूर्ण ऐश्वर्य एवं पूर्ण माधुर्य की सत्ता होती है। भगवान कृष्ण सच्चिदानन्द हैं—यानी कि उनके पूर्णस्वरूप में सत् चित् और आनन्द ये तीन धर्म होते हैं। इन्हीं तीनों धर्मों का अवलम्बन करके स्वरूपशक्ति भी त्रिधा हुई—संधिनी संवित् और ह्लादिनी। संधिनी-शक्ति सत्ताकारी है, उसके द्वारा भगवान स्वयं सत्तारूप होकर भी सत्ता धारण करते हैं और कराते हैं, इसे सर्वदेशकालद्रव्यादि प्राप्तिकारी भी कहा गया है। संवित् विद्याशक्ति है—भगवान स्वयं ज्ञान-रूप हैं पर इस शक्ति के द्वारा वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को भी जनाते हैं। गुणोत्कर्ष से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुये इनमें सर्वोच्च ह्लादिनी होती है—यह वह शक्ति है जिसके द्वारा स्वयं ह्लादक भगवान ह्लादित होते हैं एवं दूसरे को भी आह्लादित करते हैं।[3]

---

१. डॉ० श० भू० गुप्त : रा० कृ० वि०, पृ० १८८।
एवं
जीव गोस्वामी : भगवत्-संदर्भ, पृ० ६५-६७।

२. वही-परमात्म-संदर्भ, पृ० ७१-७३।

३. जी० गो० : भगवत्-संदर्भ, पृ० १९१।

भगवान की इस मूल-शक्ति के भीतर एक स्वप्रकाशता-लक्षणवृत्ति-विशेष है। इस स्वप्रकाशता-लक्षणवृत्ति-विशेष के द्वारा जब भगवान के स्वरूप या स्वरूप-शक्ति का आविर्भाव होता है तो उसी को विशुद्ध सत्व कहते हैं।[1] भगवान की यह स्वरूप-शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है—एक अपने स्वरूप में और दूसरी अपने स्वरूपविभव में। विशुद्ध-सत्त्व से ही पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के धाम, परिकर, सेवकादि रूप-वैभव का विस्तार होता है। अपने इस वैभव के साथ ही रसमय श्रीकृष्ण को लीला-वैचित्रय होता है। जिस प्रकार भगवान नित्य हैं, उसी प्रकार उनका धाम नित्य है, पार्षद परिकर और सेवक नित्य हैं तथा वहां की लीला भी इसीलिये नित्य है। वास्तव में ये सब एक ही हैं केवल भगवान के प्रकार-विशेष वैचित्र्य को प्रकट करने केलिये हैं।

जीव गोस्वामी ने 'भगवत्-सन्दर्भ' की इन स्थापनाओं को स्पष्ट एवं व्यावहारिक धरातल पर 'श्री कृष्ण-संदर्भ' में उपस्थित किया है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि कृष्ण की काव्य-पुराणादि वर्णित लीला उन लोगों के लिये ठोस ऐतिहासिक सत्य थी और उसको ही सब प्रकार से प्रामाणिक एवं सब प्रकार से सार्थक सिद्ध करने के लिये ही पूर्वालोचित तत्त्व विवेचन का सिस्टम खड़ा किया गया था। 'श्री कृष्ण-संदर्भ' में इसीलिये उन्होंने कृष्ण लीला से संबंधित सभी स्थानों, व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि को पूर्व विवेचित भगवत्-लीला का ही प्रकट रूप माना। दोनों प्रकार की लीलाओं को अभिन्न बताने का प्रयास गौड़ीय तत्त्व-विवेचकों ने बराबर किया। रूप गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक-धार्मिक स्तर पर न होकर काव्यशास्त्र के स्तर पर है। जीव गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक-धार्मिक स्तर पर हुआ। काव्य के वर्णन प्रसंगों के अन्तर्गत कृष्ण दास कविराज ने उसे ही उपलब्ध करना चाहा। नारायण भट्ट, बलदेव विद्याभूषण एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति समस्त चैतन्यमतानुयायियों का प्रयास इसी दुष्कर प्रतीत होने वाले कार्य को सुकर बनाना था।

इस कार्य को लीला की प्रकट और अप्रकट[2] विशेषता के माध्यम से सम्पन्न किया गया। श्रीकृष्ण के वपु, लीला, धाम, परिकरादि का स्वरूप प्रकट भी है अप्रकट भी। इस प्रकट और अप्रकट में कोई भेद नहीं है। दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। श्री कृष्ण की अचिन्त्य-प्रनन्त शक्ति के द्वारा युगपत यह प्रकट और

---

१. तदेवं तस्या मूलशक्तैस्त्रयात्मकत्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूपं स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविमवति तद् विशुद्ध-सत्वं। वही—पृ० १९१।

२. जी० गो० : श्रीकृष्ण-संदर्भ, पृ० ४०४—"श्रीकृष्ण लीला द्विविधा, अप्रकटरूपा प्रकटरूपाच।"

ग्रप्रकट धाम ग्रौर लीला विस्तारित होती हैं।

धाम :

वैकुण्ठ, गोलोक ग्रादि धामों की चर्चा वैष्णवों के बीच पहले से ही होती ग्रायी है। जीव गोस्वामी ने इन्हीं का चतुरतापूर्वक उपयोग करते हुये पुराणादि के ग्रनुसार ही सृष्टि के लोकों ग्रादि की चर्चा करते हुये वैकुण्ठादि धामों में गोलोक को सर्वोच्च धाम माना।[1] यही गोकुल भी है—तदेव गोलोकं वर्णयित्वा तस्य गोकुलेन सहाभेदमाह।[2] यह गोलोक भी श्री कृष्ण के समान ही प्रापंचिक ग्रौर ग्रप्रापंचिक (प्रकृत ग्रौर ग्रप्रकृत) वस्तुग्रों में व्याप्त होता है तथा नाना रूपों में व्यक्त होता है।[3] जब भगवान् प्रकृत-जगत में ग्रपने स्वरूप को प्रकट करते हैं तभी धाम भी परिकर समेत प्रकट होता है, परन्तु भगवान् के सदृश ही वे ग्रपने ग्रप्रकृतत्त्व को कभी नहीं खोते, क्योंकि धाम, परिकर ग्रादि भगवान् के समान ही शुद्ध-सत्व के प्रकाश होने के कारण माया-प्रकृति से परे होते हैं। कृष्ण दोनों ही स्थानों पर विराजमान रहते हैं। वास्तव में जैसे भगवद्विग्रह की कल्पना नराकार रूप में हुई है वैसे ही धाम की कल्पना पौराणिक स्थानों के ग्राधार पर ही इस सम्प्रदाय में हुई है। गोलोक (ग्रप्रकटधाम) में वैसे ही नदी, वृक्ष, कुंज, लता, गोपी-गोपी ग्रादि की कल्पना की गयी है, जैसी इस लोक की पौराणिक कथाग्रों में वर्णित है।[4] दोनों प्रकार के धामों में ग्रन्तर इतना ही है कि लोक-वृन्दावन में कृष्ण प्रकट ग्रौर ग्रप्रकट दोनों रूपों में रहते हैं पर ग्रप्रकृत गोलोक में केवल ग्रप्रकट रूप में ही विद्यमान हैं। यदि कोई यह कहे कि एक ही साथ धाम की यह दुहरी सत्ता नहीं हो सकती तो जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि जैसे एक ही श्री विग्रह बहुत रूपों में प्रकाशित हो सकता है वैसे ही धाम भी ग्रनेक रूपों में समानगुण ग्रौर नाम से प्रकाशित हो सकता है। इस प्रकार "गोलोक गोकुलयोरभेदेनैवोक्तम्।[5]"

धाम-संबंधी एकता के प्रतिपादन के पश्चात् भी एक समस्या जीव

---

१. जी० गो० : श्रीकृष्ण-संदर्भ पृ० ३६६—तदेव सर्वोपरि श्रीकृष्ण लोकोऽस्तीति सिद्धम्।

२. वही पृ० ३६६।

३. स गोलोकः सर्वगतः श्रीकृष्णवत् सर्व प्रापंचिकाप्रापंचिकवस्तु-व्यापकः महान् भगवद्रूप ग्रतः एव।
—जीव गोस्वामी : श्रीकृ० संदर्भ पृ० ३६८।

४. वही पृ० ३७१-३७१ के ग्राधार पर।

५. वही पृ० ३७४।

गोस्वामी के सामने शेष थी कि कृष्ण की पौराणिक लीला केवल गोकुल (वृन्दावन) ही नहीं मथुरा एवं द्वारका के साथ भी घनिष्ठ रूप से संबंधित है। अतः जीव गोस्वामी ने प्रकाश-भेद से कृष्ण-लोक के तीन रूप माने हैं—द्वारका, मथुरा और वृन्दावन। इन तीनों धामों में लीला, परिकरादि भी तीन प्रकार के हो जाते हैं।[1] प्रकाश-भेद से तात्पर्य है कि भगवान के जिस रूप में जैसी लीला जहां पर है उसी के अनुसार अन्तर हो जाता है। ये धाम मात्र ऐसे स्थान नहीं हैं जहां भगवान् की प्रतिभा स्थापित हो या जहाँ पर परम-दैवत् का सूक्ष्म रूपत्व हो, बल्कि भगवान के साक्षात् निवासस्थान हैं तथा ये प्रपंचातीत, नित्य अलौकिक एवं भगवान नित्यास्पद हैं। इन तीनों धामों में भी वृन्दावन-लीला ही सर्वोत्तम है। यहीं पर माधुर्य अपने विशुद्ध रूप में है, ऐश्वर्य से आच्छन्न नहीं है।

भगवत्-संदर्भ में जीव गोस्वामी ने माधुर्य को हलादिनी-शक्ति का ही एक पक्ष बताया है। माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिये ही वे यहां सुन्दर किशोर रूप में रहे। अपनी समस्त प्रकट-लीला में तो वे यहां किशोर रूप में रहे ही[2], उसके बाद वृन्दावन में अप्रकट-लीला में वे किशोर रूप में ही विद्यमान हैं। इसीलिये किशोरावस्था को ही लीला की वास्तविक वय मानना चाहिये। चूंकि यह वय वृन्दावन में ही है अतः वृन्दावन को ही सर्वश्रेष्ठ धाम मानना होगा।[3] गोकुल, व्रज और वृन्दावन को इस सम्प्रदाय में समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है।

लीला :

पीछे हम भगवान की प्रकट और अप्रकट लीला[4] की चर्चा कर आये है और यह भी कहा था कि गौड़ीय वैष्णव-विवेचन में लीला के इन दो रूपों की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही लीलाएँ नित्य हैं, बल्कि यों कहें कि एक ही लीला दो रूपों में प्राकृत जीव की सीमाओं के कारण व्यक्त होती है। माया-शक्ति-बद्ध जीव के लिए लीला अप्रकट है पर अपने साधकों के

---

१. वही, पृ० ३७० (सच लोकस्तत्तल्लीला परिकरभेदेनांशभेदात् द्वारकामथुरागोकुलाख्यस्थानत्रयात्मक इति निर्णीतम्।

२. अत्र पूर्णकिशोरव्यापिन्येव व्रजे प्रकटलीलारोपा-जीव गोस्वामी, —श्रीकृ० सं०, पृ० ४२१।

३. (क) श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह-राधा गोविन्द नाथ (हिन्दी अनु० हकीम श्यामलाल), पृ० ७५।

(ख) एस० के० दे० : वै० फे० मू०, २६४-२६४।

४. श्रीकृष्णलीला द्विविधा, अप्रकट रूपा प्रकट रूपा च —जी० गो० : श्रीकृ० सं०, पृ० ४०५।

ऊपर कृपा दया तथा प्रेम के कारण वह प्रकट होती है इस प्राकृत जगत में भी अप्रकट-लीला प्राकृत जगत और उसके विषयों से एकदम अस्पर्शित रहती है—प्रापंचिक लोकैस्तद्वस्तुमिश्चामिश्रा ।[१] इसकी निरन्तरता के बारे में जीव गोस्वामी का कहना है कि काल के समान यह भी आदि मध्य और अवसान से रहित स्वप्रवाहा है—कालवदादिमध्यावसान परिच्छेद-रहितस्वप्रवाहा ।[२] इस लीला में भी यादवेन्द्रत्व, व्रजयुवराजत्व आदि बने रहते हैं हैं (यानी कि व्रज, द्वारका आदि के पौराणिक चरित्र नित्य-अप्रकट लीला में भी विद्यमान बता कर समस्त पौराणिक लीला का दैवीकरण कर दिया गया)। प्रकट-लीला भी भगवान् के विग्रह के समान ही कालादि से अपरिच्छिन्न है, पर स्वरूप-शक्ति की इच्छा के कारण आरम्भ और अन्त भी प्रतीत होता है, प्राप्त होता है, प्रापंचिक और अप्रापंचिक के मिश्रण के साथ ही कृष्ण के जन्म-मृत्यु आदि की बातें भी आभासित होती हैं ।[३]

अप्रकट-लीला पुनः दो प्रकार की है—मन्त्रोपासनामयी तथा स्वारसिकी। इनमें से प्रथम एक स्थान विशेष में सीमित नियत स्थिति की एवं उसी-उसी मन्त्र ध्यानमयी होती है ।[४] यानी कि जिस मन्त्र का ध्यान होता है उसी के अनुरूप स्वरूप, धाम एवं परिकर होता है। इस प्रकार भगवान् की विराट लीला बहुत सीमित एक पक्ष-विशेष में ही साधक को अनुभूत होती है। (मन्त्रोपासनामयी लीला ही मानो भक्ति के क्षेत्र में साधन या वैधी भक्ति है) । स्वारसिकी लीला में भगवान् स्वयं प्रेम एवं कृपावश अपनी अनन्त लीलाएं भक्त के लिए प्रकट एवं सुलभ कर देते हैं। मंत्रोपासना की भी पर्यवसति स्वारसिकी में हो सकती है (जैसे कि वैधी रागानुगा में परिणत हो जाती है।) इस स्वारसिकी अप्रकट-लीला का कोई एक नियत स्थान या समय नहीं है, यह यथावसर विविध स्वेच्छामयी होती है। अपने नाना लीला-प्रवाह रूप में यह गंगा की धारा के समान होती है जबकि एक-एक लीलावाली मन्त्रोपासनामयी उस एक किसी हृद (सरोवर) या हृद श्रेणी के समान होती है जो मुख्य धारा से संभूत है[५])

१. जी० गो० : श्री कृ० सं० पृ० ४०४-४०४ ।
२. वही, पृ० ४०५ ।
३. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण-संदर्भ, पृ० ४०५ ।
४. वही, पृ० ४०५ ।
५. वही, पृ० ४०६ ।
(क) मन्त्रोपासनामयत्वेऽपि स्वारसिक्यामेव पर्यवसति ।
(ख) यथावसरविविध स्वेच्छामयी स्वारसिकी ।
(ग) तत्र नानालीलाप्रवाहरूपतया स्वारसिकी गंगेव । एकैकलीलात्मतया मन्त्रोपासनामयी तु लब्धतत्सम्भव हृद्श्रेणिरिवाज्ञेया ।

पौराणिक कृष्ण-लीला के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन से संबंधित एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब स्वरूप, धाम, परिकर आदि सब एक ही हैं, नित्य हैं तब वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर कृष्ण का गोप-गोपियों से वियोग अथवा द्वारका-लीला की समाप्ति पर यादवों से वियुक्ति को कैसे समुचित ठहराया जाय ? जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि वास्तव में प्राकृत प्रकट-रूप में ही यह वियोग है, अप्रकट रूप में वहाँ नित्य-मिलन और विहार ही है। एक ही स्वरूप अनेक प्रकाश प्राप्त करता है और प्रकाश-भेद से अभिमानभेद (संबंध-भेद) तथा क्रिया-भेद हो जाता है जो अलग-अलग भी सत्य है तथा एक ही समय में भगवत्-स्वरूप अनेक रूपों में अलग-अलग प्रकाशित होकर अलग-अलग लीलाएँ भी कर सकता है। अतः जब एक प्रकट-लीला में वियोग है तब उसी समय अप्रकट-लीला में संयोग की स्थिति भी बनी रहती है। और यह सब भगवान की अचिन्त्य शक्ति के कारण है।[1] यह ध्यान रहे कि गौड़ीय वैष्णवों में 'अचिन्त्य' वह ट्रम्प-कार्ड है जिसका प्रयोग प्रत्येक विरोध की शान्ति के लिए वे कर लेते हैं।

परिकर :

पीछे हम धाम की चर्चा में परिकर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कह चुके हैं कि परिकर स्वरूपशक्ति का ही प्रकाश है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही गोकुल, मथुरा एवं द्वारका के परिकरों की सार्थकता धाम के साथ ही सिद्ध की गयी है। रूप गोस्वामी के हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु एवं नीलमणि में इस परिकर को ही विभिन्न प्रकार के भक्तिरसों में अन्तर्भुक्त करने का पाण्डित्यपूर्ण एवं निपुण प्रयास किया गया है। यह भी कहा जा चुका है कि भगवान् से कान्ता-भाव का संबंध ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है—माधुर्य-गुण ही भगवान् की ह्लादिनी-शक्ति से संबंधित होता है।ऐसी स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि पौराणिक लीला में कान्ता-भाव को अपनाने वाले विविध पात्रों का जो वर्णन मिलता है, उनमें मात्र गोपियाँ ही कैसे श्रेष्ठ हैं ? ब्रज में गोपियाँ, मथुरा में कुब्जा और द्वारका में कृष्ण की १६०८ महिषियां हैं जिनमें ८ पट्ट-महिषियाँ भी हैं—सभी कृष्ण को पति या प्रेमी रूप में चाहती हैं, अतः उनमें पुराण द्वारा स्थापित गोपीभाव की श्रेष्ठता को कैसे बनाये रखा जाय ?

गौड़ीय तत्त्व-व्याख्याता इसका दो प्रकार से उत्तर दे सकते हैं। प्रथम उत्तर तो स्वकीया-परकीया-भाव के आधार पर दिया जा सकता है। कृष्णदास कविराज ने कुछ इसी लहजे में उत्तर दिया था कि :—

१. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण-संदर्भ, पृ० ४०७-४०६।

परकीय भावे अति रसेर उल्लास
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास
ब्रजबधूगणेर इह भाव निरवधि
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि

चै० च०, आ० ली० परि० ४

यदुनन्दन ने अपने कर्णानन्द में भी परकीयावाद को ही मुख्यता दी। उनके अनुसार तो जीव गोस्वामी का भी वास्तविक तात्पर्य परकीयाभाव से ही था।[1] आगे चलकर जीव के श्यामानन्द एवं श्रीनिवास ने भी परकीयावाद को ही महत्त्व दिया है। श्री निवास की शिष्य-परम्परा में राधा मोहन ठाकुर ने तो मुर्शिदाबाद के नवाब ज़फ़र अली के दरबार में, कहते हैं, स्वकीयावादियों को बिलकुल निरस्त कर दिया था। इस संबंध में शीला भट्टारिका के "यः कौमार हरः" एवं रूप के "प्रियःसोऽयं कृष्णः"[2] का बहुधा परकीया-समर्थन में उल्लेख किया जाता है, परन्तु वास्तव में इनकी व्याख्या स्वकीयात्व के आधार पर भी की जा सकती है। इस परकीयावाद को विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थों एवं टीकाओं में पूरी तरह स्थापित कर दिया था। परन्तु प्रारम्भ में रूप एवं जीव की विचार-पद्धति स्वकीयावाद के ही पक्ष में थी। यद्यपि उज्ज्वल-नीलमणिकार ने परकीया में श्रृंगार के परमोत्कर्ष की बात कही है[3] फिर कुछ स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि इस भाव की हीनता केवल प्राकृत नायकों के संदर्भ में ही है, 'रसनिर्यासस्वादार्थ' अवतारी कृष्ण के प्रसंग में यह लघुत्व को प्राप्त नहीं होता।[4] वास्तव में परकीया सूत्र का कथन एवं उसका स्पष्टीकरण ठीक भागवत की ही परम्परा में है। भागवत में गोपियों का वर्णन बहुधा कन्या या परस्त्री के रूप में हुआ है—रास के समय कृष्ण की मुरली के स्वर से गृहीतमानस गोपियाँ अपने सारे घर गृहस्थी

---

१. बाह्यार्थबुझये ताहा स्वकीया वलिया।
मितरेर अर्थमात्र केवल परकीया।
श्री जीवेर गंभीर हृदय बुझिया।
बहिर्लोक वार्तालये स्वकीय वलिया।
—यदुनन्दन-कर्णानन्द, पृ० ८८।

२. रूप-गोस्वामी, पद्मावली श्लोक, ३८२-३८३।

३. अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृंगारस्य प्रतिष्ठितः (१७)
--उ० नी० म० पृ० १४।

४. लघुत्वसूत्र यत-प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके, न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि। वही, पृ० १४-१५।

के कार्य, पति, पुत्र आदि को छोड़ कर कृष्ण की ओर दौड़ पड़ी थीं ।[1] उनके पति पिता, भ्राता और बन्धुओं ने उन्हें बहुत-कुछ रोका, किन्तु श्री गोविन्द ने उनके चित्तों को ऐसा खींच लिया था कि वे मुग्धा बालाएँ उनके रोके न रुकीं—

ता वार्यमाणा पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः
गोविन्दापाहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ।१०।२९।८

इस प्रत्यक्ष अनैतिक-सी दिखने वाली क्रीड़ा के प्रति परीक्षित ने संदेह प्रकट किया था कि "जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिये ही अपने पूर्ण अंश से अवतार लिया था, फिर धर्मसेतु के वक्ता, सृष्टा एवं रक्षक होकर भी उन्होंने परस्त्रीगमन जैसा प्रतीप आचरण क्यों किया ?[2] भागवतकार ने जो उत्तर दिया था, रूप गोस्वामी का उत्तर ठीक उसी की प्रतिध्वनि है। भागवतकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि "जो गोपियों, उनके पतियों और संपूर्ण देहधारियों के अन्तःकरण में विद्यमान हैं, उन सर्व (बुद्ध्यादि) साक्षी भगवान ने ही लीला से शरीर धारण कर भूलोक में अवतार लिया था ।[3] अर्थात् तत्त्वतः जो समस्त प्राणियों के शरीर और अन्तःकरण में विराजमान रहकर निरन्तर रमण कर रहे हैं, उनके लिये परस्त्री जैसी कोई चीज़ नहीं है और इसीलिये परदाराभिमर्शन जैसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता। रसनिर्यासस्वादार्थ अवतारी कृष्ण की बात उठाकर रूप गोस्वामी ने दूसरे शब्दों में इसे ही दुहराया है।

रूप एवं जीव दोनों ही विद्वान स्वकीया के पक्ष में थे। रूप ने ललित माधव नाटक के १० वें अंक में राधा और कृष्ण का विवाह करवाया है। विदग्ध माधव के प्रथम अंक में भी देखते हैं कि राधा का अभिमन्यु गोप से विवाह सच्चा नहीं है, यह केवल योगमाया का कार्य था। यों राधादि कृष्ण की नित्य प्रेयसी है। रूप की ही विचारधारा का अनुकरण करते हुए जीव गोस्वामी ने भी परकीयावाद को मायिक कहकर नित्य प्रेयसीत्व पर ही बल दिया है। उन्होंने स्वकीयावाद का समर्थन नैतिक परम्परा एवं रसशास्त्र दोनों दृष्टियों से करना चाहा है। साहित्य-दर्पण में कहा गया है—"उपनायक संस्थायां मुनिगुरुपत्नी गतायां च। बहुनायक विषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् । प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वद्धमपात्र-

---

१. श्रीमद्भागवत, १०-२९-५-७ ।
२. श्रीमद्भागवत्—१०।३३।२७-२८ ।
३. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम । योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेस्नेह देहभाक्-श्रीमद्भागवत् १०।३३।३६।

तिर्यंगादि गते। श्रृंगारेऽनौचित्यम्······।[1]

भक्ति को रस मानने वाले जीव गोस्वामी ने यह सिद्ध करना चाहा कि गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में प्राप्त किया था, जार रूप में नहीं। जार शब्द का प्रयोग केवल उनके प्रेमाधिक्य की एक मानसिक अवस्था विशेष का द्योतक है।[2] भागवत में आये कात्यायनी व्रत[3] से भी ज्ञात होता है कि कृष्ण की वर रूप में व्रजकन्याओं ने वांछा की थी और भक्तवांछाकल्पतरु कृष्ण उनकी कामनाओं को पूरा न करें यह कैसे संभव है।[4] इसके अतिरिक्त "सिद्धान्त-रसशास्त्र-सम्मता" भी इस लीला को उन्होंने माना। जीव ने अपने गुरु रूप गोस्वामी के ललित माधव वाले राधाकृष्ण विवाह की ओर भी संकेत किया है। जीव के अनुसार गोपियों के साथ न तो गोपों ने कभी विवाह किया और न गोपियों को कभी स्पर्श ही किया अतः परकीयात्व या परस्पर्शत्व के अधर्म का दोष उन पर नहीं लगता। वस्तुतः गोपों के साथ गोपियों के मायिक शरीर का ही विवाह हुआ था और माया-शक्ति द्वारा उत्पन्न देह के साथ ही गोपगणों का संयोग होता था। इस संबंध में उन्होंने भागवत के इस श्लोक का भी उपयोग किया है—

नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान् दारान् व्रजौकसः १०।३३।३८

अर्थात् भगवान की माया से मोहित हो जाने के कारण व्रजवासियों ने अपनी-अपनी स्त्रियों को अपने पास ही समझ कर कृष्णचन्द्र के प्रति तनिक भी असूया नहीं की।

इसी आधार पर उनका मत है कि यदि कभी पति आदि शब्दों का प्रयोग होता भी है तो उसे बाहरी समझना चाहिये न कि आन्तरिक।[5] इसी प्रकार पीछे उद्धृत भागवत के श्लोक (१०।२९।८) में आये पुत्र शब्द के बारे में उनका कहना है कि यह दूसरे के पुत्रों के लिए है क्योंकि पुत्रवती माँ के साथ भी प्रेम-संबंध रस-शास्त्र की दृष्टि से परिपक्व नहीं हो पाता। इस प्रकार भागवत के प्रसंगों का

---

१. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद श्लोक २६३-२६४ (चौखम्भा वाराणसी १९५७)।
२. जीव श्रीस्वामी : श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ४२८।
३. श्रीमद्भागवत—१०।२२।४।
४. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ४२९।
५. क्वचिताभिरेव तेषुयत् पतिशब्दः प्रयुक्तस्तद्बहिर्लोके व्यवहारत एव —नान्तर्दृष्टितः·· वही, पृ० ४३१।

अपने अनुकूल अर्थ करते हुए जीव गोस्वामी की सम्मति है कि गोपियाँ उनकी स्वरूपशक्ति का प्रकाश हैं, नित्य प्रेयसी हैं, उनके साथ कृष्ण का संबंध इसलिये अधर्मपूर्ण व्यभिचार का कार्य नहीं है। रूप गोस्वामी के पीछे उद्धृत श्लोक की टीका में भी इस संबंध में उन्होंने विस्तृत विवेचन करके यही कहा है—तदेव श्रीकृष्णेन तासां नित्यदाम्पत्ये सति परकीयात्वे च मायिके सति ...।[1]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव और रूप दोनों गोस्वामी परकीया भाव के समर्थक न थे। परकीया का उल्लेख उन्हें राधा-कृष्ण एवं कृष्ण-गोपियों के परम्परा-प्राप्त रूप के कारण करना पड़ा था। कृष्ण दास कविराज को पीछे हमने परकीया-समर्थक रूप में उद्धृत किया है, पर आदि लीला के चतुर्थ परिच्छेद में ऐसे सकेत मिल जाते हैं कि बैकुण्ठ लीला में उपपति-भाव का प्रचार नहीं है :—

वकुण्ठाद्ये नाहि ये लीलार प्रचार।
से से लीला करिब पाते मोर चमत्कार।
मो त्रिषये गोपीगणेर उपपति भावे।
योगमाया करिबेन आपन प्रभावे।

संभवतः परकीया-भावना सहजिया वैष्णवों की देन है। प्रारम्भ में वृन्दावन गोस्वामियों ने इसे पूर्ण शास्त्रीय प्रतिष्ठा नहीं मिलने दी, परन्तु उनके पश्चात् परकीया-भावना इस सम्प्रदाय में पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली गयी।

अस्तु, इस उपयुक्त प्रसंगान्तर के पश्चात् हम फिर अपने मूल प्रश्न की ओर आते हैं कि क्यों वृन्दावन की 'ब्रज गोपरामाणां' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसके लिये एक तर्क तो परकीयावाद का है जो प्रारंभिक गोस्वामियों को बहुत दूर तक मान्य नहीं है। जीव गोस्वामी ने एक तर्क और दिया है। 'भगवत् संदर्भ' में उन्होंने भगवत् तत्त्व की स्वरूपशक्ति को उनकी लीला सहायिका माना है और वहाँ उसका नाम लक्ष्मी बतलाया है लक्ष्मी की भू, कृपा, पुष्टि आदि आठ विशिष्टता रूपी विग्रहों की भी चर्चा की गयी है। द्वारका, मथुरा में स्वरूपशक्ति महिषी नाम से अभिहित होती है। इनमें से रुक्मिणी स्वयं लक्ष्मी हैं तथा आठों पट्ट महिषियाँ स्वरूपशक्ति की ही अन्य पहलू भू, कृपा आदि हैं। सामूहिक रूप से वे लक्ष्मी से एकात्म हैं[2] परन्तु गोकुल में कृष्ण की स्वरूपशक्ति का प्रकाशन ब्रजदेवियों के रूप में हुआ है। वे कृष्ण की श्रेष्ठतम ह्लादिनी शक्ति

---

१. उ० नी० मणि, पृ० २३।

२. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ४३९-४४२।

की विशेष अभिव्यक्ति हैं। इसलिए मथुरा एवं द्वारका की महिषियों से श्रेष्ठ हैं।[1] वे सब की सब वृन्दावन-लक्ष्मी हैं—श्री वृन्दावन लक्ष्म्यस्त्वेता ऐवति।[2] गोपाल-तापनी उपनिषद में गोपियों को 'आविद्या-कला प्रेरक' कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए लेखक ने कहा है 'आ', का अर्थ है सम्यक्, विद्या परम-प्रेम-रूपा है और कला उनकी वृत्तिरूपा है।[3] ह्लादिनी की तत्तत् क्रियाओं में प्रवर्तक हैं व्रज वधुएँ—इसलिए तास्तु नित्यसिद्धा एव। ह्लादिनी की सारवृत्ति प्रेम है और उसी के रससार विशेष का उनमें प्राधान्य है एवं इसीलिये उनका प्राधान्य है—

"आसां महत्त्वन्तु ह्लादिनी सारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेष प्राधान्यात्।"[4]

ये गोपियां "आनन्द चिन्मय रस प्रतिभाविता" कही गयी हैं। अतएव इस प्रेम-प्राचुर्य के प्रकाश-हेतु श्री भगवान् का भी इनमें परमोल्लास प्रकाश होता है, एवं उसी से भगवान् में रमणेच्छा प्रादुर्भूत होती है।[5] इस प्रकार एक भिन्न दार्शनिक आधार पर व्रज-देवियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।

परन्तु समस्त व्रज-देवियों को नित्यसिद्धा या नित्यप्रिया मान लेने पर एक असंगति सामने आती है। जीव को तटस्थाशक्ति के अन्तर्गत रखा गया है एवं नित्यसिद्धा गोपियां स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत नित्य सहचरी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में गोपीभाव की साधना के क्या अर्थ होते हैं? दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नित्य सिद्धत्व साधना की वस्तु नहीं है। इस असंगति से बचने के लिए गोपियों के साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया तीन भेद किये गये हैं।[6] पूर्वजन्म की साधना से जो भक्त जन गोपीदेह पाते हैं, वे साधनपरा गोपियाँ है। इनके अनेक भेद किये गये हैं पर उस विस्तार में हमें नहीं जाना। पर साधना द्वारा गोपीभाव की प्राप्ति इस प्रकार स्वीकार कर ली गयी है। जब-जब कृष्ण अंश-रूप में देव योनि में जन्म लेते हैं, तब-तब उनके संतोष-साधन के लिए नित्य प्रियाओं के अंशों का भी जन्म होता है, यही देवियाँ है। कृष्ण के व्रज-अवतरण

---

१. जीव गोस्वामी : श्री कृष्ण संदर्भ, पृ० ४४२-४४४।
२. वही, ,, पृ० ४४३।
३. वही, ,, पृ० ४४३।
४. वही, ,, पृ० ४४३।
५. आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिरिति। अतएव तत् प्राचुर्यप्रकाशेन श्री भगवतोऽपि तासु परमोल्लासप्रकाशो भवति, येन ताभी रमणेच्छा जायते। —वही, पृ० ४४३-४४४।
६. उ० नी० मणि, पृ० ६३।

में यही देवियाँ गोप-कन्याओं के रूप में नित्य प्रियाओं की प्रिय सखी स्थानीय होती हैं ।[1] इस प्रकार देवी के रूप में सखी भाव को इन लोगों ने स्थान दिया। साधनपरा के प्रकार में गोपीभाव को महत्त्व मिला। यह ध्यान रहे कि साधनपरक गोपी-तत्व ही जीव का साध्य है, नित्य प्रिया गोपीत्व कभी भा साध्यवस्तु नहीं है, यह नित्य सिद्ध है। यों सब मिलाकर उस सम्प्रदाय में साधना की दृष्टि से गोपीभाव की अपेक्षा सखी भाव का ही उत्कर्ष है।

राधा :

पीछे हम कह चुके हैं कि गोपी-लीला एवं राधा-लीला की दो परंपराओं का समन्वयन गौड़ीय वैष्णवों ने किया है। इस समन्वय में राधा प्रमुख हो उठी हैं एवं अन्य गोपियां उन्हीं की अंगभूता या अंशरूपा हो गयी हैं। रूप गोस्वामी ने नित्यप्रिया हरि-वल्लभाओं के नाम गिनाते हुए बताया--

तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधा चन्द्रावलीत्युमे
यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः[2]

इन सर्वश्रेष्ठ राधा और चन्द्रवली में भी उनके अनुसार गुणों में अति वरीयसी एवं महाभाव स्वरूपा राधा ही सर्वाधिका हैं--

तयोरप्युमयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका,
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ।[3]

इसी से मिलती-जुलती बात जीव गोस्वामी ने भी प्रतिपादित की है। उनके अनुसार इन परममधुरप्रेमवृत्तिमयी में भी राधा तत्सारांशोद्रेकमयी हैं, राधिका में ही प्रेमोत्कर्ष की पराकाष्ठा दिखायी पड़ती है। ऐश्वर्यादि समस्त शक्तियाँ इस प्रेमवैशिष्ट्य का अनुगमन करती हैं, अतः वृन्दावन में श्री राधिका

---

१. देवेष्वंशेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये
नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः । ५० ।
अत्रदेवावतरणे जनित्वा गोपकन्यकाः
अंशिनीनामेवासां प्रियसख्योऽभवन्व्रजे । ५१ ।
उ० नी० म०, पृ० ६९-७० ।

२. उ० नी० म०, पृ० ७३ ।

३. उ० नी० म०, पृ० ७३ ।

में ही स्वयं लक्ष्मीत्व है ।[१] यानी कि ह्लादिनी का सार प्रेम, प्रेम का भी सार भाव और भाव की ही पराकाष्ठा का नाम महाभाव है । और राधा ठकुरानी यही महाभावस्वरूपा हैं ।[२] तात्विक दृष्टि से वे सर्वशक्ति वरीयसी ह्लादिनी शक्ति ही है ।[३] तथा भगवत् रति की परिणति के सर्वोच्च शिखर महाभाव की साक्षात् विग्रह हैं । वे प्रेम का साक्षात् स्वरूप हैं, उनकी देह प्रेम से विभावित हैं, वे कृष्ण की प्रेयसी हैं यह समस्त संसार में विदित है ।[४] कृष्ण को रसपान कराके वे पूर्ण काम करती हैं ।[५] वास्तव में लक्ष्मीगण, महिषीगण एवं ब्रज देवीगण उन्हीं का अंश हैं । उनमें ब्रज देवीगण आकार-भेद से राधा की ही कामव्यूह रूप हैं । ये रस का कारण हैं, इन्हीं की सहायता से राधा कृष्ण को रसपान कराती हैं । राधा पूर्णशक्ति हैं, कृष्ण पूर्णशक्तिमान हैं । कृष्णदास कविराज ने तो यहां तक कह दिया है कि वे वास्तव में एक ही हैं, लीला रस के आस्वादन के लिये ही दो रूपों में वह प्रकट हुए हैं:—

राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्रेर प्रमाण,
राधा कृष्ण एके सदा एकइ स्वरूप
लीला रस आस्वादिते धरे दुइ रूप ।[६]

---

१. तदेव परममधुर प्रेमवृत्तिमयीषु तास्वपि तत्सारांशोद्रेकमयी श्रीराधिका तस्यामेव प्रेमोत्कर्षपराकाष्ठाया दर्शितत्वात्...तत् प्रेमवैशिष्ट्यं ऐश्वर्यादिरूपा अन्याः शक्तयो नात्याद्दा अप्यनुगच्छतीति श्रीवृन्दावन श्री राधिकायामेव स्वयं लक्ष्मीत्वम् ।
—जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ४४४ ।

२. ह्लादिनी सार प्रेम, प्रेम सार भाव ।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव ।
महाभाव स्वरूपा श्री राधा ठकुरानी ।
सवगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणि ।
चै० चरि०, आ० ली० ४ परि०, पृ० २४ ।

३. ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिपरीयसी ।
—उ० नी० म०, पृ० ७५ ।

४. प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित, कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित ।
चै० चरि, म० ली०, परि ४, पृ० १४९ ।

५. वही, पृ० १४९ ।

६. चै० चरि०, आ० ली० परि ४ पृ० २४-२५ ।

जीव गोस्वामी ने भी इस अभिन्नत्व का निर्भ्रान्त प्रतिपादन किया है—परमशक्ति शक्तिमत्वेनातिशायित महाभाव रसेन वा परस्परमभिन्नतां गतयोरेक्येनैव विर्वक्षतं तदिति ।[1] अतः वृन्दावन में राधा-कृष्ण की युगलित स्थिति ही कृष्ण का सर्वाधिक सान्द्रानन्द चमत्कारकर प्रकाश है ।[2] यहाँ पर दोनों ही नित्य कैशोरावस्था में क्रीड़ा करते रहते हैं, यही लीला एक मात्र आस्वाद्य है। दोनों एक होकर भी लीला के बहाने दो हैं—यह अभेद में भेद अचिन्त्य शक्ति के बल पर है, यही अचिन्त्य भेदाभेद है ।

पीछे हम कह चुके हैं कि भगवत् संदर्भ में भक्ति को भी ह्लादिनी शक्ति का ही एक पक्ष माना गया है। राधा भी ह्लादिनी हैं। भगवान का स्वरूप रसमय है। इस रसमयता का कारण ह्लादिनी शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा भगवान स्वयं आह्लादित होते हैं और दूसरों को भी आह्लादित करते हैं। इस प्रकार उनका प्रवेश दोनों ओर है। भगवान के साथ वह लीला-सहचरी बन कर उन्हें रसास्वादन कराती हैं तथा भक्त के हृदय में भक्ति बन कर भगवत् आनन्द में उसे लीन करती हैं। चूंकि ह्लादिनी की सारभूत विग्रह राधा है, अतः राधा का भी दोनों पक्षों में प्रवेश गोस्वामियों ने विवेचित किया है—

ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण ।[3]

वस्तुतः इन तत्त्व विवेचकों ने एक ओर उन्हें कृष्ण की नित्य प्रियतमा के रूप में श्रेष्ठतम स्थान पर पहुँचा दिया, दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ भक्त भी कह दिया। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि राधा की प्रतिष्ठा स्वरूप-शक्ति की श्रेष्ठतम वृत्ति के रूप में भी की गयी, भगवान के प्रति पांच मुख्य भाव-संबंधों में भी श्रेष्ठतम कान्तारति के श्रेष्ठतम रूप समर्था रति की अन्यतम प्रतिनिधि भी वे ही मानी गयीं और प्रेम भाव के विकास की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव के साथ उन्हें एकातम दिखा कर सर्वश्रेष्ठ भक्त भी सिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार वे सर्वोच्च शक्ति हैं, सर्वाधिक मधुर कान्ता हैं और सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।

---

१. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण संदर्भ, पृ० ४४७।

२. अतः सर्वतोऽपि सान्द्रानन्द चमत्कारकरश्रीकृष्णप्रकाशे श्रीवृन्दावनेऽपि परमाद्भुतप्रकाशः श्रीराधया युगलितस्तु श्रीकृष्ण इति।
—वही, पृ० ४४७।

३. चै० चरि०, आदि लीला, परि० ४, पृ० २४।

ऐसी भक्ति है जहाँ पर कि अन्य साधकों की पहुंच नहीं हो सकती। राधिका की इस अवस्था को आगे दिये गये चार्ट से भली भांति समझा जा सकता है :

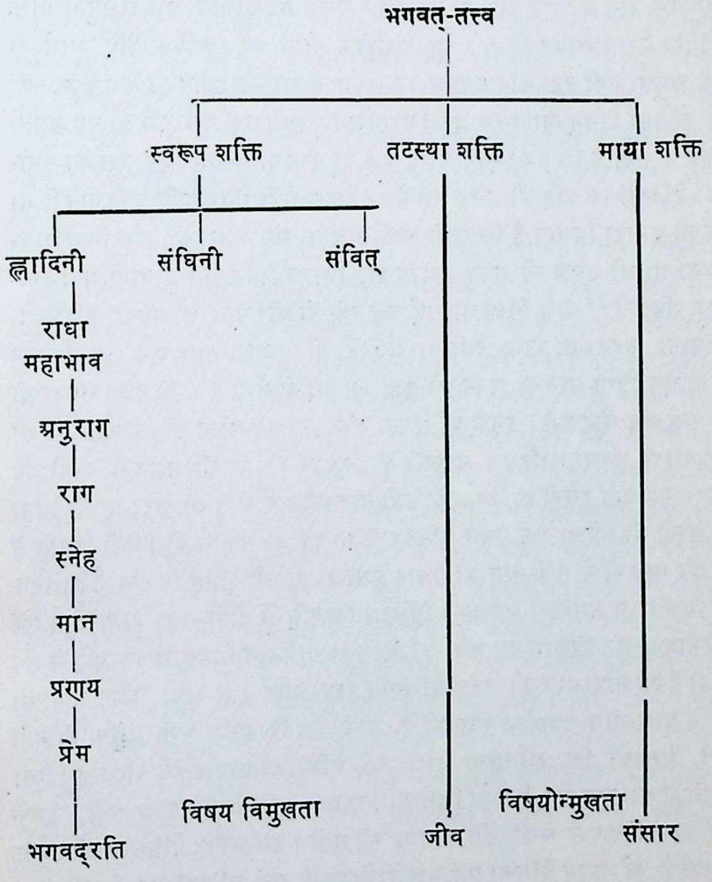

सखी :

भारतीय प्रेम-काव्य की एक अनिवार्य रूढ़ि के रूप में सखी की सत्ता सदैव मान्य रही है, एवं जिस प्रकार प्रेम-काव्य की रसनिर्भर नायिका राधा धर्म और दर्शन के सिंहासन पर भली भाँति आरूढ़ हो जाती है, वैसे ही सखी भी साधना के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करती है। लगता है कि सखी-भाव धीरे-धीरे जड़ पकड़ता जा रहा था एवं १६वीं शताब्दी में अनेक सम्प्रदायों में अचानक ही फूट पड़ा। हरिदासी, राधावल्लभी एवं चैतन्य सम्प्रदाय इसके प्रारम्भिक उत्स बने एवं बाद को तो इसने अपने समकालीन प्रत्येक सगुण भक्ति सम्प्रदाय को प्रभावित किया। पुष्ट दार्शनिक नीति पर स्थापित पुष्टि मार्ग भी इससे अछूता नहीं रहा और मर्यादा का स्थापक राम-सम्प्रदाय तो इसमें आकण्ठ मग्न हो गया। निर्गुणोपासक शुक (चरणदासी) सम्प्रदाय के बारे में तो यह कहना कठिन हो गया है कि यह निर्गुणोपासक है या सखीभावापन्न मधुर रस का उपासक। ऐतिहासिक दृष्टि को अलग रखकर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारा विचार है कि सखी-भाव-साधना उस काल की मानसिक आवश्यकता भी थी। जब लीलावपु उपास्य हो, जिसके भिन्न-भिन्न धामों में भिन्न-भिन्न परिकरों के साथ नित्य लीलाएँ चल रही हों और उनमें भी लक्ष्मी, रुक्मिणी, सत्यभामा, कुब्जा या राधा जैसी कान्ताएँ भी हों, तब कान्ताभाव के क्षेत्र में अपने को भी एक प्रिया मानना अपने को कुछ खो देने ही जैसा है। फिर वह लीला भी क्या कुछ कम मोहक है। इसके अतिरिक्त प्रियतमा बन सकने की योग्यता का भी तो सम्पादन करना चाहिए। मामूली से किसान की कड़की भाग्य से रानी बन जाय—यह बात दूसरी है, पर वह किसी तत्कालीन सामन्त या बादशाह की प्रिया बन सकने की अपेक्षा उस समय सेविका ही अधिक बन सकती थी। ऐसी स्थिति में यदि इन साधकों में सखीभाव का प्रचार हुआ हो तो उसे ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ही समझनी चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से गोपीभाव, राधा-भाव एवं सखीभाव—यह विकास का क्रम रहा है, तथा साधनागत विकास की दृष्टि से हमें लगता है कि गोपीभाव की चरम परिणति राधा-भाव है। राधा कृष्ण-प्रियतमा होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ भक्त भी हैं. जहाँ तक कि अन्य भक्त पहुँच ही नहीं सकते, जिसका कि दर्शनमात्र दूसरे को भक्ति का आनन्द देने वाला है। ऐसी स्थिति में सामान्य जन के लिए ज़िस साधना मार्ग की आवश्यकता पड़ी, उसके लिए ब्रज परिकर में सखी की कल्पना की गयी। इस प्रकार प्रेमिकाएँ और भक्त गोपियाँ हैं, श्रेष्ठतम प्रेमिका एवं भक्त राधिका हैं एवं सखियाँ इस नित्य लीला का दर्शन करने वाली हैं। इस विकास के पीछे कुछ अन्य तथ्य भी हैं। भारतीय नैतिक जीवन का आदर्श बहुवल्लभावादी नहीं है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रेम का

परम निष्ठा एक के ही प्रति हो सकती है—इन तथ्यों ने गोपियों के स्थान पर एक प्रमुख गोपी-राधा की कल्पना अनिवार्य करा दी (चाहे वह स्वकीया हो या परकीया । रस के अतिरिक्त भक्ति के क्षेत्र में सेवक-सेव्य भाव भी सर्वथा मनोवैज्ञानिक है । ईश्वर अपने से बड़ा है—भले ही उसे अधिक वैभवशाली न कहकर सर्वतोभावेन रसमय कह दिया जाय, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता—उसके प्रति सेवाभाव अनिवार्य है । अतः जब कान्ताभाव या मधुर रस का ज़ोर बढ़ा तब उसी के भीतर से सेव्य-सेवक सम्बन्ध पर आधृत सखीभाव भी उभर कर आ गया । पुराने दास्यभाव से इसका अंकुर मात्र इस बात में है कि वहाँ पर प्रभु में विभुत्व अधिक है, यहाँ पर रसमयता प्रधान है । एक दूसरा अंतर यह भी है कि यहाँ पर सेवा में भी अंतरगता अधिक है । स्त्री-पुरुष की रतिकेलि के मध्यकालीन चित्रों एवं मूर्त्तियों में संभोग-काल में दासियों की उपस्थिति दिखायी गयी है, भक्ति-साधना की दृष्टि से उनमें अंतरंगता का तत्व और जोड़कर सखी का स्थान ने दिया गया । इस प्रकार सखीभाव को साधना मधुर रस के मध्य से सेव्य-सेवक सम्बन्ध का ही पुनरुत्थान है ।

चैतन्य सम्प्रदाय में इन सखियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह कहना ठीक नहीं है कि चैतन्य सम्प्रदाय में सखीभाव को पर्याप्त स्वीकृति नहीं मिली है । अन्य सखीभावोपासकों में जो कुछ कहा गया है, उसका सारतत्त्व यहाँ पर भी विद्यमान है, पर यह सब कृष्ण की समस्त लीलाओं, उनके बारे में प्रचलित धारणाओं को स्वीकार करके ही है और जिस ढांचे के भीतर उस सबको स्थान दिया गया है, उसी के भीतर ये भी हैं, अलग से इस भाव को स्फीत उन्होंने नहीं करना चाहा । 'उज्ज्वल नीलमणि' में वर्णित राधा के के गुणों में से एक गुण यह भी है कि वे सखी प्रणयादीना है ।[1] इन सखियों को भी रूप गोस्वामी की विश्लेषण-प्रवण प्रतिभा ने पाँच भागों में बाँटा है—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम श्रेष्ठ सखी । इनके नाम भी गिनाये गए हैं । परम श्रेष्ठ सखियों में ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी हैं ये आठों सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वगुणाग्रिमा बतायी गई हैं ।[2] तथा इनका राधा और कृष्ण दोनों के प्रति पराकाष्ठा का प्रेम रहता है । कभी राधा के प्रति यह प्रेम अधिक होता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी टीका में बताया है कि यह समय वह है जब राधिका खण्डिता नायिका होती है) एवं कभी कृष्ण के प्रति इनका प्रेमाधिक्य हो जाता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जब राधिका मानिनी होती है) ।[3]

१. उ० नी० म०, पृ० ९५ ।
२. उ० नी० म०, पृ० ९७ एवं ९८ ।
३. वही, पृ० ९८ ।

उज्ज्वल नीलमणि के तो दो पूरे प्रकरण ही सखी से सम्बन्धित हैं, सखी प्रकरण एवं सखी विशेष प्रकरण ।[1]

कृष्णदास कविराज ने इन सखियों के महत्व का बड़ा मनोहारी निदर्शन किया है। उनके अनुसार सखियों के बिना इस लीला की पुष्टि नहीं होती। सखियाँ ही लीला विस्तारक भी हैं और आस्वादक भी वे ही हैं। सखियों के बिना इस लीला की और कोई गति ही नहीं है। कृष्णदास कविराज स्पष्ट बताते हैं कि जो सखीभाव से इनका अनुगमन करता है, वही राधाकृष्ण-कुंज-सेवा रूपी साध्य को प्राप्त कर सकता है। अत्यन्त गद्‌गद भाव से वे इन सखियों का अद्‌भुत गुण बताते हैं (जिसे कि वे अकथ्य कथन कहते हैं) कि इन सखियों में कृष्ण संगसुख की स्पृहा नहीं होती। राधिका के साथ ही कृष्ण की लीला कराने में ही उन्हें अपनी केलि से कोटिगुना अधिक सुख मिलता है । राधा स्वयं कृष्ण के प्रेम की कल्पलता हैं एवं ये सखियाँ उस लता के पल्लव, पुष्प एवं पत्रों की भाँति हैं, अतः जैसे लता की जड़ सींचने से पल्लवादि को स्वयं रस प्राप्त हो जाता है वैसे ही राधा की रस-प्राप्ति ही उन्हें रसपुष्ट करती रहती है—

सखी बिनु एइ लीलार पुष्टि नाहिं हय।
सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय ।।
सखी बिनु एइ लीलार अन्येर नाहिं गति।
सखी-भावे येइ तारे करे अनुगति ।।
राधाकृष्ण-कुंज सेवा-साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ।।
सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्ण सह निज लीलाय नाहिं सखीर मन ।।
कृष्ण सह राधिकार लीला ये कराय।
निज केलि हैते ताहि कोटि सुख पाय ।।
राधार स्वरूप कृष्ण-प्रेम-कल्पलता।
सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता ।।
कृष्ण लीलामृते यदि लता के सिन्चय :
निज सेव्य हय ते पल्लववाछेर कोटि सुख हय ।।[2]

इस प्रकार कृष्ण की प्रेयसी या पत्नी बनकर अंग-संग-सुख लेने के स्थान पर राधाकृष्ण की ही लीला में आनन्द प्राप्त करने का तत्त्व साधना के स्तर पर उभरता है। कृष्णदास कविराज ने तो गोपीभाव एवं सखीभाव को समानार्थक

---

१. उ० नी० म०, पृ० १९०-२३६ ।

२. चैतन्य चरितामृत : मध्यलीला, परि० ८, पृ० १५२ ।

रूप में प्रयुक्त किया है :

> अतएव गोपीभाव करि अंगीकार।
> रात्रि दिन चिते राधा कृष्णेर विहार।।
> सिद्ध देह चिंति करे ताहात्रि सेवन।
> सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण।।
> गोपी अनुर्गात बिना ऐश्वर्य ज्ञाने।
> भजि लेह नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने।।

—चै० च०, म० लीला, परि० ८, पृष्ठ १३३

जीव गोस्वामी ने भी बताया है कि नायक-नायिका (राधा-कृष्ण) का स्थायी भाव 'साक्षात् उपभोगात्मक' होता है, पर सखियों में यह 'तद् अनुमोदनात्मक' होता है।[1] जयदेव के गीत-गोविन्द में लीला-आस्वादन का जो तत्त्व हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं,[2] वही साधना की दृष्टि से सखी भाव में परिणत हो जाता है।

हम यह भी कह चुके हैं कि गोपियों को राधा का काय-व्यूह रूप माना गया है। पीछे उद्धृत रूप गोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि ये सखियाँ भी उनकी काय-व्यूह रूप ही हैं। इस प्रकार सखियाँ भी स्वरूप शक्ति का ही प्रकाश सिद्ध होती हैं। इसे यों अधिक ठीक से समझा जा सकता है कि राधा जो ह्लादिनी शक्ति है, उन्हीं की वृत्ति भक्ति भी है। वे सर्व-श्रेष्ठ भक्त भी हैं और भक्तिरस प्रवाहिका भी हैं। सखियों के रूप में ह्लादिनी की यह भक्तिरसता ही मानो प्रवाहिका होती है। इस दृष्टिकोण की यह स्वाभाविक परिणति है कि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि राधिका स्वरूपत्व की प्राप्ति या राधा के भाव से कृष्ण की सेवा जीव के लिए कभी सम्भव नहीं है। इसीलिए जीव के सखीभाव की साधना की बात उठती है। परन्तु उस क्षेत्र में भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं एवं भक्तिरस-सम्बन्धी स्थापनाओं की संगति के लिए उन्होंने रागात्मिका एवं रागानुगा का सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। दार्शनिक दृष्टि से सखियाँ व्रज-परिकर के भीतर सम्मिलित होकर स्वरूपशक्ति का प्रकाश हो जाती है, पर जीव तो तटस्थ शक्ति है; इसलिए उसकी सेवा वही नहीं हो सकती, जो इन नित्य सखियों की होती है। इसलिए स्वातन्त्र्यमयी सेवा और आनुगत्यमयी सेवा ये दोनों भेद स्वीकार किये गए हैं। व्रज की सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी (रागात्मिका) है, जीव या साधक की इन्हीं के अनुगमन पर आनुगत्यमयी होती है (यही रागानुगा

---

१. जी० गो० : प्रीति संदर्भ, पृ० ८६७, एष च स्थायी साक्षादुपभोगनात्मकस्तदनुमोदनात्मकश्चेति द्विविधः। पूर्वः साक्षान्नायकानाम। उत्तर : सखीनाम्।

२. राधामाधवोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः, गीत गोविन्द, श्लोक १।

भक्ति है। इसका तात्पर्य है उन्हीं के अनुरूप सेवा का आचरण तथा श्रवण-स्मरण आदि के द्वारा अनुरूप राग से रुचि उद्‌बोधित करके लीला का रसास्वादन। डॉ० शशिभूषणदास गुप्त का यह मन्तव्य इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है, "राधा-प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है, वह एक राधा के सिवा और कहीं भी सम्भव नहीं है। इस राधा की कायव्यूह स्वरूप हैं सखियाँ, मंजरीगण उन सखियों की अनुगता सेवादासी हैं, श्री रूप मंजरी आदि ये मंजरीगण भी गोलोक की नित्य परिकर है; अनुग भाव से उनकी सेवा और लीला-आस्वादन ही जीव का श्रेष्ठ काम्य है।"[1] इस प्रकार की सेवा का ही रूप अष्टयाम की सेवा और लीला में विकसित हुआ है। चैतन्य चरितामृत की भूमिका में श्री राधा गोविन्दनाथ ने सखियों एवं मंजरियों के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, "सेवा के प्रकार भेद से गोपियों को दो मार्गों में विभक्त किया गया है—सखी तथा मंजरी। जो गोपियाँ श्री राधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं।···जो श्री राधा-गोविन्द के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती हैं, उन्हें मंजरी कहते हैं। ये राधा की किंकरी हैं एवं अंतरंग-सेवा की अधिकारिणी हैं। अंतरंग-सेवा में सखियों की अपेक्षा मंजरियों का अधिकार अधिक है। मंजरीगण सखीगण से न्यून-वयस्का हैं। ये भी स्वरूप शक्ति हैं। साधनसिद्धा गोपीगण सब मंजरी ही हैं। मंजरीवर्ग में नित्यसिद्ध जीव भी हैं।"[2]

हम इस बात को ज़ोर देकर कहना चाहते हैं कि चैतन्य सम्प्रदाय में भागवत् की गोपियों की नित्य प्रेयसी वाले रूप को साधक की साधना के स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया। राधाभाव से भजने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, साधक के लिए लीला का आस्वादन ही रह जाता है और उसके लिए सखियों के भाव का अनुगत होना पड़ता है। परिकर के रूप में इस लीला का स्मरण और लीला का आस्वादन—यही गौड़ीय भक्तों का परम साधन और साध्य है। गौड़ीय वैष्णव भक्तिरस-दर्शन में सखियों का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, इस बात पर श्री सुशीलकुमार दे के इस वक्तव्य को उद्धृत करके हम इस अंश को समाप्त करेंगे। डॉ० दे के अनुसार :—

चैतन्य- सम्प्रदाय के धर्म-दर्शन (थियोलॉजी) एवं रस-शास्त्र में सखी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। बिना उसके राधा और कृष्ण की सरस एवं मधुर (शृंगारिक) केलि न तो विस्तारित होती है और न पुष्ट होती है। इस केलि में सखी

---

१. शशि भूषण गुप्त : रा० क्रा० कि०, पृ० २३८।
२. हकीम श्यामलाल द्वारा अनूदित उक्त अंश के हिन्दी रूप: श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह, पृ० १०३-१०४।

एवं उसके भाव का अनुकरण करने वाले (रागानुगा ढंग से) भक्त को छोड़कर अन्य किसी का प्रवेश नहीं है।[1]

यहीं पर यह कह देना भी उचित होगा कि प्रारम्भ में तो साधनपरा गोपी भाव की साधना इस सम्प्रदाय में स्वीकार्य रही, परन्तु धीरे-धीरे अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव एवं राधा के अधिक उत्कर्ष के साथ (यह परवर्ती सहजियों का भी प्रभाव था जो नित्यानन्द के साथ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गए थे) सखीभाव का ही प्राधान्य हो गया। पिया-प्यारी की क्रीड़ा का ही शत-शत पदों में गान दिखाई पड़ने लगता है, अन्य गोपियाँ मात्र सखियों के रूप में ही दिखाई देती हैं। स्वयं रूप गोस्वामी की पद्यावली एवं उनके शिष्य माधुरीदास की 'माधुरी वाणी' में यह अन्तर देखा जा सकता है। रूप गोस्वामी में गोपी-प्रेम के चित्र उपलब्ध हो जाते हैं,[2] पर माधुरीवाणी में स्वयं कृष्ण का राधा-संग-विहार ही वर्णित हुआ है। माधुरीवाणी का वक्तव्य सब मिलाकर सखीभावोपासकों के अधिक निकट बैठता है।[3] इस प्रवृत्ति को हम आगे और विकसित होता हुआ अठारहवीं शती के कवियों में देख सकते हैं।

गौड़ीय वैष्णव-तत्त्ववाद की रूपरेखा

(१) कृष्ण ही परात्पर भगवत्तत्व हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनसे हीनकोटि की अवस्थाएँ हैं।

(२) कृष्ण ही अवतारी हैं, शेष अवतार।

(३) कृष्ण की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं—अंतरंगा स्वरूपशक्ति, बहिरंगा माया-शक्ति और तटस्था जीवशक्ति। इनमें स्वरूप शक्ति ही श्रेष्ठ है।

(४) स्वरूपशक्ति के द्वारा ही भगवान् अपनी लीला का विस्तार करते हैं।

(५) धाम, परिकर, लीला सब उसी स्वरूप शक्ति के प्रकार हैं।

(६) स्वरूपशक्ति का तीन मुख्य वृत्तियाँ—ह्लादिनी, संधिनी एवं संवित् हैं। इनमें ह्लादिनी ही सर्वश्रेष्ठ है।

---

१. एस० के० दे : वै० फ़े० मू०, पृ० १५८।

२. रूप गोस्वामी : पद्यावली, संख्या १५४-१५७।

३. माधुरी वाणी : प्रकाशन बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, मथुरा।

(७) ह्लादिनी परम मधुर शक्ति है, यही भगवान को नित्य सहचरी राधा के रूप में आनन्द देती है एवं भक्ति के रूप में जीव को लीलारस का आस्वाद करा कर आनन्द प्रदान करती है ।

(८) राधा इस प्रकार कृष्ण की सर्वोत्तम ह्लादिनीशक्ति भी हैं और सर्वोत्तम भक्त भी । उनका और कृष्ण का अन्तर शक्ति और शक्तिमान का है ।

(९) धाम गोलोक है । गोलोक और गोकुल में कोई भेद नहीं है ।

(१०) इस धाम का भी त्रिधा प्रकाश होता है—वृन्दावन (व्रज), मथुरा और द्वारका ।

(११) प्रत्येक धाम का परिकर एवं लीला भिन्न-भिन्न है । इनमें सर्वोत्तम लीला एवं परिकर वृन्दावन धाम का है ।

(१२) लीला के प्रकट और अप्रकट दो रूप हैं ।

(१३) भक्त का साध्य न तो नित्यप्रिया गोपीत्व है और न राधात्व की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है ।

(१४) गोपीनाथ से साधना का तात्पर्य साधनपरा गोपियों का अनुगत्य स्वीकार करना है ।

(१५) राधात्व की निकटता की दृष्टि से राधा की सखी रूप में लीला का विस्तार, लीला में सेवाभाव और लीला का आस्वादन करने वाले का अनुगत्य है ।

(१६) साध्य की दृष्टि से भगवान की लीला ही यहाँ साध्य है ।

(१७) भगवत्‌तत्त्व चूंकि स्वयं कृष्ण हैं अतः इस सम्प्रदाय में तात्त्विक दृष्टि से प्रधानता कृष्ण की है । यद्यपि राधा को भी पर्याप्त मान मिला है, एवं १७वीं शती से राधा को भी कृष्ण के बराबर स्थान प्राप्त होने लगा था ।

(१८) प्रारम्भ में भी इस सम्प्रदाय में परकीया को कुछ न कुछ स्वीकृति प्राप्त रही है और बाद में तो १८वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते परकीया-भाव को पूर्णतया प्रधानता मिल जाता है ; तथा परकीयात्व के ही आधार पर गोपियाँ कृष्ण-प्रियाओं में श्रेष्ठ गिनी जाती हैं ।

(१९) परकीया-भाव की इस स्वीकृति का परिणाम है कि इस सम्प्रदाय के कवियों ने प्रेम-वर्णन के क्षेत्र में विरह और उत्कंठा आदि के प्रभूत रसात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं ।

इस सम्प्रदाय की साधना की समीक्षा के संक्षिप्त संकेत

(१) कृष्ण से संबधित समस्त परम्पराओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न हुआ है।

(२) इनमें से दो परम्पराएं मुख्य हैं– मानवतादि पुराणों एवं महाभारतादि ग्रंथों में वर्णित कथा एवं काव्य के क्षेत्र में राधा-कृष्ण की ललित प्रेमगाथा।

(३) प्रथम में गोपियाँ, कुब्जा, महिषियाँ, उनकी प्रेमिकाएं एवं पत्नियां हैं दूसरी में राधा। प्रथम में सर्वोत्तम प्रेमिका (इसलिए भक्त भी) गोपिकाएँ हैं एवं दूसरी परम्परा में इस पद की निर्विवाद रूप से अधिकारिणी श्री राधा हैं।

(४) अपने समन्वय में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने पहले तीनों धर्मों व्रज, मथुरा एवं द्वारका—में व्रज की गोपिकाओं को श्रेष्ठ माना और फिर इन गोपिकाओं में भी राधा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

(५) पर इन समन्वय के बावजूद दो प्रकार की साधनाओं के आदर्श साधक के सामने उपस्थित होते हैं :—

(क) पहला आदर्श तो गोपियों का है, पर इन्हें स्वरूपशक्ति कहा जा चुका था : अतः साधनपरा गोपियों के भाव का अनुमान करने का आदेश देकर गोपीभाव की साधना की परम्परा सुरक्षित रखी गयी।

(ख) राधावाद को प्राधान्य दे देने के बाद जिस साधना-पद्धति का उदय हुआ, उसी को सखीभाव कहा गया। कृष्ण एवं गोपिकाओं की क्रीड़ा नहीं, राधा-कृष्ण की केलि का ये सम्पादन और रसास्वादन करती हैं।

(६) इस समन्वय एवं अभिनवीकरण में उन्होंने अपने शक्ति-सिद्धांत का अत्यधिक उपयोग किया है। बिना इन शक्तियों की कल्पना के यह कार्य सम्भव ही नहीं था।

(७) इसके बावजूद तमाम परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों का समाहार एवं समाधान उन्होंने भगवान की अचिन्त्य शक्ति के बल पर कर लिया है। जब इतनी तर्क-प्रवण मेधा वाले पंडितों के सम्प्रदाय का यह हाल है, तो सहज ही यह जाना जा सकता है कि भक्तिकाल तर्काश्रित या बुद्धिप्रवण न होकर राग-परक है और इनका दर्शन वस्तुतः रहस्यपरक है। इन साधकों को

'प्रेम-रहस्यवाद' (Love Mysticism) का ही पथिक माना जाना चाहिए।

ब्रजलीला एवं निकुंज-लीला : भिन्नता की मानसिक पृष्ठभूमि

गौड़ीय वैष्णव तत्त्व-दर्शन को तनिक विस्तार से उपस्थित करने का तात्पर्य, मात्र इतना है, कि पृष्ठभूमि में स्थित दार्शनिक विचारधारा से परिचित हुआ जा सके। मध्यकाल के विविध भक्ति-सम्प्रदायों में काव्य-पुराणादि वर्णित लीला को इस प्रकार दार्शनिक स्तर पर व्याख्यायित करने का यह प्रयास अपने आप में अप्रतिम है। दर्शन की दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदाय बहुत ही पुष्ट एवं दृढ़ है, पर वहाँ भी लीला के बारे में ऐसा सांगोपांग विवेचन प्राप्त नहीं होता। आगे चल कर १८वीं शताब्दी में रामोपासकों ने राम-कथा को भी ऐसा ही मोड़ देना चाहा है (उसकी चर्चा हम आगे करेंगे)। लेकिन उस पर गौड़ीय वैष्णव व्याख्या-पद्धति एवं विचारधारा का बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव है। गौड़ीय वैष्णवों के समकालीन अन्य वृन्दावनीय सम्प्रदायों ने साधना के शुद्ध व्यावहारिक धरातलों और अपनी रहस्यानुभूतियों के आधार पर ही इस लीला को ग्रहण किया। पर लगता है कि इस सबके मूल में दार्शनिक दृष्टि लगभग वही रही है जो गौड़ीय वैष्णवों की थी। हमारा अनुमान है कि विष्णु, भागवत, पद्म, ब्रह्मवैवर्त पुराणादि के साथ ही वैष्णवाचार्यों द्वारा कल्पित स्वरूपशक्ति से सम्बन्धित लीला का दर्शन सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया था। इसी कारण अन्य सम्प्रदायों में भी गौड़ीय वैष्णव-तत्त्वदर्शन से मिलती-जुलती अभिव्यक्तियाँ हमें प्राप्त हो जाती है इनमें स्थापना के बाद पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम भी बढ़ता रहा, इसने भी समानताएँ उत्पन्न और विकसित कीं। परन्तु फिर भी कतिपय साधना एवं सिद्धांतगत अन्तर प्राप्त होते ही हैं।

हमारा अनुमान है कि इस अन्तर की मुख्य कारण है कि गौड़ीय तत्त्व-दर्शन रहस्यानुभूतियों पर आधारित न होकर परम्पराप्राप्त साहित्य की नींव पर खड़ा है। उस साहित्य की व्याख्या अवश्य अपने ढंग से उन्होंने की है, पर व्याख्या में पर्याप्त स्वतन्त्रता की सुविधा होते हुए भी उस सारे साहित्य एवं विचार की अपनी कुछ सीमाएँ और मर्यादाएँ भी होती हैं। यद्यपि स्वयं चैतन्य सम्भवतः मध्यकाल के श्रेष्ठतम एवं गहनतम रहस्यानुभूतियों वाले व्यक्ति थे पर स्वयं उन्होंने कुछ लिखा नहीं है जिससे कि उस रहस्यानुभूति के आधार का पता लगता। उनके जीवनचरित्रकारों ने जो कुछ चैतन्य के मुख से कहलवाया है, उसके बारे में यह कहना कठिन है कि कितना चैतन्य का है और कितना उनके मुख में जीवनीकारों

ने अपनी ओर से रख दिया है। उसकी जीवनी से केवल इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे कान्ताभाव को स्वीकार करते थे; एवं मधुरभाव की अत्यधिक सान्द्र स्थितियों में गहन आवेश में मग्न भी हो जाते थे। अपनी पिछली शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि महाभावस्वरूपिणी श्री राधा के भाव का मानो मूर्तिमान विग्रह थे। चैतन्य मतानुयायी तत्त्व-विवेचकों ने कुछ उनसे संकेत लेकर शास्त्रों के आधार पर अपना दार्शनिक, व्यावहारिक साधना का ढांचा तैयार किया था। परन्तु हरिदासी या राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इससे भिन्न स्थिति रही। इनके संस्थापकों स्वामी हरिदास एवं श्री हितहरिवंश ने अपनी रहस्यानुभूतियों को स्वयं ही अभिव्यक्त किया है, इसके लिए किसी आप्त-प्रमाण को उन्हें खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनका अपना अनुभव स्वयं ही प्रमाण रहा। प्रमाण की दृष्टि से एक और मज़ेदार विकास हम देख सकते हैं—पुष्टिमार्ग में प्रमाण-चतुष्टय की मान्यता है। गौड़ीय वैष्णवों में केवल भागवत को ही पूर्ण प्रमाण स्वीकार किया गया; परन्तु हरिदासी एवं राधावल्लभीय संप्रदायों में भागवत इत्यादि को सम्मान तो दिया गया परन्तु प्रमाण रूप में उन्हें स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठा। अतः प्रमाण स्वानुभव ही रहा।[1] इस तथ्य ने एक दूसरे परिणाम पर इन सम्प्रदायों को पहुँचा दिया। इन्हें कृष्ण की विविध काव्य-पुराणादि वर्णित लीलाओं को शिरसः स्वीकार करके अपने सैद्धान्तिक ढांचे के भीतर स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं हुआ। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कृष्ण-लीलाओं के भीतर सार रूप से जो राधा-कृष्ण के प्रेम का तत्त्व है, उसे ही उन्होंने स्वीकार किया। माता, पिता, गुरुजन, सखा, गोपी, गोप, मथुरा, द्वारका, दैत्यवध, अत्याचारी का विनाश, धर्म की स्थापना आदि जितनी भी बाह्य बातें हैं उन्हें छोड़कर मात्र आन्तरिक प्रेम-तत्त्व को स्वीकार किया गया। इसी कारण इन सम्प्रदायों में हमें लीला एक भिन्न स्तर पर दिखायी देती है, एवं लीला की इस भिन्न स्तर वाली स्थिति के भीतर ही साधना के क्षेत्र में सखीभाव का चरम विकास हुआ। आगे हम इन सम्प्रदायों की उपास्य, उपासक एवं लीला-सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करेंगे।

---

१. अहमक यामैं अर्थ न पायो काहे को पढ़ियै देद पुराना।
कागद के अंकनि उन्माना।
अनुभै करि प्रीतम पहिचाना, भया प्रतिछिन कछु प्रवाना।
—स्वामी विहारिणि देवः चौबोला-६-७।

सखी (हरिदासी) सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं साधना-भाव

भक्त-चरित्रों के विश्रुत गायक नाभा जी ने स्वामी हरिदास के बारे में लिखते हुए कहा है :—

> युगल नाम सौं नेम जपत नित कुंजबिहारी ।
> अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी ॥
> गानकला गन्धर्व श्याम श्यामा को तोषैं
> उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं
> नृपति द्वार ठाढ़े रहै दर्शन आसा जासु की
> आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की ।[1]

यह छप्पय ही बताता है कि वे युगलोपासक थे, कुंजबिहारी-केलि के सखी-भाव से आस्वादक थे तथा ये युगल श्यामा और श्याम थे ।

पीछे गौड़ीय वैष्णव-सिद्धान्त-चर्चा में हम भगवत्-तत्त्व पर विचार कर आए हैं । वहाँ पर हमने देखा था कि भगवान् और कृष्ण एक ही है, अन्य सारे अवतार कृष्ण के ही अंश हैं, पर वे स्वयं भगवान् हैं । वे शक्तिमान् हैं और उनकी विविध शक्तियाँ हैं । धाम, परिकर आदि सब शक्तियों का ही प्रकाश है एवं उनकी प्रकट और अप्रकट लीलाएँ चला करती हैं । सखी-सम्प्रदाय में इस प्रकार का कोई व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता । इसके कारण का निर्देश हम पीछे कर चुके हैं कि ये साधक रहस्यदर्शी अधिक है, व्यवस्थित नियामक कम । परन्तु फिर भी यत्र-तत्र उनके कथनों से कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ।

स्वामी हरिदास युगलोपासक थे । उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में युगल को सम्बोधित करके या उनका नाम लेकर ही अपनी बात कही है । उनके 'केलिमाल' ग्रन्थ में जहाँ युगल का नाम पूरा-पूरा उद्धृत नहीं भी हुआ है, वहाँ पर अभिप्रेत वही है । केवल 'अष्टादश-सिद्धान्त' के पदों में पन्द्रह पद ऐसे हैं, जिनमें युगल को सीधे संबोधित नहीं किया गया है । इन पन्द्रह पदों में भी पाँच पदों में बिहारी अथवा कुन्जबिहारी शब्द आया है, जो लक्षणा से युगल-रूप का ही बोध देता है तथा तीन पदों में कमल-नैन, आनन्दनन्दिस एवं श्याम शब्द प्रयुक्त हुआ है —शेष ६ पदों में उन्होंने केवल हरि शब्द का प्रयोग किया है ।[2]

---

१. भक्तमाल : छप्पय संख्या ९१ ।

२. अष्टादश सिद्धान्त के पद, प्रकाशक कुंजबिहारी पुस्तकालय, वृन्दावन । संख्या २,३,१२ में श्यामा-कुंजबिहारी, संख्या ७,८,११,१५,१८ में बिहारी या कुंजबिहारी, संख्या ७ में कमलनैन, ९ में आनन्दनन्दिस एवं १६ में श्याम तथा शेष में हरि का प्रयोग है ।

गौड़ीय वैष्णवों से सखी-सम्प्रदाय का पहला सबसे प्रत्यक्ष और मौलिक अन्तर है कि जहाँ प्रथम में कृष्ण को स्वयं भगवान् कहा गया है, वहाँ दूसरे में कृष्ण नाम ही छोड़ दिया गया गया है। यह बात हो सूचित करती है कि कृष्ण के नाम से सम्बन्धित तमाम व्यक्तियों, घटनाओं, परिस्थितियों, स्थानों एवं लीलाओं को अनिवार्य नहीं माना गया। पीछे हम देख चुके हैं कि गौड़ीय वैष्णवों को इन्हें स्वीकार करने के कारण तमाम समस्याओं के समाधान के लिए अनेक स्तरों पर व्याख्याएँ करते हुए उनके मध्य संगति स्थापित करनी पड़ी थी। पर यह समस्या स्वामी हरिदास के सामने न थी। उनके सम्प्रदाय में कृष्ण नाम को छोड़कर श्याम-श्यामा, कुंजबिहारी-बिहारिनि, लाल-लाड़िली, लाड़िली-लाड़िले, प्रिया-प्रियतम, छबीलो-छबीली आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। न वे नन्द-नन्दन हैं और न वे वृषभानुनन्दिनी। राधा नाम अवश्य सम्प्रदाय में प्रयुक्त हुआ है। राधा के साथ चूँकि ऐश्वर्य की पूर्व-कल्पित परम्पराएँ न होकर प्रेयसी का उद्दाम रूप ही सम्बद्ध था, इसी कारण राधा सम्भवतः स्वीकार्य रहीं। वास्तव में कृष्ण नाम स्वीकार करने ने बाद एक प्रश्न उठता है कि कृष्ण तो द्वापर में हुए थे, उसके पहले और बाद को क्या स्थिति रही? अवतार के संदर्भ में काल-विशेष का दोष आ जाता है। चैतन्य-मतानुयायियों ने इस समस्या का उत्तर नित्य प्रकट एवं अप्रकट लीला कह कर दे लिया था। पर स्वामी हरिदास अपने उपास्य को अत्यन्त सहज भाव से एक-देशीयता से छुटकारा दे देते हैं। उनके अनुसार गौर-श्याम वर्णी यह जोरी सहज ही प्रकट हुई है। तात्पर्य यह कि ये नित्य और अजन्मा हैं। किसी एक काल में ही उनकी विद्यमानता न कह कर यह स्वीकार किया है कि यह जोड़ी पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। सौन्दर्य के क्षेत्र में तो वे आगे हैं ही. सम-वयस् भी हैं :—

> माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर श्याम घनदामिनि जैसे।
> प्रथमहुं हुती अबहूं आगेहूं रहिंहि न टरिहै जैसे।
> अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे।
> श्री हरिदास के स्वामी स्यामा, कुंजबिहारी समवैस वैसे।[1]

स्वा० विहारिणि दास जी ने मानो इसे ही स्पष्ट करते हुए कहा है :—

> मेरे नित्य किशोर अजन्मा
> विहरत एक प्राण द्वै तन्मा।[2]

इस युगल-रूप के प्रकटीकरण एवं क्रीड़ा की सहजता, स्वाभाविकता एवं अलौकिकता की ओर अत्यन्त लाक्षणिक संकेत करते हुए उन्होंने कहा है :—

---

१. स्वा० हरिदास : केलिमाल, सं० १।

२. साखी, १४२।

रुचि के प्रकास परस्पर खेलन लागे ।[1]

वे रुचि या प्रेम के प्रकाश हैं यह तथ्य भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है यानी कि श्याम-श्यामा वास्तव में एक अन्य तत्त्व-रुचि या प्रेम या रस के प्रकाश हैं। गौड़ीय वैष्णव-सिद्धान्त में हमने देखा था कि राधा, कृष्ण की स्वरूपशक्ति का प्रकाश हैं, उनका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान् का है, पर यहाँ एक ही तत्त्व रुचि के ये दोनों ही प्रकाश हैं और इस प्रकार शक्ति-शक्तिमान् वाली व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस उपपत्ति का परिणाम है कि दोनों को समानता का स्तर प्राप्त हो जाता है। 'परस्पर खेलन लागे' कथन प्रकटीकरण की अलौकिकता, पारस्परिक प्रेम-भावना एवं क्रीड़ा-परायणता की ओर संकेत करता है।

इस सहजता, अनादि तत्त्व आदि को ध्यान में रखने के कारण ही संभवत: स्वामी बिहारिणि दास (इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त-व्याख्याता) ने कहा था :—

मन नसा आसा मगन तन की कछु न संभार ।
श्री बिहारीदास नाम न कहै निरखै नित्य बिहार ।
नामी नाम न भावई तन मन मनसा प्रान
आसा दास विहार कियौ बसि रसिकाने धाम ।
नाम न कछु विहार बिन ठाली नाम निवारि ।
नामी नाम सुहावनौ जब देख्यो करत बिहार ।
कहा नाम नामी कहा सखी सुख पूछौ तोहिं
तन मन मगन बिहार में तहां ढूढ़ि लै मोहिं ।[2]

इस प्रकार मुख्य बात नित्य-विहार है, नाम नहीं। तात्पर्य यह कि इस युगलरूप का मुख्य परिचय नाम से नहीं नित्य-विहार-तत्त्व से दिया जा सकता है। यदि कोई नाम दिया भी जायगा तो युगल के पारस्परिक विहार, प्रेम एवं केलि को प्रकट करने वाला ही होना चाहिए। यों नाम और नामी का संबंध अन्यत्र उन्होंने बीज एवं तरुशाखा का माना है जिसमें कि साधनरूपी अपार पुष्प खिलते हैं।[3]

वास्तव में युगल एक ही हैं, केवल इच्छा से ही दो होते हैं। इसी कारण बहुत से लोग इस सम्प्रदाय के दर्शन का नाम 'इच्छा-द्वैत' बताते हैं। पर वास्तव में इच्छा से दो होने का सिद्धान्त लगभग सभी वैष्णव-सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना ही है कि यहाँ पुरुष-तत्त्व (श्याम) की ही प्रधानता नहीं है। दोनों को

---

१. केलिमाल, २।

२. स्वा० विहारिणि दास : साखी, १३०-१३३।

३. नाम बीजु नामी तरुसाखा साधन पहुप अपार—वही सिद्धान्त के पद, १४४ (पृ० १०४)।

समान पद प्राप्त है । बिहारिरिण दास ने उनके एकत्व की एक बड़ी अनोखी उपमा दी है कि चना जैसे एक ही होता है पर उसके भीतर दो दालें हो जाती हैं, वैसे ही एक होते हुए भी ये दो हैं :

> **बहुत भाँति इनको कहै श्री बिहारिरिण दास विचारि ।**
> **विकल बिना आलिगनै एक चना द्वै दारि ।**[1]

अथवा जैसे एक ही मूल के दो स्कंध एक ही समय में होते हैं, वैसे ही ये भी हैं—

> **एक मूल अस्थूल लो, द्वै स्कंध समवैस ।**[2]

यह जोड़ी ऐसी विचित्र बनी है, जैसी कि किसी ने देखी है न सुनी है और न भनी है ।[3] प्यारे को प्यारी अच्छी लगती है और प्यारी को प्रियतम बहुत भाते हैं, दोनों को ही युगल किशोर जानना चाहिए ।[4] जैसे 'घन-दामिनी' सदा साथ रहते हैं, वैसे ही ये भी हैं । ऐसी अद्‌भुत जोड़ी है कि मन, वचन और कर्म से इन्हीं का संग करने का मन होता है, फिर और किसी ओर दृष्टि टलती ही नहीं है ।[5] जिस प्रकार पृथ्वी में गंध है, परन्तु उसका रूप सूक्ष्म है उसी प्रकार श्याम के रूप में गौर अंश सूक्ष्म-रूप से विद्यमान ही रहता है :—

> **ज्यों पृथ्वी में गन्ध है सूक्षम धरे सरूप ।**
> **यों गौर स्याम में मिल रह्यो भिन्न न कहिये रूप ।**[6]

न ये लक्ष्मी और नारायण हैं और न ही ये ब्रज के राधाकृष्ण हैं—वे लोग तो इनके रस के लिए ललचाते और बिललाते रहते हैं :—

> **अभिमानो दरवान ज्ञान की कौन कहै कुसरात ।**
> **याही तै दुर्लभता सबको लछिमीपति ललचात ।।**
> **यद्यपि राधा कृष्ण बसत ब्रज बिन बिहार बिललात ।**[7]

वेदादि में जो निर्गुण ब्रह्म की चर्चा आती है, मुनिगण जिस निराकार की बात कहते हैं, वह सब इन नित्य-बिहारी की आभा-मात्र है :—

---

१. स्वा० बिहारिरिणदास : साखी ११४ ।
२. वही, वही १११ ।
३. स्वा० हरिदास : केलिमाल, ३१ ।
४. वही—वही, ३ ।
५. वही—वही, ४ ।
६. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त के दोहा (कालक्रम से परवर्ती इस उद्धरण में कृष्ण का रूप शक्तिमान् का-सा प्रतीत होने लगता है) (स्वा० ह० सम्प्रदाय और वाणी साहित्य, पृ० २९५ पर उद्धृत) ।
७. बिहारिरिणदास : सिद्धान्त के पद, १४२ ।

निर्गुन ब्रह्म जो बर्नत वेद, ताकौ सुनौ जुदो इक भेद ।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि,
निराकार मुनि बदत जो ताहि ।[१]

यदि कोई यह प्रश्न करे कि विविध अवतारों का कारण क्या है तो स्वामी रसिक देव का उत्तर होगा कि इन अवतारों के उद्‌भव का कारण युगल का यह नित्य-विहार ही है :—

नारायण आदि सकल औतार, तिन कारन नित्य विहार ।[२]

यों वे और किसी के आश्रित नहीं हैं पर मन के लिए तो कोई सहारा चाहिए और वे अगोचर भी हैं अतः दिखाई कैसे पड़ें । मन इस दिव्य केलि-रूपी आलम्बन के सहारे टिका रहता है, इस प्रकार लीला का भी कारण नित्य-विहार प्रतीत होता है ।[३] यह अंग हमें सूरदास के "अवगति गति कछु कहत न आवै" को याद दिला देता है । स्वामी ललितकिशोर देव ने इस नित्य-विहार-लीला का कारण प्रभु का वह अनुग्रह माना है, जो सखी को आनन्द देना चाहता है, अन्यथा उनका रूप तो वेदों के लिए भी अलख और अगोचर है : —

निगम अगोचर अलख है क्यों हू लख्यौ न जाय ।
प्रेम सहचरी भाव सों युगल रूप दरसाय ।[४]

यो दोनों ही विहार के इतने लालची हैं कि इनके बिना जो समय बीतता है वह उनके शरीरों को अत्यधिक शिथिल कर देता है, उन्हें वे विरह के क्षण प्रतीत होने लगते हैं :—

व्याकुल विरह विहार बिनु नखसिख लोभी लीन ।
श्री बिहारिणि दास अंग सिथिलई स्वासन गनत अधीन ।[५]

इनके विहार को ही लेकर सखी-सम्प्रदाय के भक्तों ने सहस्रों दोहों, पदों, कवित्त, सवैयों, में रस की धारा बहाई है । पर किसी को यह न समझना चाहिए कि इनके बिहार में प्राकृतिक मल-मैथुन या काम का आवेश है :—

---

१. स्वा० रसिकदेव : भक्ति-सिद्धान्तमनि, ८७ ।
२. वही — ८८ ।
३. निरालम्ब नहि मन की विष बचन अगोचर क्यों करि लखै ।
दिव्य केलि औलम्बन दीनो, लीलारस यो जनहित कीनो ।
—वही रससार १२-१३ ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव : सिद्धान्त के दोहा । (स्वा० ह० सं० वा० सा०, पृ० २९८ पर उद्धृत) ।
५. वही, साखी १३५ ।

इनके मल मैथुन कछु नाहीं, ए दिव्य देह विहरत बन माँहीं
काम प्रेम रस विवस विहारी, सावधान सहचरि सुकुमारी ।[1]

इस अलौकिक काम-प्रेम के रस में वे इतना मग्न हो जाते हैं कि उन्हें अपनी सुधबुध ही नहीं रहती। सावधान सखी उनकी चिन्ता ऐसे क्षणों में करती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सखी-सम्प्रदाय का उपास्य गौड़ीय वैष्णवों से पृथक है। वहाँ पर उसे सत्-चित्-आनन्द कहा गया है, पर इन की विहारिणी और वल्लभ उससे भी उज्जवल है :—

विहारिनि वल्लभ दुर्लभ जानूँ ।
सत् चिद् आनन्द ब्रह्म जोति तिनहूं ते उज्वल मानूं ।[2]

युगल में प्रधानता

जब उपास्य का रूप युगल हो जाता है, तब यह प्रश्न बहुत समीचीन नहीं रहता कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? पर इधर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जब से युगलोपासना और सखी-भाव को महत्त्व प्राप्त हुआ है, तब से घुमा-फिरा कर राधा को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है और इस राधा-प्राधान्य को इन सम्प्रदायों का विशेष प्रदेय माना जाता है।[3] इस साहित्य के

---

१. स्वामी ललित किशारी देव : रस के चौबोला, ११।
२. किशोरदास : सिद्धान्त-सार-संग्रह ११।१।
३. (क) इस प्रकार लाड़िली जी प्रधान उपास्य हैं…। डॉ० गोपाल दत्त शर्मा : स्वामी हरिदास और उनके सम्प्रदाय का वाणी साहित्य, पृ० ३०६।
(ख) श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिए और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे परतत्त्व न मान-कर राधा को परतत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २१५।
(ग) राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रधान रति राधा के चरणों में मानी जाती है।
ललिताचरण गोस्वामी : गो० हितहरिवंश—सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० २०४।
(घ) प्रथम उपास्य स्वरूप निश्चय…करिबो ही ठीक है…जाकूँ आगम निगमादि समस्त आर्ष पौरुष यथा उचित वर्णन करै तो

आन्तरिक अध्ययन से मुझे यह निष्कर्ष एकांगी प्रतीत होता है। यह सत्य है कि राधा की श्रेष्ठता सम्बन्धी अंश इस साहित्य में यथेष्ट हैं, परन्तु कुंजबिहारी को ही श्रेष्ठतम मानने वाले उद्धरणों की भी कमी नहीं है। वास्तव में ये श्रेष्ठताएँ सापेक्षिक हैं और भिन्न-भिन्न स्तरों पर है। जहाँ पर सैद्धान्तिक परात्पर तत्त्व आदि की चर्चा आ जाती है, अवतार, सृष्टि आदि के प्रसंग आ जाते हैं वहाँ पर कृष्ण की श्रेष्ठता का निदर्शन होता है, परन्तु जहाँ पर निकुंज-विहार की प्रेम-पद्धति है, वहाँ पर राधा अधिक गभीर एवं प्रधान दिखाई देती है। पर यह विशेषता तो प्रेम-भाव के कारण है। गौड़ीय वैष्णवों ने महाभाव की जिस अवस्था का तादात्म्य राधा के साथ किया था, उसी की अत्यन्त स्वाभाविक परिणति प्रेम के प्रदेश में राधा की यह श्रेष्ठता है। इसके अतिरिक्त ह्लादिनी-शक्ति की जिस भक्ति का आनन्द देने वाली वृत्ति की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं, उसके अनुसार राधा को उपास्य मानना कृष्ण की अवमानना नहीं है—इसी प्रकार जैसे कि स्वा० हरिदास या गुरु को भी उपास्य से भी कभी-कभी अधिक महत्त्व देना युगल रूप का अपमान नहीं है। अपनी स्त्री-सुलभ कोमलता से राधा भक्त के लिए अधिक सुलभ है तथा राधा एवं सखी दोनों के ही स्त्रीरूपा होने से तत्सुखित्व का भाव भी अधिक सहज एवं स्वाभाविक हो जाता है। कृष्ण को उपास्य-रूप में अधिक मान्यता देने से गोपीभाव से कृष्ण को कान्त मानने की अभिलाषा भी जग सकती है। हमारा विचार है कि प्रधानता-सम्बन्धी द्वैत की स्थापना इन सम्प्रदायों की युगलोपासना एवं नित्य-विहार की आत्मा के विरुद्ध है। अस्तु, अगले पृष्ठों में हम 'विहारी' एवं 'विहारिणी' दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

प्रियतम :

अपने अष्टादश-सिद्धान्त के पदों में स्वा० हरिदास ने उन्हें हरि नाम से सम्बोधित करते हुए बताया है कि उनकी मायावाजी विचित्र रूप से फैली हुई है और उसमें मुनिगण तक भ्रमित हो जाते हैं।[1] मृगतृष्णा-रूपी जग में हरि का ही सब खेल व्याप रहा है।[2] इसको प्रत्येक दिन वे बुनते भी हैं और उधेड़ते भी हैं, इसप्रकार प्रपंच के इस सागर (जगत का निर्माण और विनाश सब उन्हीं की माया हैं :—

पूर्व पृष्ठ से--

श्यामा उपास्य रहीं। —बा० कन्हैयादास : श्रीस्वामी हरिदास जू की उपासना शैली (श्री स्वा० हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३५-३६)।

१. तुम्हारी माया बाजी पसारी, विचित्र
मोहे मुनि सुनि काके भूले कोड़। —अष्टादश सिद्धान्त के पद, ५।

२. वही, १३

निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच कौ सागर ।[1]

संसार को माया का परिणाम एवं माया को भगवान से सम्बद्ध करके वे वैष्णव-तत्त्व-दर्शन एवं सृष्टि-क्रिया के मानने वाले ही सिद्ध होते हैं । जो कुछ प्रभु चाहते हैं, वही होता है । जीवन कितना ही फड़फड़ावे, पर प्रभु-इच्छा के पिंजड़े में बद्ध हैं और उसी-अनुरूप वह कार्य कर सकने में समर्थ होता है :—

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हो, त्यों ही त्यों रहियतु हौं हरि ।
और तो अचरचे पाइधरौं, सो तो कहौ कौन के पेड़ भरि ।
यद्यपि कीयौ चाहौं अपनौ मनभायौ
सो तो क्यों करि सकौ राख्यौ हौं पकरि ।
कहि श्री हरिदास पिंजरा को जनावर ज्यों,
फड़फड़ाय रह्यो उड़िवे को कितोउ करि ।[2]

उनके परात्परत्व की ओर सखी-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ व्याख्याता स्वा० विहारिणी देव जी ने बड़े स्पष्ट संकेत किये हैं । उनके अनुसार वे मात्र अपनी इच्छा से लीला-शरीर-रूपी विग्रह धारी बनते हैं, अन्यथा वे तो अवतारी हैं, और सब भले ही अवतार हों । लक्ष्मीपति नारायण ही नहीं, व्रजाधीश कृष्ण के लिये भी वे सुलभ नहीं हैं. उनसे बड़ा और कौन अधिकारी है—सबसे बड़े वे स्वयं हैं । ईश्वरों के भी ईश्वर हैं । अन्य अवतार उनकी अंशकलाएं हैं, भृकुटमणि कुंजविहारी अवतारी हैं, पति हैं :—

इच्छा विग्रह धर लीला वपु सब अवतारन पर अवतारी ।
लक्ष्मीपति व्रजपति कौ दुरलभ, इनतै कौन बड़ौ अधिकारी ।।[3]

एवं

सकल ईश के ईश हैं, अंशकला अवतार ।
श्री कुंज बिहारी मुकुटमणि, अवतारी भरतार ।।[4]

अथवा

निर्गुण ब्रह्म जो बरनत वेद, ताकौ सुनौ जुदो इक भेद ।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि, निराकार मुनि बदत जु ताहि ।।[5]

---

१. अष्टादश सिद्धान्त के पद, १४ ।
२. स्वा० हरिदास : केलिमाल, पद १ ।
३. बिहारिणिदास : सवैया २८ ।
४. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी, (स्वा० ह० सं० वा० सा०, पृ० ३०६ पर उधृत) ।
५. रसिक देव : भक्ति-सिद्धान्त-मणि, ८७ ।

या

अंस कला सब अवतारनि को अवतारी भरतार ।[1]

ऐसे विराट् को यह समझना भी भूल होगी कि वे चतुर्भुज हैं, षड्यन्त्र हैं या कि ब्रजेश्वर कृष्ण हैं; वे मात्र द्विभुज-धारी हैं। हाँ, अनुपम कुंजबिहारी अवश्य हैं। इस प्रकार अत्यन्त कोमल मानवीय स्तर पर उनकी कल्पना की गयी है :—

चुतुर्भुज छभुज भये ब्रजभूप, कुंजविहारी दुभुज अनूप ।[2]

यद्यपि उनका अन्त कोई नहीं पाता,[3] पर फिर भी जो पंडित लोग माहात्म्य का मिश्रण करके उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं, वे मानो इस माहात्म्य के आधार पर व्यापार करते हैं :—

कागद मसि लिखि लीक लिवारी, बहुमत रत पंडित पटवारी ।
महातम मिश्रित ते रुजिगारी, जना जाति वंचित जंजारी ।[4]

यह माहात्म्य-रहित कहा जाने वाला अत्यन्त कोमल मानवीय व्यक्तित्व सदा सर्वदा सबके ऊपर है और नियन्ता है। कोई यह भी न समझे कि उनमें लीला का अभाव है—"यह लीलासागर नटनागर अपनी रुचि में रमावे"।[5] सबका यह स्वामी आदि, मध्य एवं अवसान सभी में एक-रस रहता है।[6] वास्तव में स्याम ही एकमात्र सिंह हैं—शेष सभी तो शृगालवत् हैं।[7] वस्तुतः अपने-अपने भाव के अनुसार ही लोग अपने उपास्य को देखते हैं। रसिकों के लिए तो मोहन अत्यन्त मृदुल वेषधारी हैं। यों सखी-सम्प्रदाय के आचार्य ब्रज-लीलाओं को तिरस्कृत नहीं करते, उनके अनुसार ब्रज-लीला आदि के उपासक उन लीलाओं में भी उसे देख लेते हैं (पर उसका रूप तो वही है जो रसिकों को दृश्यमान है।) :—

जिहिं जैसा तिनि तैसा देखा, रसिकन कौ मोहन मृदु भेसा ।
विधि निषेध तजि भक्ति कर निदरि,
दुविधा गये हिये आवे दृष्टि ।
इक मन साधन कर वृज जाई, इक चितचोर हरन सुखदाई ।
मुरली रब रसिक रमाई, ते बनिता सथ जूथ कहाई ।[8]

---

१. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के पद, १४१ ।
२. वही, रस के चौबोला, १६ ।
३. ताको अंत न कोऊ पावै—वही, रस के चौबोला १८ (पृ० ५५) ।
४. वही, रस के चौबोला, १३ (पृ० ५३) ।
५. वही — सिद्धान्त के पद, ८३ ।
६. वही, वही ८६ ।
७. वही, वही, ११७ ।
८. वही, रस के चौबोला, १९,२०,२१ ।

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके हैं, प्रेम के क्षेत्र में, निकुंज-लीला के क्षेत्र में, यही अवतारी, भरतार माया की बाजी पसारने वाले कोटि-काम लावण्य-विहारी राधा का मुख जोहते रहते हैं—उनकी कृपा की अभिलाषा रखते हैं। राधा की छाँह से ही उनमें सुघराई आयी है।[1] उनका मन होता है कि प्यारी के प्राण से प्राण मिले रहें एवं तन में तन समाया रहे, आंखों से आँखें लगी रहें राधा के वशीभूत उन्हें भ्रूक्षेप भी बरदाश्त नही है।[2] उनकी जितनी विभुता हम पीछे देख चुके हैं, वह सब प्रेमराज्य के लिये नहीं हैं। यहाँ तो महत्ता-सूचक ठाकुर सम्बोधन उन्हें संकुचित कर देता है। प्रिया की जूठन खाने के लिए वे लालायित रहते हैं एवं सखियों से याचना करते हैं कि प्यारी के साथ मुझे बिहार का अवसर प्रदान करती रहो। स्वा० विहारिणि दास ने इन कोमल, चतुर चिकनिये लाल के लिये लिखा है :—

अति टौंड़क अति चिकनिया, अधिक चतुर इतराइ
कितै विभौ कित ठकुरई जूठन को ललचाइ।
जाचै जूठन पाइये, पां परि हा हा खाइ।
जौ ठाकुर करि बोलियै, सकुचि तनकु ह्वै जाइ।
ताहि सुहाई न ठकुराई बड़ो प्रताप विस्तार।
जाचत है दिन जीव का सखी मोहि अहार विहार।
प्रान पलित पाइनि परै परसै होत निहाल।
यहै दसा सेवत सखी दूलह दुलहिन लाल।[3]

राधा :

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि राधा का परम्परा-प्राप्त स्वरूप प्रेम-मूर्ति का था ऐश्वर्य, वैभव की परम्पराएं उनके साथ सम्बन्धित नहीं थीं, इसी कारण राधा को स्वीकारने में उन्हें बहुत संकोच नहीं हुआ। पर इस काल तक राधा ब्रज-लीलाओं के भीतर अनन्य भाव से गुंफित हो चुकी थीं, इसी कारण १८वीं शती के आचार्य ललितकिशोरी देव को यह बात कहने की आवश्यकता पड़ी कि ये राधा न तो ब्रज की हैं और न ही रास-विलास वाली हैं यह तो तीसरी राधा हैं जो कुंज में स्वा० हरिदास द्वारा दुहराई जाती हैं, यानी कि जो निकुंज-लीला-विलास में मग्न हैं, वे ही ये हैं। न तो इनका जन्म होता है न कर्म—दोनों ही समान वय वाले एक रस निकुंज-विहार में रत रहते हैं। यह तो साधक की रुचि

१. केलिमाल, २४।
२. वही, ३५।
३. स्वा० बिहारिणि दास : साखी, १३८-१४१।

पर निर्भर करता है कि उन्हें राधा कहे या कुंजविहारिणी संज्ञा से सम्बोधित करे। वास्तव में नाम और नामी (वस्तु) में अभेद है, भेद लीला का परिणाम मात्र है:—

एक राधा व्रज में बसैं एक राधा रास विलास ।
तीजी राधा कुंज में दुलरावै हरिदास।
राधा नाम विभाग करि समझौ रसिक सुजान ।
जनम कर्म जाको नहीं इकरस वैस समान ।
भावै तो राधा कहौ, भावै कुंजविहारिणि नाम ।
नाम वस्तु अभेद है, लीला भेद परिणाम ।[1]

भवभूति की उक्ति "क्षणेक्षणेयन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" उनके लिए पूरी तरह लागू होता है । प्यारी राधा का मुख ज्यों-ज्यों लाड़ले देखते हैं, उन्हें प्रतिक्षण नया ही लगता है :—

प्यारी जू जब जब देखौं तेरो मुख तब तब नयौ नयौ लागति ।[2]

उनका मुख नहीं है, मानो अमृत की पंक है, जिसमें प्यारे के नयन फँस गए हैं।[3] बास्तव में कृष्ण की जितनी भी सुघराई है, सब उन्हीं की छाँह में रहने के कारण है :—

सुधर भये बिहारी याही छाँह ते ।
जे जे गटी सुधर जानपने की ते ते याही बाँह ते ।[4]

स्वयं प्यारे अपने मुख से कहते हैं कि जहाँ-जहाँ प्रिया के चरणों की छाप पड़ती है वहीं-वहीं उनका मन छाया करता रहता है :—

जहाँ जहाँ चरन परत प्यारी जू तेरे तहाँ–
तहां मन मेरौ करत फिरत परछाहीं ।[5]

यों तो ब्रह्माण्ड में अगणित नारियां हैं, वे रूपवती एवं चित्ताकर्षिणी भी हैं पर जो शोभा, जो सौन्दर्य, जो सुषमा इनमें है वह न देव-नारियों में है, न नाग-नारियों में और न किसी और महिला-समाज में । इसके अतिरिक्त यह भुवन मोहन सौन्दर्य न पहले सुना गया है, न अभी है और निश्चित रूप से आगे भी नहीं होगा :—

देव नारि नाग नारि और नारि
ते न होंहि और की औरै ।

---

१. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी, (गोपाल दत्त शर्मा द्वारा स्वा० ह० सं० वा० सा० में पृ० ३०३ पर उद्धृत) ।
२. केलिमाल, ३४ ।
३. वही, ७ : प्यारी तेरौ बदन अमृत की पंक तामे बींधे नैन द्वै ।
४. वही, २४ ।
५. वही, ५३ ।

पाछे न सुनी ऐसी अबहूँ आगे हू न ह्वै है,
यह गति अद्‌भुत रूप की अद्‌भुत और की औरे।[1]

लाल को इसी बात का भय रहता है कि प्यारी जी कभी उसने कुमया न कर जाएँ :—

प्यारी जू एक बात कौ मोहि उर आवत है री।
मति कबहूं कुमया करि जांति।[2]

वास्तव में किशोरी ही सुख का सार-समूह हैं। रूप की आगार, रंग की साक्षात् सागर, परम विचित्र एवं अत्यन्त लोभी श्यामा जी के आगे श्याम सदैव आधीनी करते हैं।[3] श्याम भोक्ता है एवं श्यामा भोग्या हैं, अपने इस रूप में वे आलम्बन रूप भी हो जाती हैं, यही उनकी प्रधानता है। इसी रूप में वे लाल के प्राणों का पोषण करती हैं, सम्पूर्ण सुख देती हैं एवं प्रिय के जीवन के लिए रसिकता का आगार हैं :—

भोगी स्याम भोग हैं प्यारी, पोषत प्राण लाल हितकारी।
स्वामिनि सब सुख पूरण दानि, पिय की जीवन रसिक निधानि।[4]

भोग्य की इस सहज प्रधानता के वशीभूत होकर अपने प्रताप को दुरा कर पति रति की याचना करते हैं, अपनी इस रसरीति को प्रकट करने के बाद के प्रिया के चरणों में प्रणत होकर अपने को धन्य मानते हैं, वे सबके स्वामी हैं, पर उनकी भी स्वामिनी राधा हैं :—

मानदान दे प्रान प्रिया पति रति जाचत परताप दुरायन।
बिनु रसरीति प्रतीति प्रकट करि धन्य जन्म मानत परि पायन।
कर कंकन दरपन देषहु न श्रीविहारिनि दास लहै मन भाइन।
सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि ता ठाकुर कौ ठाकुर ठकुराइन।[5]

इस प्रेमावेग में ही एक अन्य स्थान पर वे सर्वोपरि कुंजविहारिनी रानी बता दी गई हैं। यहाँ तक कि ब्रजराज भी उनकी प्रजा है।[6] इस प्रेमाधिक्य के कारण ही प्रिया की भौंह का मैला होना भी लाल के लिए प्राणान्तक होता है।[7]

---

१. केलिमाल, ५४।

२. वही : ७८।

३. सुख को सार समूह किशोरी। रूप निधान रंग को सागर परम विचित्र महा अतिभोरी छिन छिन लाल करत आधीन सदाइ प्रसन्न रहौ तुम गोरी।
—ललितकिशोरी देव : रस के पद २०।

४. स्वा० ललितकिशोरी देव : रस की साखी, चौपाई।

५. विहारिणिदास, सवैया, ११६।

६. वही, वही ११६।

७. केलिमाल—१०।

यों एक स्थान पर यह भी प्रतीत होता है कि कृष्ण के अनेक वल्लभाएँ थीं । राधा मान किये हैं, सखी उनसे आकर कहती है कि यदि सर्वोपरि होना चाहती हो तो चलो :—

आजु त्रनु ट्टटत है ललित त्रिभंगी पर ।
चरन-चरन पर मुरली अधर धरैं, चितवनि बंक छबीली भ्रू पर ।
चलहु न बेगि राधिका पिय पै, जौ भयो चाहति हौ सर्वोपरि ।[1]

परन्तु इस एक ही प्रसंग को अधिक खींचना उचित न होगा । इसके अतिरिक्त सर्वोपरि की व्याख्या अन्य अर्थों में भी की जा सकती है ।

परन्तु जैसा कि पीछे हम अपना मन्तव्य प्रकट कर चुके हैं, राधा की यह प्रधानता निकुंज-लीला के प्रेमाधार को दिखलाने के लिए है । उनका वास्तविक रूप युगल का ही है—प्रधानता-अप्रधानता की यहाँ चर्चा न होनी चाहिए । पर इतना अवश्य ध्यान रहे कि गौड़ीय वैष्णवों जैसा शक्ति एवं शक्तिमान् का यहाँ पर कोई विभाजन नहीं है । इन दोनों के मध्य निरवधि नित्य-विहार की केलि होती रहती है । इस केलि-महारस में ही वे भी डूबे हैं एवं सखियाँ भी इसी रस में आनन्द लाभ करती रहती हैं । विहारिणिदास ने दोनों का समन्वय एक स्थान पर अत्यन्त सुन्दर रीति से किया है । उनके अनुसार 'विहारिणी' पर भाव रख कर 'कुंज-बिहारी राव का भजन करो :—

यौ भजि कुंज बिहारी राव ।
श्री विहारनि रानी पर धरि भाव ।[2]

परिकर :

जैसा कि पीछे इंगित किया जा चुका है, लीला के विस्तृत रूप के स्थान पर सारभूत तत्त्व को अपनाने के कारण सखी-सम्प्रदाय में परिकर की वैसी कोई व्यापक एवं पुष्ट धारणा नहीं है जैसी कि गौड़ीय वैष्णवों में हमें उपलब्ध होती है । यहाँ पर केवल मात्र कुछ सखियों का संकेत मिलता है । सखियों के भी नाम, रूप, सेवा, प्रकार आदि का पृथक् विवेचन नहीं हुआ है । केवल सेवाकार्य या मान के समय मनाने आदि के प्रसंग में कुछ सखियों का उल्लेख हो जाता है । केलिमाल में 'हरिदासी' नाम सखी के रूप में उल्लिखित हुआ ।[3] एवं केवल एक अन्य स्थान पर ललिता का उल्लेख है ।[4] अन्य स्थानों पर एक वचन या बहुवचन

१. केलिमाल १८ ।
२. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के पद, १६ ।
३. केलिमाल २५ ।
४. वही ६४ ।

में सखी की ही चर्चा आयी है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी हरिदास सखियों को भगवान का ही अंश मानते थे। कम से कम एक पद में तो उन्होंने सखियों को कृष्ण-मूर्ति ही कहलाया है। लाल कह रहे हैं :—

जहां-जहां चरन परत प्यारी जी तेरे तहां
तहां मन मेरो करत फिरत परछाहीं ।
बहुत मूरत मेरी चौर ढुरावत कोऊ
बीरी खवात एक व आरसी लँ जाहीं
और सेवा बहुत भांति की जैसी ये कहै
कोऊ तैसी ये करौ ज्यों रुचि जानो नाहीं ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कों ।
भले मनावत दाइ उपाहीं "[1]

सखियाँ केलि की व्यवस्था करती हैं, मानिनी को मान के समय मना कर केलिसमुत्सुक बनाती हैं, साथ में छिरका खेलती हैं, रास के समय भी साथ रहती हैं एवं उस शोभा का पान करते रहने की ही उनकी आकांक्षा रहती है—"ऐसे ही देखत रहौ जनम सुफल करि मानो, तथा "हँसत खेलत बोलत मिलत देखो मेरी आखिन सुख ।"[2]

इन विविध सखियों में एक सखी अधिक प्रमुख है, इसका भी संकेत अनेक स्थानों पर मिल जाता है। हरिदासी एवं ललिता नाम का उल्लेख हमने अभी किया है तथा सम्प्रदाय में इन दोनों को एक ही स्वीकार किया जाता है, अतः यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि मुख्य सखी हरिदासी या ललिता ही है। एक अन्य स्थान पर स्वयं प्रिया जी कहती हैं कि अनन्त जिह्वाओं से भी तेरे गुणों का गान नहीं हो सकता :—

रोम-रोम जो रसना होता तौऊ तेरे गुन न बखाने जात ।
कहा कहौं एक जीम सखीरी बात की बात ।[3]

बाद के सम्प्रदायाचार्यों ने इन अन्तरंगा सखियों के रूप को और अधिक विकसित किया है। परवर्ती लोगों ने युगल के समक्ष ही हरिदासी सखी को स्थापित कर दिया है। विहारिणिदास के अनुसार तो प्रेम की तरुण तरंगोंवाले

---

१. केलिमाल, ५३ ।
२. वही, ३ तथा ३२ ।
३. वही, ४० ।

सिन्धु में सखी के सहारे ही लाल-लाड़िली तैर पाते हैं। उनके विहारजन्य श्रम का निवारण, तीर पर लाने का कार्य एवं प्रेमाभिभूत अधीर युगल को धैर्य बँधाने का काम उन्हीं का है :—

तरुन तरंगिनि मैं परे उरझे बार सिवार।
पैरहिं साहस सखी के अति आवर्त बिहार।
श्रमिहिं निवारत कर धरत कबहूं लावत तीर।
श्री विहारिनिदास हुलास मन देत अधीरन धीर।[1]

स्वामी हरिदास के महत्व को ललितकिशोरी देव ने पूरी तरह स्थापित करते हुये प्रियालाल को धन एवं हरिदास को धनी माना :—

प्रियालाल है धन सही, धनी सही हरिदास।
महालाड़ अति चाव सौ, विलसत केलि विलास।[2]

एक अन्य रूपक द्वारा उन्होंने समझाना चाहा है कि खिलाड़ी हरिदास जी हैं एवं लाड़लीलाल खेल हैं तथा खेल सदा खिलाड़ी के बस में रहता है, यानी कि प्रिया और प्रिय हरिदास-सखी के वंश में ही हैं :—

खिलाड़ी श्रीहरिदास हैं खेल लाड़िली लाल।
राखत अद्भुत रंग मै जानि महा निजु हाल।
खेल खिलाड़ी बस रहै ऐसे जुगुल किशोर
श्री हरिदासी लाड़ सौ नहि जानत निसि मोर।[3]

इस तथ्य को और अधिक पूर्णता प्रदान करते हुए लाल, लाड़िली एवं हरिदास तीनों के मध्य अभिन्नता स्थापित की गयी है। जैसे कि एक ही छिलके के भीतर तीन चने हों, वैसे ही (वृन्दावन भूमि) अंचल में यह तीनों हैं :—

तीन चना इक छौलका ऐसे धर्म विचार
श्री विहारी विहारिनिदास उर अंचल बीच विहार।[4]

अभिन्नता का कारण रस-प्राप्ति है। लाल-लाड़िली को परस्पर विहार

---

१. बिहारिणिदास : साखी, १२७-१२८।
२. ललित किशोरी देव : साखी, ९६।
३. वही, वही ९८ एवं ८२।
४. बिहारिणिदास : साखी, ११३।

से शरीर-सुख मिलता है एवं श्री हरिदास उनके सुख से सुखी होते हैं :

कहिबे कौ तो तीन है सुख विलास में एक।
तनु मन विलसे दोइ मिलि मन करि विलसे एक।
ततसुख विलसे मनमई सो सुख तनहि विलास
गौर श्याम तनु सुख सुखी तत सुख श्री हरिदास।[१]

सम्प्रदाय ने उनको पूर्णरूपेण उपास्य वना दिया है। यहाँ तक कि लाख बार हरि-हरि कहने की अपेक्षा एक वार 'हरिदास' कह देने से लाड़िली प्रसन्न होकर सदैव वृन्दावन-विपिन (निकुंज-स्थल) का वास दे देती है :—

लाख बार हरि-हरि कहै एक बार हरिदास
अति प्रसन्न श्री लाड़िली सदा विपुन को वास।[२]

अथवा यदि भूल से ही एक बार हरिदास नाम निकल जाय तो नित्य-विहार का अनवरत रसपान वह करने लगता है :—

श्री स्वामी हरिदास कहै जो भूलि कै।
हरि हां नित्य विहारै लहै रहै रस झूलि कै।[३]

और इतना निश्चित है कि बिना स्वामी हरिदास के न तो यह केलि कभी दृश्यमान हुई है और न होगी। यह बात वैसी ही असंभव है जैसे कि लड़कपन में खेल-खेल में, कोई वैराग्ययुक्त वनवास करने की बात कहे। वस्तुत: जिस प्रकार रात्रि बिना चन्द्र प्रकाश एवं शोभाहीन होता है वैसे ही स्वामी हरिदास के बिना भक्ति का भाव व्यर्थ है, इसलिए नित्य-विहार को चाहने वाले को स्वामी हरिदास का गान करना चाहिए :—

ना पाई ना पाइ है श्री स्वामी बिनु केलि।
विपुन बसै वैराग्य जुत ज्यों लारिका खेलि।
जैसे चन्द्रा रैनि बिनु स्वामी बिन भाव।
चाहे नित्य विहार तो श्री हरिदासै गाव।[४]

१. ललित किशोरी देव : सिद्धान्त की साखी (श्री गोपालदत्त शर्मा द्वारा स्वा० हरिदास स० वा० सा० में पृ० ३१७ में उद्धृत।
२. वही, साखी, ३१०।
३. वही, वही १६।
४. वही, वही ५६-५७।

हम जानते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य यही नित्य-विहार-रस ही है।

धाम :

स्वामी हरिदास में धाम की वैसी कोई पुष्ट दार्शनिक कल्पना हमें प्राप्त नहीं होती जैसी कि गौड़ीय वैष्णवों के सम्प्रदाय में है। इस सम्प्रदाय में सबसे महत्त्वपूर्ण धाम निकुंज है। निकुंज की ही सत्ता वृन्दावन में स्वीकार की जाती है एवं वृन्दावन ब्रज में है इसलिए सभी महत्त्वपूर्ण स्वीकार किए गये हैं पर यह ध्यान रहे कि इनकी श्रेष्ठता का क्रम अपरपूर्व है। यों सब मिला कर धाम के रूप में वृन्दावन को ही स्वीकार किया गया है। स्वामी हरिदास ने अपनी रचनाओं में एकाधिक स्थानों पर वृन्दावन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वृन्दावन से बन को ही गुंजमाल की तरह हाथ में पोहना चाहिए।[1] अन्यत्र ऋतु-वैभव के साथ ही वृन्दावन की सुषमा भी वे वर्णित करते हैं :—

ऐसी ऋतु सदा सर्वदा जौ रहै बोलति मोरनि।
नीके बादर नीकी धनुष चहूं दिशि नीको
श्री वृन्दावन आछी नीकी मेघन की घोरनि
आछी नीकी भूमि हरी हरी
आछी नीकी बूंदनि की रेंगनि काम की रोरनि
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत।
जम्यौ राग मल्हार किशोर-किशोरनि।[2]

अन्य भी उन्होंने विहार के प्रसंग में बन का उल्लेख किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह वन वृन्दावन ही है। परवर्ती सम्प्रदायाचार्यो ने वृन्दावन को और अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया। बिहारिणिदास ने तो अन्य धामों का उल्लेख करते हुए वृन्दावन को सर्वश्रेष्ठ बता दियाः—

तीरथ सकल लोक बैकुण्ठ तै मधुपुरी अधिक संदेह नसानौ।
तातै अधिक निकट ब्रज वैभो ब्रह्मा वेदनि प्रकट प्रवानो
श्री बिहारनिदास निकुंजनि सेवत ताजै राधा रवन रवानौ।
विद्यमान हरि मन्दिर राजत, श्री बृन्दाबन रस खानि खदानौ।[3]

---

१. स्वामी हरिदास : अष्टादश सिद्धान्त के पद, १२।
२. वही, केलिमाल, ८९।
३. बिहारिणिदास : सवैया कवित्त, ६०।

धर्म, अर्थ, मोक्ष आदि पुरुषार्थ एवं भक्ति के अनेक भेद बताये गये हैं पर जो सुख वृन्दावन में, जो पवित्रता यमुना के कूल के सौरभ में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं हैः—

श्री बृन्दावन को सुख कहूं न लह्यो।
धर्म, अर्थ, कामना मुक्ति पद भेद भक्ति बहु भांति कह्यो।
परम पवित्र पुलिनि सौरभ कन पावन जमुना तीर बह्यो।[1]

अन्य मत-मतान्तरों, पुराणों आदि में वर्णित वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ आदि भी उनके धाम हैं पर वृन्दावन विपिन तो राजधानी है। वृन्दावन को यदि रस की खानि कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि साक्षात् रस-विग्रह गौर-श्याम यहाँ नित्य-विहार करते रहते हैं। राधा-कृष्ण यहाँ नित्य हैं, विपिन का यह विलास भी नित्य है एवं कोटि-कोटि गोलोक का आलोक यहाँ के एक-एक पत्ते में हैः—

वैकुण्ठ महा वैकुण्ठ लौ सबछी धामै जानि
रजधानी बृंदाविपुन अद्भुत रस की खानि।
अदुभुत रस को खानि है श्री बृन्दावन नित्त
गौर श्याम विहरै जहां एक प्रान द्वै मित्त।
नित्य हो राधा कृस्न है नित्य ही विपुन विलास।
कोटि कोटि गोलोक लै एक पत्र परकास।[2]

उपासना का स्वरूप और भाव

सखी-सम्प्रदाय नाम ही यह सूचित करता है कि उपासक को सखीभाव से उपासना करनी होती है। सखियाँ ही दम्पति-रस-भोग का आनन्द ले पाती हैं। विहारिणिदास जी इसीलिए कहते हैंः—

सहचरी है भजौ पल पास क्यौ जतौ संग बसिहो मनि कौट नाते।[3]

महन्त किशोरदास का भी निर्देश है कि सहचरी-भाव से नित्य निकुंज विहार का भजना ही उचित है।[4] सखी-भाव की श्रेष्ठता बताते हुए वे कहते हैंः—

---

१. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के एक पद, १७।
२. ललित किशोरी देव : सिद्धान्त की साखी, १६९-१७१।
३. बिहारिणिदास : परम उज्ज्वल शृंगार रस के पद, २३।
४. नित्य निकुंज विहार भजि, सजि सहचरि उरभाव
—किशोरदास : सिद्धान्त सरोवर ८३२।

और भाव ते अधिक अति, सखी भाव को अंग ।
किशोरदास दंपति निकटि सहचरि करत प्रसंग ।
सब भावन को मुकुट मणि, सहचरि भाव अनूप ।
किशोरदास और न निकटि, सखीभाव तद्रूप ।
सांति दास्य अरु सष्य हू, वात्सल्य तहां न जात ।
किशोरदास सहचरि निकट, संतत सुख दरसात ।[1]

परन्तु सहचरी भाव की पहचान क्या है ? केवल अपने को सखी कह देने से ही तो काम नहीं चलता । वास्तव में सखी भाव की साधना सहज नहीं है । जब तक पुरुषत्व का अभिमान शेष है, तब तक सखी भाव का अनुसरण संभव ही नहीं है । निर्विकार शरीर में ही सखी-भाव का आरोप हो सकता है, मन से स्त्री सहवास की आकांक्षा निकाल देनी होती है:...

उलटि लगे मन स्याम सो प्रीया भाव ह्वै जाइ ।
सखी भाव तब जानियै, पुरुष भाव मिठि जाइ ।
पुरुष भाव छूटै नहीं, मन में बसि रही जोइ ।
सखी भाव तब जानियै, निर्विकार तन होइ ।[2]

पुरुष-भाव के मिटा देने और स्त्रीस्वरूप का आरोप कर लेने पर प्रेम के प्रतीकवाद का परिणाम यह भी हो सकता है कि श्याम को प्रियतम मान कर उनसे रति-सुख की कामना की जाय । पीछे हम देख चुके हैं कि गोपियों ने कृष्ण-संग-सुख की स्पृहा की थी । पर सखियों के लिए यह मार्ग नहीं है । रसिक देव जी ने इस संबंध में सावधान करते हुये सखियों के स्वभाव-संबंधी एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप का और अधिक स्पष्टीकरण किया है । सखी का मन सांवरे मोहते ज़रूर हैं पर उनके मन में भोगेच्छा का विकार नहीं है । प्रिया जी भी इसे जानती हैं कि जो कुछ उनको अच्छा लगता है, वही सहचरियों को भी प्रिय है । सखी लाड़िली जी से पूछती है :—

मो मन मोहे सांवरो मेरै नहीं विकार ।
हौं तोहि पूछौं लाड़िली ताको कहा विचार ।[3]

---

१. किशोरदास : सिद्धान्त सरोवर, ६३५-६३७ ।
२. स्वा० रसिकदेव : साखी, १३-१४ ।
३. रसिक देव : साखी, ५ ।

प्रिया जी का निर्म्रान्त उत्तर है···

तब हंसि बोली राधिका सखि कित पूछति मोहि ।
जो मेरे मन में बसैं सो मोहतु है तोहि ।[१]

इस प्रकार सखियों का आनन्द प्रिया-प्रियतम के आनन्द से संबंधित है। उनके प्रेम को तत्सुखी इसीलिए कहा जाता है। उन्हीं (युगल दम्पति) के सुख से सुखी होना इनकी विशिष्टता है:—

निर्विकार सहचरि समझि, ततसुख सुखित सुजान ।
ततसुख ही निज सुख गिनत, दास किसोर निदान ।[२]

स्वामी रसिक देव जी ने भी इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि अपने सुख के अवगाहन के स्थान पर प्रिया-प्रियतम के सुख की कामना करे :—

ततसुख सखी की एही रीति, तन में रहै अपनपौ जीति ।
प्रिया प्रीतम को निजु सुख चाहै, अपनो सुख नहि मन औगाहे ।
—भक्ति सिद्धांत मणि ४० ।

इस भाव के लिए साधना का निर्देश भी स्वामी रसिक देव ने किया है कि सिद्ध सखियों के भाव का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार रागानुगा भक्ति की ही प्रस्थापना उन्होंने की है:—

जुगल ध्यान कीजै चित लाइ, सखी भाव करि महल समाइ ।
साधक रूप सेवा इत करै, सिद्ध सखीन कै भाव अनुसरै ।[३]

सखियों एवं प्रिया जी का इतना अभिन्नत्व हो जाता है कि उसके लिए अद्वैतवादी शब्दावली का प्रयोग करके स्पष्ट किया गया है। सखियाँ जल हैं एवं प्रिया तरंग हैं अथवा प्रिया जी जल हैं और सखियाँ तरंग : —

---

१. रसिक देव : साखी, ६ ।

२. किशोर दास : सिद्धान्त सरोवर, ६३६ ।

३. रसिक देव : भक्ति-सिद्धान्त-मणि, ८६ ।

हम जल प्रिया तरंग हैं प्रीया जल है हम हैं तरंग।
तन मन मिलि एकंत सुख छिन छिन बाढ़त रंग।[1]

अथवा

प्रीया हमारे अन्तर हैं, हम प्रीया के अन्तर।
अंग संग निरखौं केलि सुख सदाई रहै निरन्तर।[2]

इन सखियों के मन में प्रेम ही भरा रहता है। प्रेम ही उनका सर्वस्व है। चूंकि प्रेम-वारि बरसने से प्रेम ही उत्पन्न होता है, प्रेम ही फलता-फूलता है, प्रेमियों की इस पुकार को सुन कर सखियाँ जब प्रेम-व्यापार के लिए बढ़ती हैं तो रास्ते में प्रेम ही मिलता है प्रेम ही उनका पति है, उनकी वास्तविक गति भी प्रेम ही है, उनका नेम भी प्रेम ही है; यहाँ तक कि उनका बिछौना, ओढ़ना और भोजन प्रेम ही है एवं इन प्रेम-स्वरूपा सखियों का अतिथि भी साक्षात् प्रेम ही होता है:—

प्रेम प्रेम ही ऊपजे जौ करै प्रेम की वारि।
तब ही प्रेम फूले फल्यौ प्रेमिनि कह्यो पुकारि।
प्रेम बनिजनै हौ चली आगे मिलिया प्रेम।
प्रेमै पति गति पाइ सखी मोहि प्रेम कौ नेम।
प्रेम डिसौना, ओढ़ना, अचवत भोजन प्रेम।
प्रेम प्रेम कौ पाहुनो प्रेम प्रेम कौ नेम।[3]

सखियों का यह नाता महल का नाता है एवं यह इतना सच्चा नाता है कि और सब नाते इसके आगे झूठ ही नहीं पड़ जाते बल्कि यह नाता सखियों के मन को एक दुर्जय आत्म-विश्वास से भर देता है:—

हमारे महल को नातो साँचो।
ताही के बल गरजत सबसौं आवत नाहीं आँचो।
श्रीकुंजबिहारिनि ललित लाड़िली इनहि हिये मे खाँचो।
श्रीहरिदासी रसिक सिरोमणि मन मिलि पोषत पाँचो।[4]

---

१. ललित किशोरी देव: साखी, २६७।
२. वही, वही, ३००।
३. बिहारिणि दास: साखी, ८७-८६।
४. ललित किशोरी देव: सिद्धान्त के पद, ४५।

प्रिया का नाम ही इनके महान् सुख का ग्राधार है। यह नाम ग्रत्यधिक ग्रानन्द देनेवाली ही नहीं है रूप ग्रौर रस का भण्डार भी है। यहाँ तक कि समस्त सार-तत्त्वों का भी सार-तत्त्व यही है। जिसकी रसना से, भूल से भी, यह नाम निकल जाय वह प्रिया के उर की हार हो जायः—

महासुख प्रिया नाम ग्राधार।
ग्रति ग्रानन्द रूप निधि रस निधि सकल सार कौ सार।
जाकी रसना भूलिहू निकसै होइ प्रिया उर हार।
श्री ललित रसिकवर की निज जीवनि ग्रद्भुत नित्य विहार।[1]

सान्द्र प्रेम के इस बल पर ही तो वे बिहारी की भी परवाह नहीं करती, उनसे भी उनका व्यवहार ऐड़ का ही होता है :—

किये रहै ऐड़ बिहारीय सौं हैं बेपरवाह बिहारनि।[2]

इस सम्प्रदाय में सखियों के वैसे भेद-प्रभेद हमें प्राप्त नहीं होते, जैसे कि गौड़ीय वैष्णवों या निम्बार्कीयों में ग्रथवा राम-भक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में प्राप्त होते हैं। सभी सखियाँ निकुंज-विहार की ही व्यवस्था करती हैं एवं कुंज के रन्ध्रों से उसी विहार का वर्णन कर सुखी होती हैं।

बहुत थोड़े में श्री भगवतरसिक ने इस सम्प्रदाय का रूप निम्नलिखित कुण्डलिया में ग्रत्यधिक स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है :—

ग्राचारज ललित सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्यकिशोर उपासना, जुगुल मन्त्र कौ जाप।
जुगुल मन्त्र कौ जाप, वेद रसिकनि की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी।
प्रेम देवता मिले बिना, सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुख दानि, प्रकट में रसिकाचारज।[3]

---

१. ललित किशोरी देव : सिद्धांत के पद, ४८।
२. बिहारिणिदास, सवैया, १११।
३. भगवत रसिक, ग्रनन्य निश्चात्म-ग्रन्थ, पृ० ४३-४४।

हरिदासीय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अन्तर

युगल-रूप, परिकर, धाम, उपास्य-भाव एवं नित्य-विहार आदि सभी में हरिदासीय सम्प्रदाय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय में बहुत अधिक समानता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का सुचिन्तित मत है कि: "श्रीस्वामी हरिदास जी तो हितहरिवंश जी के समसामयिक थे। स्वामी जी ने सखी-भाव के साथ नित्यविहार और निकुंजलीला की ठीक उसी रूप में गायन किया जिस रूप में श्री हितहरिवंश जी ने प्रस्तुत किया था। उनका तथा उनकी शिष्य-परम्परा का जो भक्ति-साहित्य मिलता है, उसमें तथा राधावल्लभीय भक्ति साहित्य में विचारधारा और भावना का विशेष अन्तर नहीं है। प्रायः एक ही भावभूमि पर दोनों ने साहित्य-सृजन किया है।"[1] दोनों के मध्य दो सामान्य भिन्नताओं की भी चर्चा उन्होंने की है। उनके अनुसार ये अन्तर हैं :—

(१) स्वामी हरिदास की साधना में वैराग्य का प्राधान्य था, तथा

(२) हरिदासीय (निम्बार्कीय भी) सम्प्रदाय में स्वकीया भावना को महत्त्व प्राप्त है जब कि "राधावल्लभी सम्प्रदाय में लौकिक दृष्टि से स्वकीया की स्वीकृति होने पर भी राधा को स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित माना गया।[2]

हमारे लिए डॉ० स्नातक की विभिन्नता संबंधी इन स्थापनाओं से सहमत होना कठिन है। प्रथम स्थापना के संबंध में इतना तो हम स्वीकार करते हैं कि स्वामी जी के सम्प्रदाय में विरक्त शिष्यों का स्थान महत्वपूर्ण रहा ; परन्तु इसके साथ ही सिक्के का दूसरा पहलू यह भी है कि उनके शिष्यों की गोस्वामी-परम्परा गृहस्थ होती आई है। जहाँ तक वैराग्य-भावना के मूल का प्रश्न है, राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में संसार के प्रति विरक्त रहने को कम मान नहीं दिया गया है। हितहरिवंश जी का निम्न पद विशुद्ध वैराग्य-भावना का द्योतक है: —

मानुष कौ तन पाय भजौ ब्रजनाथ कों।
दर्बी लै कै मूढ़ जरावत हाथ कों।
श्री हित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के।
हरि हां बिन कंचन क्यों चलै पचीसा लोक के।[3]

---

१. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय :
—सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५८४।

२. वही, वही पृ० ५८४।

३. हित हरिवंश : स्फुट वाणी, सं० ९।

वस्तुतः भक्ति की आंतरिक प्रेम-भावना और उपासना में वैराग्यवाला यह अन्तर तनिक भी सिद्ध नहीं होता।

जहाँ तक स्नातक जी द्वारा स्थापित दूसरी भिन्नता का प्रश्न है, वह भी समुचित प्रतीत नहीं होती। स्वयं स्नातक जी ने माना है कि लौकिक व्यवहार की दृष्टि से राधा वल्लभ सम्प्रदाय में स्वकीया भाव को स्वीकार किया गया है। ठीक यही बात सखी सम्प्रदाय के बारे में भी कही जा सकती है। सैद्धान्तिक रूप से दोनों ही सम्प्रदाय नित्य-किशोर-अजन्मा युगल की कल्पना करते हैं,

पर प्रकट लीला (व्यवहार का लोक) के क्षेत्र में दूलह-दुलहिन का रूपक कभी-कभी कवियों ने बाँधा है। चाचा हितवृन्दावनदास (राधावल्लभीय) ने भी राधा-कृष्ण का विवाह कराया है तथा स्वा० रसिक देव (हरिदासीय) ने भी श्याम-श्यामा का विवाह वर्णित किया है। जो बात डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के लिए कही है, वही बात डॉ० गोपाल दत्त शर्मा ने हरिदासीय सम्प्रदाय के प्रसंग में कही है। उन्होंने राधावल्लभ सम्प्रदाय की ओर इंगित करते हुए लिखा है :—

"कोई श्री राधा को स्वकीया मानते हैं, किसी-किसी ने श्री राधा और कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है, तथा स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के उपासना रस का नाम है—निरवधि नित्य विहार, इनकी ठकुराइन कुंज विहारिणी राधा स्वकीया तो हैं किन्तु वे वृषभानु गोप के घर जन्म नहीं लेतीं और न इनके ठाकुर कुंज बिहारी ही नन्दबाबा के घर प्रकट हुए"।[1]

ये परस्पर विरोधी वक्तव्य, वस्तुतः हमें एक ही निष्कर्ष तक पहुंचाते हैं कि स्वकीया-संबंधी कोई विवाद या अन्तर दोनों में नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यह भी न लिया जाय कि दोनों सम्प्रदाय ठीक एक दूसरे के प्रतिरूप है। उनमें कतिपय अन्य अन्तर अवश्य हैं। संक्षेप में हम नीचे इन अन्तरों को उपस्थित कर रहे हैं :—

(१) प्रारम्भ में ब्रजलीला एवं वृन्दावन (निकुंज) लीला में कोई स्पष्ट अन्तर की धारणा राधावल्लभ सम्प्रदाय में नहीं थी जबकि यह धारणा प्रारम्भ से हरिदासीय सम्प्रदाय में विद्यमान थी। पीछे हम दिखा चुके हैं कि सखी सम्प्रदाय में कृष्ण, नन्द, सुवन, ब्रजपति जैसे नाम लगभग नहीं आते हैं, पर राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रारम्भ से ही इनका प्रभूत उपयोग हुआ है। हितहरिवंश जी ने अपनी रचनाओं में कृष्ण, नन्दनन्दन, गोवर्धनधर, ब्रजनाथ, एवं वृषभानु-

---

१. डॉ० गोपालदत्त शर्मा : स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० २६५ (अप्र० प्रब०)।

नन्दिनी जैसे शब्दों का उपयोग किया है।[1] उन्होंने राधा एवं कृष्ण के जन्म की बधाइयाँ भी गायी हैं :—

चलौ वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियौं मोहन हित श्यामा ग्रानन्द निधि सुकुमार।[2]

तथा

ग्रानन्द आज नन्द के द्वार।
दास ग्रनन्य भजन रस कारण प्रगटे लाल मनोहर ग्वार।[3]

श्री हितहरिवंश ने रास के ग्रनेक मनोहर वर्णन किये हैं। उनमें एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भागवत की परम्परा में वे युवतियों को उचित रूप से परिरंभन, चुम्बन ग्रौर ग्रालिंगन का सुख कृष्ण से प्रदान करवाते हैं :—

सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिद वरषायौ।
परिरंभन चुम्बन ग्रालिंगन उचित जुवति जन पायौ।[4]

पर इस प्रकार के वर्णन सखी-सम्प्रदाय में नितान्त विरल हैं।

(२) सखियों के क्षेत्र में स्वामी हरिदास ने केवल ललिता (हरिदासी) का नाम लिया है, पर हितहरिवंश जी ने ललितादिक कहकर जैसे पौराणिक ललितादिक सखियों की ग्रोर संकेत किया हो।[5] इस संकेत को ही मानो ग्रहण

---

१. हितहरिवंश : स्फुटवाणी, ४,७,८,११,१५,१६,१८,१९
   ,, ,, हित चौरासी, १८,३०,३३,४३,४५,४८ ग्रादि।
२. वही : स्फुट वाणी, १६।
३. वही, वही, ११।
४. वही, हित चौरासी, ३६।
५. खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
   सुनहु न सखी सहित ललितादिक, निरखि निरखि नैननि किन फूलहु।
   —हि० चौ० ६२।

तुलनीय

एवं परिष्वंग कराभिमर्श स्निग्धेक्षणोद्दाम विलास हासैः
रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः।
—श्रीमद्भागवत, १०।३३।१७।

तथा

श्लिष्यति कामपि, चुम्बति कामपि, कामपि रमयति रामाम्।
—गीत गोबिन्द पृ० ११। (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९४८)।

कर आगे चल कर ध्रुवदास जी ने अष्ट प्रमुख-सखियों, फिर उनकी आठ-आठ सखियों, तथा अन्य सखियों का उल्लेख किया है। ललिता, विशाखा, रंगदेवी, चित्रा, तुंगविद्या, चंपकलता, इंदुलेखा एवं सुदेवी अष्ट प्रमुख सखियां है।[1]

यह अष्ट सखियाँ मानो साक्षात् हित (प्रेम) की मूर्तियाँ है, तथा सेवा में अत्यधिक प्रवीण हैं, इनके भी आठ-आठ सखियां हैं, जो उन्हीं के सुख में रँगी रहती हैं। उनके नाम, वर्ण, सेवा एवं वस्त्रों का विवरण ध्रुवदास जी ने पुराणों के अनुसार दिया है :—

अष्टसखी मनो मूरति हित की, अति प्रवीण सेवा करैं चित की।
आठ-आठ सहचरि तिन संगा, रंगी निरन्तर तेहि सुख रंगा।
नाम वरन सेवा वसन, जैसे सुने पुरान।
ते सब ब्यौरे सौ कहौं, आपति मति अनुमान।[2]

इन सबका उपरोक्त क्रम में वर्णन करने के बाद लेखक ने पुनः अपने सूचना-स्रोत का नाम निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यह स्रोत है 'गौतमीय तन्त्र' :—

कहे गौतमी तन्त्र में, इन सखियन के नाम।
प्रथम बन्दि इनके चरन, सेवहु स्यामा स्याम।[3]

अष्ट सखियों आदि के नामों की यही परम्परा गौड़ीय वैष्णवों में भी स्वीकृत है। ऐसा लगता है कि ध्रुवदास के समय तक रूप एवं जीव गोस्वामी का प्रभाव यथेष्ट रूप से अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्त-व्यवहार पर पड़ चुका था। पर लगता है कि अष्ट सखियों के नामों के बारे में ध्रुवदास निश्चित नहीं थे। रसानन्द लीला में एक दूसरी ही परम्परा उन्होंने प्रतिष्ठापित की है। इसके अनुसार ललिता, विशाखा, वृन्दा, स्यामा, चन्द्रा, मुदिता, नन्दिनी एवं भामा ये आठ मनभाई सखियाँ है जो कि रूप-दर्शन से कभी भी तृप्त नहीं होती हैं। इन आठों के भी सेवाकार्य का विवरण वहीं पर लेखक ने दिया है।[4]

परन्तु हरिदासी सम्प्रदाय में इस प्रकार सखियों का कोई निरूपण अथवा विभाजन हमें प्राप्त नहीं होता। हरिदासी सम्प्रदाय में यदि मुख्य सखी कोई है

---

१. ध्रुवदास : सभामंडल लीला (बयालीस लीला, पृ० १३१-१३२)।
२. वही, रस मुक्तावली लीला, (बयालीस लीला, पृ० १४८)।
३. वही, वही पृ० १५२।
४. वही, रसानन्द लीला, पृ० २५०।

भी तो स्वयं हरिदासी (या ललिता), शेष सब सखियाँ मात्र सखी हैं। हरिदासी के स्थान पर हितरूपा सखी की कल्पना राधावल्लभ-सम्प्रदाय में भी है, पर ब्रजलीला की पौराणिक कल्पना सखियों के नाम, रूप, सेवा, वस्त्र आदि के वर्णन में इस सम्प्रदाय के भीतर प्रविष्ट अवश्य हो गयी है । इतना अवश्य है कि सखियों में भी पाँच प्रकार की सखियों या सखी एवं मंजरी आदि के भेद इन सम्प्रदायों में उपलब्ध नहीं होते ।

इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य अन्तर—जिनका कि परिमाणवाची कोई पुष्ट समर्थन नहीं किया जा सकता—और भी पढ़ते-पढ़ते प्रतीत होते हैं। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा का रूप हमें सखी-सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक उभरता प्रतीत होता है। इसी प्रकार वृन्दावन के बारे में भी राधावल्लभियों के कथन अधिक भाव-विह्वल एवं विदग्ध लगते हैं। ध्रुवदास ने अपने सम्प्रदाय के रस का नाम ही वृन्दावन-रस अभिहित किया है।[1]

कालक्रम में पूर्ववर्ती होने के कारण हमने हरिदासी सम्प्रदाय के युगल उपास्य, धाम, परिकर, उपासना भाव को विस्तार से उपस्थित किया है। समानता की मात्रा के आधिक्य के कारण राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसंग में भी उन्हीं बातों को दोहराना उचित नहीं है। इसीलिए हम यहाँ राधावल्लभ-सम्प्रदाय के उपास्य, धाम, परिकर, उपासनाभाव आदि का निरूपण अलग से नहीं कर रहे हैं।

हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताएं

१. प्रेम ही परतत्त्व है ।
२. उसका प्रकाशन श्याम-श्यामा के रूप में होता है।
३. श्याम-श्यामा नित्य-विहार में निमग्न रहते हैं।
४. शक्ति-शक्तिमान् जैसे संबंध इन दोनों के पारस्परिक संबंध को व्याख्यायित नहीं कर सकते ।
५. प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में राधा का स्थान प्रमुख है ।
६. अन्य सारे अवतार बिहारी जी के ही अंश हैं, पर सृष्टि के पालन,

---

१. (क) रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊं, बृन्दाबन रस कुछु इक गाऊं।
—ध्रुवदास : रसमुक्तावली लीला (ब० ली०, पृ० १४७)।
(ख) वसना निधि अरु कृपानिधि श्री हरिवंश उदार।
वृन्दावन रस कहन कौ, प्रकट धर्यो अवतार।
—वही, रहस्यमंजरी लीला पृ० १८४।

सृजन या संहार से उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। यों संसार की सृष्टि भी उनकी माया ही है, पर वास्तविक नित्य स्वरूप नित्य-विहार में ही है।

७. यह रूप नित्य-किशोर, अजन्मा है।

८. ब्रज, मथुरा, द्वारका आदि की काव्य-पुराणादि वर्णित लीलाओं से इन सम्प्रदायों का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। यहाँ तक कि ब्रज-लीला का माधुर्य-रस इस विहार-रस के एक कण के छलक जाने से उत्पन्न है।

९. इसी कारण परिकर एवं धाम की जो विस्तृत विवेचना गौड़ीय वैष्णवों में उपलब्ध है, यहाँ पर उसका अभाव है। पर यह अभाव किसी प्रकार की हीनता का सूचक नहीं है। यह आवश्यकता न होने के कारण है।

१०. गुरु श्री राधा के समान होता है। दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने-अपने संस्थापकों को उपास्य के पद तक पहुँचा दिया है।

११. जीव को उपासना सहचरी-भाव से करनी चाहिए।

१२. सहचरी-भाव में पुरुष-भाव का अभाव हो जाता है, तन-मन निर्विकार हो जाते हैं एवं नित्य-कुंज-बिहार में सेवा करने की उत्कंठा तथा विहार-दर्शन की ही लालसा रहती है।

१३. सहचरी लाल-लाड़िले के सुख में ही सुखी रहती है, इसलिए उसके भाव को तत्सुखी-भाव कहते है।

१४. सहचरी के स्वरूप में प्रेम, दास्य एवं सख्य का अद्भुत संयोग रहता है।

१५. नित्य-विहार-दर्शन ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

गोपीभाव एवं सखीभाव की तुलना

गोपीभाव	सखीभाव
१. कृष्ण ही परात्पर तत्त्व हैं।	१. रस ही परात्पर तत्त्व है।
२. (क) श्री कृष्ण की ब्रजलीलाएँ उपास्य हैं। (ख) ब्रजलीला का अप्रकट स्वरूप गोलोक-लीला है।	२. (क) नित्य वृन्दावन-धाम की निकुंजलीला ही उपास्य है। (ख) निकुंजलीला उपासकों के लिए नित्य प्रकट और सांसारिक जीवों के लिये अप्रकट है।
३. राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं में निस्संग सुखानुभव यहाँ नहीं है।	३. निस्संग सुखानुभव विद्यमान रहता है।
४. नायिकाओं में स्वकीया-परकीया का भेद, परकीया के आधार पर विरह की प्रोज्ज्वलता और तीव्रता गोपीभाव की साधना में ही है।	४. इसमें विरह को कोई स्थान नहीं है। स्वकीय-परकीय-भेद भी नहीं है।
५. ब्रजलीला का सारा प्रसंग पौराणिक है। लोक में घटने वाली समस्त घटनाएँ यहाँ संकलित हैं।	५. पुराणों का आधार छोड़ दिया गया है।
६. श्रीकृष्ण के अवतार-काल की रास-सहचरी गोपियाँ हैं।	६. गोपियाँ नित्य-धाम की नित्य-सहचरी है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में उपास्य, परिकर, धाम एवं उपासना भाव की कल्पना

सम्प्रदाय में नित्यविहारोपासना का इतिहास :

रसोपासना के ऐतिहासिक विकास-क्रम में निम्बार्क-सम्प्रदाय की स्थिति अत्यधिक विवादास्पद है। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि निम्बार्क मत में कम बातें ऐसी निकलेंगी जो निर्विवाद रूप से सबको स्वीकार्य हों। स्वयं निम्बार्काचार्य के उद्भव के संबंध में परस्पर इतनी भिन्न रायें और प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं कि सत्य उन प्रमाणों से ही आवृत्त हो जाता है। रसोपासना के क्षेत्र में विवाद और संशय का क्षेत्र और अधिक बढ़ जाता है। निम्बार्कीय मानते हैं कि रसोपासना या युगलोपासना के प्रणेता निम्बार्काचार्य ही थे; प्रमाण-स्वरूप दशश्लोकी का पाँचवाँ श्लोक :—

अंगेतु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेविता मुदा, स्मरेण देवी सकलेष्टकामदाम् ॥

उद्धृत किया जाता है। निम्बार्क का समय भी सम्प्रदाय के उत्साही शोधक विक्रम की ६ठीं से ८वीं शताब्दी तक निश्चित करते हैं।[1] इस प्रकार दशश्लोकी का समय भी यही हो जाता है। परन्तु दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दशश्लोकी को १६वीं शती की प्रक्षिप्त रचना माना है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय के रस-संबंधी आकर-ग्रन्थों, आदिवाणी और महावाणी के संबंध में पर्याप्त शंका प्रकट की गयी है। पर्याप्त विचार एवं मनन के बाद हमारा मत है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय में मधुर रागमयी उपासना बाद को प्रचलित हुई है।

इस स्थापना का प्रथम प्रमाण यह है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों में हमें माधुर्य-उपासना के विवरण लगभग नहीं ही उपलब्ध होते हैं। इस बात को स्वयं निम्बार्क के अन्य शोधक भी स्वीकार करते हैं।[3] यदि दशश्लोकी को प्रमाण भी माना जाय तो उससे सखी-भावोपासना या युगल अद्वय रूप की वैसी स्पष्ट कल्पना प्राप्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन संस्कृत ग्रन्थों में युगलोपासना के सहचरी-रूप का समुचित विवरण उपलब्ध नहीं होता।

यह आश्चर्य की बात कही जायगी कि जो छिपाने की वस्तु है वह जन-भाषाओं में व्यक्त हो गयी थी, जो भाषा उसे छिपा सकती थी, उसमें वह अप्रकट ही रही। गीता की केशवकाश्मीरीकृत तत्त्वार्थ-प्रकाशिका व्याख्या की अनुक्रमणिका से भगवान के जन्म लेने का प्रयोजन बताया गया है जो इस प्रकार है :—

"भागवत्-धर्म के प्रचलन का अभाव देख कर संसारी जनों के उद्धार के लिये अपने स्वरूप, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा अपने दर्शनार्थ चातकवत् उत्कंठित अनन्याश्रित प्रेमी भक्तों को सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य आदि से परिपूर्ण अपनी छवि के दर्शन मधुर आलाप, मनोहर लीला आदि उनकी मनोभिलाषा पूर्ति करने के लिए अपने समग्र गुण और शक्ति समेत भूमारहरण के बहाने से भगवान् श्री कृष्ण प्रकट हुए थे।"

---

१. (क) श्री ब्रजबल्लभशरण वेदान्ताचार्य : युगल शतक की भूमिका, पृ० १९-२०।
(ख) डॉ० नारायण दत्त शर्मा : निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी-कृष्ण-भक्त-कवि पृ० १४-१५।

२. डॉ० ह० प्र० द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य, पृ० ११९।

३. डॉ० ना० द० शर्मा : नि० सं० हि० कृ० म० क०, पृ० १२७।

इस अंश को उद्धृत करते हुए डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि इसमें भगवान के आविर्भाव का प्रयोजन भक्तों की रसमयी उपासना को ही बतलाया है।[1] हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भगवान के अवतार का हेतु भक्तों की लीला-दर्शन कराना, आनन्द देना है, यह मन्तव्य भक्तिकाल के सम्पूर्ण सम्प्रदायों का रहा है। तुलसीदास ने भी 'भगत-हेतु' भगवान राम का जन्म लेना माना है एवं गौड़ीय वैष्णवों में भी विश्वास था कि भक्तों पर अनुग्रह करने एवं स्वलीलाँ कीर्ति-विस्तार के लिए भगवान प्रकट होते हैं।[2]

संस्कृत एवं हिन्दी की इन रसमयी उपासना वाले ग्रन्थों में निम्बार्क की सिद्ध देह को लेकर भी दो परम्पराएँ प्रकट हुई हैं। पुरानी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार वे भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं एवं वाणीग्रन्थों के अनुसार उन्हें रंग देवी सखी का अवतार माना गया है। स्पष्ट है कि एक भगवान विष्णु और उनके विभुत्व तथा शक्तिशालित्व से संबंधित परम्परा है एवं दूसरी कृष्ण के माधुर्य एवं विलास से संबंधित है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि रसमयी उपासना की परम्परा सम्प्रदाय की नवीन अर्जित सम्पत्ति है। यह बात तनिक भी अपमानजनक नहीं होगी कि नयी परिस्थितियों में उपासना का नवीनीकरण किया जाय। यह बात दूसरी है कि इसे स्वीकार कर लेने से समस्त माधुर्य-भावना का स्रोत एवं प्रस्तोता बनने का गौरव छिन जाता है। पर हिन्दी-काव्य में तो इस परम्परा के प्रथम प्रयोक्ता का गौरव शेष रह ही सकता है। कुछ विद्वानों ने इस गौरव को शोध की अधिकृत मुहर लगा कर प्रामाणिक बना देना चाहा है।[3]

इस अध्याय के पूर्व लिखित पृष्ठों में हमने माधुर्योपासना के क्षेत्र में दो स्पष्ट परम्पराएँ देखी हैं। एक हम ब्रज-लीला गायकों की परम्परा कह सकते हैं। दूसरी परम्परा शुद्ध वृन्दावन-माधुरी या निकुंज-लीला के गान की है, जिसमें कि

---

१. डॉ० नारायण दत्त शर्मा: निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी कृष्ण भक्ति-कवि (अप्र० प्रब०), पृ० १२५।

२. लघु-भागवतामृत, पृ० २४३।

३. (क) श्री भट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी रसिक-भावना के क्षेत्र में सभी रसिकों के पूर्ववर्ती थे।···अतः निकुंजोपासना प्रवर्तन का श्रेय निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों को ही जाता है। डॉ० ना० द० शर्मा: अप्र० प्रब० पृ० ६०१।

(ख) श्री भट्ट जी ब्रजवाणी के सर्वप्रथम अमर गायक हैं।···युगल शतक की परम पवित्र परिष्कृत एवं ललित भाषा ब्रजकाव्य का प्रथम रूप है। वही पृ० ६०३-६०४।

प्रवेश सखीभाव से ही हो सकता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के वाणी-साहित्य एवं तत्संबंधी लेखन में ये दोनों परम्पराएँ विचित्र भाव से गुंथी हुई हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि अत्यन्त योजनाबद्ध रूप से समस्त परम्पराओं के उल्लेख्य प्रसंगों या विचारों को अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी दिखाया जाय एवं इन बातों को सम्प्रदाय के साहित्य में काफी पहले का दिखा कर परम्परा के प्रस्थापक की महिमा भी बटोर ली जाय।

श्रीभट्ट की आदिवाणी एवं श्री हरिव्यास देव की महावाणी इस सम्प्रदाय की रसोपासना के मुख्य आकरग्रन्थ हैं। परन्तु इन दोनों के कालनिर्णय के संबंध में बड़ा भ्रम है। नाभादास के भक्तमाल में इन दोनों व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि १७वीं शती विक्रमी के पूर्वार्द्ध में ये अवश्य उपस्थित रहे होंगे। यों अभी हाल में ही नाभा जी के भक्तमाल में १८वीं० शती के प्रथम दशक के कवियों (यथा भगवतमुदितए वं राधावल्लभीय चतुर्भुजदास) का संकेत प्राप्त किया गया है।[1] और इसे स्वीकार कर लेने पर इन महानुभावों का समय विक्रम की १७वीं शती के अन्तिम भाग तक खींचा जा सकता है तथा 'नयम बान पुनि राम शशि गनौ अंक गति बाम' में 'राम' के स्थान पर 'राग' पढ़ने से से जो संवत् १६५२ समय आता है, उसकी भी रक्षा हो सकती है। पर इधर यह सिद्ध हो गया है कि यह दोहा बाद का जोड़ा गया है, पुरानी प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है।[2] डॉ० गोपालदत्त शर्मा ने उनका समय सं० १५५० के आसपास अनुमान किया है। बहरहाल संवत् के विवाद में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर मेरा अनुमान है कि श्रीभट्टजी १६वीं शती वि० के उत्तरार्ध के पूर्व नहीं थे। डॉ० गोपालदत्त जी ने इसी प्रसंग में आगे हरिव्यासदेव जी का समय १६२५ के आसपास माना है, जो अधिक सन्तुलित प्रतीत होता है।[3] यह संवत् नृसिंह-परिचर्या के लेखन के आधार पर है। नृसिंह-परिचर्या उतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं है अतः बहुत संभव है कि हरिव्यास देव का उल्लेख्य कार्यकाल इससे बाद का संवत १६५० के आसपास का हो।

अस्तु डॉ० गोपालदत्त शर्मा द्वारा सुझाये गये संवतों को स्वीकार कर लेने के बाद भी आदिवाणी एवं महावाणी को और अधिक परवर्ती मानने के लिए हम बाध्य हैं। कहा जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों का संकलन श्रीरूपरसिक

---

१. वासुदेवस्वामी : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, संवत् २०१६, अंक ३-४।

२. डॉ० गोपाल दत्त शर्मा : स्वा० ह० सं० वा० सा० (अप्र० प्रब०), पृ० ४३०।

३. वही, पृ० ४३४।

देव जी ने किया था। निम्बार्क सम्प्रदाय के योगदान की प्राचीनता के अत्यन्त उत्साही समर्थक डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने लिखा है...'युगल-शतक को निज-भजन-भाव-रुचि से श्रीरूपरसिक जी ने ही विभिन्न सुखों में विभाजित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संकलन में रूपरसिक देव जी की स्वयं की कितनी भजन, भाव, रुचि मिल गयी है। इस समय युगल-शतक की जो प्रकाशित प्रति प्राप्त है, उसमें भी उसके सम्पादक-प्रकाशक ने भाषा-छंदादि के परिवर्तन कर दिये हैं।''[1] फिर प्राचीन प्रतियों में भी छंद-संख्या को लेकर लगभग दुगुने का अन्तर है। अर्वाचीन प्रतियों में १०० दोहा और १०० पद मिलते हैं, जब कि प्राचीन प्रति में ९२ पद और १२ दोहे। इस प्रकार दोहे और पद मिलाकर संख्या १०४ हो जाती है। ऐसी स्थिति में युगल-शतक की प्राचीनता अथवा प्रामाणिकता पर भरपूर शंका उठती है। नाभादास के छप्पय से इतना तो सिद्ध है कि वे मधुर भाव-संकलित भगवान की ललित-लीला-सुवलित-छवि को देखने गये थे एवं उस प्रेम की वर्षा में सुन्दर कविताएँ लिखी थीं।[2] पर इस प्रेम और लीला के स्वरूप में कितना इन परवर्ती संशोधकों ने जोड़ा है, इसका निर्णय नितान्त दुष्कर हो गया है। बहुत संभव है कि यह लीला-माधुरी सूरदासादि के समान रही हो। पर इतना अवश्य लगता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की बँधी परम्परा के स्थान पर रागमयी भक्ति के क्षेत्र में श्रीभट्ट जी का प्रवेश हो गया था।[3]

आदिवाणी (युगल शतक) से भी अधिक विवाद हरिव्यासदेव जी की महावाणी को लेकर है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो उसे १९वीं शती की रचना माना है। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उन्हें परम वैष्णव, देवी को भी दीक्षा देने वाला बताया है, पर इनकी रस-रीति की चर्चा नहीं की है। हरिराम व्यास ने भी महावाणी जैसे वाक्सिद्ध रस-ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह शंका होती है कि महावाणी का सृजन उनके द्वारा नहीं हुआ। निम्बार्कीय इसका कारण यह बताते हैं कि अत्यधिक गोप्य होने के कारण ही इसका प्रचार नहीं हुआ। पर गोपनीयता की बात तो रसोपासकों ने प्रत्येक सम्प्रदाय में कही है। इससे भी अधिक शंकित कर देने वाला तथ्य है कि महावाणी हरिव्यास-देव जी ने रूपरसिक देव जी को स्वप्न में प्रदान की थी और उसकी रस-साधना को विस्तार देने का आदेश दिया था। यही नहीं परशुराम देव जी से विरक्त वैष्णवो दीक्षा ग्रहण करने का भी उन्हें आदेश हुआ।[4]

---

१. डॉ० नारायण दत्त शर्मा : अप्र० प्रब०, पृ० २३४।
२. भक्तमाल, पृ० ७६।
३. आचार्य ह० प्र० द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० १९९।
४. डॉ० ना० द० शर्मा : अप्र० प्रब० पृ० ३२०।

इस तथ्य को तनिक इस क्रम से रख कर विचार किया जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है:—

१. हरिव्यास देव जी को अपने जीवन-काल में रसिक साधक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी। यों शायद श्री भट्ट जी के प्रभाव में वे लीला-रस-समुत्सुक रहे हों, पर उसके समर्थ प्रस्तोता या प्रयोक्ता वे नहीं थे।

२. उन्होंने महावाणी का लेखन स्वयं नहीं किया था, बल्कि स्वप्न में रूप रसिक देव जी को प्रदान किया था।

३. हरिव्यास देव जी के १२ प्रमुख शिष्य थे और इनमें भी सलेमाबाद-पीठ के परशुराम देव जी सर्वप्रमुख थे। हरिव्यास देव जी ने इनमें से किसी को भी अपनी रस-रीति प्रदान नहीं की।

४. रूपरसिक देव जी ने परशुराम देवाचार्य से ही वैष्णव दीक्षा ग्रहण की, अतः उन्हीं के शिष्य हुए।

५. परशुराम देव जी बड़े आचार्य ही नहीं थे, समर्थ कवि भी थे, परशुराम सागर उनका प्रमुख काव्य-ग्रन्थ है, जिसके आधार पर डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने निर्णय दिया है कि······'परशुराम देव जी महान कवि हैं।"[1]

६. इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार या माधुर्य भाव नहीं है। इसका मुख्य रस शान्त है एवं निर्गुणी परम्पराओं को इसमें जमकर अभिव्यक्ति मिली है।

७. ऐसी स्थिति में यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि रूप रसिक देव जी के मन में परशुराम जी की निर्गुण-सगुण-समन्वय वाली भावना के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, एवं उसके स्थान पर समकालीन रसोपासना उन्हे आकर्षित कर रही थी, आधुनिक मनोविज्ञान का स्वप्न दर्शन इस आधार पर यही कहेगा कि उसके अवचेतन में पड़ी इन दोनों बातों ने ही स्वप्न में आकार ग्रहण किया। गुरु के प्रति जो अनाकर्षण था, उसने गुरु के भी गुरु को स्वप्न में बुला लिया एवं युगल की रसमयी उपासना शैली तो प्रत्यक्ष ही 'प्रकट' हुई। इस प्रकार निम्बार्कीय होते हुए भी वे निम्बार्कीय परम्पराओं से अलग हुये एवं अन्य समकालीन कवियों अथवा साधनाओं से प्रभावित हो कर महावाणी रचना रूपरसिक जी ने की। डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने भी स्वीकार किया है कि रूपरसिक जी के हाथों भी कुछ

---

१. डॉ० ना० द० शर्मा : अप्र० प्रब०, पृ० ३११।

संस्कार संभव है। इसकी प्रतीति हरिव्यास यशामृत में महावाणी के महिमागान से होती है [1]।

८. निम्बार्कीय परम्पराओं से पृथक हो जाने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि रूपरसिक देव के समकालीन या परवर्ती वृन्दावन देवाचार्य (विक्रम की १८ वीं शती के उत्तरार्ध) का गीतामृत-गंगा ग्रन्थ भी वैसा शुद्ध रसोपासना का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि महावाणी है।

रूपरसिक देव जी के काल-निर्णय का झगड़ा फिर खड़ा होता है। उनके गन्थ लीला-विंशति के सम्बत् निर्धारण के लिये दो पाठों वाला दोहा प्राप्त है। एक में संवत् 'पदरासै जु सत्यासिया' आता है एवं दूसरे पाठ में सतरासे जु सत्यासिया बताया गया है। प्रतियों के संकेतों के मिलान या निर्णय का कार्य हामरे क्षेत्र के बाहर है पर एक तथ्य की ओर इंगित करना उपयुक्त होगा। रूपरसिक देव जी परशु राम देव जी से दीक्षा लेते हैं एवं परशुराम जी का समय सं० १६८० के बाद तक माना जाता है। इधर रूपरसिक देव के समय के बारे में हमें कुछ अन्य तथ्य भी प्राप्त हुए हैं। वंशीअलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का संग्रह हमें उपलब्ध हुआ है। प्रति १९ वीं शती की प्रतीत होती है, तथा खंडित भी है। इस प्रति में संवत् १८३१ तक के पत्रादि भी संगृहीत हैं। इसके आधार पर ज्ञात होता है कि रूपरसिक जी १८ वीं शती के अन्त एवं १९ वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। अगले अध्याय में रूपरसिक जी का काल-निर्णय करने में हम इस पुस्तक की सामग्री को पूरी तरह उपस्थित करेंगे। परन्तु इस आधार पर परशुराम देव एवं हरिव्यास देव का समय और अधिक परवर्ती प्रतीत होता है।

पीछे कहे गये एक और तथ्य को हम यहाँ दोहरा देना चाहते हैं कि हरिव्यास देव जी ने सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि आदि में जिस प्रकार पंच भक्तिरसों का विवेचन किया गया है, वह ठीक गौड़ीय वैष्णव परम्परा में है। हमें लगता है कि यातो ये अंश प्रक्षिप्त हैं या फिर हरिव्यास देव गौड़ीय वैष्णवों के बाद हुए हैं। हमारा अनुमान है कि ऐसे प्रयास बाद में सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा किये गए हैं। एक ओर उन्होंने शास्त्र के स्तर पर भक्ति का विवेचन गौड़ीय वैष्णवों के प्रभाव में किया और दूसरी ओर हरिदासीय एवं राधावल्लभीय मतों के रस उपासना-संबंधी दृष्टिकोणों को भी ग्रहण किया। समन्वय एवं ग्रहण का यह कार्य १७ वीं १८ वीं शतियों में पूर्ण रूपेण सम्पन्न हुआ है। आलोच्य शोध-काल में माधुर्योपासना या प्रेमा भक्ति का पर्याप्त प्रसार इस सम्प्रदाय में हो चुका था,

---

१. डॉ० ना० द० शर्मा : अप्र० प्रब०, पृ० २६६।

अतः इन ग्रन्थों के आधार पर हम उपास्य-उपासना आदि का निरूपण कर सकते हैं।

इस संबंध में पहली ध्यान देने योग्य बात है कि निम्बार्कीय दृष्टिकोण में (जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर चुके हैं) गौड़ीय वैष्णव एवं सखी-साधना दोनों का ही समन्वय हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से वैसा पुष्ट निरूपण इनमें हमें प्राप्त नहीं होता, जैसा कि गौड़ीयों में हम देख चुके हैं।

सर्वेश्वर :

इस सम्प्रदाय के मुख्य उपास्य श्री सर्वेश्वर हैं। यह शब्द उनको विभुता एवं ऐश्वर्य का संकेत करता है। यही परात्पर तत्त्व हैं, यही आदि-मध्य-रहित कृष्ण भी हैं। सारे अवतार उन्हीं के अंश हैं। एक रस रहने वाले वे समस्त संसार के कार्यों एवं वस्तुओं के कारण है।[१] वे अजन्मा तो हैं ही, अत्यन्त सुन्दर एवं आनन्दमय भी हैं। वे परम सुन्दर वैकुण्ठ के निवासी, समस्त सुखों के सारतत्त्व, अतुलनीय माधुर्य एवं असीम ऐश्वर्य के निधि हैं।[२] वे जो एक अद्वय तत्त्व हैं, अपनी इच्छा से ही दो हो जाते हैं।[३] वृन्दावन देव जी ने तो उनको मूर्तिमान श्रृंगार एवं सब रसों का आधार कहा है। रस-पोषण करने वाली समस्त शक्तियों को साथ लेकर वे ब्रज-विहार कर रहे हैं :—

मूर्तिमान श्रृंगार हरि, सब रस को आधार।
रस पोषक सब शक्ति ले, ब्रज में करत विहार ॥[४]

राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं, जिनके साथ वे नित्य विहार करते हैं।[५] राधा को कृष्ण की स्वकीया[६] के रूप में ही स्वीकार किया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में इस प्रकार दोनों परम्पराओं का समन्वय करने का प्रयास हुआ है। इच्छा से ही एक तत्त्व दो रूपों में विभाजित हो जाता है, यह बात सखी-सम्प्रदाय के अनुकूल है एवं राधा ह्लादिनी शक्ति हैं, वे शक्तिमान् हैं, यह कथन गौड़ीय वैष्णव-मतवाद का स्मरण कराता है। परन्तु राधा का स्वकीयात्व गौड़ीय

---

१. महावाणी' पृ० १७७-१७८, पद संख्या १४।
२. वही, सिद्धान्त सुख, ९ पृ० १७६।
३. वही, सिद्धान्त सुख, १४ पृ० १७७।
४. बृन्दाबन देव : गीता मृतगंगा, प्रथम घाट, ५।
५. वही, प्रथम घाट, ३।
६. महावाणी, सिद्धान्त सुख, ५ तथा युगल-शतक पद १९-२०।

वैष्णवों से नितान्त पृथक् है । यों युगल-रूप के चित्रण में एकदम सखी-सम्प्रदायों जैसी भावना के दर्शन होने लगते हैं :—

प्यारी जी प्यारे की जीवन, प्यारो प्यारी प्रान अधार ।
प्यारी प्यारे की उरमाला, प्यारो प्यारी के उरहार ।
प्यारी प्यारे रंग महल में, रंग भरे दोउ करत विहार ।[1]

श्रीभट्ट जी ने अपने उपास्य का रूप एकदम स्पष्ट शब्दों में उपस्थित करते हुए कहा है कि वृन्दावन में विलास करने वाले प्रिय-प्यारे ही हमारे सेव्य हैं । नन्द-नन्दन एवं वृषभानु-नन्दिनी के चरणों के वे अनन्य उपासक हैं :—

सन्तो, सेव्य हमारे श्री प्रिय प्यारे बृन्दाविपिन विलासी ।
नन्द नन्दन वृषभानु नन्दिनी चरण अनन्य उपासी ।
मत्त प्रणय वश सदा एक रस विविध निकुंज निवासी ।
श्री श्रीभट युगल वंशीवट, सेवत मूरति सब सुखरासी ।[2]

धाम :

महावाणी में धाम के रूप में वृन्दावन की बड़ी ही उदात्त कल्पना की गयी है । उसका चित्रण भी बड़े विस्तार से हुआ है । उसकी विराटता का तनिक यह गणित देखिए :—

अखिल ब्रह्माण्ड वैराट के ठाट सब,
महा वैराट के रोम के कूप ।
सावकाशं उड़त रहत नित सहज ही
परम ऐश्वर्य आश्चर्य मय रूप ।
सो प्रथम एक ही शून्य मधि सम रह्यो
जैसे तृसरेनु को रेनु शत अंश ।
याते दश दशगुनी सहस्रशत शून्य पुनि
तिनते लख सहस्र महाशून्य अवतंश ।
तिन महाशून्य के शिखा परतेज कौ
कोटि गुन ते गुनो अति अमित विस्तार ।
तहाँ निजधाम बृन्दाविपिन जगमगे
दिव्य वैभवन को दिव्य आगार ।[3]

---

१. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ० २६, पद ६ ।
२. युगल शतक, ५ ।
३. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ० १७६ ।

ऐसे वृन्दावन में जहाँ पर कि राधा और उनके प्रिय निरन्तर नित्य-विहार करते रहते हैं जय हो :—

जय बृन्दाबन नित्य जय नित्य निकुंज सुख सार।
जय श्रीराधा पिय जहाँ, विहरत नित्य विहार ।।[1]

श्रीभट्ट जी ने उसे आनन्द-मूल कहा है तथा नाम लेते ही युगल-किशोर की प्रणयरति देने वाला बताया है।[2]

परिकर :

परिकर में सखियों की ही कल्पना की गयी है। गौड़ीय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों की भाँति ही यहाँ पर सखियों के यूथों, अष्ट प्रमुख सखियों एवं फिर उनकी आठ-आठ सखियों (कुल ५७६) की कल्पना की गयी है। इन सखियों के नाम, रूप, वेश एवं सेवा आदि की यहाँ पर भी विस्तृत चर्चा है।[3]

लीला :

लीला की दृष्टि से निम्बार्कीयों में फिर दोनों परंपराएँ स्पष्ट हैं। यहाँ पर निकुंज-लीला (कर्णिका-लीला) तथा व्रज-लीला (आवरण-लीला) दोनों ही का वर्णन किया गया है। इसलिए दोनों ही लीलाओं की संज्ञाएँ एवं पात्र भी हैं। इसी कारण गोपियों का भी वर्णन मिल जाता है।[4] पर गौड़ीय वैष्णवों के समान लीलाओं को विशिष्ट व्याख्या देकर एक दार्शनिक 'सिस्टम' के भीतर समेटने का कोई प्रयास निम्बार्क सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं होता।

उपासना-भाव :

युगल-शतक एवं महावाणी दोनों ही में जीव के लिए साधना-मार्ग सहचरी-रूप में ही स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस अवस्था तक पहुंचने के पूर्व दस पैड़ियों की कल्पना की गयी है और ये पैड़ियाँ बहुत कुछ वैधी भक्ति की हैं। संभवतः इन पैड़ियों की स्थिति को ध्यान में रख कर ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निम्बार्क सम्प्रदाय में वैधी भक्ति की ही स्थिति को स्वीकार किया है।[5]

---

१. महावाणी, सिद्धान्त सुख, १७०।
२. युगल शतक, पद ३।
३. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ० १७८-१८४।
४. बृन्दाबनदेव, गीतामृत-गंगा, प्रथम घाट।
५. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी, साहित्य, पृ० १६८-१६६।

पर वास्तव में मात्र वैधी प्रारम्भ में ही स्वीकृत रही है, अपने इस परवर्ती विकास में सम्प्रदाय में रागानुगा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है। महावाणी आदि में सखियों की विविध सेवाओं का विस्तार से उल्लेख है एवं साधक को उन्हीं सहचरियों के भाव का अनुगमन करके राधा-माधव के विहार का तत्सुखी भाव से आनन्द-लाभ करना ही परम काम्य माना गया है। इस संबंध में निम्बार्क सम्प्रदाय और अन्य सखी-सम्प्रदायों में विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

उझकति सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास।
नव निकुंज रस पुंज छवि श्यामा श्याम विलास।[1]

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता को लक्षित करके ही कहा है :—
"श्रीभट्ट जी के युगल-शतक नामक ग्रन्थ में राधा का स्वरूप नित्य-विहार और सहचरी-स्वरूप का बड़ी सरस शैली में प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ भावना में राधावल्लभीय पद्धति से साम्य रखता है।...मूलतः निम्बार्क-मत में सखी का स्वरूप युगल शतक की सहचरी से कुछ भिन्न था, किन्तु रस-मार्ग का प्रवर्तन होने पर रसोपासना के अंगभूत सखी का ही रूप वहां भी स्वीकृत हुआ। महावाणी में तो रसोपासनानुकूल सहचरी वर्णित हुई है।"[2]

वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण, परिकर धाम इत्यादि की कल्पना

वल्लभ सम्प्रदाय में पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म की कल्पना की गई है। अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। वास्तव में इस सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन मुख्य रूप हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म कृष्ण, अक्षर ब्रह्म एवं अन्तर्यामी रूप[3]। अक्षर ब्रह्म ही स्वभाव, कर्म, काल भेद से रुद्रादिक देवताओं के रूप में प्रकट होता है।[4] ब्रह्म को एक से अनेक होने की इच्छा हुई और उसने अपने खेल के लिए ही अपना स्वरूप प्रकट किया। इस प्रकार सृष्टि आदि उसकी

---

१. श्री भट्ट : युगल शतक, दोहा, ७४।
२. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २२२।
३. व्यष्टिःसमष्टिःपुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः
अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे। त०दी०नि०, सर्व निर्णय प्रकरण श्लोक ११६, पृ० ३१५।
४. अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाभेदा रुद्रादयः। वही— श्लोक की वल्लभकृत व्याख्या।

इच्छा शक्ति के परिणाम है[1]। यह इच्छा-शक्ति ही वल्लभ सम्प्रदाय में मायाशक्ति है। पर माया यहाँ पर झूठी नहीं है। इस बात पर वल्लभ सम्प्रदाय में बहुत बल दिया गया है। ब्रह्म इस सृष्टि के समवायी और निमित्त कारण हैं[2]। ब्रह्म रसो वै स: श्रुति के अनुसार रस रूप भी वह है। वह आनन्दाकार विग्रह से अपने अक्षर धाम (गोलोक) में अपनी इच्छानुसार लीला-मग्न रहता है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है[3]। वह अनन्त रूपोंवाला एवं विरुद्ध धर्मों का आश्रय है[4]।

कृष्ण :

इस सम्प्रदाय के अनुसार स्वयं कृष्ण ही रसात्मा, रमेश, विरुद्ध धर्माश्रयी पूर्ण ब्रह्म हैं।[5] सूरदास आदि ने भी उन्हें इसी रूप में देखा है।[6] भागवत के "एतेचांश कला पुंस:, कृष्णास्तु भगवानस्वयम्" का उपयोग इस सम्प्रदाय में भी किया गया है। हरिदासी सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हम लक्ष्मीपति नारायण के ललचाने की बात कह चुके हैं। सूरदास भी कुछ उसी टोन में कहते हैं :—

नारायण धुनि सुनि ललचाने श्याम अधर धुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी विहरत है वन श्याम।[7]

'म्लेच्छ क्रान्तेषु देशेषु' श्लोकों वाले श्री कृष्णाश्रय स्तोत्र के लेखक श्री वल्लभाचार्य यदि मात्र रसात्मक लीलाओं से हट कर धर्म-संस्थापन में भी विश्वास करें तो

---

१. अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्। बहुस्यां प्रजायेयेति, वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती। ३० तदिच्छामात्रस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना। सृष्ट्यादौ निर्गता :— सर्वे, निराकारास्तदिच्छया। ३१ त०दी०नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ० ८७।
२. डॉ० एस०एन० दास गुप्त : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फ़िलासफ़ी, खण्ड ४, पृ० ३२८-३२९।
३. डॉ० दीन दयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दूसरा भाग पृ० ४०२।
४. तत्वार्थदीपनिर्णय, पृ० ११५।
५. वल्लभाचार्य : सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक ३ (परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्) तथा श्लोक १५।
६. सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल। प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल। सूरसागर— ना०प्र०स० १६००।
७. सूर सागर, ना०प्र०स०, १६८७।

आश्चर्य न होना चाहिए। वल्लभ सम्प्रदाय में उनके चतुर्व्यूहात्मक (धर्म-संस्थापक)[१] एवं रसात्मक[२] दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। देवकी नन्दन वासुदेव धर्म रक्षक रूप हैं तथा नन्दसुवन यशोदालाल रसरूप हैं। परन्तु सम्प्रदाय में इसी दूसरे रसरूप की ही विशेष महिमा है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने लीलावपु कृष्ण की ही अनन्त वैचित्री का गुणगान किया है। धर्मरक्षक रूप की ओर यत्र-तत्र संकेत मात्र हैं।

राधा :

प्रारम्भ में सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व हमें प्राप्त नहीं होता। परिवृढ़ाष्टक में वल्लभाचार्य ने 'पशुपजा' गोपकन्या की चर्चा अवश्य की है जिसे कि विद्वान् राधा के रूप में स्वीकार करना चाहते है।[३] पर इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त वह राधा ही हैं तो फिर राधा नाम लेने में आचार्य को हिचक क्यों रही ? पीछे हम कह चुके हैं कि विष्णुपुराण, भागवत पुराण आदि से एक अधिक सौभाग्यशालिनी गोपी का पता लगता है। "पशुपजा" सम्भवतः उसी परम्परा में है। हमें यह भी प्रतीत होता है कि सामाजिक उद्देश्य को दृष्टिपथ से ओझल न करने वाले वल्लभ प्रारम्भ में राधा तत्व को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने राधा तत्त्व को स्कीकार नहीं किया एवं बालभाव की उपासना पर ही बल दिया। परन्तु भागवत को प्रमाण मान कर चलने वाला व्यक्ति कान्ता भाव से बच नहीं सकता। स्वयं वल्लभ ने गोपियों को अपना गुरु "गोप्यस्तु अस्माकं गुरुः" माना है।[४] तथा एक अन्य स्थान में उन्होंने यह आकांक्षा व्यक्त की है कि मेरे हृदय में गोपियों के विरह का दुख पैदा हो जाय।[५] वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी की सेवा में दो गौड़ीय वैष्णवों को नियुक्त किया था, उन्होंने सम्प्रदाय में राधा या गोपीभाव को लाने में सहायता दी होगी। इसके

१. गोकुल प्रकट भये हरि आई।
अमर उधारन, असुर संहारन अन्तर्यामी त्रिभुवनराई। सू०सा० ६३१।

२. नित्यधाम वृन्दाबन स्याम, नित्यरूप राधा ब्रजबाम।
नित्यरास जल नित्य विहार, नित्य मान खंडितामिसार।
ब्रह्म रूप एई करतार, करण हरन त्रिभुवन संसार—वही, ३४६१।

३. डॉ० मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ० १२८।
तथा
डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल : परमानन्द सागर, भूमिका, पृ० २३।

४. गोपिका : प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्। संन्यास निर्णय, ८।

५. बल्लभाचार्य, निरोधलक्षणम्—१।

अतिरिक्त १६वीं शती के समाप्त होते-होते चैतन्य, सखी एवं राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों में राधा-भाव का जो स्फूर्तन होता है उससे वल्लभ सम्प्रदाय भी बचा नहीं रह सका एवं गो० विट्ठलनाथ जी ने राधाभाव को पूर्णतया स्वीकार कर लिया। श्रीनाथ जी की वल्लभ द्वारा प्रवर्तित सेवा-पद्धति में राधा या कान्ता-भाव की स्थान नहीं है, परन्तु विट्ठलनाथ जी ने सेवा के मण्डान में राधा को व्रह्मोत्सवों में सम्मिलित कर लिया। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव की तरह राधा का जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। विट्ठलनाथ जी ने 'स्वाभिन्याष्टक,' स्वामिनी स्तोत्र, 'एवं शृंगार रस मंडन' की रचना करके राधा एवं दाम्पत्य भाव को महत्त्वपूर्ण प्रतिपादित किया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि वल्लभाचार्य ने कान्ताभाव का नितान्त तिरस्कार किया है। उन्होंने जब भगवान को सर्वभाव से भजनीय बताया, तब उसके अन्तर्गत रतिभाव स्वतः आ जाता है। भागवत के श्लोक :—

कामंक्रोधं भयस्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तत्मयतां हि ते।[1]

की व्याख्या करते हुए अपनी सुबोधिनी टीका में उन्होंने कहा है कि काम स्त्री-भाव में, सौहार्द सख्य भाव में होते हैं। इस प्रकार स्त्रीभाव की स्वीकृति उनमें है। 'सूर निर्णय' के लेखकों ने आचार्य वल्लभ द्वारा विवेचित तीन प्रकार की गोपियाँ—गोपांगना, गोपी, व्रजांगना – उद्धृत की हैं। गोपांगनाएँ परकीया भाव से भजती हैं वे साक्षात् 'पुष्टि-पुष्ट रूप' हैं। गोपी वास्तव में कुमारिकाएँ हैं जो कात्यायनी आदि व्रतों के माध्यम से कृष्ण को प्राप्त करना चाहती हैं, ये 'मर्यादा पुष्ट' हैं एवं व्रजांगनाएँ कृष्ण को बालभाव से भजती हैं, ये 'पुष्टिप्रवाह रूप' हैं।[2] परिवृढ़ाष्टक में उन्होंने पशुपजा का शृंगारी रूप ही चित्रित किया है :—

कलिन्दोत्मूतायास्तटमनुचरतीं पशुपजाम्।
रहस्येकां दृष्ट्वा नवसुभगवक्षोजयुगलाम् :
दृढ़ं नीवीग्रंथिश्लथपति मृगाक्ष्या दृढ़तरम्।
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिदृढ़े ॥

इसी प्रकार मथुराष्टक हैं उन्होंने कृष्ण के अंग, चेष्टा, क्रियादि को मधुर ही कहा है। सुबोधिनी भाष्य में उन्होंने अनेक स्थानों पर रति भाव की ओर संकेत किये हैं।[3] यों हम पहले भी कह चुके हैं कि भागवत को प्रमाण मानकर

१. भागवत—१०।२६।१५।
२. द्वारकादास परिख एवं प्रभू दयाल मीतल : सूर निर्णय, पृ०२०४।
३. वल्लाभाचार्य, सुबोधिनी भाष्य, १०।३१।७,१३ व १०।३३।२६ आदि।

चलने वाला व्यक्ति मधुर भावना को अस्वीकार नहीं कर सकता । हमारा अनुमान है कि लोक दृष्टि की विकृति के भय से उन्होंने बाल-भाव पर जोर दिया है अन्यथा उनकी भक्ति-भावना कान्ताभाव को अस्वीकृत नहीं करती । पर राधा-भाव उन्हें अवश्य बहुत स्वीकार्य नहीं लगता ।

अस्तु, वल्लभ सम्प्रदाय में चाहे जैसे भी हो, राधा का चित्रण होता है एवं यह चित्रण अपनी शक्ति में किसी भी अन्य सम्प्रदाय से कम नहीं हैं । राधा और कृष्ण का सम्बन्ध प्रकृति-पुरुष का शाश्वत् सम्बन्ध माना जाने लगता है। सूरदास ने प्रीति की इस निरंतरता की ओर बार-बार संकेत किया है ।[1] उन्होंने दोनों की अभेदता का बराबर चित्रण किया है । वे युगल स्वरूप हैं :—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहि जानत विरहत युगल स्वरूप ।[2]

लौकिक सम्बन्ध की दृष्टि से राधा कृष्ण की स्वकीया ही हैं । सूर, परमानन्ददास, आदि ने राधा कृष्ण का विवाह कराया है । इस युगल रूप में गौड़ीय वैष्णव एवं रसोपासक दोनों ही मतों का अद्‌भुत समन्वय हुआ है । कृष्ण के जाने के बाद वे विरह की साक्षात् विग्रह दिखायी पड़ती हैं । उद्धव-संवाद के पदों में राधा एक-मात्र प्रेयसी के रूप में नहीं दिखायी पड़ी हैं, उनमें विरहिणी गोपियों की हृदय-वेदना ही प्रकट हुई है । अष्टछाप के कवियों ने युगलस्वरूप का सखीभाव से लीला-स्वादन भी किया है ।[3] वास्तव में संयोग और वियोग की वे समस्त स्थितियाँ इन कवियों में सहज ही प्राप्य हैं जिनकी चर्चा प्रेम के सन्दर्भ में की जाती है ।

गोपी :

वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का वास्तविक आदर्श गोपिकाएँ ही हैं । राधा भी दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण से अभिन्न होते हुए भी (यों तो जीव और जगत भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं) काव्य-चित्रण के क्षेत्र में गोपी ही हैं । गौड़ीय वैष्णवों में राधा के प्रभा-मंडल में गोपियों की कान्ति मलिन पड़ जाती है, परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियाँ अपने महत्त्व को खोती नहीं । इसका कारण यह भी है कि लीला-वर्णन में श्रीमद्‌भागवत का अनुसरण इन कवियों ने किया है । सैद्धान्तिक स्तर पर गोपियों के दो रूप हैं—एक रूप में तो वे नित्य गोलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के नित्य रास की संगिनियाँ हैं जो कि भगवान की आनंद प्रसारिणी शक्तिरूप ही हैं । इस रूप में कृष्ण और उनका सम्बन्ध धर्म और धर्मी

१. सूरसागर—ना० प्र० स० १२९१, १३०१, १३३२, १३३३, १३५० ।
२. सूर सारावली, वे० प्रे०, पृ० ३८ ।
३. सूर सागर, ना० प्र० स० २४६३ । परमानन्द सागर, ६८९, ६९४, ८१६ ।

का है । कृष्ण की ब्रजलीलाएँ उनकी नित्य लीलाओं की ही अवतार हैं । कृष्ण ने अपने समस्त परिकर, राधा, गोप, गोपी, गो, गोवत्स आदि समेत अवतार लिया था ।[1] भक्त (जो सत् चित् से युक्त पर आनन्द से रहित होता है) अपने आनन्द अंश की खोज में गोपी-स्वरूप प्राप्त करना चाहता है । उनके राग का अनुकरण करके रागानुगा भक्ति की साधना करता है । साधना की दृष्टि से यह दूसरा रूप ही विशेष महत्त्वपूर्ण है । बहुत से विद्वान कृष्ण-लीला के आध्यात्मिक प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए गोपियों को आत्मा और कृष्ण को परमात्मा भी सिद्ध करते हैं । एवं इस प्रकार भक्तात्मा के लिए इस भाव मार्ग का उपस्थापन करते हैं ।

पीछे हम वल्लभ द्वारा बतायी गयी तीन प्रकार की गोपिकाओं की चर्चा कर चुके हैं : गोपांगना, गोपी एवं ब्रजांगना । इन्हीं को अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा एवं सामान्या कहा गया है । इनमें से रास में सम्मिलित होने का अधिकार प्रथम दो प्रकार की गोपियों तथा एक अन्य प्रकार निर्गुणा को है । उन्होंने सुबोधिनी में रास में प्रवेश पाने वाली इन्हीं तीन वर्गों की १९ प्रकार की गोपियों का विवरण दिया है ।[2] इनमें भी अन्यपूर्वा (जो परकीया होते हुए भी कृष्ण को कान्त मानती थीं) भाव को भक्ति का श्रेष्ठतम रूप माना है । इसे पुष्टि-पुष्ट भाव की भक्ति कहते हैं । राधा को भले ही स्वकीया माना गया हो, पर गोपीभाव की भक्ति में तो परकीया भाव को ही वल्लभ सम्प्रदाय में महत्त्व दिया गया है । सूरदास, परमानन्द दास, नन्ददास आदि ने अनेक बार कुलकानि भेटकर मिलनें वाली गोपियों की चर्चा है ।

वल्लभ ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि निस्साधन भक्त केवल स्त्रीभाव से भगवान का रसास्वादन कर सकने में समर्थ होते हैं ।[3] यहीं पर कार्डिनल न्यूमैन की भी प्रसिद्ध उक्ति याद आ जाती है । उसने कहा था कि यदि तुम्हारी आत्मा को उच्चतर आध्यात्मिक आनन्द में आना है तो तुम्हें निश्चय ही स्त्री बन जाना चाहिए । (इफ दाई सोल इज़ टु गो इन्टु हाइली स्प्रिचुअल ब्लेसेडनेस, दाऊ मस्ट बिकम ए वूमन ।)

अपना सब कुछ समर्पित कर देने वाली इन स्त्रियों के प्रति भागवत् में

---

१. डॉ० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ५०५-५०६ ।

२. वल्लभाचार्य : सुबोधिनी, रास पंचाध्यायी, फल प्रकरण अध्याय ३।२-५ ।

३. अतो हि भगवान कृष्ण : स्त्रीषु रेमेऽहर्निशम् । सुबोधिनी, तामसफल प्रकरण । ४ ।

कृष्ण कह उठे थे कि मैं तुम्हारी कृतज्ञता के पाश से कभी मुक्त नहीं हो सकता।[१] परमानन्द दास ने भी इन गोपियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने उन्हें प्रेम की ध्वजा कहा है।[२] गोपी के निराले अनन्य प्रेम, जिसमें कि समस्त मर्यादा को मिटा कर वे कृष्ण की प्राण प्यारी बनी थीं, के अनुसरण का वे स्पस्ट उपदेश देते हैं :

ये हरि रस ओपी सब गोप-तियन ते न्यारी
कमल नयन गोविन्द चन्द की प्रानहु ते प्यारी॥
निरमत्सर जे संतत अहहि चूड़ामणि गोपी।
निरमल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी॥
जो ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावे।
क्यों नहिं परकानन्द प्रेम भगति सुख पावे।[३]

उनके अनुसार गोपियों के प्रेम की बराबरी कौन कर सकता है। उनके चरणारविन्द का रस उद्धव अपने शीश पर धारण करते हैं। स्वयं साक्षात् ब्रह्मा उनके भाव का वरण वरना चाहते हैं।[४] उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि गोपियों का प्रेम और भागवत पुराण न होती तो सभी लोग औघड़ पंथों के अनुयायी बन कर 'गमैया ज्ञान' का कथन करते :—

जो गोपिन के प्रेम न होतौ अरु भागवत पुरान
तौ सब औघड़ पंथहिं होतौ कथन गमैया ज्ञान।[५]

वस्तुत: अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य गोपी-महिमा से भरा पड़ा है। भ्रमरगीत एवं रासपंचाध्यायी के प्रसंग गोपियों के प्रेम को अप्रतिम रूप से उज्वल भूमिका में स्थापितकर देते हैं। अष्टछाप के कवियों ने गोपियों के भी तीनों रूपों—अनन्य-पूर्वा, अन्यपूर्वा एवं सामान्या — में किसी एक के रागात्मक सन्बन्ध का अनुगमन करना चाहा था। वल्लभ सम्प्रदाय का भक्त निकुंज-लीला का कुंज-रन्ध्रों से दर्शक ही नहीं है, वह स्वयं ईश्वर को कान्त रूप से प्राप्त कर उनके साथ रमण करना चाहता है। एवं इस रूप में वह गौड़ीय वैष्णवों की अपेक्षा, आलवारों, निर्गुणियों एवं सूफ़ियों के अधिक निकट है। परन्तु १८वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते सखी भावना का पर्याप्त प्रवेश वल्लभ मत में भी हो जाता है।

---

१. न पार येऽहं निरवद्यसंसुजाम् स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः
या माभजन् दुर्जरगेह श्रृंखलाः, संवृश्च्यतद् वः प्रतियातु साधुना।
—भागवत, १०।३२।२२।

२. परमन्ददास : परमादन्द सागर, ८२५।

३. वही पृ० ८२६।

४. वही, पृ० ८२३।

५. वही, पृ० ८२४।

धाम :

धाम की दृष्टि से वल्लभ एवं गौड़ीयों में कोई स्पष्ट अन्तर हमें प्राप्त नहीं होता। इस सम्प्रदाय में परब्रह्म इस संसार में अकेला ही अवतरित नहीं होता, साथ ही उसकी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियाँ एवं अक्षर धाम भी जन्म लेते हैं। यह लीला-धाम उसका स्वरूपभूत अंश होने के कारण मायिक शक्ति से रचित संसार के गुणात्मक रूप में भिन्न होता है। व्रजभूमि रसरूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल ही का अवतार है।"[1] यह भी मायिक जगत से परे है।[2] सूरदास ने वृन्दावन को निजधाम[3] एवं आदि अजिर[4] कहा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सखी सम्प्रदाय की भाँति इस मार्ग में वृन्दावन और व्रज अलग-अलग न होकर तात्पर्यवाची हैं :—

बृन्दावन ब्रज को महतु कापै बरन्यो जाई।
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुख पाई।[5]

वल्लभाचार्य ने गोलोक या गोकुल का महत्त्व वैकुण्ठ से भी अधिक माना है।[6] सूर के कृष्ण की मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँचती है तो नारायण उसके लिए उत्कंठित हो उठते हैं।[7] व्रज, गोकुल, वृन्दावन एवं यहाँ के निवासियों की स्तुति में परमानन्ददास ने लगभग दो दर्जन पद लिखे हैं।[8] सूरदास, परमानन्ददास इत्यादि ने यमुना की महिमा का भी गुणगान किया है।

पुष्टि-मार्ग की विशेषताएँ

(१) **अनुग्रह-तत्त्व की अत्यधिक प्रतिष्ठा**—भक्ति के क्षेत्र में यों तो प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रभु-अनुग्रह पर बल दिया है, पर उसे विशिष्ट रूप से सैद्धान्तिक स्तर पर स्वीकार करने का श्रेय वल्लभ सम्प्रदाय को ही है। पुष्टि-मार्ग का नाम-करण ही अनुग्रह से संबन्धित है। भागवत् के 'पोषणं तदनग्रहः' के आधार पर

---

१. डॉ० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४०५।
२. अणुभाष्य, अध्याय ४, पद २, सूत्र १५।
३. सूर सारावली, वे० प्रेस, पृ० ३४।
४. वही, पृ० २
५. सूरसागर, दशम स्कन्ध वे० प्रे०, पृ० १५८।
६. अणुभाष्य, ४।२।१५।
७. सूरसागर, ना०प्रचारिणी सभा, १६८२।
८. परमानन्द सागर—पद सं० ८३५ से ८६० विशेष रूप से।

ही इसे पुष्टि-मार्ग की संज्ञा दी गई । वल्लभ ने अपने अणुभाष्य में स्पष्ट कर दिया है कि पुष्टि मार्ग एक मात्र अनुग्रह साध्व है—पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैक साध्यः[1]। 'तत्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण में भी उन्होंने कालादि के प्रभाव को रोकने वाली श्री कृष्ण कृपा को पुष्टि कहा है। अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि पुष्टि-मार्ग में अनुग्रह की नियामक स्थिति होती है।[2] गो० हरिराय जी ने पुष्टि-मार्ग के लक्षण बताते हुए इस तत्त्व का स्पष्ट निरूपण करते हुए सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही माना है :—

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।[3]

(२) अनुग्रह-तत्त्व को अनुकूलित करने वाला तथ्य (कण्डीशनिंग फैक्टर) है कि भक्त आत्मसहित समस्त आत्मीय वस्तुओं को भी भगवदर्पण कर दे। सर्वात्मना भाव से नित्य ही श्रीकृष्ण की शरण में रहने का निर्देश मन में त्याग भाव को भी जन्म देता है एवं अहन्ता का निवारण भी करता है।

(३) पुष्टिमार्ग वास्तव में सिद्धांत नहीं सेवा का मार्ग है। निष्क्रिय भाव-भक्ति मन को स्थायित्व नहीं देती। तनूजा, वित्तजा और मानवी सेवा के क्रम को स्थापित करके और उसमें मानसी सेवा को श्रेष्ठतम एवं सदा करणीय[4] वताकर उन्होंने भावात्मकता के साथ क्रियाशीलता का अटूट संबंध स्थापित कर दिया है। तनूजा सेवा में भक्त अपना शरीर भगवान को देता है, वित्तजा में धन-सम्पत्ति आदि भी भगवदर्पण हो जाते हैं एवं सर्वश्रेष्ठ मानसी सेवा में भावात्मकता का प्राधान्य है। जब भक्त के हृदय में भगवान से मिलने की विकलता के कारण विप्रयोग उत्पन्न होता है, तव प्रभु सम्पूर्ण हृदय में लीला का अनुभव कराते हैं और फिर स्वतः ही रसात्मक प्रभु का हृदय में आविर्भाव हो जाता है।[5] सेवा को पूजा से अलग करते हुए हरिराय जी ने वताया है कि सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शस्त्रानुकूल अर्चना की जाती है:—

सेवायां लौकिकी युक्तिस्तथा स्नेहो नियामकः ।
पुजायां तु विधिः स्नेहविरुद्ध इति निश्चयः ॥[6]

१. अणुभाष्य, अ० ४, पाद ४, सूत्र ९।
२. बल्लभाचार्य : सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक १८।
३. पुष्टिमार्गलक्षणानि, श्लोक २ (हरिराम वांङ्मय मुक्तावली भाग १)।
४. कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परामता। सिद्धान्त मुक्तावली, १।
५. गो० हरिराय : स्वमार्गीय सेवा फल निरूपण, रूप निर्णय, श्लोक ५।
६. वही—श्लोक ४८।

इस प्रकार सेवा मार्ग में स्नेह-भाव वाले तत्त्व की अनिवार्य रूप से नियामक स्थिति बनी रहती है।

विठ्ठलनाथ जी ने सेवा विधि का बहुत बड़ा मंडान बाँधा। यद्यपि आगे चलकर सेवा विधि के इस वैभवशाली रूप के कारण सम्प्रदाय में कतिपय विकृतियाँ भी उत्पन्न हुईं, पर उस समय मुस्लिम वैभव के समक्ष मनोवैज्ञानिक रूप से हिन्दू जनता को इसने खड़े होने की दृढ़ता दी होगी। इस विधि में सामन्ती वैभव एवं आदर्शों का जम कर उपयोग किया गया। भक्ति मार्ग में दास-भाव (महत्त्व की भावना के प्रति समर्पण) आवश्यक है। वैधी भक्ति के अनुयायियों ने तो इसे मान दिया ही है, सखी-भाव में भी इसे अपनाया गया एवं पुष्टि मार्ग ने भी इसे अपने ढंग से स्वीकार किया है।

(४) भाव की दृष्टि से गोपी भाव को जितनी शक्ति के साथ इस सम्प्रदाय ने स्थापित किया, उतना उसके समकालीन किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने नहीं किया। यह भाव सखी-भावना के परवर्ती प्रभाव में भी समाप्त नहीं हुआ। गो० हरिराम जी ने स्वयं सखी-भावना-परक साहित्य की रचना की है पर अपने 'भक्ति द्वैविध्य निरूपण' में उन्होंने गोपी-भाव की उष्ण भक्ति को ही श्रेष्ठ एवं दुर्लभ बताया है। इस मत के अनुयायी भक्त भगवान के चरणों के सरोवर में (नवधा आदि के द्वारा) शीतल मज्जन नहीं चाहते; ये तो भगवान के पद्म मुख के पराग का पान करना चाहते हैं, अधरों के अमृत का आस्वादन चाहते हैं, वैसा ही आस्वादन जैसा कि गोप-सीमन्तनियों ने प्राप्त किया था :—

भक्तिर्द्विधा पदाम्भोजवदनाम्बुजभेदतः
प्रथमा शीतला भक्तिर्यतः श्रवणकीर्तनात्।
तत्रैव मुख्यसम्बन्धः सुलभो नारदादिषु,
द्वितीया दुर्लभा यस्माद धरामृतसेवनात्।
तद्भावनारूपा विरहानुभवात्मिका,
गोप सीमन्तिनीनाम् च सा हरिणा स्वतः[1]

---

१. गो० हरिराय : भक्ति द्वैविध्य निरूपण, १,२,३।
नन्द दास ने भी कहा है :—
धन्य कहति भई ताहि नाहि कछु मन में कोपी
निरमत्सर जे सन्त तिनति चूरामणि गोपी
इन नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई
ताते अधर सुधारस निधरक पीवत सोई —रास पंचाध्यायी,
अध्याय २, ३८-३९।

भावनारूपा एवं विरहानुभावात्मिका यह भक्ति विरह के तत्त्व को भी अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करती है। यह सर्वमान्य बात है कि अष्टछाप के कवियों ने श्रेष्ठतम वियोग-काव्य का सृजन किया है। इस विरह-भावना की उच्चता के समकक्ष सूफियों की विरह-भावना को ही रखा जा सकता है। हमारा अनुमान है कि पुष्टि मार्ग के विरह-तत्त्व पर सूफियों का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य विद्यमान है। सूरदास ने तो स्पष्ट लिखा है, 'अधो विरहौ प्रेम करैं।'[1]

(५) पुष्टिमार्ग में पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा मार्गों की कल्पना करके अन्य साधना मार्गों को भी स्वीकृति दी गयी है तथा पुष्टि मार्ग में भी शुद्ध पुष्ट, पुष्टि पुष्ट, मर्यादा पुष्ट एवं प्रवाह पुष्ट, इन चार प्रकार के जीवों की कल्पना करके भक्ति के अनेक सम्प्रदायों को स्वीकृति देनी चाही है। ऐसा लगता है कि अपने मत का प्रचार करते हुए भी वल्लभ अन्य साधना-मार्गों एवं सम्प्रदायों के प्रति पूर्णरूपेण उदार थे।

(६) पुष्टि मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हुए भी वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेमाभक्ति को अत्यन्त पुष्ट व्यावहारिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया। दार्शनिक भित्ति होने के कारण रहस्यानुभूति की प्रामाणिकता भी इसमें नहीं, परन्तु भावना के वेग में रहस्यात्मक संकेतों की नितान्त उपेक्षा भी नहीं की गयी।

(७) कृष्ण ही इस सम्प्रदाय के आराध्य हैं। राधा की प्रधानता दिखाने वाले पद वल्लभ सम्प्रदाय में कठिनता से मिलेंगे। सूरदास राधा से भी कृष्ण-चरण की ही भक्ति माँगते हैं।[2]

(८) वात्सल्य, सख्य एवं मधुर इस सम्प्रदाय के कवियों के मुख्य भक्ति-रस रहे हैं। इस प्रकार मानव के मानसिक संगठन के एक बड़े भाग को यह सम्प्रदाय अभिव्यक्त एवं परितुष्ट करता है।

---

१. भ्रमर गीतसार, पद सं० १७५।

२. सूर सागर : दशम स्कन्ध, नागरी प्रचारिणी सभा, १६७३।
रसना एक, नहीं शतकोटिक शोभा अमित प्यारी।
कृष्ण भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी ॥

ललित सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, नाम परिकर एवं उपासना भाव की धारणा

ललित सम्प्रदाय वृन्दावन का एक छोटा-सा सम्प्रदाय है जिसकी स्थापना १८वीं शती के अन्तिम चरण में महात्मा वंशी अलि जी ने की थी। यह सम्प्रदाय इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि राधावाद अपनी पराकाष्ठा पर इसी सम्प्रदाय में पहुँचता है। शक्ति की धारणा इस सम्प्रदाय में अत्यधिक व्यापक रूप में हुई है। पीछे हम सखी एवं राधावल्लभी सम्प्रदायों के विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं कि प्रेम के क्षेत्र में राधा की प्रमुखता उन सम्प्रदायों में स्वीकृत हो गयी थी, पर दार्शनिक स्तर पर कृष्ण ही परात्पर तत्त्व बने रहे। शक्ति और शक्तिमान् की कल्पना उनमें शक्तिमान् के महत्त्व की दर्शिका है। परन्तु ललित सम्प्रदाय में शक्तिमान् को नहीं शक्ति को ही प्राधान्य प्राप्त हुआ। राधा ही इस सम्प्रदाय में परात्पर तत्त्व मान ली गयीं।

यहीं पर यह भी याद दिला देना उचित होगा कि राधा को परात्पर तत्त्व स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं कि इस सम्प्रदाय में केवल शक्ति-रूप (शक्ति-भावना के अनुरूप) राधा की ही उपासना होती है। यह सम्प्रदाय भी सखी या राधावल्लभी सम्प्रदायों की भाँति ही युगलोपासक है। स्वामी हरिदास एवं गो० हित हरिवंश का उल्लेख उन्होंने बड़े सम्मान से किया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों सम्प्रदायों का उन पर गहरा प्रभाव था। पीछे सखी-सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि स्वामी हरिदास को ललिता का अवतार स्वीकार किया गया है एवं उनका अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। ललित सम्प्रदाय में भी गुरु को ललिता रूप ही माना गया है।[2] अथवा ललिता को ही गुरू कहा है।[3] राधा को प्रमुखता देने का संकेत सम्भवतः

---

१. (क) श्री हरि वंश स्वरूप हैं श्री हरिदास उदार।
जे जे बातें महल की वरणत नित्त विहार॥
—वंशी अलि, हृदय सर्वस्व
छन्द संख्या १८।

(ख) श्री ललिता हरिवंश वधु प्रघटी रस निधि आय।
चरन माधुरी कुंवर की दीनी सबन जनाय॥ —वही, वही १६।

२. श्री गुरु ललिता रूपमम तिनको नाम रटन्त।
पांठ सम्पत राधिका श्री बृन्दाविपुन वसन्त॥ —वही, वही २५।

३. गुरुः श्री ललिता ज्ञेया सातु तस्या परा सखी।
—वंशीअलिः श्रीराधा सिद्धान्तम् : श्लोक ३॥

उन्हें राधावल्लभीय सम्प्रदाय से प्राप्त हुआ होगा । वंशी अलि जी के पश्चात् भी ललित सम्प्रदाय एवं राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क रहा है । हमारे देखने में वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का हस्तलिखित संकलन आया है । उसमें किशोरी अलि एवं गो० चंदलाल (राधा-वल्लभीय) के मध्य होने वाले पत्र-व्यवहार का भी संग्रह है ।[1] उससे ज्ञात होता है कि गो० चंदलाल के मन में किशोरी अलि एवं उनकी राधोपासना के लिए अत्यधिक सम्मान का भाव था ।[2]

राधा एवं उनकी लीला :

महात्मा वंशीअलि जी ने अपने 'राधा सिद्धान्तम्' ग्रन्थ में प्रारम्भ में ही वता दिया है कि सौन्दर्य राशि, नित्य प्रेमासक्त किशोरी राधा ही अनन्य भाव से हमारी उपास्य है ।[3] वे चाहते हैं कि समस्त इन्द्रियों का विषय राधा ही हों :—

राधा जीभ रटों सदा सुनों सुकान ।
श्री राधा नयनन देखिहों राधा बिननहिं आन ।[4]

राधिका का रूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ब्रह्म तथा भगवान् को रचने वाली एवं अधिष्ठात्री शक्ति वे ही हैं ।[5] सब कुछ को अनुस्यूत रखने वाली एवं ब्रह्म की अपर पर्याय वे ही हैं । वे सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं ।[6] परन्तु वे स्वतन्त्र शक्ति होते हुए भी भक्त के आधीन हैं । स्वयं श्रीकृष्ण उनके भक्त हैं एवं उनकी भक्ति के आधीन होकर समान भाव से कृष्ण के साथ विहार करने के लिए उन्होंने अवतार धारण किया है ।[7] वृषभानु के घर में भी जन्म उन्होंने साधकों पर अनुग्रहार्थ ही लिया

---

१. डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से प्राप्त ।
२. किशोरी अलि की वाणी, पत्र संख्वा १८० और आगे ।
३. स्व सौन्दर्यमहाराशौ नित्यं सक्तकिशोरिका ।
राधाऽस्माकमु पास्यास्ति तदनन्येन चेतसा ॥
—वंशी अलि, राधा सिद्धांतम् १ ।
४. वही, हृदय सर्वस्व, २८ ।
५. शक्तेर्वा ब्रह्मणोवापि तथा भगवताऽपिहि ।
कत्री श्री राधिका ज्ञेया अधिष्ठात्री तथैव च ॥
--वही, रा० सि०, २ ।
६. वही, वही, ७ एवं ६ ।
७. नित्यं भक्तपराधीना तेन राधा विहारिणी ।
साम्यं भजति भक्तेन रसे कृष्णेन लीलया ॥
--वही, वही पृ० २ ।

है ।[१] वास्तव में लोक में लीला का समस्त विस्तार ही 'साधकानाम् प्रसादाय' ही है ।[२] वे वास्तव में सर्वेश्वरेश्वरी हैं, अतः पत्नीभाव (कृष्ण के प्रति) जो दिखाई पड़ता है वह भक्तों को लीला का दर्शन कराने मात्र के लिए है ।[३] इस प्रकार स्पष्ट रूप से कृष्ण की सत्ता मात्र भक्ति की राह जाती है । कृष्ण, सखियों या अन्य राधा पदाश्रित व्यक्तियों के भाव से ही राधा की उपासना करने का निर्देश उन्होंने दिया है :—

कृष्णः सख्यश्च राधा याः भक्ताः राधापदाश्रयाः ।
तद् भक्तभावतः सेव्या नमस्या राधिकाश्रितैः ।[४]

अन्यत्र भी उन्होंने नन्द कुमार को सेवक ही कहा है[५] वास्तव में इस अंश से तो ऐसा प्रकट होता है कि सम्प्रदाय में कृष्ण को एकदम निष्कासित कर दिया गया है, परन्तु यह सत्व नहीं है 'हृदय सर्वस्व' के दोहों में राधा के युगल रूप एवं विहार का भी सहज एवं सरल चित्रण हुआ है :—

श्री वृषभानु कुमारि नित नाम कुवंर नंदनंद ।
बूड़े रहत विहार में सहचर आनंद कंद ।[६]

नित्य बिहार का भी वर्णन पूर्वोल्लिखित रसोपासना जैसा ही यहाँ पर भी है :—

खान पान सुध नेक नहीं, सखी करत[७] सब काज ।
अंगन ही में सब समय सिज्जा हो को राज ॥१॥
नयन से शृंगार सब होत है अंगन मांझ ।
विरहन में बूढ़े रहें नहीं जानत दिन सांझ ॥२॥
नयन ही में नयन रहें, हिय में हियो समाय ।
भुजन भुजा लपटी रह, यही एक रस माय ॥३॥

---

१. वही, वही, २८ ।
२. वही, वही, २३ ।
३. वही, वही, २२ ।
४. वही, वही, ५ तथा श्लोक संख्या ७६ भी दृष्टव्य ।
५. सेव्य सदा श्री राधिका सेवक नन्द कुमार ।
दूने सेवक सहचरी सेवा विपुन विहार ।
— वही, हृदय सर्वस्व, सं० ५ ।
६. वही, वही, ४ ।
७. वही, हृदय सर्वस्व, सं० ५, वही ३।
८. वही, वही, ६ ।
९. वही, वही, ८ ।
१०. वही, वही, ७ ।

ऐसे गाढ़ विहार में रत रहने वाले कृष्ण में उन्होंने दासभाव ही देखा है ईश्वरता तो वंशीअलि जी के मतानुसार राधा में ही है :—

ईश्वरताई कुवँरि में दासन्तन हैं लाल ।
कृपादृष्टि किये आपस में करत अनोखे ख्याल ।।४।।

पर वे साक्षात् मूर्तिमान श्रृंगार हैं और प्रेम के कारण ही ब्रज में सर्वश्रेष्ठ हैं एवं लीला निर्वाह के लिए कान्त भाव से अलंकृत हैं ।[1]

ललिता एवं अन्य सखियाँ :

ललिता को इस संप्रदाय में बहुमान मिला है । उन्हें कहीं-कहीं पर राधिका से अभिन्न कहा गया है ।[2] ललिता को युगल रूप की करुणा, प्रीति एवं स्वरूप-शक्ति बताया गया है ।[3] युगल को उन सहचरी के अंचल में ही रहने वाला अथवा एक प्राण तीन मित्र (तीन देह) की संज्ञा भी उन्होंने दी है ।[4] यहाँ तक कि दोनों के हृदय में ललिता का विशाल स्नेही नाम विद्यमान रहता है ।[5]

अन्य समस्त सखियाँ ललिता की सहचरी हैं, एवं ललिता की ही रीति से उपासना करने का निर्देश भी उन्होंने दिया है ।[6] ललितादिक अष्ट सखियों के नाम एवं जन्मतिथियाँ भी गिनायी हैं ।[7] ये सखियाँ राधा के बिना एक पल भी नहीं रह सकतीं । वास्तव में वे राधा को अपना भर्ता मान कर ही अपने को सौभाग्यवती मानती हुई सौभाग्य सूचक चूड़ा, नथ आदि चिह्नों को धारण करती हैं ।[8] वास्तव में राधा, कृष्ण, ललिता, वृन्दावन एवं सखी में कोई अन्तर नहीं है ।[9]

---

१. श्रृंगारानुकृतिः कृष्णो ब्रजे प्रेम्णा महत्तमः ।
लीलामात्रैकनिर्वाहे कान्तत्वाहैं कृति मैता ।।
—वही, रा० लि० १३ ।

२. वही, राधा सिद्धांतम्, ४ ।

३. ललिता दोउजन प्रीति हैं करुणक्ति स्वरूप ।
आलिंगन वपु सों रहत रचत विहार अनूप ।।
—वही, हृदय सर्वस्व, १३ ।

४. वही, वही, १५ ।

५. वही, वही, १७ हृदय सर्वस्व ।

६. वही, वही, १९ ।

७. वही राधा सिद्धान्तम, ७८-८० ।

८. वही, वही, ४५-४६ ।

९. वही, हृदय सर्वस्व, २९ ।

सिद्धावस्था में यह अद्वय की द्योतिका भूमि है। वर्षगाँठ आदि उत्सवों एवं जलविहारादि लीलाओं में सखियाँ अपने-अपने भाव से सुख लेती रही हैं।[1]

उपासना भाव :

महात्मा वंशीअलि जी ने गौड़ीय वैष्णवों के अनुकरण पर वैधी, रागात्मिका एवं रागानुगा के भक्ति-प्रकारों को भी स्वीकार किया है। उनकी परिभाषाएँ भी पुरानी ही हैं।[2] रागात्मिका भक्ति में भी दास, सखा (सखी) वात्सल्य एवं उज्ज्वल का उल्लेख एवं उनके आश्रम तथा विभाव की चर्चा भी की गयी है।[3] इनमें भी उज्ज्वल मधुर रस को ही उन्होंने श्रेष्ठतम माना है क्योंकि मणिसमूहों के मध्य से गुजरने वाले सूत्र की भाँति ही उसमें सब अनुस्यूत रहते हैं—मधुरादि विशेषास्तु सूत्रे मणि गण इव।[4] एवं इनमें से किसी भी भाव से भजने का वे निषेध नहीं करते, परन्तु ललिता की गुरु रूप में कल्पना करके उनके भाव से भक्ति करने का उन्होंने जो इंगित किया है, वह उनके झुकाव को सखी-उपासना की ओर ले जाता है। स्वयं वे अपने को राधा की चेरी मात्र कहते हैं :—

राधा चेरी हों सखी मेरे मन नहि आन।
वंशी अलि नीज जीव को सब विध राधा मान।[5]

संक्षेप में उन्होंने सिद्धांतों का सार करते हुये कहा है कि वृन्दावन विहारिणी श्रीराधा जी का नाम ही हमारी परमगति है। श्री ललिता जी हमारे सिद्धान्त की गुरू हैं। उनकी कृपा से राधा के स्वरूप में मेरा प्रेम हो।[6]

रामभक्ति-साहित्य में रसोपासना का स्वरूप

इतिहास :

विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय जन-मानस के दूसरे सर्वोत्तम उपास्य देवता राम की अवतार-रूप-कल्पना पहली शताब्दी ई०पू० के आस-पास की है।[7]

---

१. वही, वही, सं० १०-१२।
२. वंशी अलि, रा० सि०, सं० २९-३४।
३. वही, वही, ३७ तथा ४१-४८।
४. वही, वही, ४९।
५. वही, हृदय सर्वस्व, ३३।
६. वही, रा० सि० १०३।
७. डॉ० कामिल बुल्के: रामकथा (उत्पत्ति और विकास), पृ० १४५।

परन्तु अवतार रूप में कल्पित हो जाने के बहुत दिन बाद तक उनके प्रति प्रगाढ़ भक्ति-भावना का आविर्भाव नहीं होता। श्री आर० जी० भंडारकर का अनुमान है कि यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भ में राम विष्णु के अवतार माने गये थे, किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही प्रारम्भ हुई है।[1] डॉ० कामिल बुल्के[2], डॉ० भगवती प्रसाद सिंह[3] आदि का अनुमान है कि रामभक्ति का आविर्भाव दक्षिण-भारत के आलवार संतों में सर्वप्रथम हुआ है। आठवीं शताब्दी के आसपास से राम-भक्ति का सांप्रदायिक रूप प्रमुखता प्राप्त करने लगता है।

जहाँ तक रामभक्ति में माधुर्योपासना के प्रवेश का प्रश्न है, उसका निर्णय करना विवादास्पद है। हिन्दी साहित्य में माधुर्यभाव भक्ति राम भक्ति की रचनाएँ तुलसीदास के बाद की ही प्राप्त हुई हैं।[4] डॉ०भगवती प्रसाद सिंह ने अपने महत्त्व-पूर्ण शोधग्रन्थ 'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय' में उस भावना की प्राचीनता को वाल्मीकीय रामायण तक पहुँचाया है। परन्तु ऊपर के निर्णयों से यह ध्वनित होता है कि वाल्मीकि-रामायण रामभक्ति का ग्रन्थ नहीं है। विद्वानों ने उसमें भक्ति वाले अंश प्रक्षिप्त माने हैं। अतः राम-सीता की शृंगारी भावना का अंकन उसमें काव्य के आग्रह से ही मानना उचित होगा। अन्य जिन नाट्य एवं काव्य-ग्रन्थों का उल्लेख डॉ० सिंह एवं पं० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' (रामभक्ति में मधुर उपासना) ने किया है, वे भी भक्तिकाव्य न होकर सरस साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणनीय है। स्वयं डॉ० सिंह ने स्वीकार किया है कि वास्तव में ये (लेखक) साधक नहीं, कवि थे किन्तु थे इस भावना के समर्थक। अतएव उनकी रचनाएँ स्वयं साधनात्मक न होते हुए भी रसिक-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि बन गयीं।[5] पं० भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव ने जिन संहिता-ग्रन्थों, स्तवराज एवं गीतियों तथा रामायणों आदि[6] की चर्चा की है, वे सभी परवर्ती प्रतीत होती हैं। स्वयं लेखक ने उनके काल-निर्णय का कोई प्रयास नहीं किया है। डॉ० भगवती

---

१. डॉ० भंडारकर : वैष्णविज्म शैविज्म, पृ० ६६।
२. डॉ० कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १५०।
३. डॉ० भ० प्र० सिंह : रा०भ०र०स०, पृ० ५४।
४. आचार्य ह० प्र० द्विवेदी : मधुराचार्य और उनका मणि-सन्दर्भ, 'कल्पना अप्रैल' १९५५, पृ० ५।
५. डॉ० भ०प्र० सिंह : रा०भ०र०स०, पृ० ७६।
६. भुवनेश्वरनाथ मिश्र, 'माधव', 'रामभक्ति में मधुर उपासना', पृ० १४१-१८६।

प्रसाद सिंह ने माना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से आलवार संतों को माधुर्यभाव का प्रथम भक्त मानना चाहिये ।[1] परन्तु जैसा कि पीछे हम कह चुके हैं, आलवारों की माधुर्य-भावना प्रेम-प्रतीकवाद के अन्तर्गत परिगणनीय है, वह भाव एवं दर्शन-क्षेत्र की वस्तु नहीं है। उस माधुर्य भाव तथा परवर्ती राम एवं कृष्ण-संप्रदायों के माधुर्य-भाव (रसिक-साधना) में गुणात्मक अन्तर है । वास्तव में इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि राम-भक्ति की रसोपासना पर कृष्णभक्ति के संप्रदायों का गहरा प्रभाव है । इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि १९वीं शती तक रामभक्त रसोपासना का मर्म समझने के लिए वृन्दावन जाते रहे हैं । यों जिन तांत्रिक साधनाओं एवं शक्तिवाद का प्रभाव कृष्णभक्ति की माधुर्य भावना तथा राधावाद, सखीवाद आदि पर पड़ा है, वे मूल प्रभाव-स्रोत रामभक्ति को भी बराबर प्रभावित करते रहे हैं, इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

रामभक्ति-साहित्य में तुलसीदास एक ऐसे विशाल वट-वृक्ष के समान हैं, जिसकी सुखद छाया को छोड़कर साधारण जन अन्यत्र नहीं जाना चाहता । यद्यपि तुलसीदास के युग तक (मृत्यु सं० १६८०) कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में रसिकोपासना एवं सखीभाव का व्यापक प्रचार हो चुका था, पर अपने अप्रतिम लौह व्यक्तित्व के बल पर लोक-संग्रही तुलसीदास ने राम, सीता, कौशल्या, भरत, हनुमान आदि चरित्रों के माध्यम से जिस वैधी भक्ति एवं मर्यादा-मार्ग को प्रतिष्ठित कर समाज के लिए मेरुदण्ड का कार्य किया, वह मेरु ऐसे अविचल भाव से दृढ़ रहा कि उस पर परवर्ती रसिक-साधनाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ सका, एवं उत्तरी भारत के अधिकांश सामान्यजन उससे प्रेरणा लेते रहे । दार्शनिक दृष्टि से देखने पर तुलसी के राम और सीता कृष्ण एवं राधा से भिन्न स्थिति वाले नहीं दिखाई देंगे । राम ही परब्रह्म हैं जो भक्तिवश कौशल्या की गोद में जन्म लेते हैं :—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगतिवश कौशल्य की गोद ।[2]

उनके वाम भाग में छविनिधि, आदि शक्ति श्री सीता जी शोभायमान हैं । उनके भृकुटि विलास से ही संसार उत्पन्न होता है ।[3] वे संसार को उत्पन्न ही नहीं करतीं उसके लालन-पालन एवं हरण का कार्य भी परब्रह्म के संकेत पर जानकी ही करती हैं :—

---

१. डॉ० भ०प्र० सिंह : रा०भ० र०स०, पृ० ७६ ।

२. रामचरित मानस, बालकांड, १९८,३४१, अरयकाण्ड २२,९३, कि० कांड २६, उत्तरकांड १३,३४,८१,१३० आदि ।

३. वही, बा० का०, १४८ ।

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ।।[1]

उन्हें तुलसीदास ने ब्रह्म की परमशक्ति कहा है :—

नारद वचन सत्य सब करिहौं
परम सक्ति समेत अवतरिहौं ।।[2]

पीछे गौड़ीय वैष्णवों आदि के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि राधा भक्ति देने वाली भी हैं । सूरदास ने भी राधा से कृष्णचरण-रति माँगी थी । तुलसीदास भी अपनी अर्जी सीता के हाथ ही राम तक भिजवाते हैं ।[3] इन युगल में प्रेम कम नहीं है, पर किसी को दिखाने के लिए न होकर यह सहज रूप से मर्यादित प्रेम है । इसका मर्म राम और सीता ही जानते हैं । बल्कि यों कहना चाहिये कि इस प्रेम का मर्म राम का मन जानता है, और वह मन सदा सीता के पास रहता है, इस प्रीति-रस को इतनी ही बात से समझा जा सकता है :—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा ।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं, जानु प्रीति रस एतनेहिं माहीं ।[4]

परन्तु इन प्रिया-प्रियतम के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मर्यादित रही है । परवर्ती रामरसिकोपासकों को यह दार्शनिक रूप ज्यों का त्यों उपलब्ध हो गया, उसमें लीला की कल्पना एवं प्रेम-सम्बन्धों का मुक्त प्रसार और जुड़ गया । आदि शक्ति को आह्लादिनी में परिवर्तित करके, फिर उसे रसदात्री बनाते देर नहीं लगी । संभवत: तुलसीदास के जीवनकाल में ही यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी ।

रसिक-संप्रदायों में अग्रदास इस साधना के प्रवर्तक माने जाते हैं उनका आविर्भाव-काल सम्वत् १६४२ है, एवं तुलसी का मृत्यु-सम्वत् १६८० है, इस प्रकार अग्रदास के जीवन का प्रारम्भिक अंश तुलसी के उत्तरार्ध की समकालीन रहा है । ऐसा लगता है कि कृष्ण भक्ति की रसिकता रामभक्तों का भी आकृष्ट कर रही थी । अग्रदास ने इस प्रवृत्ति को पहचान कर उसे एक व्यवस्थित साधना पद्धति का रूप दे दिया । धीरे-धीरे राम-संप्रदाय में यही साधना बल पकड़ती गई एवं १९वीं शती का रामभक्ति-साहित्य सर्वतोभावेन इसी माधुर्य-भाव में डूबा हुआ दिखाई देता है ।

---

१. वही, अ० कांड, १२६ ।
२. वही, बा०का०, १८७ ।
३. विनय पत्रिका पद ४१,४२ ।
४. राम चरित मानस, सु०का०, १५ ।

कृष्ण-भक्ति का प्रभाव स्वीकार करके राम-सीता को युगलविहारी कह तो दिया गया, परन्तु वास्तव में यह कार्य उतना सरल नहीं था। राम के चरित्र एवं लीलाओं की जो धारणा आदिकाल से लेकर मध्यकाल तक चली आ रही थी, उसमें शृंगारिकता का न्यूनतम प्रवेश हुआ था। राम-सीता को राधा-कृष्ण एवं कृष्ण-गोपियों जैसी प्रेम-गाथाएँ चित्रित करने वाली न तो कोई पुष्ट प्रकीर्णक-पथों की ही परम्परा अब तक उपलब्ध हो सकी है और न भागवत जैसा कोई पुष्ट-ग्रंथ, एवं गीत-गोविन्द जैसा ललित काव्य ही हमें प्राप्त होता है, जिसमें कि राम-सीता के इस उज्ज्वल रसपरक रूप को स्पष्ट किया गया हो। इसके स्थान पर राम का प्रजावत्सल, दुष्ट-संहारक एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप अधिक स्थापित रहा है। तुलसी ने उनके इन गुणों को और सुदृढ़ भूमि पर स्थापित कर दिया था। रामकथा के सारे पात्र वास्तव में परिवार एवं समाज के विविध सम्बन्ध-सूत्रों के अत्यधिक उदात्त स्तर पर प्रातष्ठित किये गए थे। रसिकोपासकों ने इन सबको स्वीकार करते हुए भी माधुर्यपरक व्याख्या करनी चाही। राम-कथा की इन्हीं आवश्यकताओं के कारण ही हमें सिद्धांत-पक्ष में यत्र-तत्र कृष्ण भक्ति के संप्रदायों की अपेक्षा अन्तर प्राप्त होता है, अन्यथा व्यापक रूप से गौड़ीय वैष्णव-तत्व-दर्शन (बाद को हरिदासी आदि संप्रदायों की भी विचारधारा) को ही रामभक्तों ने स्वीकार किया है। नीचे इन समानताओं एवं वैषम्यों का संक्षिप्त विवरण हम उपस्थित कर रहे हैं। रामलीला को माधुर्यभावपरक मोड़ देने का सबसे अधिक शास्त्रीय एवं पाण्डित्यसाध्य प्रयत्न मधुराचार्य जी ने किया था। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण को वेदादि की भी अपेक्षा अधिक प्रमाण एवं सारे वाङ्मय का कारण[1] बताते हुए उसकी शृंगाररसपरक व्याख्या करने का अद्भुत प्रयत्न किया था। संस्कृत व्याकरण की कामधेनुता के सहारे शब्दों को खींच-खाँचकर जो अर्थ निकाले गए हैं, उनसे आज का पाठक तो खीझ सकता है, पर उस साधना के समझने में ऐसे अर्थ महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे प्रयत्नों का मनोरंजक उदाहरण है कि राम-कथा के बन-गमन वाले प्रसंग को इन लोगों ने वास्तविक न मान कर माया-जन्म माना। इन विवेचकों के अनुसार राम-सीता, लक्ष्मण चित्रकूट से आगे गये ही नहीं, वे चौदह वर्ष वहीं विहार करते रहे। रावण के संहार के लिए वास्तव में राम की आज्ञा से लक्ष्मी, नारायण एवं शेष गए थे—सीता, राम एवं लक्ष्मण के वेश में।

उपास्य :

राम की उसी प्रकार परब्रह्म-रूप में यहाँ पर भी कल्पना है, जिस प्रकार कि अन्य रसोपासक संप्रदायों में हम कृष्ण का रूप देख चुके हैं।[2] वे सच्चिदानन्द

१. मधुराचार्य : सुन्दरमणि-सन्दर्भ, पृ० २३।

२. रसिक अलि : अनन्य तरंगिणी, पृ० ४।

हैं।[1] वे द्विभुज परात्पर हैं।[2] नृत्य-राघव-मिलन में उन्हें लीला के क्षेत्र में दक्षिण नामक कहा गया है :—

कहुं दक्षिण नामक रस लीला, कहींह राम सुन्दर मृदुशीला।[3]

दक्षिण नायक होने के नाते उन्हें अनेक प्रियाओं का वल्लभा होना पड़ता है। सहस्रों मुनि-कन्याओं, राज-कन्याओं, नाग-कन्याओं तथा गंधर्व-कन्याओं को उनकी पाणिग्रहीता भार्या माना गया है।[4] वास्तव में जब कृष्ण के इतनी भार्याएँ या वल्लभाएँ थीं तो फिर राम की क्यों न होतीं ? फिर रास के लिए भी तमाम प्रिबाओं की आवश्यकता थी। इसी कारण मधुराचार्य, राम-सखे इत्यादि ने उनकी अनेक भार्याओं की कल्पना की है। पर दूसरी ओर राम का एक पत्नीव्रत परम्परा में अत्यधिक आदर चला आ रहा था। इन दोनों परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों के मध्य संगति स्थापित करने के लिए बहुभार्यात्व की एक दार्शनिक व्याख्या उन्होंने देनी चाही।

इस व्याख्या के अनुसार राम की पराशक्ति सीता से ही उत्पन्न उन्हीं की अंशभूता अध्य समस्त स्त्रियाँ या सखियाँ हैं, अतः वे वास्तव में सीतारूप ही हैं। इस तरह राम का एक पत्नीव्रत खंडित नहीं होता। मधुराचार्य ने जनक की ऐसी ही शंका का समाधान स्वयं जानकी से सुन्दरी-तंत्र के द्वितीय पटल के एक उद्धरण द्वारा कराया है। जानकी कहती है :—

"हे पिता, आप पुरुषोत्तम श्री राम जी की रस-रूप शक्ति मुझे जानें। श्री राम महादेव हैं, वे सत् और असत् से परे हैं, वे भोक्ता हैं। मेरी ईक्षणकला के आक्षेप से श्री रामचन्द्र शरीर धारण करते हैं और उनकी इच्छा से मेरा शरीर है, ऐसा समझिये। श्री रामचन्द्र और मेरे शरीर के ऐक्य-भाव से यह रसरूप परब्रह्म है जो आत्यन्तिक सुखरूप है। इसीसे विश्व सुखी होता है। इसी रस से बहुत से रस —वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि—उद्भिन्न हुए हैं, सभी शक्तियाँ मुझसे निकली हैं, जो शुद्ध सत्वरूपा हैं और विकार-रहिता हैं।...ये सब श्री रामचन्द्र की भोग्यरूपा हैं, सदानन्दा और, रस-मोद विहारिका हैं। ये मेरे ही समान हैं। इन सबके भोक्ता रघुनन्दन ही हैं।"[5]

---

१. बालअली : ध्यान मंजरी (रा०भ०म०उ०, पृ० २११)।
२. रसिक अली : सिद्धांत मुक्तावली (वही पृ० २३७) तथा नृत्य राघव मिलन, पृ० ६।
३. नृ०रा०मि०, पृ० ४१।
४. बालअली : सिद्धांततत्त्व दीपिका, ३१।
५. मधुराचार्य : सु०भ०सं०, पृ-४३२-४३४।

मधुराचार्य ने यह व्याख्या तो दी ही है, पर यह भी कह दिया है कि जो लोग उनके निरवधि नित्य-विहार को नहीं जानते तथा लोक-वेद के किंकर हैं, वही लोग उन्हें एक पत्नीव्रत-धारी समझते हैं अन्यथा वे तो सुखैश्वर्य रसज्ञः कामिनी-काम-वर्द्धक हैं। मधुराचार्य के अनुसार :—

"जो लोग नीरस चित्त के हैं, अर्थात् जो लोग श्री रामचन्द्र के निरंकुश निरवधिक नित्य-विहार-रस के ज्ञाता नहीं हैं, केवल एक पत्नीव्रत वचनों के छायानुसारी हैं। जितेन्द्रियत्वादि बल वाले श्री रामचन्द्र जी की अघटित-घटना पटीयसी शक्ति के जानकार नहीं हैं, वे अपरिमित ज्ञानानंदा-श्रेयभूत परब्रह्म श्री रामदेव के श्रृंगाररस का परम उत्कर्ष तथा उनके सुखैश्वर्य की पराकोटि में संकोच करते हैं कि परब्रह्म-स्वरूप एक पत्नीव्रती रामचन्द्र जी में यह विहारलीला संभव नहीं हो सकती। ये लोग लोक और वेद के किंकर हैं, इस कारण से धर्म-विषयक भक्ति में अन्ध हैं। वे इस रस को समझ नहीं सकते, अपनी सीमा में आप ही बँधे हुए हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ये दूषणीय नहीं है, भूषणीय ही हैं। दूषणीय इसलिए नहीं है कि उनकी दृष्टि श्री रामजी के नित्य ऐश्वर्य, नित्य माधुर्य और नित्य सौकुमार्य रूपों तक जा नहीं पायी है, नहीं तो वाल्मीकि जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रखा है कि 'रामचन्द्रसुखैश्वर्यरसज्ञः सन् कामिनी-काम-वर्द्धन" हैं।[1]

उनके अनुसार श्रृंगार रस के विश्राम स्थल केवल राम हो सकते हैं। कृष्ण में भी यह क्षमता है, पर वे अंशावतार मात्र हैं। रामावतार की श्रेष्ठता का श्रृंगारिक दृष्टि से प्रमाण देते हुए उन्होंने वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए कहा है कि जहाँ कृष्ण के प्रति मात्र स्त्रियाँ ही आकृष्ट होती थीं, वहीं राम के अद्भुत भुवन-मोहन रूप को देखकर पुरुष भी रमणेच्छु हो उठते हैं। वन में ऋषि मुनि भी उनके साथ स्त्री रूप से रमण करने के लिए आकुल हो उठे थे।[2]

सीता :

राम-प्रिया सीता दार्शनिक विचार से राम की आह्लादिनी शक्ति हैं। —जयति सिया आह्लादिनी शक्ति शक्तिगन भूप।[3] हनुमत्संहिता में भी उन्हें आह्लादिनी शक्ति-रूपा बताया गया है।[4] भगवान एकाकी रमण नहीं करते,

१. मधुराचार्य। सु० म० सं०, पृष्ठ ३२७-३२८।
२. वही, वही, पृ० १०६।
३. बाल अली : नेह प्रकाश, १।
४. ह० स०, पृ० २१।

उन्हें दूसरे की आवश्यकता होती है, इसीलिए एक ही ब्रह्म पति-पत्नी का रूप धारण कर लेता है।

एकाकी नहि रमन ह्वै चहत सहायहिं सोइ।
रमत एक ही ब्रह्म यह पति पत्नी तनु होइ।[1]

वे राम के मन की गति को जानकर अपने शरीर से ही सहस्त्रों नारियों को उत्पन्न करके उन्हें सन्तुष्ट करती हैं—

रामस्य हृद्गतिं ज्ञात्वा, जानकी स्वांगतः सृजन्।
नार्यष्टादशसहस्त्रोत्तरशतैर्यु तमष्टोत्तरम्।।[2]

राम को करोड़ों ब्रह्माण्डों में भी वैसा सुख नहीं मिलता जैसा कि प्रिया जी के मुख-कमल के मकरन्द का पान करने में उपलब्ध होता है। प्रियवस प्रिया हैं एवं प्रिया-बस प्रिय हैं। वे एक दूसरे के प्राण हैं एवं दिन रात उनके चित्त एक दूसरे में उलझे रहते हैं:—

पिय वस प्रिया प्रिया वस पीय, उरझे रहत रैन दिन हीय।
हिय के जीवन हैं पीय, पीय के प्रान जीवन धन सीय।[3]

वास्तव में एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती:—

सीता रामं बिना नैव रामः सीतां बिना नहि।
श्री सीतारामयोरेषः सम्बन्धः शाश्वतो मत।।[4]

इस प्रकार उनका नित्य सम्बन्ध है। उनकी लीला और बिहार अनाहत, अबा-धित भाव से नित्य होती रहती है। राम-सीता का वियोग वास्तव में प्रकाश-लीला के अन्तर्गत है— वास्तव में संयोग ही नित्य है। सीता अविद्या का नाश एवं विद्या का प्रकाश करती हैं।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने रूप, शक्तित्व, लीला साहाय्य एवं नित्यत्व आदि की दृष्टिसे स्वरूपतः सीता एवं पूर्व विवेचित राधा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सीता सर्वथा स्वकीया नायिका हैं। मधुराचार्य ने परकीया-भावना का अत्यधिक खंडन किया। उनके अनुसार "प्रच्छन्न कामुकत्व की जिस बात को उठाकर परकीया-भाव का समर्थन किया जाता है, वह लौकिक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है। भगवत्पक्ष में तो वस्तुतः

१. बाल अली नेह प्रकाश, २।
२. हनुमत्संहिताः पृ० १०।
३. बाल अली : नेह प्रकाश, (राधावल्लभ म० उ०, पृ० २०१ पर उद्धृत)।
४. रा० त० प्र० में जानकी-विलास से उद्धृत।
५. प्रेमलता, वृ० उ० पृ० (राधावल्लभ म० उ०, पृ० ३४१)।

स्वकीया प्रेम ही उत्तम प्रीति सुख का हेतु है।

परिकर :

परिकर की एक विराट कल्पना गौड़ीय वैष्णवों में हम देख चुके हैं। उनका कारण बताते हुए हमने कहा था कि व्रज, मथुरा एवं द्वारका की त्रिविध लीलाओं को उन्हें समेटना पड़ा था एवं इसी कारण परिकर की नाना रूप में कल्पना की गई थी। परन्तु साथ ही यह भी हमने ध्यान दिलाया था कि इनमें मुख्यतः व्रजलीला (वृन्दावन लीला) को ही प्राप्त रही। राम की लीला में धाम सम्बन्धी ऐसे वैविध्य तो नहीं हैं परन्तु अयोध्या में वे राजपद पर तो प्रतिष्ठित हैं ही। इसलिए लीला, धाम, परिकर एवं भाव-सम्बन्धों आदि की दृष्टि से इस राजसत्ता के ऐश्वर्य को ध्यान में रखना पड़ता है। रामभक्ति में इसी कारण ऐश्यर्य का त्याग कहीं नहीं हुआ। माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों का समन्वय इसमें रहा है।

अस्तु, राम के ऐश्वर्य एवं माधुर्य-समन्वित रूप के अनुरूप ही परिकर में विविध भाव-सम्बन्धों की कल्पना की गयी है। गौड़ीय वैष्णवों के समान ही इस परिकर की नित्य रूप में कल्पना की जाती है—लीला की जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सभी परिकर रूप ही हैं।[1] दिव्य धाम में समस्त पदार्थ अप्राकृत, अल्प एवं चैतन्य रूप में ही रहते हैं।[2]

इस परिकर में सर्वश्रेष्ठ स्थान सखीगणों का ही है। इनकी कल्पना ठीक अन्य रस-सम्प्रदायों के अनुरूप ही रामभक्ति सम्प्रदायों में भी की गई है। वे सीताजी का अंश है—श्री सिय अंश सुसखी सरूपा।[3] जिस प्रकार से सीता और राम प्रसन्न रहते हैं, वही सखियाँ करती हैं :—

जेहिविधि रहहिं मुदित सियरामा, सोइ सब अलिगन करहिं सुकामा।[4]

सखियों के अनेक वर्गों में विभाजन भी रसिकों ने किये हैं। सखी एवं किंकरी के भी भेद स्पष्ट किये हैं। राम एवं सीता की अलग-अलग सखियों की भी कल्पना की गयी है। परन्तु यह विस्तार हमारे लिए अनावश्यक है।

धाम :

धाम तत्त्व त्रिपाद विभूति के अन्तर्गत ही है।[5]

---

१. प्रेमलता, वृहत् उपासना रहस्य, (रा० भ० म० उ०, पृ० ३४४)।
२. रामरस रंग विलास, पृ० २४।
३. उ० र०, पृ० १११ (रा० भ० र० स०, से उद्धृत)।
४. वही, (रा० व० म० उ०, पृ० ३४४)।
५. वही, वही, पृ० ३४१।

वृहद् उपासना रहस्य के धाम—प्रसंग में गोलोक के मध्य में अति विस्तारित एवं ललाम इस धाम की कल्पना की गयी है। अपने स्वरूप में धाम की यह कल्पना भी पीछे विवेचित कृष्णोपासकों से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वहाँ पर वृन्दावन की महिमा है, वैसे ही यहाँ साकेत की महिमा है। विविध लोकों से परे गोलोक एवं उसके भी मध्य साकेत है।[1] साकेत के अन्तर्गत ही मध्य भाग में 'कनक भवन है' (यह भी राजा रामचन्द्र की गरिमा के अनुकूल ही है।) यही उनका विहार प्रसाद है।[2] यहीं पर अनन्त सखियों के साथ विद्यमाना सीता जी के साथ राम रास-लीला आदि क्रीड़ाओं में मग्न रहते हैं।[3] साकेत राम की अप्राकृत लीला का धाम हो गया। प्राकृत प्रकट लीलाओं के धाम के रूप में अयोध्या का बड़ा महत्त्व है। राम प्रिया शरण 'प्रेमकली' ने अपने 'सीतायन' ग्रन्थ में राम एवं सीता के समान ही अयोध्या को भी अनादि कहा है :—

राम अनादि सीता अनादि अवध अनादी।
तुम्हरी पुरी अनादि सकल कह वेद के बादी।

तुलना की दृष्टि से अयोध्या को ब्रज का प्रतिरूप एवं साकेत को वृन्दावन का प्रतिरूप कहा जा सकता है। यों बन-विहार के लिए चित्रकूट को सर्वाधिक मान्यता सम्प्रदाय में प्राप्त है। सीता की प्रकट लीला की जन्म-भूमि होने से मिथिला भी सम्प्रदाय में आदरपूर्ण दृष्टि से धामवत् देखी जाती हैं।

लीला :

राम मर्यादा पुरुषोत्तम तो थे ही, रस-साधना की आवश्यकतावश वे लीला पुरुषोत्तम भी बने। निर्गुण-सगुण प्रकट एवं अप्रकट तथा तात्त्विकी एवं अतात्त्विकी लीला के अनेक भेद भी किये गये हैं। यों विविध भावों के अनुरूप माधुर्य, सख्य आदि लीलाएँ भी भगवान राम की होती रहती हैं। वय एवं काल के अनुसार भी लीला भेद हो जाते हैं। ये सभी नित्य हैं।

राम के परम्परा-सिद्ध उद्धारक रूप के अनुकूल ही लीला का एक उद्देश्य जीव का उद्धार एवं लीला-पुरुषोत्तम की लीला का प्रयोजन (स्वरूपानंद की प्राप्ति एवं कैंकर्यसुख प्रदान है।[4] लीला में प्रवेश भगवदनुग्रह एवं आचार्य तथा मंत्र की मध्यस्थता से होता है।[5]

---

१. रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ३१ (१४)।
२. वही, पृ० ४० एवं उपासनात्रय सिद्धान्त, पृ० ८६।
३. वही, पृ० ४०।
४. अनन्य तरंगिनी, पृ० २ एवं राघव मिलन, पृ० ४५।
५. (क) हनुमत्संहिता, पृ० ७ तथा
(ख) वृहद् ब्रह्मसंहिता, पृ० ६९-७०।

उपासना भाव :

राम भक्तों में रसिक साधना के अन्तर्गत पाँचों भक्तिभावों को स्वीकार किया जाता है,[1] जबकि कृष्णोपासकों में रस-साधना माधुर्य भाव की ही द्योतक है। रसिक सम्प्रदाय में इन पाँचों भक्ति भावों की सम्बन्ध दीक्षा दी जाती है। यही नहीं —इन संबंधी को केवल राम के पक्ष से ही नहीं देखा जाता, सीता-पक्ष से भी संवंध-कल्पना इस सम्प्रदाय की एक विशिष्ट देन है। इस सम्प्रदाय के महात्मा सूर किशोर जी सीता को पुत्री एवं राम को जामाता मानते थे एवं प्रयाग दास जी सीता को बहन एवं राम को बहनोई के भाव से देखते थे। अन्य सामाजिक पारिवारिक संबंधों को भी इस क्षेत्र में अभिव्यक्ति मिली है—तथा मर्यादाहीनता न होने से उन संबंधों का निर्वाह भी किया गया है। कृष्णोपासकों में ऐसी संबंध-कल्पनाओं का अभाव है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृष्ण का वैसा पारिवारिक रूप पुरानी गाथाओं में स्पष्ट नहीं हो सका था, जैसा कि राम का प्रतिष्ठित हुआ था। इसी प्रकार राम की मधुर लीलाओं को प्रधानता देते हुए भी राम के ऐश्वर्य-प्रधान एवं पारिवारिक चरित्र के प्रति श्रद्धा कम नहीं है।

सिद्धांत की दृष्टि से भक्ति के पाँचों रसों को इस मार्ग में पूर्ण महत्त्व प्राप्त है। इनमें से किसी का भी आलम्बन लेकर साधना करने वाले अनंत समय तक साकेत में लीला-सुख प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इस धाम में इन साधकों की प्रवेश-संबंधी अवस्थिति में कुछ भेद है। अन्तरंग विहार-कक्ष तक प्रवेश सखियों का ही, अधिकांशतः, स्वीकार किया गया है,[2] यों वे सख्यभावोपासक नर्म सखाओं की भी

---

१. वात्सल्य शृंगार वा,सान्ति सख्य अरुदास।
पांचहु रसिक सुभाव सह, सेवहिं प्रभु पिदव खास। तथा
डॉ०भ०प्र० सिह : रा०भ० र० सं०, पृ० १४३।

२. ललित लीला लाल सिय की त्रिगुन माया पार।
पुरुष तहं पहुंचे नहीं केवल अली अधिकार।
—रसिक अली : अन्दोल रहस्य दीर्घिका
(रा०भ०म०उ०, पृ० २४०)

पुरुष भावना जो हिय धारे, दास सखाहि तदपि प्रभु प्यारे।
गुप्त विहार न देखन आवहिं, हठ वश परेउ दूरि पछितावहिं।
हनुमदादि शिव धरि अलि रूपा, निरखहिं गुप्त रहस्य अनूपा।
तव ते दास सरवादिक भावा, राखहिं उर तिय भाव सुछावा।
प्रभुहिं मिलन हित भाव सुनारी, धरि उर सेइय जनक दुलारी।
प्रभुहिं मिलन हित भाव सुनारी धरि उर सेइय जनक-दुलारी।
(रा०भ०म०उ०, ५-३४६)।
— प्रेम लताः वृ०उ०र०, (रा०भ०म०उ०, ५-३४६)।

पहुँच विहार में स्वीकार करते हैं ।[1] सब मिला राम-भक्ति को इस साधना में श्रृंगार एवं सख्य, दो को विशेष महत्त्व प्राप्त है । यों वात्सल्य एवं दास्य को भी अंगी रसों के रूप में कल्पित किया गया है :—

वात्सल्य माता पिता, सब रस कौ है हेतु —
तिहि बिन जग लीला जुगल, बनत नहीं रस केतु ।
बिना दासता भक्ति नहि, भक्ति बिना रस नाहि ।
रसिक जीव रस रंग मणि, राम दास सब आहिं ।।[2]

शांत रस को बहुत अधिक महत्त्व नहीं मिल सका है । सामान्य प्रजा-जनों को ही शांतरसावलम्बी परिकरों के रूप में कल्पित किया गया है ।[3] इस प्रकार धाम के बाहरी आवरण में ही उनकी अवस्थिति स्वीकार की गई है । सब मिलाकर शांत, दास्य एवं वात्सल्य भावोपासाक साधकों की संख्या इस धारा में कम ही रही है । मुख्यत: दो ही सशक्त परम्पराएँ प्राप्त होती हैं — एक अग्रदास से प्रारंभ होने वाली माधुर्य-भाव की साधना एवं दूसरी रामसखे तथा कामदेन्द्र मणि की सख्य-भावावेशी साधना । प्रथम में साधक के लिए सखी भाव धारण करना पड़ता है एवं दूसरे में सखी की ही पुरुषाकार कल्पना की गई है । अत: तात्त्विक दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर नहीं प्रतीत होता । सभी सखियाँ नित्य-विहार में प्रवेश नहीं प्राप्त करतीं एवं इसी प्रकार सभी सखा बिहार-क्षेत्र से निष्कासित नहीं हैं । हम ऊपर बता चुके हैं कि नर्म सखाओं की उपस्थिति स्वीकार की गई है । एक बात में अन्तर अवश्य हो जाता है कि सखियाँ रामभोग्या भी हैं, परन्तु सखाओं के प्रसंग में ऐसा कोई भाव नहीं उठता ।

जहाँ तक सखी भावना का संबंध है, राम-संप्रदाय में स्वसुखी एवं तत्सुखी दोनों प्रकार की सखियों की मान्यता है । ऐसा लगता है कि कृष्णोपासकों में जिसे गोपी-भाव एवं सखी-भाव कहा गया था वह स्वसुखी एवं तत्सुखी सखी-साधनाओं के रूप में राम-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो जाता है । कभी-कभी एक विरोधाभास भी इस स्थिति के कारण प्रतीत होता है । कृष्णोपासकों में गोपी-भाव ब्रजलीला से सम्बन्धित हो गया था एवं सखी-भाव वृन्दावन-लीला से । ऐसा कोई आत्यन्तिक विभाजन न होने से रामोपासकों में पारस्परिक क्षेत्रों का अतिक्रमण होता अनुभव होता है । ऐसा लगता है कि पतनोन्मुख सामन्ती आदर्शों की छाया में ग्रहण की जाने वाली कृष्ण-लीलाओं के पौराणिक रूप के अनुकरण पर उन्हें बहुपत्नी पति

---

१. कामदेन्द्र मणि : राघवेन्द्र रहस्य रत्नाकर, पृ० २७ ।
२. राम रस रंग गीता : राम रस रंग दोहा, पृ० १०-११ ।
३. कामदेन्द्र मणि : माधुर्य केलि कादंबिनी, पृ० ५२ ।

भी वनाया गया एवं सम-सामयिक सखीभाव के उपासकों की छाया में राम-सीता की ही केलि के सुख की प्राप्ति ही जीवन का चरम काम्य भी स्वीकार करली गई।[1] जिस प्रकार कृष्णोपासकों में 'निकुंज-रस' या 'भगति माहिली' की चर्चा है, वैसे ही यहाँ पर भी 'निकुंज-रस' या 'महल माधुरी' की चर्चा ग्राती है।[2]

साधना की विविध स्थितियों प्रेम की विविध दशाग्रों ग्रादि की दृष्टि से रामोपासकों की इस रागानुगा भक्ति एवं कृष्णोपासकों की रागानुगा में कोई ग्रति उल्लेखनीय ग्रन्तर नहीं है। जो थोड़े वहुत ग्रंतर प्राप्त होते हैं, वे या तो दोनों लीलाग्रों की पुराण-गाथा संबंधी भिन्नता के कारण हैं या फिर व्यावहारिक उपासना में विस्तार के ग्रन्तर हैं। विस्तार-भय से इनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। यों यह चर्चा प्रसंग की दृष्टि से ग्रमहत्त्वपूर्ण भी होगी।

रामोपासक रसिक साधना की मुख्य विशेषताएँ :—

(१) इस साधना में :

(क) ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों स्वरूपों का समन्वय है।

(ख) वैधी एवं रागानुगा दोनों का समन्वित रूप ही स्वीकार किया गया है।

(२) यह साधना मर्यादा का उल्लंघन नहीं करतीं। प्रत्येक साधक ग्रपनी

---

१. सतगुरु दया सखा तनकीर, निज रंग महल रस रहास निहारे।
तन कृत करि गुरु प्रेम भाव का ग्रायसु पाय महल पगु धारे।
मधुर मधुर गति मधुरभाव सो मधुर मनोहर सेज सँवारें।
—कृपानिवासः पदावली, पृ० ४।

२. युगल निकुंज रहस्य नवल रस, सो सदगुर उपदेश करै तस
—कामदेन्द्र मणिः माधुर्य केलि कादम्बिनी, पृ० ५१।

तथा

श्री प्रसाद प्रसाद करि ग्रष्ट सखी गुन गाय।
ग्रलि निकास जिनकी मया, महल माधुर्य पाय।
—कृपा निवास, भावना पचीसी, (रा०म०भ०उ०, पृ० २२५)।

तथा

रसिक ग्रली जीवन यही ध्यावै रटै दिन रैन।
बिनु जुगल रस लीला लखे दिन पल हिये किमि चैन।
—रसिक ग्रली : ग्रन्दोल-रहस्य-दीपिका (रा०भ०भ० उ०, पृ० २४०)।

भाव-साधना के अनुसार सामाजिक मर्यादाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

(३) सखी-भावना एवं मधुर रस का पर्याप्त महत्त्व होते हुए भी अन्य भाव-सम्बन्धों या भक्ति-रसों को न्यून नहीं माना गया है।

(४) सखी-भावना में राम एवं सीता की सखियां अलग-अलग हैं। सीता की सखियाँ राम भोग्याएँ भी हो जाती हैं। विहार-योजना इन्हीं के ज़िम्मे होती है।

(५) सखी-भावना के अन्तर्गत तत्सुखी के साथ ही स्वसुखी शाखा भी रसिक अली की परम्परा में स्वीकार की गई। एक मात्र राम को पुरुष एवं जीवात्मा को स्त्रीरूप में कल्पित करके राम के साथ स्त्री-पुरुष संबंध की भावना करके इन लोगों ने प्रकारान्तर से कृष्ण-भक्ति के गोपीभाव को स्वीकार किया था।

(६) रामोपासना में बहुभार्यात्व तो है लेकिन परकीया भावना का निषेध है। यहाँ स्वकीया की ही एक मात्र सत्ता है।

(७) रामोपासकों का सख्य भाव भी कुछ विशिष्ट है। वह सखी-भावना का ही पुरुष संस्करण है। नित्य-विहार में सख्योपासकों ने नर्म सखा की उपस्थिति स्वीकार की है।

(८) सब मिलाकर धाम, लीला, परिकर एवं काम्यतत्त्व की दृष्टि से राम एवं कृष्ण-रसोपासकों में समानता की मात्रा बहुत अधिक है।

शुक्र-सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं उपासना-भाव की धारणा

इतिहास :

विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में शुक्र-सम्प्रदाय की स्थापना महात्मा श्याम चरणदास ने की थी। इस समय के आते-आते समन्वय की एक प्रवृत्ति सारे देश में जाग्रत हो चुकी थी। भक्ति-सम्प्रदायों में पुराना आवेग तो नहीं रह गया था, पर सिद्धान्तगत दूरी पारस्परिक सम्पर्क के कारण कम होती जा रही थी। निर्गुण और सगुण के मध्य के अन्तर तीखे नहीं रह गये थे। वास्तव में भक्ति-काल में ही निर्गुण में भी गुणों की स्थापना प्रेम-भावना के कारण स्वत: हो गयी थी एवं सगुण-मतवादियों ने यह कभी अस्वीकार नहीं किया कि ब्रह्म निराकार

भी होता है। धीरे-धीरे समन्वय की जो वृत्ति बढ़ी, वह शुक्र-सम्प्रदाय जैसे समन्वय-वादी मार्गों को जन्म देती है।

इस सम्प्रदाय के संस्थापक श्यामचरणदास पहले एक लम्बे अरसे तक योग-साधना में लगे रहे हैं, बाद को वे प्रेममार्गी सगुण-भक्तों के लीला-गायन को पूरी तरह अपना लेते हैं। एक ओर उन्होंने अष्टांग-योग, अष्ट प्रकार के कुम्भक, छहों कर्म, हठ योग आदि का वर्णन किया है जो शुद्ध रूप से या तो योग-मार्ग की परम्परा में है या फिर निर्गुणी भक्तों की शब्दावली एवं वक्तव्य की अनुगूंज है।[1] दूसरी ओर उन्होंने भक्ति पदार्थ का ही वर्णन नहीं किया है, चीरहरण-लीला[2], दान-लीला,[3] माखनचोरी-लीला,[4] काली-नथन-लीला,[5] मटकी-लीला,[6] कुरुक्षेत्र-लीला[7] आदि का भी जमकर वर्णन किया है। अनहद नाद, शून्य नगर में की जाने वाली साधना हमारे विवेचन क्षेत्र से बाहर हैं, उनकी प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार-विमर्श अवश्य करना है।

सेव्य :

चरणदास का सेव्य हरि-नाम से भी पुकारा गया है, निर्गुणियों की परम्परा में उसे राम भी कहा है, परन्तु सगुण भक्ति के क्षेत्र में वे कृष्ण, श्याम, नटनागर, कुँवरकिशोर, नंदराय कुँवर, कन्हैया, आदि नामों का सम्बोधन करते हैं। यह परमतत्त्व लीला सिन्धु है, उसकी अगाध गति है। संसार की उत्पत्ति, पालन एवं विनष्टि का वही हेतु है। पलक मारते ही करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर देते हैं और जब चाहते हैं तब कुछ नहीं शेष रहता। उसे न निर्गुण कहा जा सकता है और न सगुण। वास्तव में उस रूप के समान दूसरा है ही नहीं वे अपनी उपमा आप है :—

> निरगुण सगुण कहा न जावै, चरणदास शुक्र देव सुनावें।
> चरणदास वा रूप की, पटतर दई न जाहि।
> राम सरीखे राम हैं, और बतावों काहि॥[8]

---

१. चरणदास : भक्ति सागर, पृ० ५३-१६२।
२. वही, पृ० २२०-२३१।
३. वही, " ४८६-४८६।
४. वही, " ४६०-४६१।
५. वही, " ४६२-४६५।
६. वही, " ४६६-५०२।
७. वही, " ५११-५५४।
८. वही, भक्तिपदार्थ-वर्णन, पृ० १७५।

यह भी अविगत, अविनासी, आदि पुरुष हैं नाना प्रकार के कौतुक किया करते हैं, अनेक प्रकार के रूप धारण करते रहते हैं। स्वयं ही मोहनलाल ग्वाल बनकर मुरली बजाते हैं और आप ही ब्रजस्त्री बनकर जंगल को दौड़ी आती हैं। आप ही गोपी भी हैं और आप ही कान्ह बनकर रास रचाने वाले भी हैं। यही नहीं अन्तर्धान होकर आप ही अपने को ढूँढ़ते भी हैं और व्याकुल होते हैं। स्वयं अपनी ही लीला देखने के लिए प्रेम उत्पन्न करते हैं। कभी एक हैं और कभी अनेक हो जाते हैं।

आदि पुरुष अविगत अविनासी नाना कौतुक लावै रे।
आपहिं आप और नहिं कोई बहुत रूप बनावैं रे।
आपहि मोहन लाल ग्वाल हो मुरली आनि बजावैं रे।
आपहि ब्रज की बनिता होकर बन को दौरी आवैं रे।
आपहि गोपी कान्ह विराजे आपहिं रास रचावैं रे।
अन्तर्द्धान होये फिर आपहिं आपहिं ढूँढ़न धोवे रे।
आपहि व्याकुल अप देखन कूँ लीला प्रेम बनावैं रे।
परगट होय सबन सुख देवै आपहिं रंग बढ़ावैं रे।
मोर भये जब खेल मचावैं आप आप रह जावैं रे।
कबहुँ एक अनेक कभी हैं विधि निषेध गति भोवे रे।[1]

नारायण, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, वेद और समस्त संसार उन्होंने क्षणमात्र में उत्पन्न कर दिया है।[2] न उसका आदि, मध्य, अवसान है, न उसका कोई रंग हैं वह पुष्प की गंध और नाद से भी भीना है। तीनों गुणों और पाँचों तत्त्वों के आगे है, न प्रकट है और न गुप्त; फिर भी उसमें अगणित गुण भरे पड़े हैं।[3] ऐसे आदि पुरुष का कहना है कि जो कोई सब कुछ तज कर मुझसे प्रीति करता है, मैं उसी के हाथ बिका रहता हूँ।[4] प्रेम के वे ऋणी हैं तथा प्रेमियों के लिए ही वे अवतार ग्रहण करते हैं। भक्त और उसमें कोई अन्तर नहीं होता।[5] वास्तव में भक्तिहेतु ही उन्होंने नंदगृह में अवतार लिया है :—

भाषैं चरणदास शुक देव के प्रताप सेती,
आदि पुरुष भक्ति हेतु नंद गेह आयो है।[6]

---

१. चरणदास : शब्द का वर्णन, पृ० ४६१-४६२।
२. ,, पृ० २५४।
३. ,, ,, १७६।
४. ,, ,, १७१।
५. ,, ,, १७१।
६. ,, ,, ४७४।

तीनों लोकों एवं सातों भुवनों के बाहर जो अमर लोक हैं, उसी के मध्य वह पुरुष-ब्रह्म रहता है जो कि सबके मन में भी विद्यमान है। यह अमर लोक गो लोक भी कहलाता है।[1] अमर लोक के मध्य ही निज धाम है जिसका कि अंश वृन्दावन है :—

अमर लोक विच है निज धामा, जाको अंश वृन्दावन नामा।[2]

यों पुरुषोत्तम अपने धाम में रहते हैं पर प्रेम के कारण व्रज में आकर रहते हैं। वे लीला धारी पुरुषोत्तम वृन्दावन में सदैव विहार करते रहते हैं।

पुरुषोत्तम निज धामा माँ ही, कारण प्रेम रहें व्रज आई।
पुरुषोत्तम प्रभु लीला धारी, वृन्दावन में सखा बिहारी॥[3]

गोल चबूतरे एवं चौसठ खम्भों वाले वृन्दावन में राधा प्यारी के साथ वे विहार करते हैं। वे नित्य किशोर हैं और वे नित्य किशोरी—दोनों की बारह वर्ष की वय है।[4] रसिक केलि के लिए वहाँ अनेक कुंजें हैं :—

रसिक केलि एहु कुंज हैं।[5]

इस अजर पुरुष, पुरुषोत्तम स्वामी, अविनाशी परब्रह्म के बायें अंग रूप की राशि (राधा) विद्यमान हैं।[6] राधा प्यारी नाना प्रकार के अलंकारों से सज्जित हैं, उनकी मुस्कान विद्युत्वत् है। वास्तव में करोड़ों चन्द्रमा उन पर न्योछावर हैं।[7]

परिकर :

पांच तत्त्व एवं तीनों गुणों से न्यारी सखियाँ सहेलियाँ खम्भे-खम्भे के निकट खड़ी युगल पर चँवर डुलाती रहती हैं। सबकी सब नित्य किशोरी गोरी व वस्त्राभूषण सज्जित हैं।[8] सखियाँ सदा सुहागिनें हैं, चूड़ी पहने रहती हैं :—

सदा सुहागिनि पहिने चूरी, सुब्रक पछेली बंगरी रूरी।[9]

---

१. चरणदास अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ० १७।
२. ,, व्रज चरित्र वर्णन, पृ० ७।
३. वही, वही, पृ० ७।
४. ,, पृ० ६।
५. ,, अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ० १८।
६. ,, वही, पृ० २१।
७. ,, ,, पृ० २२।
८. ,, ,, ,, २२-२३।
९. ,, व्रज चरित्र वर्णन, पृ० ६।

सखियाँ हरि के साथ विचरण करती रहती हैं।[1] इसी परिकर के साथ वृन्दावन में अपूर्व रास केलि होती रहती है। चरणदास के मन को 'रास' अत्यधिक उन्मथित कर सका था। उन्होंने बार-बार उसका चित्रण किया है।

इस धाम में सखाभाव से पहुँचते हैं एवं सखी-भाव से भीतर प्रवेश होता है :—

सखाभाव पहुंचत यहि ठाँई, सखी-भाव भीतर का जाई
घेरे स्वरूप अनुपम भारी, सदा सुहागिनी हरि पिय प्यारी।
परम पुरुष पुरुषोत्तम पावें, निकट रहें नित केलि बढ़ावें।[2]

उपासना भाव :

परन्तु जिस प्रकार चरणदास ने निर्गुण एवं सगुण दोनों के प्रभाव ग्रहण किए हैं। उसी प्रकार केवल सखीभाव को ही उन्होंने नहीं स्वीकारा। उन्होंने गोपी-लीलाओं का भी गद्गद कण्ठ से गान किया है। चीर-हरण लीला, दान-लीला, मटकी-लीला आदि में इन लीलाओं का रोचक चित्रण किया गया है। गोपी-विरह-निवेदन में वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की भाँति ही प्रियतम कृष्ण के अभाव में विप्रयुक्ता गोपिकाओं ने विलाप किया है। गोपियाँ कुब्जा के प्रति ईर्ष्या प्रकट करती हैं, अनेक पुराने संयोग-प्रसंग स्मरण करती हैं।[3] और आँखों को दोष देती हैं कि कृष्ण की रूप-माधुरी में अटक कर क्या इन्होंने कुछ अच्छा काम किया है ? लोक और कुल की लाज नष्ट हो गयी है, स्वयं भी अत्यन्त व्याकुल होकर आँसुओं से भरी रहती हैं। खाना, पीना और सोना छूट गया है, विरह की अग्नि हृदय में जलती रहती है :—

अंखियन कहा नीकी करी।
श्याम सुन्दर छवि निरख के जहाँ जाय अरी।
अतिहिं व्याकुल धीर नाहीं रहत असुवन भरी।
तजो खान अरु पान सोवन, प्रेम की लागी लरी।
बिरह पीड़ा उठत निशिदिन, हिये पावक जरी।
नेह पाके भई औरी, ढूँढ़ी गरी-गरी।
चरणदास शुकदेव के अब, कौन फंदे परी॥[4]

---

१. चरणदास, अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ० १६।
२. ,, वही, पृ० १६।
३. ,, गोपी विरह निवेदन, ४६७-५००।
४. ,, पृ० ५०१।

इन अंशों में तथा अन्यत्र भी ऐसे पदों की कमी नहीं है जिनमें युगल-विहार-दर्शन की अभिलाषा न होकर मात्र कृष्ण की प्रीति की वांछा प्रकट की गयी हो। यह बात सखी-सम्प्रदायों की आत्मा के नितान्त विरुद्ध है। यह स्वसुखी प्रेम कहा जा सकता है, तत्सुखी नहीं। एक उदाहरण लें :—

तुम्हारे रूप लोभानी हों।
जाति बरन कुल खोय के भई प्रेम दिवानी हों।
खान-पान सब सुधि गयी और अकबक बानी हों।
तुम्हरे चरण कमल मन मेरो रहो लिपटानी हों।
सुन्दर सूरति सोहनी मेरे नैन समानी हों।
तुम बिन चैन नहीं दिन राती सुनि पिय बानी हों।[1]

इस पद में गोपी-प्रेम ही नहीं है, परकीया भावना भी स्पष्ट है। सूरदास की भाँति इन गोपी-प्रेमिकाओं से चरणदास ने मुरली को उपालम्भ भी दिलवाये हैं।

बस री बैरन बांसुरी, तू ही व्रज के मांहि।
लगी रहत पिय मुख जू ते, पल छिन छांड़त नांहि।
जब तू बाजत तान सूं, एवंशी वड़ भाग।
कसक उठत जियरा जरै, तन मन लागत आग।[2]

राम को पति मानकर अन्य पतिव्रता भाव से प्रेम करने का निर्देश इस सम्प्रदाय में किया गया है।[3] हम कह चुके हैं कि पतिव्रता के रूपक को निर्गुणी भक्तों ने बहुत अपनाया है। सूफी-प्रेम के प्रभाव में पली विरहिणी कबीर की भी याद दिला देती है :—

गद्गद् वाणी कण्ठ में, आँसू टपके नैन।
वह तो विरहिनि राम की, तलफत है दिन रैन।[4]

वस्तु, साधनागत अनेक भाव एवं प्रणालियाँ हमें चरणदास में उपलब्ध हो जाती हैं। परन्तु मूल में एक बात उन्हें याद रहती है कि मुख्य वस्तु प्रेम है :—

प्रेम बराबर योग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधुवा, सबही थोथा ध्यान।
प्रेम छुड़ावे जगत कूं, प्रेम मिलावे राम।
प्रेम करै गति और ही, लै पहुंचै हरि धाम।[5]

---

१. चरणदास शब्द वर्णन, पृ० ३५९-३६०।
२. ,, वही, पृ० ३५८।
३. ,, भक्ति पदार्थ वर्णन, पृ० १८८।
४. ,, ,, ,, पृ० १८२।
५. ,, ,, पृ० १२।

यह प्रेम यदि विविध रूपों में प्रकट हो सकता है तो चरणदास इन रूपों को अपनी मौज में आकर अपना लेंगे। उन्हें उनके सैद्धान्तिक मत वैभिन्न्य से कोई मतलब नहीं प्रतीत होता। नवधा भक्ति को भी वे बहुमान देते हैं। और सखी-भाव से निजधाम में प्रवेश भी चाहते हैं। विरहिणी बनकर गद्गद् कण्ठ से प्रिय को टेरते भी हैं और रंगमहल में निर्गुण सेज पर सोने की व्यवस्था भी करते हैं।

सूफ़ी प्रेम-दर्शन :

सूफ़ी तत्त्ववाद के बारे में कुछ भी कहने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि सूफ़ी मत का विकास किसी आचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धति पर नहीं हुआ है। वह क्रियाशील साधकों का एक गतिशील सम्प्रदाय रहा है जो अपने विकास में नाना प्रकार के तत्त्व और प्रभाव ग्रहण करता गया है। इसी कारण सूफ़ी-दर्शन का एक सर्वमान्य स्वरूप खड़ा करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं, सूफ़ी तत्त्ववाद के लिए बीज रूपी सामग्री क़ुरान में ही उपलब्ध थी तथा यह भी ध्यान में रखने की बात है कि सूफ़ियों ने कभी भी अपने को इस्लाम से पृथक घोषित नहीं किया, वे सदैव इस्लामी धर्म के केन्द्र से अपने को सम्बन्धित किये रहने का प्रयास करते रहे हैं। इसी कारण अपने लिए प्रामाणिकता उन्होंने क़ुरान एवं पैग़म्बर के जीवन में खोजी है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि क़ुरान की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से करनी चाही है। तथा अपने अनुकूल स्थलों पर ही अधिक वल दिया है।

सनातनपंथी मुसलमानी धारणा के अनुसार ईश्वर की सत्ता जगत बाह्य स्वीकार की गयी है। वह स्वर्ग में रहकर सबका नियंत्रण करता है। परन्तु उसके गुणों का जैसा वर्णन किया गया है, वह सगुण मतवाद के निकट की वस्तु है। पीछे हम एतत्सम्बन्धी कतिपय उद्धरण क़ुरान से दे चुके हैं। वह सृष्टि का कर्त्ता है,[1] एकमात्र वही परमात्मा है, अन्य कोई नहीं।[2] वह नित्य और सर्वशक्तिमान है।[3] वह द्रष्टा, श्रोता, साक्षी और स्वतः पूर्ण है।[4] सब कुछ उसी से उत्पन्न एवं सब कुछ उसी में विलयमान है।[5] वह अपरिसीम रूप है।[6] ऐसे सगुण परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सूफ़ियों में दो वर्ग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।[7] 'वहदतुल

१. ग्लोरियस क़ुरान, सू० १३।१६।
२. वही, ३।२।
३. ,, २।२६३।
४. ,, २।२२४।
५. ,, ३।१०६।
६. ,, ६२।४।
७. ,, रामपूजन तिवारी : सूफ़ीमत : साधना और साहित्य, पृ० २७०।

वुजूद' एवं 'वहदतुल शुहुद' के सिद्धान्त इन दोनों के विभाजक तत्त्व हैं।

पहले मत के अनुसार हक़ और खल्क़ यानी कि सृजनकर्त्ता और सृष्टि में एकात्म भाव है। इब्नुल अरबी के अनुसार समस्त वस्तुओं और दृश्यों की पीछे ईश्वर की एकता है। ईश्वर के सिवा कुछ है ही नहीं, अस्तित्व में केवल वही है। 'वहदतुल वुजूद' का सिद्धान्त वास्तव में 'तौहीद' के इस्लामी सिद्धान्त का ही विकास है। तौहीद के अनुसार परमात्मा केवल एक है। वुजूद के सिद्धान्त में केवल यह कह दिया गया है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। इस प्रकार इस मत के अनुसार दिव्य ज्ञान सर्वातिशायी (इमिनेन्ट) है। इस सिद्धान्त का प्रभाव हिन्दी के भक्तिकाल के सूफ़ियों पर बहुत अधिक रहा है। वहदतुल शुहूद के अनुसार सृष्टा और सृष्टि के मध्य एकत्व नहीं होता है। सर्वाशयिता के सिद्धान्त को भी इसमें स्वीकार नहीं किया जाता। मनुष्य और ईश्वर के बीच में केवल स्वामी और दास का सम्बन्ध हो सकता है न कि प्रेमी और प्रिय का। इस सिद्धान्त का प्रभाव भारतवर्ष में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में अधिक पड़ा।

सृष्टि :

अधिकांशतः सूफ़ी सृष्टि को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस अर्थ में वे वैष्णव परिणामवादियों के निकट हैं। ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है यह तो क़ुरान भी स्त्रीकर करता है। सृष्टि-रचना का कारण बताते हुए हल्लाज ने कहा है कि सृष्टि-रचना के पूर्व निरपेक्ष एकत्व में ईश्वर स्वयं को प्यार करता था और प्रेम के द्वारा ही उसने अपने आप को अपने सम्मुख उद्घाटित किया।[1] रूमी ने बताया है कि संसार निर्मल दर्पण के समान है और जब आँखों के बादल नष्ट हो जाते हैं तभी वह दिखाई देता है।[2] सनाई अत्तार ने इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा है, "वह (प्रभु) छिपी हुई निधि है तथा दृश्यमान जगत् वह साधन है जसके माध्यम से हम उसे खोज सकते हैं।"[3] इस प्रकार लीलावाद एवं प्रतिविम्ववाद की भी स्वीकृति किन्हीं न किन्हीं अंशों में सूफीमत में प्राप्त हैं।

सूफ़ियों का प्राप्य :

परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य प्रतीत होता है। पर एक प्रश्न उठता है कि इस एकत्व का तात्पर्य क्या

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खंड १२, पृ० १४-१५।
२. एफ. एच. डेविस : दि पर्शियन मिस्टिक्स जलालउद्दीन रूमी, पृ० ६३।
३. डॉ० विमलकुमार जैन : 'सूफी मत और हिन्दी साहित्य', पृ० ४६ पर उद्धृत।

है ? परमात्मा में पूर्ण लय हो जाना एकत्व है, अथवा स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए परमात्मा में वास करना, इसका तात्पर्य माना जाय ? प्रारम्भ में बौद्ध-दर्शन के निर्वाण-तत्त्व के प्रभाव में 'फ़ना' तत्त्व के अन्तर्गत प्रथम विचार को स्वीकार किया गया। पर धीरे-धीरे 'फ़ना' के बाद 'बक़ा' की स्थिति स्वीकार की गई।'' 'फ़ना' की अवस्था में साधक अपने अस्तित्व को लय कर देता है, पर 'बक़ा' की अवस्था में ईश्वर के साथ शाश्वत जीवन व्यतीत किया जाता है। वैष्णव तत्त्ववादों में इन दोनों की समानान्तर स्थितियाँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। 'फ़ना' तो स्पष्ट रूप से आवागमन-निरपेक्ष मोक्ष है जिसे कि भक्तिकाल का वैष्णव कवि स्वीकार नहीं करता, पर 'बक़ा' की स्थिति नित्य परिकर में प्रवेश पाने जैसी है और यह वैष्णव कवि की परम आकांक्षा होती है।

साधन-मार्ग :

सूफ़ी परमात्मा को चूंकि जगत्-वाह्य रूप में नहीं देखते इसलिए वे उसे इसी जगत् के भीतर और सबसे अधिक अपने मन के भीतर ढूँढ़ते हैं। प्रेम की राह से चलकर ही उसका भावन किया और कराया जा सकता है। इब्नुल अरबी ने एक स्थल पर कहा है कि ज्ञानी अपनी अनुभूति दूसरों को भावित नहीं करा सकते। समान अनुभव वालों को प्रतीक के माध्यम से वे इंगित मात्र कर सकते हैं।[1] अरबी ने स्पष्ट घोषित किया कि ईश्वर के प्रति प्रेम और चाह वाले मत से अधिक उदात्त धर्म दूसरा नहीं है।[2] ज्ञान के समान प्रेम भी प्रभु-अनुग्रह से ही इन सूफ़ियों ने माना है। इतना ही नहीं, ईश्वर भी अपने प्रेमियों से प्रेम करता है[3] अपना स्वरूप एवं लक्ष्य प्राप्त कराने के लिए। वास्तव में प्रेम आत्मा की दिव्य प्रेरक वृत्तिरूप होती है। रूमी ने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम के ऐक्य को लक्षित किया था।

प्रभु-अनुग्रह के अतिरिक्त गुरु-निष्ठा एवं ज़िक्र (नाम-स्मरण) का इस साधन-मार्ग में अत्यधिक महत्त्व है। ज़िक्र का तात्पर्य है कि परमात्मा का स्मरण करते-करते एक ऐसी स्थिति को उपलब्ध करना जिसमें मन समस्त विषय-विकारों से दूर हटकर मात्र ईश्वर में ही लग जाता है।

सूफ़ियों ने अपने साधन-क्रम के बड़े विशद एवं प्रतीकात्मक विवरण दिए हैं। उस विस्तृत चर्चा में पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा।

---

१. आर० ए० निकल्सन : मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम, पृ० १०३ पर उद्धृत।
२. वही, पृ० १०५ पर उदधृत।
३. ,, पृ० ११२।

पंचम अध्याय

विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का अठारहवीं शती का ब्रजभाषा-प्रेमाभक्ति-काव्य

१८वीं शती में चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-साहित्य : पृष्ठभूमि और संक्षित रूपरेखा

पिछले अध्यायों के विवेचन के आधार पर यह धारणा सहज ही बन जाती है कि भक्ति के क्षेत्र में सिद्धांत एवं प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से चैतन्य-सम्प्रदाय का महत्त्व अभूतपूर्व रहा है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने प्रभूत साहित्य की रचना की है—परन्तु उस रचना-क्षमता का सर्वोत्तम प्रकाशन संस्कृत एवं बंगला के माध्यम से ही हुआ है। ब्रजभाषा उतना सशक्त माध्यम इस सम्प्रदाय में नहीं बन सकी। स्वयं ब्रज-प्रदेश में ही 'चैतन्यचरितामृत' जैसे ललित एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना हुई तथा यहीं पर रूप-सनातन-जीव की दार्शनिक-काव्यात्मक उपलब्धियाँ भी प्रस्तुत हुई हैं। प्रबोधानन्द का 'वृन्दावनशतक', नारायण भट्ट की 'भक्तिरस-तरंगिणी,' बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्द भाष्य' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती के महत्त्वपूर्ण भाष्य एवं टीकाएं ब्रजभूमि में ही आकार ग्रहण कर सकी थीं। परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियों के सम्मुख इस सम्प्रदाय के रचनाकारों की ब्रजभाषा कृतियाँ बौनी हैं। इसके कारणों की यहाँ हम खोज नहीं करेंगे, परन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि हमारे आलोच्य काल में भी स्वतन्त्र-मौतिक रचनाएँ इस युग में कम ही लिखी गईं। भगवत मुदित, सुबल श्याम, वृन्दावनदास, आदि की कृतियाँ विशुद्ध अनुवाद हैं। गौरगणदास, ब्रजगोपाल या मनोहर राय जैसे रीति-काव्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हो रहे थे। भक्ति का आवेश उनमें कम होता प्रतीत होता है।

स्वतन्त्र ब्रजभाषा-काव्य-रचना की कमी होते हुए भी यह सम्प्रदाय इस युग में अत्यधिक प्रभावशाली बना रहा है। १८वीं शताब्दी में ही राधा-वल्लभीय रसिकदास ने वृन्दावन गोस्वामियों के अनेक ग्रंथों का ब्रजभाषा-अनुवाद किया था। गो० रूपलाल के "रस रत्नाकार"[1] तथा स्वामी रसिकदेव (हरिदास

---

१. रत्नाकर : गो० रूपलाल (ललिताचरण गोस्वामी के पास की ह० लि० प्रति के आधार पर)।

सम्प्रदाय) के रस-सार[1] के सिद्धांत-विवेचन पर स्पष्ट रूप से गौड़ीय वैष्णव छाया है। इन दोनों ही ग्रंथों में धाम, लीला, परिकर, नित्य सिद्धा, साधन सिद्धा सखियों आदि का विवेचन विशुद्ध रूप से गौड़ीय वैष्णव आधार पर है। स्वामी हरिव्यासदेव द्वारा रचित कहे जाने वाले ग्रंथ 'सिद्धांत रत्नांजलि' का भक्ति-विवेचन 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' पर पूरी तरह आद्घृत है

इस युग के चैतन्य सम्प्रदाय की एक दूसरी विशेषता यह है कि सखी-भाव से युगलोपासना इस सम्प्रदाय में भी पूरी तरह व्याप्त होती प्रतीत होती है। ब्रह्मगोपाल की हरिलीला में अपवाद के लिए ही एक पद ऐसा प्रतीत नहीं होता जिसमें युगल दम्पति का वर्णन न हो। अकेले कृष्ण या अकेले राधा को चित्रित वे करते ही नहीं। इसी प्रकार प्रियादास ने भी युगल तत्त्व का ही अपनी रचनाओं में गान किया है। वृन्दावन (ब्रज नहीं) का भी महत्त्व युगलोपासना के साथ ही बढ़ता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय प्रभावित ही नहीं कर रहा था, स्वयं भी राधावल्लभ एवं हरिदासी सम्प्रदायों से प्रभावित भी हो रहा था।

चैतन्य मतानुयायी कवि

मनोहर राय :

यह गोपाल भट्ट गोस्वामी की शिष्य-परम्परा में रामशरण चट्टराज के शिष्य थे। उनके रचे हुए ग्रंथ 'श्री राधारमण रस सागर' की समाप्ति १९५७ वि० में वृन्दावन में हुई थी। इसे प्रकाशित भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'रसिक जीवनी', 'सम्प्रदाय बोधिनी' नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी कही जाती हैं। पर प्रभुदयाल मीतल का अनुमान है कि 'संप्रदाय बोधिनी' किन्हीं और मनोहर राय की रचना है।[2] बाबा कृष्णदास ने उनके द्वारा सम्पादित 'क्षणदा गीति चिंतामणि' नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ की भी चर्चा की है।[3] यह एक सशक्त कवि थे। 'भक्त माल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी मनोहररायजी के शिष्य थे। मनोहरराय जी पर रीतिकालीन दृष्टिकोण का भी पर्याप्त प्रभाव है। भाषा, अलंकार योजना, वर्णन-वैचित्र्य एवं चमत्कार-योजना की दृष्टि से वे रीतिकाल के कवि सहज ही अनुमित किये जा सकते हैं। शुक्लाभिसारिका नायिका का एक चित्र लीजिये :—

---

१. रस सार : सिद्धान्त रत्नाकर (निम्बार्क शोध मंडल, वृन्दावन)।
२. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा अंक) पृ० ४१३।
३. कृष्णदास : राधारमण रस सागर की भूमिका, पृ० ३।

सरद की रैनि उजियारी अभिसार प्रिया,
प्रीतम पै सेत सारी खौर अंग कीने हैं।
मालती मुकता मल्ली माला, अंग अंग सोहैं,
आभूषन हीरनि जटित रंग भीने हैं॥
चांदनी में अलि चलीं देखन न पावै अली,
अंग की सुगन्धि अनुसार के हूँ कीने हैं।
राधिका संग मिले मनोहर भांति-भांति,
खिले नैंन झिले मानो शोभा जल मीनें हैं॥

विहार के लिए जिन राजसी उपकरणों एवं साधनों को जुटाया गया है, वे भी रीतिकाल के पद्माकर आदि की याद दिलाते हैं।

शुद्ध संवेगात्मक चित्रणों में भी मनोहररायजी पर्याप्त कुशल थे। अनुराग और आतुरता को व्यंजित करने वाला यह कवित्त रीतिकाल के ऐसे ही टकसाली कवित्तों में स्थान पाने योग्य है :

तैसी रहीं जोइ सोइ चली है तमकि तैसी,
काहू की न मानैं कोऊ आतुरता बढ़ी हैं।
अस्त व्यस्त भूषन वसन मन मन काम,
मनमथ राज चटसार मानों पढ़ी हैं।
सनमुख नाद सुधी में गति न भई बाधा,
आगे पूजी साधा प्रेम गजराज चढ़ी हैं।
रमण सौं मिली राधा शोभा सिन्धु तें अगाधा,
मानो हर मूरति सनेह सांचे गढ़ी हैं।

इस रीतिवृत्ति के कारण उनका भक्ति का स्वर बड़ा दवा-सा प्रतीत होता है।

प्रियादास :

ये पूर्वोक्त मनोहर दास (राय) के शिष्य थे। नाभादास के भक्तमाल की इनकी 'भक्त रस वोधिनी' टीका प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त वावा कृष्णदास ने इनकी 'रसिक मोहिनी' 'अनन्य मोहिनी' 'चांद वैली' 'भक्त सुमरिणी' नामक छोटी-छोटी रचनाएँ एक ही जिल्द में प्रकाशित की हैं। प्रियादास सूरतनगर राजपुरा के रहने वाले वासुदेव एवं गंगावाई के पुत्र थे। जन्म संवत् का यद्यपि निश्चित पता नहीं है, पर संवत् १७३५ के आसपास उसका अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि भक्तमाल की 'भक्तिरस वोधिनी' टीका उन्होंने संवत् १७६९ में समाप्त की थी। अतः इस समय के ३०-३५ वर्ष पूर्व उनका आविर्भाव अनुचित संभावना नहीं है। अपने एक अन्य ग्रन्थ 'रसिक मोहिनी' में उन्होंने

रचनाकाल संवत् १७९४ दिया है। इस प्रकार १८वीं शती का उत्तरार्ध उनका रचनाकाल कहा जा सकता है। प्रियादास जी का सबसे प्रिय छन्द दोहा है, यद्यपि अन्य समसामयिक छन्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। दोहों में उनकी भाषा अत्यधिक विदग्ध रूप में प्रकट हुई है। अपनी कला-योजना में दोहे कभी-कभी बिहारी से टक्कर लेते प्रतीत होते हैं :—

घिरति रहे ब्रज भूमि में झूमि नैन अकुलाय,
घूम-घूम तन लोट के, उठे रूप गुन गाय।
बिना पलक दृग दृग जुरे देख्यों अचरज सार,
गुरु जनहूं जक धक सजै इक टक रहे निहार।

परन्तु सब मिलाकर उनका यह श्रृंगार वर्णन लीलावाद के निकट की वस्तु बना रहता है।

भगवत मुदित :

भगवत मुदित जी के सम्बन्ध में नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में एक छप्पय लिखा है जिसकी प्रियादास जी ने ५ कवियों में टीका की है। इस वर्णन के अनुसार यह माधवदास (माधव मुदित) के पुत्र थे तथा सूजा (शुजाउलमुल्क) के आगरा के दीवान थे। गौड़ीय संप्रदाय के भक्त हरिदास के यह शिष्य थे। अपने गुरु, ब्राह्मणों, व्रजवासियों इत्यादि में इनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। नाभादास के अनुसार यह सखी-भाव के उपासक थे तथा नित्य केलि में ही उनकी चित्तवृत्ति रमी रहती थी।

इनके 'रसिक अनन्यमाल' में राधावल्लभीय भक्तों के चरित्रों का संग्रह किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु-दीक्षा से गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी होते हुए भी वे राधावल्लभीय भक्तिभाव से विशेष प्रभावित थे। उनका दूसरा ग्रन्थ 'बृन्दावनशतक' प्रसिद्ध महात्मा प्रवोधानन्द के 'बृन्दावन महिमामृत' का ही यत्किंचित रूपान्तर है। प्रवोधानन्द जी के वारे में भी यही प्रवाद है कि संप्रदाय से चैतन्य मतानुयायी होने पर भी वे हित हरिवंश और उनकी भजनरीति से अत्यधिक प्रभावित रहे।

भगवत मुदित सुकवि प्रतीत होते हैं। उनकी मौलिक रचनाएँ यद्यपि कम हैं। पर 'बृन्दावनशतक' के अनुवाद में भी उनका कवित्व प्रकाशित हुआ है। नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं :—

नव किशोर चित चोर, तरुण तन भोर है।
कोटि कोटि छवि काम, स्याम दुति गौर है।

दोउ मूरति तन एक जीव जीवन रस भोगी।
कौतुक केलि बिलास सदा आनंद उपयोगी।
चलत फिरत नव कुंज में, कब व्है है मम पुलक मन।
देखि नवल नागरी वेपथु गति है परति तन।

मित्र बन्धुओं ने उनके चार ग्रन्थ —'रसिक अनन्य भाल', 'वृन्दावन शतक 'हित चरित्र' तथा 'सेवक चरित्र' बताये हैं। पर वास्तव में हित चरित्र राधावल्लभीय उत्तमदास की रचना है एवं सेवक चरित्र, रसिक अनन्यभाल का ही एक अंश है। इस प्रकार मुख्यतः उनके प्रथम दो ही ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। कुछ स्फुट पद उनके यत्र-तत्र और भी उपलब्ध हो जाते हैं। उनके रसिक अनन्य माल का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। उसका रचनाकाल संवत् १७०७ है।

किशोरीदास :

किशोरीदास जी का समय भी प्रभुदयाल मीतल ने विक्रम की १८वी शती का पूर्वार्द्ध माना है।[1] किशोरीदास जी बंगाली, ब्राह्मण थे एवं गोस्वामी वंशीदास जी उनके गुरु थे। सनातन गोस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में वे मदनमोहन मन्दिर बृन्दावन के आचार्य थे। इस दृष्टि से उनका समय १८वीं शती उत्तरार्ध तक जाता है, यद्यपि पीढ़ी की दृष्टि से काल-निर्णय करना बहुत वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता।

कुसुम सरोवर के बाबा कृष्णदास के पास हमने उनकी बानी का संग्रह 'किशोरीदास की बानी' देखा है। ग्रन्थ में स्फुट पद हैं एवं प्रत्येक पद में राग-रागिनी के नाम तथा ताल दिये हुए हैं। ऐसा लगता है कि वे संगीत के बहुत अच्छे जानकार थे। उक्त वाणी ग्रन्थ से तीन पद हम नीचे दे रहे हैं—प्रथम दो पद निकुंज-लीला से संबंधित हैं एवं तृतीय पद ब्रजलीलागान की परम्परा में है। प्रथम छंद राग मारू जलद तिताला में है, दूसरा राग कान्हकीर में गाया जा सकता है तथा तृतीय तिताले में सारंग राग के अन्तर्गत दिया हुआ है।

झूलत कदम्ब छइयां,
धीरे-धीरे जमुना तीर पिय प्यारी, पटुली पर बैठे दोऊभर बहियाँ।
उर के वार हार सुरझावत वरु समरस चित चहियाँ।
किशोरीदास ब्रजचन्द प्यारी, छवि देवे कूपटतर नइयाँ।

× × ×

---

१. प्रभुदयाल मीतल : हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृ० ४१२।

खेलत चौपर पीतम प्यारी।
अपनी अपनी जीत विचारत, द्वारन पासै चोपन भारी।

× × ×

आओ सिमिट सबै ब्रजवासी, लै लै गैया अपनी संग।
रहो गिरि की छैंया सब सब सुख नाचौ गावौ करहु बहुरंग।
पर्वत को परभाव लखौंने तब दै मन मांहि उमंग।
श्री ब्रजचन्द किशोर अहै नग मधुवा को मान करिहैं भंग।

गौरगणदास :

गौरगणदास की एक रचना 'गौरांग' भूषण मंझावली' बा० कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। इसकी भूमिका में इन्हें सनातन गौस्वामी चरणों के आश्रित प्रिय शिष्य बताया गया है। पर यह रचना परवर्ती प्रतीत होती है। मीतल जी ने उनका समय १८वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है।[1] इस पुस्तिका में, मांझों के अतिरिक्त अन्य ब्रजभाषा रचनाएँ भी हैं। उन्होंने अपनी साधना को स्वयं ब्रजगोपीभावाश्रित वताया है।

चिन्तामनि ब्रजभूमि विलोकन नित नूतन नव भाव भरी।
धूसरि धूरि अंग ब्रज रज में प्रेम मंत्र जनु घाव करी।
गुरु अनुसरव भाव कौ वारिधि, उमंगि उमंगि बह्यों गौर हरी।
श्री रूप सवातव आसा उर में ब्रजगोपिन अनुभाव सरीं।

'गौरांग भूषण मंझावली' की भाषा फ़ारसी, पंजावी एवं ब्रज-मिश्रित खड़ी वोली है। रचना शैली अत्यधिक दुरूह तथा अटपटी है। कलात्मकता की दृष्टि से भी कृति वहुत उल्लेखनीय नहीं है, पर भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इसमें वहुत सामग्री मिल जायगी।

सुवल श्याम :

इन्होंने 'चैतन्य चरितामृत' के प्रथम दो खण्डों का इसी नाम से ब्रजभाषा में अनुवाद किया है। वावा कृष्णदास ने इन्हें प्रकाशित किया है। ये नारायण भट्ट के वंशज यदुपति सिंह के शिष्य थे। इनका ऐतिह्य कुछ ज्ञात नहीं है, पर नारायण भट्ट से ६वीं परम्परा में होने से अनुमानतः यह अठारहवीं शती के अंत एवं १९वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान रहे होंगे। इनके अनुवाद का एक सरस उदाहरण हम

---

१. प्रभुदयाल मीतल : हिन्दी अनुशीलन (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष १३ अंक १-२) पृ० ४१२।

उपस्थित कर रहे हैं :—

लीला राधाकृष्ण की अति निगूढ़ तर सोय।
वात्सल्यादिक भावकहि वहिं गोचर है जोय।
एक सखीगण बिन जु लीला पुष्ट न होय,
विस्तारैं लीला सखी, आस्वादैं उन सोय।
तिहि लीला मधि सखी बिन नहीं अन्य गति जोय,
तिनहीं को अनुगति करैं, सखीभाव जो होय,
दम्पति सेवा कुंज की साध्य पाय है सोय,
पैबे को तिहि साध्य को नहि उपाय अरु कोय।

—म० लीला। परि० ८, पृ० ६७

यह अंश 'चैतन्य चरितामृत' के मध्यलीला खंड के अष्टम परिच्छेद के प्रसिद्ध सिद्धान्त कथन का अनुवाद है जिसमें कि सखी का महत्त्व वताया गया है। अनुवाद पर्याय स्पष्ट एवं सरल हुआ है, पर उस लालित्य का इसमें अभाव है जो मूल ग्रंथ में उपलब्ध होता है।

साधुचरणदास :

साधु चरणदास के वारे में भी कुछ प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं है, परन्तु उनका रचित 'रसिक विलास' नामक ग्रंथ हस्तलिखित रूप में हमने वावा कृष्णदास के पास देखा है। इस ग्रंथ की रचना का काल तथा ग्रंथ का उद्देश्य एवं कथ्य उन्होंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रंथ सम्वत् १७५८ (अथवा १७६८) में पूरा हुआ था।

सम्वत् सत्रह सै अठानवा पायो इन
माह सुदि शुक्लपक्ष पंचमी सुहाई है।
सनिश्चर-वार ऋतुराज हू कौ आगम हो
ताही दिन ग्रन्थ यह पूरण सुहाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम अहै
सुनै नित स्याम आइ सुखदाई है।
आज्ञा मन भाई साधु चरण बनाइ पोथी,
अति सुखदाइ जमकाइ छवि छाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम किधौं…
कौ है घामता कौ उपमा विचार्यो है।

किधौं भक्ति अंग देखिबे को इहै आरसी है
किधौं साधिबे कौंपाटी विधि सुधार्‌यो है।
किधौं जंत्रसाला मन मोहिवे को मोहन की,
किधौं चटसाला भक्ति तत्त्व ले उचार्‌यो हैं।

इस ग्रंथ में श्यामानन्द, रसिकानन्द, रसिक मुरारी आदि द्वारा किए जाने वाले भक्ति प्रचार का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि लेखक ने प्रारम्भ में ही ग्रंथ की क्षमता के सम्बन्ध में गर्वोक्ति की है। समस्त ग्रंथ चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति को स्पष्ट करता है। काव्य के रूप-निर्माण पर समसामयिक रीति-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ब्रह्मगोपाल :

नित्याननंद प्रभु के परिवार में प्रसिद्ध रामराय गोस्वामी के अनुज प्रभु चन्द्रगोपाल गोस्वामी के पौत्र थे। इनके पिता गो० राधिकानाथ भी चैतन्य मत के अनुयायी एवं कवि थे। रामराय जी विक्रम की १७वीं शती में विद्यमान थे, अतः ऐतिह्य के वारे में निश्चित ज्ञान न होने पर भी इतना तो अनुमान युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि उनके लघु भ्राता के पौत्र १८वीं शती में विद्यमान रहे हों।

व्रजगोपालजी का 'हरिलीला' नामक छोटा-सा ग्रन्थ बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। हरिलीला में पहले एक दोहा और फिर एक पद में उसकी विवृत्ति की गई है। रचना की यह पद्धति रीतिकाल के उन लक्षण ग्रंथों की याद दिला देती है, जिनमें दोहे में लक्षण एवं कवित्त या सवैये में उसका उदाहरण दिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि रीतिकाल की परम्पराएँ भक्ति-भाव की रचनाओं पर प्रभाव डालने लगी थीं अथवा दोनों के सामने एक ही प्रकार के आदर्श थे। इस पद्धति का एक उदाहरण देखें :—

दोहाः—रस रसाल रस माधुरी सहज रसीले लाल।
प्रीति बेलि प्यारी परम प्रियतम प्रेम तमाल ॥

इसकी निवृत्ति निम्न पद में इस प्रकार हुई है :—

जुगलकर सहज रसीले लाल।
मधुर माधुरी प्रीतम प्रेमी, रसिक रसील रसाल।
ललिता कुंज ललित लीलाधर ललित लाड़िली लाल।
लिपटी प्रीति बेलि पुलकित अति सुन्दरि प्रेम तमाल।
बीती सकल सर्वरी प्यारी मुख अंबुज धरि जाल।
चौंप चौगुनी बात परस्पर सुन शर कोटि विहाल।

प्यारी प्रीतम कंठ मालिका पीतम प्यारी लाल।
श्री प्रिया सखी लखि ललिता सहचरि
निज रस कुंज निहाल।

काव्य सम्पदा की दृष्टि बहुत महत्त्वपूर्ण एवं कल्पनापूर्ण न होते हुए भी ब्रह्मगोपाल जी की ब्रजभाषा अत्यन्त प्रवाहमयी, सहज तथा श्रुतिमधुर है। उसकी पदावली पर भी रीतिकाल की अलंकृति की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है।

बृन्दाबनदास :

बृन्दाबनदास ने १८वीं शती के अन्तिम भाग एवं १९वीं के प्रारम्भ में बंगला के ग्रंथों का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया था। देवकीनन्दनदास कृत 'वैष्णववन्दना,' नरोत्तमदास ठाकुर कृत 'प्रेमभक्ति चन्द्रिका' नामक बंगला पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने रघुनाथदास गोस्वामी की संस्कृत रचना 'विलाप कुसुमांजलि' का भी ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया था। ये अद्वैताचार्य के परिकर में थे। 'प्रेमभक्ति चन्द्रिका' के प्रारम्भ में उन्होंने इस ग्रंथ के अनुवाद का जो उद्देश्य कहा है उससे ज्ञात होता है कि सुगम भाषा में भक्ति के इस श्रेष्ठ ग्रंथ के अनुवाद का निर्देश श्री हरिवल्लभ जी ने उनको दिया था। यद्यपि ये कृष्ण चैतन्य मतानुयायी थे पर 'सीतापति' को अपना ईश कहा है, जो इनकी समन्वय बुद्धि का परिचायक है। सम्पूर्ण ग्रंथ दोहा, चौपाई सोरठा की रामचरितमानस वाली शैली में अनूदित हुआ है। बीच-बीच में कवित्त भी एकाध आ गए हैं।

भनक सुनत ही तनक जिहि लहै मोद निरधार।
जुगल विमल उज्ज्वल सुरस लसै सरस अधार।

बृन्दाबनदास ने गौतमीय तन्त्र के 'गोपालस्तवराज' का भी ब्रजभाषा में अनुवाद किया है :

अस गोपिन मधि बसत कबहु इम लसत गुपाल।
उमड़ि घिर्यो घन घुमड़ि सुजिनि विच दामिन जाल।
कबहुं जमुन जल लील कबहुं वर मित्रनि माँही,
गुच्छ केलि रस झेलि कराहीं अति सचु पाहीं॥

विलाप कुसुमांजलि का अंश निम्नलिखित है :

तव भुज प्रिय के शयन में जु जब छाय रहैं छवि।
प्रिय भुज सों तुव नमित अंस परसंस रहैं छवि।
गावत पुनि तिह संग अनंग जु गीत मधुर गति।
कब देहौ बलि जांहि सुभग मुखि मोहि मोद अति।

—विलाप कुसुमांजलि, पृ० १३

हरिबासी सम्प्रदाय में १८वीं शती का ब्रजभाषा-काव्य

पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा :

नित्य विहारोपासना के प्रथम प्रयोक्ता हरिदासी या सखी-सम्प्रदाय में भी प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया प्राप्त होती है। वल्लभ-सम्प्रदाय, गौड़ीय वैष्णव या निम्बार्कीय जहाँ निकुंज-लीला एवं सखी भावोपासना की ओर झुकते हैं, वहीं १८वीं शती में हरिदासी-सम्प्रदाय में नित्य विहार का परिशुद्ध रूप ब्रजलीला एवं गोपीभाव से मिश्रित हो जाता है। स्वामी नरहरि देव, रसिक देव, पीताम्बर देव आदि कवियों ने स्थूल विरह, स्थूल मान, परकीया भाव, कृष्ण के प्रति गोपियों का कान्ता-भाव इन सभी की अभिव्यक्ति की है। रसिक देव ने तो बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है। सम्प्रदाय में कुछ विश्रृंखलता भी इस काल में आती है। रसिक विहारी, गोरे लाल आदि स्थानों का उदय इसी काल में होता है। स्वामी ललित किशोरी देव ने 'टट्टी संस्थान' की परम्परा इसी युग में स्थापित की। ललित किशोरी जी ने पूर्वोल्लिखित मिश्रणों को दूर कर पुनः नित्य विहार का शुद्ध रूप अपनी परम्परा के अन्तर्गत प्रस्थापित किया। ललित किशोरी जी कवि रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधनानुभूति की दृष्टि से हैं। उनके काव्य में साधनागत निष्ठा का अद्‌भुत आवेग प्राप्त होता है। अपने सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अत्यन्त सशक्त शब्दावली में अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस अभिव्यंजना में सचेष्टता या पच्चीकारी की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

समग्र रूप से देखने पर यह अवश्य ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सम्प्रदायानुयायियों ने काव्य-रचना की ओर सचेष्ट ध्यान नहीं दिया है। सम्भवतः संगीत की ओर अधिक ध्यान अवश्य रहा है। एक और विचित्र तथ्य है कि गृहस्थ एवं विरक्त इन दोनों परम्पराओं की प्रस्तुत युग तक काव्य-रचना केवल विरक्तों के अन्तर्गत ही प्राप्त होती है। उनमें भी आचार्यों को छोड़ कर अन्य अनुयायियों की रचना भी अत्यधिक विरल है। यह भी सम्भव है कि अन्य रसिकों की रचनाओं के रक्षण पर ध्यान न दिया गया हो।

हरिदासी सम्प्रदाय के कवि

नरहरिदास :

स्वामी हरिदास की पांचवीं शिष्य पीढ़ी में नरहरिदास जी हुए हैं। उनके

गुरु का नाम स्वामी सरस देव था। नरहरि देव जी सम्प्रदाय की गद्दी पर सम्वत् १६८३ में स्वामी सरसदास की मृत्यु के पश्चात् प्रतिष्ठित हुए थे। इनके प्रधान शिष्य स्वा० रसिक देव जी ने अपने 'गुरु मंगल' में उन्हें बुन्देलखण्ड के गुढ़ा (या गुढ़यौ) नामक ग्राम का निवासी तथा विष्णुदास का पुत्र बताया है। उनके अनुसार नरहरिदास जी की जन्मतिथि ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया है। स्वा० पीताम्बर देव इत्यादि परवर्ती जन भी अपनी वधाइयों में इन्हें ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को ही उत्पन्न मानते हैं।[1] अपने क्षेत्र बुन्देलखण्ड में ही भक्ति का ये प्रचार करते रहते थे। 'निजमत सिद्धान्त' में किशोरदास ने बताया है कि स्वा० सरसदास ने बुन्देलखण्ड जाकर ही उन्हें अपना शिष्य बनाया था।[2] निजमत सिद्धांत में उनके जन्म का सम्वत् १६४० बताया है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। पौष शुक्ला सप्तमी सम्वत् १७४१ में नरहरि देव जी का वृन्दावन में स्वर्गवास हो गया था। स्वा० नरहरि देव जी से कुछ विचित्र परम्पराएँ भी सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गयी थीं। कहना यों चाहिये कि विशृंखलता का प्रारम्भ इन्हीं के समय से हुआ था। इनके पूर्वाआचार्यों ने वृन्दावन के बाहर बहुत कम प्रस्थान किया था, पर नरहरि देव जी वहुधा बाहर रह कर प्रचार कार्य में लगे रहते थे। ऐसा लगता है कि भक्ति का प्रारम्भिक आवेश निःशेष हो चला था और साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा वनाने की धारणा अधिक बलवती हो उठी थी। नरहरि देव जी निधिबन छोड़ वर्तमान रसिक बिहारी जी के मन्दिर के स्थान पर रहने लगे थे। उनके उपास्य आजकल गोरेलाल जी के मंदिर में स्थापित हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रतिलिपि हमें उपलब्ध हो सकी है उसमें नरहरि देव के संग्रह का परिमाण बहुत कम है। पाँच साखियाँ, एक सिद्धांत का पद तथा १० रस के पद ही उनके इस संग्रह में संकलित हैं। अलग से उनका कोई ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

साखियों में जाति-पांति के खंडन के साथ ही बाह्य कर्मकांड के प्रति कबीर जैसी अवहेलना का स्वर हमें प्राप्त होता है:

नरहरि धागा सूत को गर्व करौ मति कोइ
जद्यपि चंद कलंक है, जगत उजेरो होइ।[3]

यद्यपि विरह की स्वीकृति हरिदासी सम्प्रदाय में नहीं है, पर नरहरिदास जी का एक सुन्दर विरह का पद मिलता है:

---

१. सिद्धान्त रत्नाकर, पृ० ९९ एवं १०९।

२. निजमत सिद्धांत, अवसान् खण्ड।

३. साखी, ३।

अरे कारे बदरा ताही में स्याम हिरानैं।
ताही तै तू अन्तरंग त्यो विरहिन पीर न जानैं।
परसि दुकूल यामिनी अति चमकति सत मुख सागर तानैं।
मंद मंद मुरली धुनि गावत बाजत मदन निसानैं।
रंग रंग मिलि सुख उपजत आन रंग क्यौ बानैं।
श्री नरहरिदास जे अन्तर कारे कारे सौ रति मानैं।[1]

यों इतनी अल्प रचना के आधार पर उनकी कवित्वशक्ति का मूल्यांकन क्या किया जाय ? पर जितना भी कुछ है उससे वे समर्थ कवि प्रतीत नहीं होते। भाव की सम्पदा तो सम्प्रदायानुकूल मन में अवश्य थी, पर उसके पल्लवन के लिए जिस कल्पना शक्ति, जिस अप्रस्तुत विधान-योग्यता एवं भाषा सामर्थ्र्य की आवश्यकता है, उसका उनमें अभाव मिलता है। वह युग अलंकरण का था, पर नरहरिदास में इस अलंकरण का भी बाहुल्य नहीं है। उत्प्रेक्षाओं का अवश्य उन्होंने कुशल प्रयोग किया है, पर सब मिला कर उनकी रचना काव्य-कला की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण नहीं है। उनके अच्छे पदों में से एक निम्नलिखित है :

प्रीया प्रीय सूरत सेज उठि जागे।
घूमत नैन अरुन अलसानै मनहुं समर सर नागे।
सिथिल अंग छूटी सिर अलकै बदन स्वेद कन लागे।
मानहुं विधु कुसुम निकरि पूज्यो अंग अंग अनुरागे।
चितै परस्पर ही उत दोऊ काम केलि रस पागे।
श्री नरहरिदास अंगछवि निरखति गंड पीक सो पागे।[2]

युगल केलि का यह चित्र रसिक साधना के अनुरूप है।

स्वामी रसिक दास (रसिक देव) :

स्वामी नरहरि देव जी के पश्चात् सम्प्रदाय की गद्दी उनके ज्येष्ठ शिष्य स्वामी रसिक देव जी को संवत् १७४१ में मिली। श्री अमोलक राम शास्त्री ने लिखा है कि संवत् १६९१ में बसंत पंचमी के दिन इन्होंने दीक्षा ली।[3] जन्म-संवत् के बारे में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, यहाँ तक कि निजमत सिद्धांतकार जैसे पटु इतिहासज्ञ (?) ने भी उनके जन्म-संवत् का उल्लेख नहीं किया। सहचरिशरण

१. रस के पद : ४।
२. रस के पद : २।
३. अमोलक राम शास्त्री : आचार्य स्तव माला, ८६।

ने जन्म-तिथि वसंतपंचमी मानी है तथा इनके शिष्य पीताम्बर देव जी की वधाई से भी इसका समर्थन होता है :

प्रगटे श्री रसिक देव सुख सार ।
मंगल बसंत पंचमी भू पर छायो नित्य विहार ।[1]

संभव है कि गुरु ने इनका जन्मदिन ही गुरु-दीक्षा के लिए चुना हो। यदि संवत् १६९१ इनका दीक्षा-संवत् है तो जन्म-संवत् १६७० से पूर्व ही मानना होगा। सहचरि शरण की 'गुरु प्रणालिका' के अनुसार ये बुन्देलखण्ड निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे।

इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में गुरु ने इनसे अप्रसन्न होकर निकाल दिया था। ये बाहर जाकर भी किसी न किसी बहाने अपने गुरु की सेवा करते रहे। अन्त में इनकी गुरु निष्ठा पर प्रसन्न होकर स्वा० नरहरिदास ने इन्हें पुनः बुला लिया और गद्दी का अधिकारी घोषित किया।

गद्दी पर बैठने के बाद डूंगरपुर से श्री रसिक बिहारी का विग्रह मँगा कर उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा कराई यही वर्तमान रसिक बिहारी का मन्दिर है। रसिक दोस जी के ५२ प्रमुख शिष्य थे। इनमें तीन सर्वश्री गोविन्द देव, पीताम्बर देव एवं ललित किशोरी देव प्रधान थे। इन्हीं तीनों से क्रमशः गोरेलाल, रसिक विहारी एवं टट्टी स्थान की परम्पराएँ प्रारम्भ हुई हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत उनकी रचनाओं का परिमाण भी अल्प ही है। उक्त संग्रह में रसिक दास जी की १६ साखियाँ, ५ सिद्धांत के पद एवं २२ रस के पद प्राप्त होते हैं। उनके अतिरिक्त इनके लिखे हुए ८ छोटे छोटे ग्रंथ और भी प्राप्त हुए हैं जिनमें से ५ को भ्रमवश किशोरी शरण अलि जी ने अपनी साहित्य रत्नावली में राधा बल्लभीय रसिक दास की रचनाओं में सम्मिलित कर लिया है।[2] ये आठ रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) भक्ति सिद्धांत मणि, (२) रस सार, (३) रसार्णव पटल, (४) गुरु मंगल, (५) बाल लीला, (६) पूजा विलास, (७) कुंज कौतुक, तथा (८) वाराह संहिता।

इनके अतिरिक्त ध्यान लीला भी इनका एक ग्रन्थ कहा जाता है जिसे निम्बार्क माधुरी में ब्रह्मचारी बिहारी शरण द्वारा संकलित किया गया है। साहित्य

---

१. सिद्धांत रत्नाकर : स्वामी पीताम्बर देव कृत स्वामी रसिक देव जी की बधाई, पृ० ११०।
२. किशोरी शरण अलि : साहित्य रत्नावली, पृ० २५ सं० २६०, २६१, २६४ २६५, एवं २६७।

रत्नावली में भी रसिकदास के नाम पर उसका उल्लेख २६६ नम्बर पर हुआ है। डॉ० गोपाल दत्त शर्मा ने उनकी एक संस्कृत रचना 'गुरु परम्परा' का भी उल्लेख किया है जो हमारे लिए अप्रासंगिक है। इन आठ ग्रंथों में 'रस सार' तथा राधा वल्लभीय गो० रूपलाल के 'रस रत्नाकर' में इतना अधिक साम्य है कि यह शंका होती है कि इनमें से कम से कम एक अप्रामाणिक होगा। यों यह भी संभव है कि किसी अन्य संस्कृत की सिद्धांत-पुस्तिका को भाषा में दोनों ही महानुभावों ने उपस्थित किया हो। 'भक्ति सिद्धांत मणि' एवं 'रस सार' का प्रकाशन भी 'सिद्धांत रत्नाकर' के अन्तर्गत निम्बार्कीयों ने किया है।

स्वामी रसिक दास ने सखी सम्प्रदाय की वास्तविक आत्मा को मन से स्वीकार नहीं किया। ऐसा लगता है कि सम-सामयिक ब्रजलीला के गायक अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में उन्होंने उस अनन्यता को खो दिया जो हरिदासी सम्प्रदाय की निधि थी। फुटकर छंदों के स्थान पर सम्प्रदाय में पहली बार व्यवस्थित ग्रन्थ रचना ही उन्होंने नहीं की, सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वे व्यूह, आवरण, ब्रज-लीला, गोपीभाव, सखीनामावली आदि के स्वीकरण एवं वर्णन में निरत हो गए थे। अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत इनके पद शुद्ध सखी-भाव के प्रतिष्ठापक हैं। उनका उपयोग हम सम्प्रदाय के सिद्धांत-विवेचन में कर आये हैं।

काव्य की दृष्टि से रसिक दास जी इस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण कवि ठहरते हैं। ऐसा लगता है कि काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के प्रति इनका सचेष्ट ध्यान था। इसी कारण छंदों और अलंकारों का ही व्यवस्थित प्रयोग हुआ है, भाषा भी अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं समर्थ है। दोहा, चौपाई उनके सबसे प्रिय छंद हैं, तथा पद रोला छंद का भी उन्होंने प्रयोग किया है। उनका यह रूपक भी अपने चमत्कार के लिए दृष्टव्य है :

मन सीखी राधा अतर नखसिख भरी बनाइ।
ताहि देखत मोह्यों सांवरो भंवर वासु लपटाय ॥[1]

साम्प्रतिक नये काव्य में क्रियाशील बिम्बों को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। स्वा० रसिक दास द्वारा चित्रित यह विम्व भी गतिशीलता की व्यंजना में अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है :

जब पौढ़न को समयो भयो।
इत आई द्रुम की परछाई उत ढरि चन्द गयो।
उमरि ढरे दोउ सुरति सेज पर बाढ़्यो रंग नयो।
श्री रसिक बिहारी बिहारिनि पौढ़े अति सुख हगनि दयौ।[2]

---

१. साखी, ९।
२. डॉ. नारायण दत्त शर्मा द्वारा स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य (अप्र० प्रब०) पृ० ४०२ पर उद्धृत।

इस पद में उमगि ढरे जहाँ क्रिया और गति को प्रकट करता है वहीं दूसरी पंक्ति प्रकृति के व्यापार को भी पूरी गतिशीलता में बिम्बित करने में समर्थ हुई है।

ऐसा लगता है कि स्वामी रसिकदास जी वास्तव में भीतर से कवि थे। सम्प्रदाय की अत्यन्त सीमित परिधि के भीतर उनकी सृजन-शक्ति पूरी तरह से अभिव्यंजित नहीं हो पा रही थी, उस परिधि को तोड़ कर उन्होंने लीला को विस्तार देना चाहा पर वह सम्प्रदाय में मान्य नहीं हुई—परिणाम स्वरूप वह विस्तृति उनके साथ ही समाप्त हो गयी। उनके शिष्य स्वा० ललित किशोरी देव ने पुनः सम्प्रदाय की वास्तविक प्रणाली की स्थापना की। आगे हम रसिकदास जी के ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं: —

रसिक देव जी के ग्रंथों का परिचय :

(१) **भक्ति सिद्धान्त मणि** – सम्प्रदायानुमोदित भक्ति सिद्धांतों का निदर्शन इस ग्रंथ में है। भक्ति के मुख्य लक्षण, साधन, गुरु की मुख्य विशेषताएं, शिष्य के लक्षण, धर्म विवेक, पुण्य के कर्म, पाप कर्मों के लक्षण और उनकी संज्ञा, भक्तों की कार्यावली, साधु लक्षण, नवधा भक्ति और जुगल किशोर आदि विषयों की विवेचना सरल एवं सहज रूप में इस ग्रंथ में उपलब्ध होती है। ग्रंथ के अन्त में नित्यविहारोपासना का मार्मिक निरूपण हुआ है। इस प्रकार की साधना के लिए कवि का कहना है कि शिष्य को गुरु में अत्यन्त निष्ठा रखते हुए गुरु देव को श्री राधास्वरूप मानना चाहिए और स्वयं को मात्र सखी कल्पित करके श्रीकृष्ण चंद्र जी को उपास्य एवं परमात्मतत्त्व स्वीकार करना चाहिए। यह ब्रजभाषा में चौपाई छंद में लिखा गया है। बीच-बीच में दोहे हैं। कुल छंद संख्या १०० हैं। सिद्धांत विवेचन की दृष्टि से ग्रंथ में मौलिकता एवं गहराई का अभाव है। लगता है कि इसका उद्दिष्ट पाठक मोटी अक्ल का भक्त है।

(२) **पूजा विलास**—यह २०-२५ पृष्ठों का छोटा-सा ग्रंथ है। पूजा के विविध विधि-विधानों की संक्षिप्त पर सांगोपांग चर्चा इसमें की गयी है। यह भी दोहा-चौपाइयों में लिखा गया है जिनकी संख्या १०८ है। पूजा-विधि के अतिरिक्त भक्ति के अन्य अंगों की भी चर्चा इसमें आई है।

(३) **सिद्धान्त के पद** —इनमें वृन्दावन, ब्रजरज, राधा कृष्ण-सौन्दर्य, नित्य-विहार, मान-वर्णन, संसार की असारता आदि पर फुटकर पद लिखे मालूम पड़ते हैं। पद अत्यधिक सरस एवं मधुर बन पड़े हैं। श्रृंगार के वर्णन भी अमर्यादित नहीं हैं। उपासना एवं इष्ट-स्वरूप को इनमें मुख्यतः व्यक्त किया गया है।

(४) **रस के पद** —निकुंज-रस और दाम्पत्य प्रेम-लीला का सान्द्र वर्णन इनमें है।

(५) **भक्ति सिद्धान्त की साखी** —इस ग्रंथ का वर्णित विषय प्रथम ग्रंथ जैसा ही है। यह अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत है।

(६) **कुंज कौतुक** —इसमें निकुंज लीलाओं का गान है। विविध कुंजों के माध्यम से ऋतुचर्या का भी नियोजन किया गया है। इसका छन्द रोला है और संख्या १११ है। इसमें सब मिलाकर ३६० कुंजों की संख्या बतायी गयी है जहाँ विहार होता रहता है।

(७) **रस सार** —रसोपासना का अंतरंग अर्थ इस ग्रंथ में व्यक्त हुआ है। राधाकृष्ण की सापेक्षिक स्थिति, मार्ग की कठिनाइयाँ, काम और प्रेम का अंतर, राधाकृष्ण का तात्त्विक स्वरूप, सखी-उपासना और उसके भेद, निकुंज-लक्षण और शोभा इस ग्रंथ में अत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप में वर्णित हुए हैं। इस ग्रंथ में सब मिला कर केवल ४५ दोहे एवं चौपाइयां हैं।

(८) **गुरु मंगल यश**—अपने गुरु श्री नरहरि देव के प्रति यह उनकी श्रद्धांजलि है जिसमें उन्हें अगणित गुणों का आकर माना गया है। यह चार-चार चरण की ५१ चौपाइयों का संग्रह है।

(९) **बाल लीला**—वास्तव में बाल-लीला में भी श्यामा-श्याम के बीच के माधुर्यपरक भावों का ही चित्रण किया गया है। मधुर रस की प्रेरक एवं पुष्ट करने वाली अनेक प्रवृत्तियों, मुद्राओं, क्रीड़ाओं एवं बालचर्याओं का ही अंकन किया गया है। चौपाई एवं दोहों में यह भी लिखी गयी है। कुल छन्द संख्या ४९ है।

(१०) **ध्यान लीला**—यह गुरु नरहरिदास, वृन्दावन धाम, राधा एवं सहचरीगण तथा नित्यविहार के ध्यान सम्बन्धी छोटी-सी पुस्तिका है।

(११) **वाराह संहिता**—उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें वृन्दाबन रस, नित्यविहार लीला, बृहत् वृन्दावन (जनपद) आदि का वर्णन किया गया है। वृन्दावन का पौराणिक एवं समसामयिक वर्णन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मूल वाराह संहिता को भाषा में संक्षिप्त रूप में उपस्थित करना ही इस ग्रंथ का लक्ष्य ज्ञात होता है। यह भी २१८ दोहा-चौपाइयों की छोटी-सी पुस्तक है।

(१२) **रसार्णव पटल**—सखियों से घिरे हुए कर्णिकापट-स्थित युगल की नित्यविहार-शोभा को चित्रित करने वाले इस ग्रंथ को ८४ रोला छन्दों में समाप्त किया गया है।

पीताम्बरदास (पीताम्बर शरण देव) :

स्वामी रसिक देव के तीन प्रमुख शिष्यों में से एक पीताम्बरदास जी गुरु की मृत्यु के पश्चात् संवत् १७५८ में रसिक बिहारी गद्दी के अधिकारी हुए। कहते हैं कि स्वामी ललित किशोरी देव एवं गोविन्द देव ने गुरु की साधना-प्रणाली से असन्तुष्ट होने के कारण यह गद्दी लेनी अस्वीकृत कर दी थी। इन्हीं पीताम्बर दास जी के शिष्य महंत किशोरदास जी हुए जिन्होंने कि 'निजमत सिद्धांत' नामक ग्रंथ लिखा है। वास्तव में निम्बार्क एवं हरिदासी सम्प्रदाय के सम्वन्ध को लेकर जो वाद-विवाद है उसके जन्मदाता यही गुरु-शिष्य हैं। अपने पक्ष को प्रवल करने के लिए इन्होंने अपनी परम्परा निम्बार्क से जोड़ ली थी।

अस्तु, 'निजमत सिद्धांत' के अनुसार नारनौल (शाहजहाँपुर) के रहने वाले चौबेलाल नामक गौड़ ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका घर का नाम प्रयागदास था तथा भाद्रपद कृष्ण ८ को वे जन्मे थे। किसी व्यापारी मनोहरदास के माध्यम से ये स्वामी रसिकदास के सम्पर्क में आ गए थे।

हमारे देखने में 'श्री पीताम्बरदेव जी की वाणी' नामक एक ग्रंथ आया है जिसमें निम्नलिखित रचनाएँ संगृहीत हैं:—(१) केलिमाल की टीका, (२) समय प्रबन्ध, (३) गुरु परम्परा नामावली, (४) गुरु मंगल, (४) सिद्धान्त और रस की साखी, (६) सिद्धान्त और रस के पद, (७) मांझ, (८) वधाई। इनमें से काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण चौथे और पाँचवें हैं। परन्तु सब मिलाकर पीताम्बर देव में काव्य का न तो अभिव्यंजनागत चमत्कार है और न गहरी भावात्मकता। परम्परा से प्राप्त लीलाओं या दृश्यों को उन्होंने उपस्थित किया है। इनमें से काव्य के वैभव की दृष्टि से कुछ ही अंश महत्त्वपूर्ण हैं। एक उदाहरण लें:

> **रस रस को रसकेलि रसिकदा रस की बनी बसन्त।**
> **रसिक बनी रस की रस देख्यो रसिक पीय रसवन्त।**
> **रस के रंग अंग रसकीली रसिक आदि सब अन्त।**
> **रस कों रसिक रसिकनी रस के रस कारण पीताम्बर कन्त।**[1]

उन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, छप्पय, पद-सोरठा एवं मांझ आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। रचनाओं का मुख्य कथ्य गुरु-निष्ठा, नित्य विहार-वर्णन, गुरु-शिष्य का स्वरूप, भक्ति का स्वरूप, रूप-वर्णन, प्रिया-प्रियतम के अनुराग एवं केलि का चित्रण है।

पीताम्बरदास द्वारा लिखित 'केलिमाल की टीका' अत्यन्त विशाल तथा

---

१. **पीताम्बर देव की बानी : बसन्त के पद, ५।**

नित्य-विहार को समझने में अत्यधिक उपयोगी है। पीताम्बर देव जी के व्यक्तित्व पर चाहे कोई आरोप लगते भी हों पर उनकी रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साधना की दृष्टि से वे सखी सम्प्रदाय की मूल आत्मा के निकट रहे। अपने गुरु रसिकदास के समान उन्होंने सम्प्रदाय के प्रकृत पथ को छोड़ा नहीं है। ललित किशोरी देव जैसी साधनानुभूति की तीव्रता उनमें अवश्य नहीं है, परन्तु निकुंज लीलाओं के गान में किसी प्रकार पीछे नहीं हैं। बल्कि कहना तो यह चाहिये कि लीला का वैविध्य उनमें ललित किशोरी देव की अपेक्षा अधिक है। नीचे हम जुगल के शरद्-विहार सम्बन्धी कुछ दोहों को उद्धृत कर रहे हैं इनमें पीताम्बरदेवजी द्वारा चित्रित उज्ज्वल वर्ण की छटा दर्शनीय है

स्वेत महल अति स्वच्छता, स्वेत सेज पट स्वेत ।
पहिरे भूषन स्वेत छवि, निरखत दृष्टि अचेत ।।
स्वेत चन्द्रमा चांदनी, ताकी झलकति स्वेत ।
सीतलता व्यापी तर्नहि, स्वेत विपुन रसखेत ।।
स्वेत मई फूली तहां, रजनी नवल नवेलि ।
हरषि निरखि तन्मय रंगे, अद्भुत उज्वल केलि ।।
चन्द्रमनिन की कुंज मधि, उज्वल बसन बधारि ।
उज्वल मुक्ताफलनि की, माला पहिरि सम्भारि ।।
उज्वल भूषन सब किये, तन मन उज्वल रूप ।
उज्वल मण्डल सरद निशि, अद्भुत सरस अनूप ।।[1]

श्री ललित किशोरी देव :

ललित किशोरीजी का स्थान सम्प्रदाय के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वे श्रेष्ठ रचनाकार ही नहीं थे, सम्प्रदाय की सैद्धांतिक धारा के विपथगा हो जाने पर उसे पुनः समुचित पीठिका पर प्रतिष्ठित करने वाले साधक थे। इस दृष्टि से सम्प्रदाय में उनका स्थान विहारिणिदास के समकक्ष है। विहारिणिदास सम्प्रदाय की रीति एवं सिद्धांतों के प्रथम व्याख्याता थे तथा ललित किशोरी जी दूसरे। वास्तव में स्वामी रसिकदास के युग में (और उनकी रचनाओं में भी) सखी-सम्प्रदाय की निराली रीति विलुप्त होकर ब्रज-रस के अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में आ गई थी। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि रसिकदासजी ने बाल-लीला, विवाह एवं विरह आदि का वल्लभ आदि सम्प्रदायों की भाँति ही वर्णन किया है जो कि सम्प्रदाय की आत्मा से मेल नहीं खाता। ललित किशोरी जी ने

---

१. पीताम्बर देव की बाणी, दोहा सं. ४, ५, ६, १२ एवं १३ ।

निधुवन ही नहीं छोड़ा, इस विकृत होती हुई साम्प्रदायिक रीति को पुनः परिशुद्ध किया। सम्भवतः निधुवन को छोड़कर टट्टी स्थान में आने के पीछे उनका यह सैद्धांतिक मत वैभिन्न्य भी रहा होगा। उनके इस कृतित्व की ओर बधाई लिखने वालों ने ध्यान दिलाया है। सिद्धांत रत्नाकर में संगृहीत एक ऐसी ही बधाई में कहा गया है कि वे न प्रकट होते तो नित्य बिहार न प्रकट होता :

लोक वेद नवधा प्रसिद्ध सुख कौन तरै लीला अवतार।
कर्म धर्म की आस त्रास नित अति भै भीत बहुत संसार।
लोभी लोग भोग के लालच पचि मरते विद्या आचार।
जो न प्रकटती ललित किशोरी तो न प्रगटतो नित्य विहार।

—सिद्धान्त रत्नाकर पृ० ११६

उनके ही शिष्य शील सखीजी ने अपने 'आचार्य मंगल' में ललित किशोरीजी को स्वामी हरिदास का दूसरा रूप कहा है :

श्री ललित किशोरी कृपा सरूप, श्री स्वामी को दूजो रूप।
सब रसिकन कौ है यह भूप, निर उपमा ये सहज अनूप।[1]

ललित किशोरीजी का जन्म-सम्वत् निश्चित नहीं हैं पर सहचरी शरण की 'आचार्योत्सव सूचनिका' के आधार पर मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी संवत १७३३ इनका जन्म-समय स्वीकार किया जाता है।

अपने गुरु रसिकदासजी के समय में ही वे अपना अधिकांश समय यमुना के किनारे विताया करते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात वे स्वामी हरिदास का करुआ और गुदरी लेकर चले आये और एक पेड़ के नीचे रहने लगे। कुछ लोगों ने उस स्थान के चारों ओर टट्टियाँ लगा दी थीं एवं कालान्तर में उसी स्थान को टट्टी स्थान कहा जाने लगा। इनके शिष्य स्वामी ललित मोहिनी देव के काल में इस स्थान की अत्यधिक उन्नति हुई। संवत् १७५८ में वे इस स्थान पर आये थे एवं संवत् १८२३ में उनकी यहीं पर मृत्यु हुई।

आपका पहला नाम गंगाराम था तथा भदावर प्रदेश के हथकान्ति गांव में माथुर ब्राह्मणों के यहाँ उत्पन्न हुए थे। जगन्नाथ पुरी में स्वामी हरिदास की महिमा सुनकर वृन्दावन आ गये और यहाँ पर स्वामी रसिक देवजी के शिष्य हुए। इनका दीक्षा-नाम ललितकिशोरी रखा गया। ब्रज-रज से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए और हरिदासी साधना का मर्म जानकर ही इन्हें सुख मिला। इस मर्म को उन्होंने प्राचीन वाणियों के अध्ययन से उपलब्ध किया था। वे बड़े ही त्यागी एवं भक्त थे। इसी त्यागवृत्ति के वशीभूत होकर वे निधुवन के पीठ को छोड़कर यमुना के किनारे आ गये थे। आपके 'वाणी' और 'वचनिका' दो ग्रंथ हैं। तथा सम्प्रदाय के अनुकूल नित्य-विहार की भावना को ही आपने अपनी रचनाओं में मुख्य रूप से

अपनाया है। उसी के अन्तर्गत आने वाले विविध विषय, जैसे वृन्दावन महिमा, सखीभाव, जुगल स्वरूप की महत्ता, सिद्धान्त-वर्णन, साम्प्रदायिक आचार, विधि-निषेध एवं मर्यादा को उन्होंने अपनी कृतियों से स्पष्ट किया है। प्रारम्भ में स्वामी हरिदास की वन्दना है। फिर अन्य आचार्यों का स्मरण किया गया है। तदनन्तर अन्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

अष्टाचार्यों की हमें उपलब्ध वाणी में इनकी रचना का परिणाम विपुल है। उसमें ३२८ साखियाँ, ४ कवित्त सवैये, १०७ सिद्धान्त के पद, १०८ रस के पद एवं बधाइयाँ संकलित हैं। साखियों में केवल दोहे ही नहीं हैं, अरिल्ल, सवैया एवं चौबोला भी संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त भी उनका साहित्य उपलब्ध है। डॉक्टर गोपालदत्तजी के अनुसार सब मिलाकर लगभग १२०० साखियाँ, ५० रस की चौपाइयाँ, १३० सिद्धान्त के पद, १४७ रस के पद तथा २५ बधाई के पद प्राप्त होते हैं।[1] वृन्दावन में एक स्थान पर हमें फ़ारसी लिपि में उनकी साखियों का एक संग्रह देखने को मिला था परन्तु इस लिपि से अनभिज्ञ होने के कारण हम उस संग्रह का अधिक उपयोग नहीं कर सके तथा उसकी प्रामाणिकता का भी ठीक निश्चय नहीं हो सका। उनका वचनिका ग्रन्थ वास्तव में मौखिक उपदेशों का संग्रह है जिसे शिष्यों ने संगृहीत किया था। उसे किन्हीं वंश गोपाल ने दोहा-चौपाइयों में परिवर्तित कर दिया। टट्टी स्थान से ब्रजभाषा गद्य में 'वचनिका सिद्धान्त' का प्रकाशन हो चुका है। इस ग्रन्थ में उनकी १३३ सूक्तियों का संग्रह है इसी में अपने शिष्य ललित मोहिनीदेव को दिये जाने वाले ८ निर्देश भी अन्त में दिये गए हैं जो इस प्रकार हैं :

(१) प्रसाद की प्रतीति (प्रसाद का महत्त्व)
(२) रज सों भवि (वृन्दावन रज का महत्त्व)
(३) कण्ठी तिलक कौ भाव (साम्प्रदायिक चिह्नों की महत्ता)
(४) श्री वृन्दावन सों बाहर निकसिवे को मनरोरथ न करें (वृन्दावन अनन्यता)
(५) कोउ चींटी पर्यन्त दुखावै नहीं (अहिंसा)
(६) स्वामी हरिदासजी की वाणी में प्रतीति (स्वामी हरिदास में निष्ठा)
(७) काउ सों माँगे नहीं (अयाचन)
(८) इष्ट सों रति (उपास्य के प्रति अनन्य प्रेम-भावना)

श्री ललित किशोरीजी का काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। वे सखी-सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम कवियों में परिमाण एवं गुण दोनों ही दृष्टियों से परिगणनीय हैं।

---

१. डॉ० गोपाल दत्त शर्मा : स्वामी हरिदास का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ० ४०६।

सिद्धान्त-कथन की अनन्यता एवं वास्तविकता ही उनमें नहीं हैं, साधनगत अनुभूति की तीव्रता एवं निष्ठा उनमें अत्यन्त संवेगात्मक स्तर पर प्रकट हुई है। राधा का रूप-वर्णन सैकड़ों कवियों ने किया है, पर ललित किशोरी देव का स्वर अपना ही है। यह रूपक द्रष्टव्य है :

राधे रूप रसाल, क्षरण क्षरण उठत तरंग प्रति।
अद्भुत नैन विशाल, ललित किशोरी प्राण हैं।

गुलाब की यह रंगारंग कली जिस भ्रमर के संकेत से विकसित होती है, वह भ्रमर किसी विदग्ध कवि की ही सृष्टि हो सकता है। महत्त्व की बात रूपक अलंकार मात्र कह देना नहीं है, बल्कि उन सारे अनुषंगों को ध्यान में रखना है जो इस चित्र से मन में उठते हैं। भ्रमर के संकेत की गत्यात्मकता में छिपा गहन रतिभाव, क्षरण-क्षरण खुलने और बन्द होने में सौन्दर्य की जिस चपलता एवं अनुराग की विह्वलता तथा विविध रंगों से रंगी जो चित्रात्मकता उपस्थित होती है, वह अन्यत्र विरल है :

विकसित कली गुलाब की श्याम भ्रमर संकेत।
खिन विकसित खिन बंध करि, अरुण असित पित खेत।

निम्नांकित पद में कृतज्ञता की भावना द्रष्टव्य है :

लडैती तेरी कृपा कही नहिं जाई।
छिन छिन प्रति अति तोषति आनन्द उर न समाई।
अपनी कहि कहि रंग बढ़ावत हंसि हंसि कंठ नलाई।
श्री हरिदासी रसिक सिरोमनि छके रहै महा भाई।

—सिद्धान्त के पद, ८०

बनीठनी जी :

किशनगढ़ के प्रसिद्ध भक्त नरेश महाराज सावंत सिंह (नागरीदास) की उपपत्नी बनीठनी जी थीं। अपने प्रिय के साथ ही वे भी वृन्दावन आ गई थीं तथा हरिदासी सम्प्रदाय में स्वा० रसिकदास जी से उन्होंने वैष्णवी दीक्षा ले ली। यह भी यहीं पर द्रष्टव्य है कि स्वयं नागरीदास जी वल्लभ कुल के शिष्य थे तथा निम्बार्क मत से अत्यधिक प्रभावित थे, परन्तु बनीठनी जी ने रसिकदास जी से दीक्षा ली—यह उस समय की उदार मनोवृत्ति का भी द्योतक हो सकता है तथा रसिकदास की समन्वित ब्रजरस-पद्धति के कारण भी संभव है। उनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है परन्तु उनकी समाधि पर जो छतरी बनी हुई है, उससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि अषाढ़ शुक्ल १५, सम्वत १८२२में उनका स्वर्गवास हुआ था। अपने पति एवं गुरु

के प्रभाव में लिखी गई उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें हरिदासी सम्प्रदाय का विशुद्ध नित्य-विहार चित्रित नहीं हुआ वल्कि ब्रज लीलाओं एवं गोपीभाव का ही चित्रण हुआ है। उनके पदों की संख्या भी अधिक नहीं है। 'रसिकबिहारी छाप' से उन्होंने जो थोड़ी रचना की है, काव्य गुण की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध न होने पर भी इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि मध्यकाल के वातावरण में एक निष्ठावान भक्त नारी के वे उद्‌गार हैं। उनकी रचना के दो उदाहरण हम दे रहे हैं। रचना में ब्रजभाषा के साथ ही राजस्थानी शब्दों का भी प्रचुर उपयोग हुआ है :

रंगि रह्या युगल रूप रंग मोही।
कुंज महल में दर्पन साम्हे दिया रहै गलबाहीं
कदेक संभ्रम स्यामा रै नीड़ै स्याम छताहीं।
कदेक रीझि रहै रसिक बिहारी देखि देखि परछांहीं।[1]
ये बसुरिया वारे ऐसे जिन बतराय रे।
यों न बोलिये और घर बसे लाजनि दबि गई हाय रे।
हौं धाई या गैलहि सों रे नेंक चल्यौ धौ जाय रे।
रसिक बिहारी नांव पाय के क्यों इतनो इतराय रे।[2]

रूप सखी जी :

रूप सखी जी का लौकिक परिचय कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। सिद्धांतों के पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वामी रसिकदास जी के शिष्य थे।[3] तथा ललित किशोरी देव जी का समकालीन माना जा सकता है। ललित किशोरी जी का समय सम्वत् १७५८ से १८२३ तक है अतः विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्ध ही रूप सखी जी का समय भी माना जा सकता है। स्वामी रसिकदास के प्रति उनके मन में अत्यधिक श्रद्धा थी। उनकी अनेक बार उन्होंने स्तुति मूलक चर्चा की है। एक स्थान पर उन्हें श्री हरिदास स्वामी की गादी प्रकट करने वाला बताया है।[4] दूसरे

---

१. निम्बार्क माधुरी : पृ० ६०५

२. वही—पृ० ६०५।

३. गुरु श्री रसिकदास महाराज : सिद्धान्त रत्नाकर, कवित्त १२७, पृ० २६।

४. सेवा हरि गुरु संत की, रसिक सिरोमनि पास।
गादी श्री हरिदास की, श्री रसिकदास प्रकास।—सिद्धान्त की वाणी, ७७
(सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत)।

स्थान पर उन्हें रसिकों में शिरोमणि एवं भूप की संज्ञा दी है।[1] आगे उन्होंने पुन: सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की चर्चा करते हुए सुख की राशि कहा है।[2] ये अंश भी रसिकदास का शिष्य होना ही सूचित करते हैं। पर सम्भवत: इसके बाद शीघ्र ही रसिकदास जी का गोलोकवास हो गया होगा तथा सम्प्रदाय के आचार्य-पीठ पर ललित किशोरी जी विराजमान हुए होंगे। सम्प्रदाय इस समय अनेक भागों में बँट जाता है, ललित किशोरी देव टट्टी स्थान की स्थापना करते हैं। बहुत संभव है कि रूप सखी जी टट्टी स्थान पर ललित किशोरी जी के साथ ही आ गये हों। एक दोहे में उन्होंने ललित किशोरी जी की ही कृपा से नित्य-विहार प्राप्त करने की बात कही है।

रूपसखी जी की सिद्धांत-सम्बन्धी वाणी 'निम्बार्क-शोध-मंडल' के संग्रह ग्रंथ 'सिद्धांत रत्नाकर' में प्रकाशित हो गई है। इसमें १५७ पद, कवित्त, सवैये, तथा ९२ साखियाँ संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त उनके लगभग ९०० रस के पद एवं कवित्त-सवैये 'निम्बार्क-शोध-मंडल' के संग्रहालय में प्राप्य हैं।

रूप सखी जी मध्यम कोटि के अच्छे कवियों में ज्ञात होते हैं। सीधी सादी एवं सरल भाषा में उनके भक्तिपूर्ण हृदय की अभिव्यंजना हुई है। कलागत परिपक्वता, वाग्वैदग्ध्य अथवा चित्रात्मकता या अलंकृत अभिव्यक्ति की ओर उनका अधिक ध्यान प्रतीत नहीं होता। परन्तु हृदय की सहज भावना उनमें बहुधा तीव्र रूप से फूट पड़ी है। श्री हरिदासी की सेविका रूपसखी कुंज के द्वार पर खड़ी है, श्याम उनसे बार-बार बात पूछते हैं, उस समय वे जब अपना परिचय देते हैं, वह उनकी निष्ठापूर्ण भावना का श्रेष्ठ निदर्शन है :

रूप गुन भरी प्रिया पाइनि पलोटति हो,
उनहीं के नाते ए जू तुम तन हेरी हौ।
परम प्रवीन लवलीन होतो धीर धरो,
अरज करोगी स्याम स्यामा तन नेरी हौ।
मति अकुलाउ हाउ भाव निजुचाव चहौं,
नाना गति मति चारु चकरीलो फेरी हौ।

---

१. श्री विपुल विहारिनि सरसवर, नागरि नरहरि रूप।
श्री स्वामी फिर अवतरे, रसिक सिरोमनि भूप।—सिद्धांत की वाणी, ७८

२. राजत बीठल विपुल प्रकासि। श्री गुरुदेव विहारनि दासि।
सरसदास जै नरहरि दासि। श्री रसिक सिरोमनि सुख की रासि।
—वही, ८८

बार बार कहा कुंज द्वार बात पूछति हो,
स्वामी हरिदास की खवासिन की चेरी हौ ।

—रूपसखी की वाणी, कवित्त ११७ पृ० २४
(सिद्धान्त रत्नाकर)

यों यत्र-तत्र उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, एवं अनुप्रासादि की योजना भी मिल जाती है, पर उस ओर कवि सचेष्ट नहीं है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे प्रवृत्त्या भक्तिकाल के अधिक निकट हैं न कि रीति काल की अलंकृति के।

शील सखी :

शील सखी जी का परिचय उपलब्ध नहीं है। 'सिद्धान्त रत्नाकर' की भूमिका में श्री गोविन्द शर्मा ने उन्हें माथुर चौबे कहा है।[1] पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। आचार्य मंगल के अंत में जो "दो चार सिष्यन के जस" दिया हुआ है, उसका अन्तिम दोहा स्यामदास के बारे में है एवं उससे यह प्रतीत होता है कि स्यामदास जी माथुर चौबे थे न कि शील सखी। दोहा यों हैं :

माथुर कुल को मुकुट मणि, जगमगात चहुं ओर
भानु ज्योति जिमि द्रगन में, उलुक अंध भये चोर ।[2]

संभवतः इसी आधार पर उन्हें चौबे कहा गया है। पर इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि कोई भी लेखक अपने को अपने कुल का मुकुटमणि नहीं कहता; दूसरे यह दोहा स्यामदास जी के प्रसंग में ही आया है।

'आचार्य मंगल' ग्रंथ से इतना सिद्ध होता है कि वे ललित किशोरी जी के शिष्य थे। ग्रंथ में सम्प्रदाय के आचार्यों का (स्वामी हरिदास से ललित किशोरी देव तक) तथा ललित किशोरी जी के दो-चार प्रमुख शिष्यों के गुण, शील-साधनादि की स्तुत प्रशंसा की गई है। सम्पूर्ण ग्रंथ में गुरुभक्ति की अपूर्व निष्ठा प्राप्त होती है। शीलसखी जी का ध्यान काव्यकला की ओर भी तनिक भी नहीं था। छन्द उनके लिए गुरुनिष्ठा व्यक्त करने का माध्यम मात्र है। शील सखी में भी भक्तिभाव का अनाविल स्रोत विद्यमान था :

लाड़िली की विनोद किधौ प्रीतम कौ प्रेम नित्य,
सरस गुन गर्व रस चाहन समेत हैं।
सेज को सुबास किधौं रंग कौ विलास,
आली सुख कौ निवास मन आनंद निकेत हैं।

---

१. सिद्धान्त रत्नाकर, ग्रन्थ परिचय (भूमिका भाग) पृ० ५०।
२. शील सखी : आचार्य मंगल, दोहा १७ (सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत)।

रूप की निकुंज सोभा फूली हाव भावन सों,
चाव चित्त चातुरी कौ आतुर अचेत हैं
ललित किसोरी रूप प्रगटी कृपा अनूप,
रसिक अनन्यनि के आनन्द के हेत हैं।[1]

चरणदासजी :

स्वामी रसिक देव के ही शिष्य चरणदास थे। स्वामी रसिकदेव की मृत्यु सम्वत् १७५८ में हुई थी, अतः इसके पूर्व ही उन्होंने दीक्षा ले ली होगी। इस प्रकार चरणदासजी का जन्म-काल विक्रम की अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है। इनके रचे हुए चार ग्रंथ प्राप्त होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :

(१) शिक्षा प्रकाश, (२) भक्तिमाला, (३) रहस्य दर्पण, (४) रहस्य चन्द्रिका। नागरी प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित ग्रंथों की सन् १९२४ की खोज रिपोर्ट में सं० ३७ पृ० ५१ पर इनका उल्लेख हुआ है। रिपोर्ट के अनुसार इनका रचनाकाल संवत् १७५३ से १७६१ के बीच रहा है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। उस रिपोर्ट के अनुसार ये ग्रंथ बाई इन्दु कुँवारी एवं बाई श्यामादासी के लिए लिखे गए थे।

चरणदास जी के ग्रंथों में सखी भावानुसार नित्य केलि का सहज और प्रवाहपूर्ण वर्णन हुआ है। अपने कथ्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है :

श्री ललिता हरिदास नित सहचरि कुंजन केलि।
तिनकी कृपा मनाय कहुं, कछु दंपति रस केलि॥
बहु दम्पति रस केलि, कहत हौ वर विहार की।
विहरत कुसुमित कुंज सेव्य तित कोटि मार की।
तहां अखंडित बहत, प्रेम पूरि सुख सरिता।
नेह-नाव सेवक प्रवीन हरिदासी ललिता।

(रहस्य चन्द्रिका)

किसी के आग्रह पर ग्रंथ लिखने की परिपाटी रीतिकाल का प्रभाव भी मानी जा सकती है।

---

१. शील सखीः आचार्य मंगल, कवित्त ९

१८वीं शती में राधावल्लभ-सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूप रेखा

काव्य के परिमाण की दृष्टि से राधावल्लभ सम्प्रदाय का महत्त्व अत्यधिक है। वल्लभ सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य किसी सगुणोपासक सम्प्रदाय में इतनी प्रभूत मात्रा में साहित्य नहीं लिखा गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय यों तो निकुंज-लीला का रसोपासक संप्रदाय है, परन्तु प्रारम्भ में ब्रजलीला का भी किंचित समावेश उसमें रहा है। सेवक जी एवं ध्रुवदास जी ने उसे पूरी तरह निकुंजोपासक विचारधारा में ढाल दिया। ध्रुवदास जी इस सम्प्रदाय के अत्यधिक समर्थ कवि हुए हैं। उनका समय सत्रहवीं शती का अन्तिम चरण है। सम्वत् १७०० के आस-पास उनकी मृत्यु हो गयी थी।[1] इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के प्रारम्भ में ध्रुवदास जी द्वारा स्थापित निकुंजलीला एवं प्रेम के उदात्त स्वरूप की सशक्त परम्परा प्राप्त होती है। परिणामतः १८वीं शती के राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों का साहित्य सखी-भाव एवं वृन्दावन रस की शुद्ध भूमि पर बना रहता है। परन्तु रसिकदास जी गौड़ीय वैष्णव छाया ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। उन्होंने गौड़ीय वैष्णवों कतिपय ग्रंथों के भाषानुवाद भी किये थे। इसके पश्चात् १८वीं शती के अन्तिम हिस्से में प्रभाव-ग्रहण की यह प्रकिया और अधिक तीव्र हो जाती है। गो० रूपलाल जी में यह गौड़ीय प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है तथा १९वीं शती के प्रारम्भ में चाचा हित बृन्दाबनदास ब्रजलीलाओं का भी जमकर गान करते हैं। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि हित हरिवंश, हरिराम व्यास एवं ध्रुवदास ने अपने समसामयिक जनों को प्रभावित भी किया है। गौड़ीय वैष्णव प्रियदास (भक्तमाल के टीकाकार) ने अपने अनन्य मोदिनी ग्रंथ में हरिराम व्यास के ११ पद प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं।[2]

रसिकदास : कवि-परिचय

राधावल्लभ सम्प्रदाय में पाँच व्यक्तियों का रसिकदास नाम से उल्लेख प्राप्त होता है। हमारे उल्लेख्य रूप रसिकदास का अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जन्म हुआ था। उनकी रचनाओं पर दिये हुए संवतों से ज्ञात होता है कि संवत्

---

१. डॉ० विजयेन्द्र स्नातकः राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४२७।

२. प्रियादास ग्रन्थावली, पृ० १७-२१

१७४३ से, १७५३ तक इनका रचनाकाल रहा है।[1] इनकी लिखी बीस लताएँ, श्री हिताष्टक, रस कदम्ब-चूड़ामरिण तथा कुछ फुटकर पद हैं। गोस्वामी धीरीधर के वे शिष्य थे तथा प्रसादलता में उनका सश्रद्ध भाव से उल्लेख किया गया है। रसिकदास जी संस्कृत के भी विद्वान् थे तथा उन्होंने संस्कृत वर्णवृत्तों का संस्कृत-पदावली के साथ उपयोग किया है।

'रस कदम्ब चूड़ामरिण' में पौराणिक और तांत्रिक ढंग पर वृन्दावन का चित्रण किया गया है। 'लता' नाम से अभिहित ग्रंथों में रूप-चित्रण, युगल-विहार प्रेमाभिलाष आदि का वर्णन है। लताओं के नाम अपने प्रतिपाद्य का संकेत देते हैं, जैसे सौन्दर्य लता में राधाकृष्ण की छवि का आकलन है। (रीतिकाल की छाया यहां भी देखी जा सकती है) यद्यपि उनमें वाणीगत नवीनता का अभाव है पर अपने विषय और भावना का सरस चित्रण अवश्य किया गया है :

कहा अनंगी धनुष सम भ्रू भंगी नव बाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगीलाल।
आहिं मैन खरसान ये कुंडल कहौं न बैन।
तीछन अनियारे भये जिन सो लगि लगि नैन।

—सौन्दर्य लता

को सरवेसर की रही छवि-सर लागत नेज।
वेधत मोहन मन मृगहिं समर खेत सुकि सेज।

—माधुर्य लता

प्रेम के विलास मांझ भूलि जांहि भोर सांझ,
सोह गये वे संभार वसनन परिहर।
कहूं चीर चीरा कहूं अंग-अंग राजे दुहुं,
मुक्ता हार रहे हियन पर करहर।
गजरा खुलि किंकनी भुरी चुरी नीलमनी,
डरी परी झलकैं सेज केसु तरहर।
ललिता जू लै बुलाय करि कर में देवभाइ,
सोभा मेरी देखें शौंभा को न सरवर।

—गो० रूपलाल के हस्तलिखित संग्रह से

नाथ रूप सिंगार वर नाना छवि उल्लास।
नाना गुन रस प्रेम कल पूरण आनन्द रास।

— रास कदम्ब चूड़ामरिण

---

१. डॉ० विजेयन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५००।

रसिकदास के ग्रंथों की सूची :—

(१) प्रसाद लता (२) मनोरथ लता (३) मनोरथ लीला (४) अभिलाष लता (५) सौन्दर्य लता (६) माधुर्य लता (७)सौभाग्य लता(८) विनोद लता (९) तरंग लता (१०) विलास लता (११) सुखसार लता (१२) अद्भुत लता (१३) कौतुक लता (१४) रहस्य लता (१५) रतन लता (१६) अतन लता (१७) रति रंग लता (१८) हुलास लता (१९) आनन्द लता (२०) चारुलता (२१) सुक सारी लता (२२) रस कदम्ब चूड़ामणि (२३) रस कदम्ब चूड़ामणि द्वितीय भाग ।

दोहा, कवित्त, सवैया आदि प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत वर्णवृत्तों का भी आपने उपयोग किया है । मनोरथ लता में तो वर्णवृत्त ही नहीं भाषाशैली पर भी संस्कृत का गहरा रंग है । रसिकदास में भक्त एवं रीतिसिद्ध कवि का समन्वय मिलता है ।

गो० गुलाबलाल जी :

अठारहवीं शती के मध्य भाग में विद्यमान गो० गुलाब लाल जी द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या ३७ बताई जाती है ।[1] उनकी सम्पूर्ण वाणी की प्रति गो० रूपलाल जी के यहाँ विद्यमान है । गुलाब लाल जी १८वीं शती के राधा वल्लभीयों में प्रमुख हैं । यद्यपि उनकी वाणी में रीतिकाल के प्रभावान्तर्गत चमत्कार एवं कौशल का अतिरेक नहीं हुआ है, पर वैराग्य, उपासना एवं नित्य विहार का साफ सुथरी ब्रजभाषा में चित्रण खूब उपलब्ध होता है । कथ्य की दृष्टि से उनकी वाणी में सिद्धान्त एवं रस दोनों ही प्राप्त होते हैं । उनकी वैराग्य-भावना का सूचक निम्न कवित्त इस कथन को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है :

कर्मन कौ कहैं ते तो भर्म भव परिबे को,
एक एकादशी सोप्रसाद सौं सदा अरै ।
तीरथ मैं वासना उपासना न नित्य कहूं,
अहो अब जीव या प्रवाह में सो क्यों तरे ।
ग्रह और ग्रहिनी सुत बंधु मित्र दुष्ट जान,
ज्यों ज्यों मेरी के त्यौं नर्कन में जा परै ।[2]
एहो हरिवंश एक करुणा विचारिये जू,
हित सौं गुलाब मन तें छवि ना टरै ।

---

१. किशोरीशरण 'अलि' : साहित्य-रत्नावली, पृ० २०-२२ ।

२. हस्तलिखित संग्रह : अष्टक १ ।

उनके ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :

(१) प्रार्थनाष्टक (२) अनन्य सभा मंडल (३) मंगल आरती (४) लाड़िली वर्णन (५) श्याम वर्णन (६) जुगल वर्णन (७) न्यारी भावना (८) वर्षोत्सव के पद (९) पत्री (१०) पंचाध्यायी (११) अनन्याष्टक (१२) हिंडोला (१३) पत्री सेवक कूं (१४) अनन्य रीति (१५) गुरु प्रताप (१६) मात-पिता सुख (१७) प्रसाद निष्ठा (१८) आचार्य अर्थ (१९) अनन्य सभा मिलन (२०) दृढ़ निश्चय (२१) सनेह सिद्धान्त (२२) साधु लक्षण (२३) सिद्धान्त सुख (२४) आनन्द सेवक चेतावनी (२५) वेद चेतावनी (२६) रेखता (२७) स्फुट पद (२८) भक्त दुख मोचन (२९) हृदय सिद्धान्त (३०) श्री हित प्रताप (३१) श्री बृन्दाबन प्रताप (३२) यमुना प्रताप (३३) नाम प्रताप (३४) श्री गुरु प्रणाली (३५) इतिहास नाट्य को (३६) इतिहास वेदन को (३७) सम्प्रदायार्थ।

इनमें से प्रथम १३ रस ग्रंथ हैं, शेष सिद्धान्त ग्रंथ या सम्प्रदाय के इतिहास से सम्बन्धित हैं। अधिकांश ग्रंथ कतिपय पदों के संकलन मात्र हैं।

अनन्य अली :

उन्होंने अपने 'स्वप्न विलास' नामक ग्रन्थ में अपने बारे में जो कहा है उससे जन्म-संवत् का तो पता नहीं चलता पर यह ज्ञात होता है कि किसी राधावल्लभीय कुल में उनका जन्म हुआ था। ८ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली थी तथा संवत् १७५९ में अपने गुरु गोविन्द लाल जी के साथ वृन्दावन चले आये थे। इनका घर का नाम भगवानदास था तथा जाति से वैश्य प्रतीत होते हैं। बीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आये थे अतः १७३९ उनका जन्म-संवत् ठहरता है। आपके लिखे ७९ ग्रंथ कहे जाते हैं।[1] ये ग्रंथ 'अनन्य अली' की वाणी के नाम से संकलित हैं। इनका रचनाकाल संवत् १७५९ से १७९० तक है। १७९० वि० के आसपास उनकी मृत्यु हुई। ग्रंथों की एक हस्तलिखित प्रति गो० मनोहरलाल जी अहमदाबाद के पास सुरक्षित है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इनके पदों की संख्या ६००० के लगभग होगी।[2] सिद्धांत प्रतिपादन और रसभक्ति का शृंगारपरक शैली में आपकी वाणी में विवेचन किया गया है। छन्द-रचना में अत्यधिक प्रवीण हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण उनकी रचनाओं

---

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४९१।

२. वही, वही, पृ० ४९२।

में प्रचुर मात्रा में हैं । व्यापाम सम्बन्धी रूपक उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएं रचनाओं में खूब मिलती हैं ।

चित डांड़ी पलरा नयन प्रेम डोरि सों बांनि
दियौ तराजू लेहु कर तौल रूप मन सानि ।

--आशा अष्टक

उनके ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन (सहस्त्राधिक दोहे) पर रीतिकालीन श्रृंगार-परम्पराओं का गहरा प्रभाव है ।

परसन को कर तरसहीं दरसन द्दग चपलाइ ।
होड़ परी भुज नैन सौं लंपट अति तरलाइ ।[1]

युगल प्रेम विहार के अतिरिक्त आपकी रचनाओं में बृन्दाबन महिमा, गुरु महिमा, नाम प्रताप, सखी स्वरूप आदि पर भी सामग्री प्राप्त होती है ।

उनके ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :—

(१) स्वप्न विलास (२) जीव प्रकार (३) मन विनती लीला (४) आशा अष्टक (५) श्री हरिवंशाष्टक (६) श्री बृन्दाबनदास की प्रथम अवस्था, द्वितीय अवस्था, तृतीय अवस्था, चतुर्थ अवलोकन अवस्था (७) चरणप्रताप लीला (८) श्री क्रीड़ा सर लीला (९) प्रतिबिम्ब लीला (१०) श्री लाड़िली जू की नामावली (११) श्री लाल जू की नामावली (१२) श्री हित हरिवंश जू की नामावली (१३) बृन्दावन रजधानी लीला (१४) वंशी विलास लीला (१५) परिचर्या विलास लीला (१६) षट-ऋतु लीला (१७) स्वप्न लीला (१८) रहसि वचन विलास लीला (१९) सुरतान्त विलासलीला (२०) मंगल विनोद लीला (२१) कुँज विलास लीला (२२) स्नान विलास लीला (२३) सिंगार विलास लीला (२४) जुगल सभा विनोद लीला (२५) राजभोग लीला (२६) उत्थायन समय विलास (२७) संध्या समय विलास (२८) शयन समय विलास (२९) सज्जा समय विलास (३०) वंसन्त ऋतु लीला (३१) ग्रीष्म ऋतु लीला (३२) पावस ऋतु लीला (३३) शरद ऋतु लीला (३४) शिशिर ऋतु लीला (३५) हिम ऋतु लीला (३६) फूल रचना विलास (३७) भीने चीर शोभा विलास (३८) चंद चित्र (३९) महाशीतल विनोद विलास (४०) चंग खेल विलास (४१) जल नौका विलास लोला (४२) जल विहार लीला .(४३) चरन अष्टक (४४) नवल जुगल विनोद लीला (४५) व्याह विनोद लीला (४६) चौपर खेल लीला (४७) शतरंज खेल विलास (४८) थल नौका खेल लीला (४९) गेंद खेल लीला (५०) भड्डू खेल विलास लीला (५१) आंख मिचौनी खेल अपूर्ण (५२) वचन विलास

---

१. राधाबल्लभ सम्प्रदाय । सिद्धांत और साहित्य, ४९३ ।

(५३) हास विलास (५४) विरह विलास (५५) मंगल विलास लीला (५६) छवि चन्द्रावलि लीला (५७) संजोग विलास (५८) लज्जा विलास (५९) मान विलास (६०) दान विनोद लीला (६१) रूप विलास (६२) सेवा विलास (६३) छवि लता (६४) ललिता लता विलास लीला (६५) माधुरी लता विलास लीला (६६) रवमी लता विलास लीला (६७) लावण्य प्रभा विलास लीला (६८) कंचनलता विलास लीला (६९) चन्द्रलता लीला (७०) मृदुता विलास लीला (७१) सुकुमारिता की सीमा (७२) मोहनता की सीमा (७३) नवल विलास लीला (७४) विमल विलास लीला (७५) सौरभ विलास लीला (७६) चातुर्य विलास लीला (७७) भक्ति विलास लीला (७८) नेत्र विलास लीला (७९) दरस विलास लीला (८०) फुटकर दोहे।

हित अनूपजी एवं वंशीधरजी :

अठारहवीं शती के आरम्भ में अनूपजी का जन्म सहसवान ज़िला बदायूँ में हुआ था । वे किशोरावस्था में ही कुटुम्ब के साथ वृन्दावन चले गए थे। 'माधुर्य विलास' नामक एक अपूर्ण ग्रन्थ इनका प्राप्त होता है जिसे इनकी मृत्यु के उपरांत उनके मित्र वंशीधर जी ने १७७३ में पूरा किया। गो० कमल नयन जी के शिष्य यह भी थे। इसके पूर्वार्ध-२९१ दोहा-चौपाइयों में भगवान् के माधुर्य-विलास का विवेचन किया गया है। इस विलास के वपु, सौन्दर्य, सजाति और मैन सम्बन्ध के आधार पर चार भेद होते हैं जिनसे क्रमशः आतमता-रस, रूप-रस सख्य-रस एवं श्रृंगार रस निष्पन्न होते हैं। श्रृंगार रस के प्रसंग में अनूप जी ने स्वकीया-परकीया नायिकाओं के विविध भेदों का वर्णन किया है। (इस वर्णन में काव्य-शास्त्र एवं रूप गोस्वामी का प्रभाव द्रष्टव्य है)। पूर्वार्द्ध में ही ब्रज-वृन्दावन का मनोरम चित्रण भी हुआ है तथा रसिक उपासकों की तीन अवस्थाओं आदि मध्य और प्रगल्भ को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित भी किया गया है। सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ गहन और मौलिक है तथा व्रजभाषा में हुए सिद्धान्त विवेचनों में श्रेष्ठ निरूपणों में से एक माना जा सकता है।

उत्तरार्द्ध में वंशीधर जी ने इन स्थापनाओं के (हित अनूप जी के विचारानुसार) उदाहरण दिये हैं जो अनूप जी की अपेक्षा कम शक्तिपूर्ण हैं। यहाँ पर लक्षण एवं उदाहरण वाली काव्यशास्त्रीय परिपाटी हमें उपलब्ध होती है।

९ अर्द्धालियों के बाद एक दोहा वाला क्रम भी स्वीकार हुआ है। इस दिशा में सूफ़ियों एवं तुलसी के स्पष्ट प्रभाव हैं। धाम प्रभाव का दिग्दर्शक एक दोहा देखें :

धाम नाम मुख उच्चरत हित अनूप सुनि बात ।
नख शिख तैं सब गात के अंग अंग घिरि जात ।

माधुर्य विलास की यह परिभाषा भी देखिये :

ईश्वरता ब्रह्मत्व जहां नहीं लवले कोऊ त्रास ।
केवल लीलका लोकवत सो माधुर्य विलास ।

इस कथन पर ब्रह्मसूत्रों के लीला लोकवतुकेवल्यम् का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है ।

चन्द्रसखी :

विक्रम की अठारहवीं शती के आरम्भ में विद्यमान थे ।[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय के बालकृष्ण के वे शिष्य थे । उनके पदों में बालकृष्ण की छाप भी मिलती है। उनकी फुटकर रचनाएं ही प्राप्त होती हैं, उनके कुछ लोकगीत हैं और कुछ भक्त कवियों जैसे पद हैं । पदों में बृन्दाबन-महिमा, बसंत, होली, रास आदि लीलाएँ युगल-छबि और प्रेमासक्ति का ही सरस वर्णन हुआ है। लोकगीतकार और भजन-कार के रूप में उनके नाम से प्रचलित रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। उनकी ये रचनाएँ बहुत बड़े भूभाग में मालवा से लेकर ब्रज तक प्रचलित है। प्रादेशिक वातावरण के अनुसार इनमें संयोग, वियोग, अनुराग, उपालंभ, अमर्यादित प्रेम और गृहस्थ-जीवन के विविध प्रसंगों का उल्लेख हुआ है, नारी-भावों की सहज अभिव्यक्ति भी उनमें हुई है । पुरुष होकर भी मीरा जैसी तल्लीनता उनमें मिलती है यह भक्ति की गम्भीर भावना के कारण हुआ है ।

सं० १७०० के कुछ पूर्व अनुमानतः उनका जन्म ओड़छा में हुआ था । वे पहले मोठ के थानेदार रह चुके हैं, बाद में वैराग्य वृत्ति के वशीभूत होकर वृन्दावन चले आये और बालकृष्ण स्वामी के शिष्य हो गये । राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रचारार्थ साधुओं की जमात सहित उन्होंने देशाटन भी किया था । उस यात्रा में प्रचारार्थ उन्होंने आनन्द-भजनों और लोकगीतों की भी रचना की जो उक्त राज्यों में प्रचलित हो गये । संवत् १७५८ के लगभग उनकी मृत्यु ओड़छे में ही हो गयी थी। वृन्दावन में केसीघाट पर उनकी बनवायी हुई 'चंद्र सखी की कुंज' अभी भी विद्यमान है ।

श्री राधा रानी ! दें डारो न बांसुरी मोरी ।
जा बंशी में मेरे प्रान बसत हैं, सो बंसी गई चोरी ।
सोने की नाहीं कान्हा ! रूपे की नाहीं, हरे बांस की पोरी ।

---

१. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, प्रभुदयाल मीतल, भूमिका पृ० ६ 'घ' ।

काहे से गाऊं राधे ! काहे से बजाऊं, काहे से लाऊं गैया छोरी ।
मुख से गाम्रो कान्ह ! ताल सों बजाम्रो,
लकुटी से लाम्रो गैया घेरी ।
'चन्द्र सखी' भल बाजकृष्ण फवि, हरि चरनन की चेरी ।[1]

वे हमारे ग्रालोच्य युग के एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनके सम्पूर्ण लेखन के संग्रह एवं सम्पादन का प्रयास श्री प्रभुदयाल मीतल एवं श्रीमती पद्मावती 'शबनम' कर रही हैं। भक्तकवि का रूप लोककवि का उस युग में भी समाप्त नहीं हुम्रा था, इसका प्रमारण चन्द्रसखी का काव्य है।

चन्द्रसखी जी यद्यपि राधावल्लभ सम्प्रदाय के नित्य-विहार के ग्रनुयायी थे, परन्तु उनकी उपलब्ध रचनाएँ ब्रजलीलागान की परम्परा में हैं। वास्तव में इन्हें वल्लभ सम्प्रदाय की भावना का ग्रनुयायी मानना चाहिए।

श्रीकृष्णदास 'भावुक' :

यह ग्रठारहवीं शताब्दी के ग्रन्तिम भाग में विद्यमान थे। सं० १७६१ में 'हित चतुरासी' की प्रेमदास विरचित टीका में इनका सादर उल्लेख प्राप्त होता है—कृष्णदास जू हैं मम प्राणधन। इनके द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ तो नहीं प्राप्त होता पर बधाई उत्सवों के पद तथा बृन्दाबनाष्टक एवं हरिवंशाष्टक प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण लीजिए :

डाले झूलत राधिका नागरी।
झुकनि हिलोरनि में उर लगत श्याम बड़ भाग री।
मधुर-मधुर मृदु बैननि चढ़त मैन रस पाग री।
बिबस विलोकि भुजनि भरि प्रीतम हरषि ढरत ग्रनुराग री।
ग्रंग ग्रनंग उमंग सुरंगनि झेलत खेलत फाग री।
कृष्णदास हित निपट निकट ह्‌वै गावत गीत सुहाग री।

ऊपर के पद में झूले की झकोरों की गति का चित्रण बड़ा सजीव बन पड़ा है। एवं इन झकोरों के साथ ही जो विवश होकर एक दूसरे को देखना एवं भुजाग्रों में भर लेना है, वह भी गति-चित्र ही है। भावुक जी सचमुच ही भावुक कवि थे।

सहचरि सुख (सुख सखी) :

गोस्वामी कमलनैन जी के शिष्य थे। कमल नैन जी का समय १६६२ से

---

१. चन्द्रसखी के भजन ग्रौर लोकगीत, पृ० २३।

१७५४ तक है। अतः १८ वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही सहचरि सुख का भी जन्म मानना उचित होगा। रचनाकाल इनका १८वीं शती का उत्तरार्द्ध रहा होगा। इनकी साधना का नाम सुख सखी भी था। इनका अब तक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है। नागरी प्र० सभा की १९११ की खोज-रिपोर्ट में बनारस के किन्हीं सज्जन के पास 'रंगमाला' नामक ग्रन्थ की सूचना अवश्य उपलब्ध होती है, पर उससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। वर्षोत्सव में इनके द्वारा रचित कुछ पद अवश्य उपलब्ध होते हैं जो काव्य-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ध्रुवदास जी की साधना-प्रणाली का इन पर यथेष्ट प्रभाव है। इनके पदों में लक्षणा का सुन्दर उपयोग हुआ है :

भुज सिंगार विपट माधविका छांह छैल हिय छावै।
उकसनि देत न मान धूप सनमानहिं अधिक बढ़ावै।

× × ×

कुसुम वसंती दबि गये, जब प्रगटो सहज सुबास।
रीझि छके उपमान सौं याते पिय फिरत उदास।

शृंगारी प्रेम के मधुर अनुभावों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है :

इकटक निहारत बदन पल सहि सकत पलक न पीर।
तिय परसि पुलकत पीत पट पिय रसि सुन्दर चीर।
हंसति लपटति सिलत सकुचति घरकि होत अधीर।
लड़कानि ललना की सम्हारत लाल गहि-गहि धीर।

रूप का प्रभाव :

चक चौंधति लखि कुंवर कों हो शशि जीतति जे वाम।
आरत ढिग कीरति सुता तब ही हरि दीसत स्याम।[1]

सहचरि सुख का कथ्य संप्रदाय की सरणि के अनुसार नित्य-विहार-लीला-वर्णन ही था। इस सीमित क्षेत्र का अधिक से अधिक उपयोग कवि करते आ रहे थे, अतः कथा की मौलिकता उनसे बहुत नहीं प्राप्त होती। परन्तु अपने उक्ति-सौन्दर्य तथा लाक्षणिक प्रयोगों के कारण एक अतिरिक्त चमक उनके काव्य में अवश्य आ गयी है। कहते हैं कि उन्होंने पंजाबी के माँझ एवं कवित्त-सवैया छन्दों का भी

---

१. उपर्युक्त उद्धरण ललिता चरण गोस्वामी के संग्रह से लिये गये हैं। इनमें से कुछ अंश उन्होंने अपने ग्रंथ श्री हितहरि वंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य के पृ० ४६८-४७३ में संकलित किये हैं।

प्रयोग पदों एवं दोहों के साथ किया है। अपनी शब्द साधना, रुचिर और नम्र उक्तियों एवं वाग्वैदग्ध्य के कारण रीतिकाल के कवियों के समकक्ष उन्हें रखा जा सकता है।

रानी बखत कुंवरि 'प्रिया सखी' :

'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ 'नामक ग्रन्थ में लेखिका ने इन्हें दतिया राज्य की रानी माना गया है।[1] किसी राधावल्लभीय गुरु की ये शिष्या थीं। 'प्रिया सखी' इनका साधनागत उपनाम था। इनकी लिखी एक रचना 'प्रिया सखी की बानी' उपलब्ध होती है। उसमें रचनाकाल सं० १७३४ वि० दिया हुआ है।

राधावल्लभीय परम्पराओं के अनुसार वे सखी-भाव की उपासिका थीं। एवं श्याम और राधा के विहार का इन्होंने ललित वर्णन किया है :

सखी ये दोई होरी खेलैं।
रंग महल में राधावल्लभ रूप परस्पर झेलैं।
रूप परस्पर खेलत होरी, खेलत खेल नवेलैं।
प्रेम पिचक पिय नैन भरे तिय, रूप गुलाल सुमेलैं।
कुंदन तन पर केसरि फीकी स्याम गौर भये मेलैं।
समर समर के सुर लरत दोई टूटत हार हमेलैं।
सम्मुख सख मुसक्याति झमकि झुकि लाड़िली लालहिं पेलैं।
प्रिया सखी हित यह छवि निरखत, सुख की रासि सकेलैं।[2]

रूपक, यमक का चमत्कार तो है ही, साथ ही सौन्दर्य के प्रतियोगी पारस्परिक वैभव एवं उसका प्रभाव पद में भली प्रकार अभिव्यक्त हो सका है।

परन्तु यहीं पर एक बात याद कर लेनी होगी कि स्त्री होने के नाते सखी-भाव की मन: साधना स्त्रियों के लिए उतनी प्रयत्नसाध्य नहीं होती, परिणामत: साधनागत अनुभूति का आवेश हमें सखी-भाव की स्त्री भक्तों में प्राप्त नहीं होता। परन्तु जिस समय अपनी जैविक स्थिति के कारण वे ब्रह्म को प्रियतम रूप में भावित करती हैं उस समय उनका भावात्मक आवेश द्रष्टव्य हो जाता है। ऊपर के पद में चमत्कार अवश्य अधिक है, पर अनुभूति की जैसी गहरी व्यंजना निम्न पद में हुई है, वैसी प्रथम पद में प्राप्त नहीं होती :

---

१. डॉ० सावित्री सिन्हा : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ० १७१।

२. वहीं पृ० १७२।

प्रीतम हरि हिय बसत हमारे ।
जोई करूं सोइ करत रैन दिन, छिन पल होत न जिय तें न्यारे ।
जित तित तन मन रोम रोम में वहै रहे मेरे नैननि तारे ।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी, प्रियासखी हित प्रानहि प्यारे ।[1]

श्री हित रूपलाल:

"गो० हितरूप लाल के ध्रुवदास की निकुंज-लीला को बढ़ाकर पुनः ब्रज-लीला को भी रस-भक्ति के अन्तर्गत ले लिया। उनका जन्म वैसाख कृष्ण सप्तमी सं० १७३८ को हुआ था। किशोरावस्था से ही कविताएँ लिखनी उन्होंने प्रारंभ कर दी थीं। उन्होंने ब्रजलीला ही नहीं सामंतों जैसे लोक-प्रचलित अन्य उत्सवों को भी राधाकृष्ण की लीलाओं से युक्त करके क्षेत्र का ही विस्तार नहीं किया उसे लोक जीवन के निकट भी पहुँचाया। राजा जयसिंह ने राधावल्लभ संप्रदाय को अवैदिक घोषित करके उसकी जड़ें हिला दी थी; परन्तु रूपलाल अत्यंत शांत भाव से स्वयं एवं अपने शिष्यों द्वारा राधावल्लभीय प्रेम-पद्धति का व्याख्यान करते हुए उसे वेदातीत या वेदसम्मत सिद्ध करने का निरन्तर प्रयास करते रहे। इसके लिए उन्होंने अनेक छोटे-छोटे पद्यबद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया। प्रेम की अकथ कथा, रूप का मार्मिक प्रभाव, सौन्दर्य और विलास के मनोहारी दृश्य उन्होंने अत्यन्त सहज-सरल और सीधे ढंग से उपस्थित कर दिए हैं। इनके ८४-८४ पदों के दो संग्रह 'प्रथम विजय चौरासी' 'द्वितीय विजय चौरासी' हैं तथा वर्षोत्सव संग्रहों में अन्य अनेक पद मिल जाते हैं। दोहों में लिखे अन्य अनेक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। चाचा हित वृन्दावनदास के अनुसार सं० १८०१ में इनकी मृत्यु हो गई थी। "संवत् विगत अठारह से इक सोम कुन्ज मग चली"[2] उनके दो पद हम नीचे दे रहे हैं, इनमें प्रथम रस का पद है और दूसरा सिद्धान्त निदर्शक है :

सोधे मरी कमौरी जोरी लावहीं,
कुम कुम मेलि फुलेलि मुखैं लपटावहीं।
लियौ कपूर पराग झोरि भरि भरि तबैं,
उड़त अबीर गुलाल कहत हो-हों सबै।
झूमक दै दै नाचत दंपति लाड़िले,
नेह भरे सिलवार पके चित्त वाड़िले।

१. डॉ० सावित्री सिन्हा : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ० १७२ ।
२. हित रूप अन्तर्धानबेली।

नील पीत पट गांठ जोरि ललिता दई,
निरखि हंसत मुख मोरि रूप हित बलि गई

—गो० ललिता चरण के संग्रह से

सुनौं चित्त लाइ रसिक रस रीति,
दुर्लभ मानुष देह न है हरि साधु संग में प्रीति।
जनम सहस्त्रनि जो करि हारै तप अरु ध्यान समाधि।
छीन पाय अति शुद्ध हृदय मधि उपजै भक्ति अबाधि।
साधन भक्ति करत बहु जमननि होम जु ब्रज अनुराग।
ताहू कौ फल विपिन उपासन प्रेम प्रीति बड़ भाग।
याहू तैं निज तत्व जुगल रस नित्य निकुंज विहार।
हित अलि रूप अनूप हृदय दृढ़ कुंवरि कृपा कौं सार।

—गो० रूपलाल (वर्तमान) के संग्रह।

दूसरे पद में नित्य निकुंज विहार की महत्ता स्थापित करने का सचेष्ट प्रयत्न है। गो० हित रूपलाल जी के ग्रन्थों का परिमाण विशाल है। श्री किशोरी शरण 'अलि' ने उनके निम्नलिखित ७४ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पर यह सूची नितान्त प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। बहुत कुछ चेष्टा करने के बाद भी इनमें से अधिकांश ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आ सके। तथा जो ग्रन्थ देखने को मिले भी उन पर पं० रामचन्द्र शुक्ल की नागरीदास संबंधी टिप्पणी पूरी तरह लागू होती है। कुछ ग्रन्थ तो थोड़े से पदों के संग्रह मात्र हैं। बहुधा पुनरुक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। उनके 'रस रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की जो हस्तलिखित प्रति गोस्वामी ललिता चरण जी के पास हमारे देखने में आई उसमें तथा हरिदासी संप्रदाय के स्वा० रसिकदास के 'रस सार' (निम्बार्क शोध मण्डल) द्वारा प्रकाशित सिद्धांत रत्नाकर में संगृहीत) में आद्यन्त इतना साम्य है कि यह कहना कठिन है कि यह रचना किसकी है। कुछ शब्दों के हेर-फेर के अतिरिक्त पूरे ग्रन्थ का क्रम एवं वर्ण सब एक ही हैं। रूपलाल जी का वास्तविक महत्त्व कवि के रूप में उतना नहीं है जितना कि आपत्ति के समय संप्रदाय को सुदृढ़ बनाये रखने वाले आचार्य के रूप में है। राधावल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध कवि चाचा हित बृन्दावनदास उन्हीं के शिष्य थे। अस्तु, रूपलाल के ग्रन्थों की सूची (अलि द्वार प्रकाशित) निम्न है :

(१) साधु लक्षण (२) सर्वस्व सिद्धांत भाषा सार (३) आचार्य गुरु सिद्धांत (४) रूप सनातन वल्लभाचार्य सहित स्वकीया परकीया चर्चा (५) तिलक व्योरा (६) दिव्य रत्नमाला (७) सिद्धांत के पद (८) समय प्रवन्ध (९) गुरु

शिक्षा (१०) गूढ़ ध्यान (११) मन शिक्षा बत्तीसी (१२) सिद्धांत का सार (१३) सर्वतत्त्व सिद्धांत (१४) भक्तिभाव विवेक रत्नावली (१५) साधक लीला विलास (१६) नित्य वंशी स्वरूप प्रागट्य (१७) श्री राधावल्लभीय संप्रदाय निर्णय (१८) हित रत्न माला (१९) सिद्धांत पद (२०) चर्चा निवारण(२१) श्री हित प्रागट्य (२२) वंशावलि (२३) सेवाधिकार (२४) वंशी अवतार कलि प्रगट विलास (२५) रंगीलाल प्रागट्य वर्णन (२६) रघुपति वर प्रसाद (२७) रुक्मिणी वर प्रसाद (२८) कृष्णदासी मनोहारी प्रसाद (२९) राधिका वर मन्त्र प्राप्ति (३०) श्री राधा वल्लभ तथा चतुरासी प्रागट्य (३१) गादी सेवा प्राकट्य (३२) श्री राधावल्लभ अभिषेक (३३) श्री नरवाहन परिचय (३४) हरिवासरे महाप्रसाद श्री कृष्णानुसार (३५) रूप सनातन भट्ट त्रय प्रति-युगल दर्शन प्राप्ति (३६) व्यास परिचय (३६) कोष प्राप्ति (३७) हित प्रताप परिचय (३८) हित प्रागट्य प्रमाण (रुद्रयामल) (३९) हरिवंश नामावलि (४०) राधा स्तोत्र (४१) गौतमीय तंत्र मंत्र पंचाशत पटल (४२) विजय चतुरासी (४३) खिचरी श्रृंखला (४४) वर्षोत्सव (४५) बृन्दाबन रस रहस्योद्गार (४६) मानसिक सेवा समय प्रबन्धोल्लास (४७) रस रत्नाकर (४८) वंशीयुक्त (४९) वंशीयुक्त युगल ध्यान (५०) साँझी (५१) ब्रजभक्ति भाव प्रकाश (५२) प्रेमवर्धक पत्रिका (५३) वाणी विलास (५४) मांझ हिंडोरा (५५) भावना व्यौरा (५६) श्रृंगार समयोल्लास (५७) जलक्रीड़ा प्रबन्धोल्लास (५८) राजभोग क्रीड़ा (५९) संध्या समय क्रीड़ा (६०) शयन क्रीड़ा (६१) प्रिया ध्यान (६२) नित्य विहार जुगल ध्यान (६३) पद्यावलि वसन्त धमार (६४) वर्सोत्सव के पद (६५) मानमोचन स्तोत्र (६६) मुख्या सखी वर्णन (६७) रस वाणी (६८) दान वेली (६९) राम नवमी (७०) नृसिंह चर्तुदशी (७१) प्रेम वैचित्र्यी लीला (७२) मुरली गान लीला (७३) बन लीला (७४) निकुन्ज केलि लीला (७५) पंचाध्यायी।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी श्री किशोरी शरण अलि ने साहित्य रत्नावलि में गिनाएँ हैं, पर उनका या तो प्रामाण्य नितान्त संदिग्ध है अथवा वे पूर्व-कथित ग्रन्थों के ही हेर फेर हैं। इस युग के कतिपय अन्य प्रमुख रचनाकारों के नाम और उनके द्वारा रचित कही जाने वाली रचनाएँ भी हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इन लेखकों की कृतियाँ चाहने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इसी कारण उनका विस्तृत परिचय देने में हम असमर्थ हैं। यों श्री किशोरी शरण 'अलि' ने १८ वीं शताब्दी में ६३ कवियों एवं ३५१ ग्रन्थों के नाम गिनाए हैं।[1]

---

१. किशोर शरण 'अलि' : साहित्य रत्नावली, पृ० १३ से ४३ तक।

परन्तु यह सूची बहुत प्रामाणिक नहीं है। इसमें से बहुत से कवि या रचनाएँ अन्य संप्रदायों से भी संबंधित हैं —जैसा कि हरिदासी संप्रदाय के साहित्य की चर्चा करते हुए हमने स्वामी रसिकदेव के संदर्भ में बताया है कि हरिदासी रसिकदेव के कई ग्रन्थ राधावल्लभीय रसिकदास के खाते में इस सूची में डाल दिये गए हैं। वास्तव में यह पूरा साहित्य स्वतंत्र अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

गो० अतिवल्लभ जी :

अति वल्लभ जी के समय का निर्णय करना कठिन है। परन्तु सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार उनका समय वि० की १८वीं शती का उतरार्द्ध प्रतीत होता है। 'बृन्दाबन रस' की लीलाओं के अतिरिक्त उन्होंने सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक साहित्य की भी रचना की है। बृन्दाबनाष्टक में बृन्दाबन की अलौकिक महिमा का गान हुआ है। उनका वार्ता साहित्य संबंधी एक ग्रन्थ अप्राप्य है। समय प्रबन्ध में उन्होंने 'ग़ुगल माधुरी' एवं केलि का ललित वर्णन किया है। 'हित-पद्धति' एबं 'मन्त्र-ध्यान-पद्धति' साम्प्रदायिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं को स्पष्ट करने वाली रचनाएँ हैं तथा 'हित वंशावली' एवं 'गुरु प्रणाली' नामक कृतियों में राधावल्लभीय वंशावली एवं गुरु-परम्परा क्रमशः दी हुई हैं। कवित्व की दृष्टि से अतिवल्लभ जी बहुत महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हैं। वे राधावल्लभियों की नाद-परिवार की परम्परा के कवि थे।

गो० रसिकलाल :

गो० रसिकलाल जी का रचनाकाल सं० १७२४ से १७३४ तक उनके ग्रन्थों के निर्देश के आधार पर अनुमानित है युगल-लीला-रस का गान करने वाले उनके फुटकर पद्य ही उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हित चतुरासो' कर्णानंद एवं गीत-गोविन्द की टीकाएँ भी लिखी हैं।

गो० ब्रजलाल :

गो० ब्रजलाल जी मुख्यतः संस्कृत के रचनाकार थे, पर उनके अष्टयाम एवं वर्षोत्सवों संबंधी कतिपय फुटकर कविताएँ भी संग्रहों में उपलब्ध हो जाती हैं।

लोकनाथ :

'राधा सुधानिधि' तथा 'हित चौरासी' कीटीकाओं के अतिरिक्त 'बृन्दावन स्वरूप' एवं 'निज महल' उनकी रस संबंधिनी कृतियाँ हैं। 'अनन्य लक्षण' में रसिक के लक्षणों का सैद्धांतिक निरूपण किया गया है।

गो० कमल नयन जी :

गो० कमल नयन का समय संवत् १६६२ से १७५४ वि० तक संप्रदाय में मान्य है। कमल नयन जी बड़े ही त्यागी एवं उदार महात्मा थे। उनके लेखन का परिमाण बड़ा नहीं है। अष्टयाम पद्यावली तथा वर्षोत्सवों संबंधी कतिपय मुक्तकों के संग्रह भी प्राप्त होते हैं। इनमें भी अष्टयाम की प्रति हमारे देखने में नहीं आई। ज्ञात हुआ है कि श्री रूपलाल जी के संग्रह से उसकी प्रतिलिपि खो गई है। परन्तु बाबा वंशीदास के पास उनके पदों का अच्छा संग्रह है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का १८वीं शताब्दी का ब्रजभाषा काव्य: पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूप रेखा

पीछे हम कह चुके हैं कि निम्बार्क सम्प्रदाय प्रारंभ में वैधी भक्ति का अनुयायी था। १६वीं शती में भक्ति के प्रेमावेश का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर भी पड़ने लगा। श्री भट्ट ने युगलशतक में राधा कृष्ण की लीला गान की परम्परा को सब से पहले इस सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया। परन्तु 'युगल शतक' के प्रामाणिक पाठ के अभाव'[1] में इस लीला गान का वास्तविक रूप निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। सत्रहवीं शती में परशुराम देवाचार्य की रचनाएँ, सगुण-निर्गुण दोनों परम्पराओं को आत्मसात् करने का प्रयास करती प्रतीत होती हैं। १८ वीं शती में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य बृन्दाबन देवाचार्य की रचनाएँ नित्य-विहार के अन्तर्गत किसी प्रकार भी परिगणनीय नही हैं। उनके गीतामृत गंगा की परम्परा गोपी-भाव एवं ब्रजलीला की है। प्रख्यात कवि घनानंद भी निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे, पर उनका काव्य भी मात्र युगलोपासना का ही नहीं है। लेकिन १८ वीं शती विक्रमी के अंतिम भाग तक पहुँचते-पहुँचते रूप रसिक देव जी ने इस सम्प्रदाय में विशुद्ध रूप से निकुंज-लीला गान की परम्परा स्थापित कर दी।

हमारे आलोच्य युग में काव्य-वैभव की दृष्टि से निम्बार्क-सम्प्रदाय यथेष्ट समृद्ध प्रतीत होता है। एक मात्र घनानंद ही किसी भी सम्प्रदाय के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। यों तो बृन्दाबन देव जी एवं रूप रसिक जी का काव्य भी कलात्मक दृष्टि से प्रसंशनीय है।

---

१. चतुर्थ अध्याय में निम्बार्क सम्प्रदाय में इसकी हमने विस्तार से चर्चा की है।—पृ० २४६—२५३

निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवि

श्री वृन्दावन देवाचार्य जी :

बृन्दाबन देव जी निम्बार्क-सम्प्रदाय की सलेमाबाद गद्दी पर (परशुराम जी का द्वार) संवत् १७५४ विक्रमी में ग्रारूढ़ हुए थे । इनके गुरू का नाम नारायण देव था । बृन्दावन देव जी ग्रपने समय के प्रभावशाली महापुरुषों में से थे। सांप्रदायिक लेखकों के ग्रनुसार वे गौड़ ब्राह्मण थे तथा सं० १७०० के लगभग निम्बार्क-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे।[1] उनका स्वर्गवास सं० १७९७ में हुग्रा था।[2]

ग्रामेर के राजा जयसिंह द्वितीय, बीकानेर नरेश राजसिंह तथा कृष्ण गढ़ का राजकुल इनके प्रभाव में था । कृष्णगढ़ राजकुल के ग्रनेक व्यक्ति इनके शिष्य एवम् भक्त हुए हैं। व्रजभाषा के कवि घनानंद भी उनके शिष्य थे। घनानंद ने उनकी प्रशंसा में भी लिखा है जो इस प्रकार है :

सदा कृष्ण-गुन-कथन-रत मत-मण्डन-जय-रूप ।
विमुखन ग्रण्डनि वचन वर-रचना तुंड ग्रनूप ।
दीन-सरन दायक करुन हरन ग्रखिल-दुख-दोष ।
ग्रब तिन पाट प्रसिद्ध जग करन जीव परितोष ।
बीस बिसे महिमा तिन्हें ताहि कोस है बीस,
सदा बसौ नीके लसौं कृपा ईस मो सीस ॥[3]

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि मडन ने इनका ग्रत्यंत श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। कृष्णगढ़ राज्य के चित्रागार से उनका एक चित्र प्राप्त हुग्रा है, जिस पर ग्रंकित निम्न पक्तियाँ उनके महिमाशाली व्यक्तित्व को ग्रभिव्यक्त करती हैं :

दिनकर लौं जगमग प्रताप जशजक्त ग्रखंडित ।
रस भाषा कविराज महा दिग्विजयी पंडित ।
ग्रति निभयो, ऐश्वर्य, भूप भये ग्राज्ञाकारी ।
ग्रन्त समय लौं परमधर्म मर्यादा फली ।
श्री निम्बादित्य पद्धति बहे हरिव्यास देव गादी स्थिति
श्री बृन्दाबन देव महान्त से दिग्गज भये न होंहि छिति ।[4]

बृन्दाबन देव जी में संगठन की भी भरपूर सामर्थ्य थी। कहते हैं कि शैव साधुग्रों

---

१. ब्रह्मचारी बिहारी शरण निम्बार्क माधुरी, पृ० १४३ ।

२. श्री सर्वेश्वर : बृन्दाबन धामांक, पृ० २२३ ;

३. घनानंद ग्रंथावली पृ० ६१० ।

४. निम्बार्क शोधमंडल बृन्दाबन में संगृहीत चित्र ।

से वैष्णवों की रक्षा करने के लिए रामानन्द सम्प्रदायानुगामी स्वामी बाला नन्द द्वारा जो सम्मेलन जयपुर में बुलाया गया था उसके संयोजकों में से एक आप भी थे एवं सम्वत् १७६१ के गालवाश्रम में बुलाये गए दूसरे सम्मेलन के वे अध्यक्ष भी थे।

रचनाएं :

बृन्दाबन जी की उपलब्ध रचना इस समय केवल 'गीतामृत गंगा' नाम का एक ग्रन्थ है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अन्य रचनाएं भी लिखी थीं परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं। 'गीतामृत गंगा' का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण, राधा एवं गोपियों की ब्रजलीलाओं का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने बता दिया है कि सच्चिदानन्द भगवान् रसरूप हैं तथा राधा उसी ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति हैं। वे एकाकी नहीं रहते, रमण करना ही उनका नित्य-धर्म है। अपनी रस-पोषक शक्ति के साथ भगवान् शृंगार रस के साक्षात् विग्रह हैं। इस रस में चर-अचर समस्त ब्रह्मांड को मोहित करने की शक्ति है। भागवत, गीत गोविन्द एवं अन्य रस-शास्त्रों को मथ करके इस गीतामृत रसगंगा का सृजन हुआ है।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभाजित है जिन्हें लेखक ने घाट कहा है। राधाकृष्ण जन्मोत्सव, पौगण्ड लीला गोरसदान लीला, कैशोर लीला, रास विलास, मान-लीला, दम्पति-रति लीला, खण्डिता वचन, वसन्त होली वर्णन, कृष्ण के नाम चरित-गुण-कीर्तन, कंसवध, तीर्थवर्णन क्रमशः प्रथम द्वादश घाटों में वर्णित हुए हैं। त्रयोदश घाट में भक्ति सम्बन्धी प्रकीर्णक पद हैं एवं चतुर्दश घाट में संगीत की राग-रागनियों के नाम गिनाये गए हैं। कृष्ण से सम्बन्धित इन लीलाओं का चित्रण होने पर भी ग्रन्थ में कथा-काव्य की प्रबन्धात्मकता नहीं है। ग्रंथ पूर्णतः मुक्तक काव्य है। रचना प्रधानतः पदों में हुई है परन्तु अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है। दोहे और सवैये प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। वात्सल्य, सख्य एवं शृंगार तीन मुख्य रसों का चित्रण हुआ है। ब्रजभाषा में होते हुए भी राजस्थानी, पंजाबी, मराठी एवं मैथिली शब्द भी मिल जाते हैं।

भाषा में जनप्रचलित मुहावरों का प्रयोग अच्छी तरह हुआ है। 'कूल्हरि में गुड़ फोड़ना', 'मान्यों तो देव न भीत को लेव', 'आंखिन गूद छयोजू' ऐसे ही सुन्दर मुहावरे हैं। संपूर्ण रचना में समतामूलक अलंकारों का प्राधान्य है। संगीत की दृष्टि से समस्त पद ८० राग-रागिनियों में विभक्त हैं। उनकी रचना के कतिपय उदाहरण निम्न हैं। प्रेम मार्ग के बारे में गोपियाँ कह रही हैं:—

---

१. गीतामृत गंगा, प्रथम घाट, पृ० १।

नेह निगोड़े को पैंड़ो ही न्यारो
जो कोइ होय के आंधौ चले,
सु लहै प्रियवस्तु चहूंधा उजारो।
सो तो इतै उत भूल्यो फिरें न लहैं कछु गो कोउ होय अंध्यारो।
'बृन्दाबन' सोइ याको पथिक है,
जा पैं कृपा करे कान्हर प्यारो।[1]

उपर्युक्त छन्द को पढ़ कर घनानन्द का प्रसिद्ध छन्द याद आ जाता है जिसमें उन्होंने कहा है "अति सूधो सनेह को मारग है जहं नेकु सयानप बांक नहीं" कृष्ण का रूप सौन्दर्य ऐसा है। गोपियों को अफसोस होता है कि आँखों को पंख क्यों नहीं मिले अन्यथा वे कृष्ण के कमलमुख के मकरन्द का भ्रमर के समान पान करतीं :

आँखिन पांखि दई न दई, किन
प्रीतम नलिन बदन मकरन्दहि मधुप ज्यों पीली आवति प्रतिदिन
क्यों हूं चैन परै दिन रैन सु मैन दहै तन कों छिन ही छिन।
बृन्दाबन प्रभु विरह कसाई मोहि करी जकरी बकरी इन।
(गीतामृत गंगा, चतुर्थ घाट, ७४)

'गीतामृतगंगा' में रीतिकालीन रचना-पद्धति का भी अच्छी तरह ग्रहण हुआ है।

बृजदासी :

बृजदासी का वास्तविक नाम बाँकावती था। कौमार्यावस्था का इनका एक नाम ब्रज कुवँरि भी कहा जाता है। ये लिवाण नरेश बांकावत आनन्दसिंह की पुत्री थीं। कृष्णगढ़ नरेश महाराजा राजसिंह से संवत् १७७६ में इनका विवाह हुआ था। श्रीमदभागवत का सरल एवं मधुर भाषा में इन्होंने पद्यबद्ध अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की एक प्रति गीताप्रेस गोरखपुर में भी सुरक्षित है। उसमें भागवत के ग्यारहवें स्कंध का अनुवाद नहीं है। शेष स्कन्धों का अनुवाद उसमें उपलब्ध होता है। यह प्रति सम्वत् १८८५ विक्रमी की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा एवं चौपाई छन्दों में लिखा गया है, कहीं-कहीं अन्य छन्द—कवित्त, सवैया तथा छप्पय—भी प्रयुक्त हुए हैं। अनुवाद एकदम शाब्दिक न होकर भावपरक भी है। मूलग्रन्थ की उलझाने वाली गुत्थियों को भी अपने ढंग से बृजदासी जी ने सुलझाने का प्रयास किया है। मूल-

---

१. गीतामृत गंगा, ४।७०।

ग्रन्थ के एकाधिक शब्द संकेत को पकड़ कर उन्होंने जिस प्रकार कलात्मक ढंग से चित्रित किया है वह उनकी रचना-क्षमता तथा कल्पना शक्ति का द्योतक है। उदाहरणार्थ भागवत में रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत कहा गया है :

निशम्य गीतं तदनंगवर्द्धनं
ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः
आजग्मुरन्योन्य मलक्षितोद्यमाः
स यत्र कांतो जवलोलकुंडलाः ।।

पर यहां एक समस्या रह जाती है कि ब्रज स्त्रियाँ ही क्यों कृष्ण के पास दौड़कर गई थी। ब्रजपुरुष क्यों नहीं ? ब्रजदासी जी ने अपने अनुवाद में इस गुत्थी को खोलना चाहा था। इस अंश का अनुवाद करते हुए उन्होंने लिखा है:

सो मुरली को सबद सुढार, सुनति भई गोपीं ता बार।
सबद सुन्यों नहि ग्वालेन वाहीं, सुनें न रहते वे गृह-मांही ।।
चले आवते प्रभु के पास, तौ मिट जातो रंग-विलास ।।

इस प्रकार ब्रजदासी जी का उत्तर है कि गोपों ने इस ध्वनि को सुना ही नहीं था। सुना इसलिए न था कि वे भी दौड़ आते और फिर रासरंग में विघ्न पड़ जाता।

इसके बाद इन गृहीत मानस गोपियों के कृष्ण के पास जाने का हृदय-ग्राही चित्रण हमारे सन्मुख एक बिम्ब उपस्थित कर देता है:

सुनि मोहित ह्वै जब ब्रजबाला, छिप-छिप इक-इक चली सुचाला।
दौरत उछरत अंचर-हारा, किंकिन, नूपुर बजत सुढ़ारा ।।
स्रबंनत (श्रवनत) कुंडल-हलंत सुहाई, अलक कपोलन पै घुटि छाई।
जिन-मन कृष्ण कुमंर हरि लीन्हों, गोपिन-हृदै ध्यान निज दीनों ।।

तथा

ज्यों सरिता, सांवन उंमड़ाहीं, किहुं सों रोकी रहति जुनाहीं।
कहुं के कहूं आमरनं पैहरें, तिन्ह की सुधि न कछु चित धरें ।।
पोंहची प्रभु के निकटहि जाइ, गोपी महामोद मन पाइ।
तबै जोग-माया सब भूषन, जदा-जोग किय ठीक सु तंन तंन।

दूसरा अंश मूल भागवत के व्यत्यस्तवस्त्राभरणः की कहीं अधिक विशद

एवं मनोहर व्याख्या है। इस प्रकार अवसर पाते ही व्रजदासी जी की रचना-शक्ति जाग्रत हो उठती है। वे अनुवाद की अपेक्षा सूरदास एवं नन्ददास की परम्परा में मौलिक सृजन करने वाली प्रतीत होती है। इस प्रकार का मुक्त अनुवाद (Free Translation) अपने आप में रचना है और आज के बहुत से अनुवादकों के लिए सिद्धान्त भी है और चुनौती भी।

घनानन्द :

नवीन खोजों के आधार पर घनानन्द का जन्म सम्वत् १७४० एवं मृत्यु सम्वत् १८१७ के आसपास स्वीकार किया गया है।[1] वे जाति के भटनागर कायस्थ थे तथा मोहम्मद शाह के दरबार में मीर मुंशी के पद पर आसीन थे। संगीत पर इनका अच्छा अधिकार था। कहते हैं कि एक बार स्वयं बादशाह के कहने पर इन्होंने गाना अस्वीकार कर दिया था परन्तु अपनी प्रेमिका सुजान नामक दरबार की वेश्या के अनुरोध पर तत्काल अपनी कला का प्रदर्शन कर दिया था। बादशाह ने इसे अपना अपमान समझकर उन्हें दिल्ली से निष्कासन का दण्ड दे दिया। प्रेमी घनानन्द ने चाहा कि सुजान भी साथ चले परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। निराश प्रेमी घनान्द विरक्त होकर वृन्दावन चले आये और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। लौकिक प्रेम को उनकी रचना शक्ति ने उदात्त बनाकर अलौकिकता की ओर मोड़ दिया। सुजान वेश्या के स्थान पर वे सुजान 'प्रिया-प्रियतम' के मुरीद हो गये।

भक्तिमार्ग में निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत सलेमाबाद पीठ के आचार्य बृन्दाबन देव के वे शिष्य थे।

रचनाएँ :

घनानन्द की ४० रचनाओं का संग्रह 'घनानन्द ग्रन्थावली' के नाम से सम्वत् २००९ में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में रचना स्तर के दो स्पष्ट अंतर देखे जा सकते हैं। रचनाओं का प्रथम स्तर वह है जिसमें कि इन्होंने या तो वैयक्तिक, स्वच्छंदतावादी (रौमैण्टिक) प्रेम की लाक्षणिक व्यंजनाएँ की हैं अथवा राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का रस निर्भर गान किया है। रचना का दूसरा स्तर अपेक्षाकृत उन निबंध रचनाओं का है जिनमें उन्होंने भक्ति-सिद्धान्तों एवं संप्रदाय के नियमों का पद्य-बद्ध वर्णन किया है। 'घनानन्द ग्रन्थावली' में निम्नलिखित ४० ग्रन्थों का संग्रह

---

१. डॉ० मनोहर लाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छन्द काव्यधारा, पृष्ठ २१-२७।

किया गया है :

(१) सुजान हित (२) कृपाकंद (३) वियोगिबेलि (४) इश्क लता (५) यमुनायश (६) प्रीति पावस (७) प्रेम प्रत्रिका (८) प्रेम सरोवर (९) व्रज विलास (१०) सरस बसंत (११) अनुभव चन्द्रिका (१२) रंग बधाई (१३) प्रेम पद्धति (१४) व्रजभानु पुर सुषमा वर्णन (१५) गोकुल गीत (१६) नाम माधुरी (१७) गिरि पूजन (१८) विचार सार (१९) दान घटा (२०) भावना प्रकाश (२१) कृष्ण कौमुदी (२२) धाम चमत्कार (२३) प्रिया प्रसाद (२४) बृन्दावन मुद्रा (२५) व्रज स्वरूप (२६) गोकुल चरित्र (२७) प्रेम पहेली (२८) रसनायश (२९) गोकुल विनोद (३०) व्रज प्रसाद (३१) मुरलिका मोद (३२) मनोरथ मंजरी (३३) व्रज व्यौहार (३४) गिरिगाथा (३५) पदावली (३६) परिशिष्ट (३७) त्रिभंगी छन्द (३८) छन्दाष्टक (३९) प्रकीर्णक (४०)परम हंस वंशावली।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि घनानन्द व्रजभाषा के श्रेष्ठतम कवियों में हैं। अपनी लाक्षणिक एवं खरादी हुई व्रजभाषा, छन्दों की चमक, अलंकारों के वैविध्यपूर्ण एवं उपयुक्त प्रयोग, प्रेम भाव की स्वच्छन्द व्यंजना आदि के कारण वे हिन्दी के प्रमुख कवि गिने जाते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन वाले अध्याय में, हम उनकी रचनावादिता का उपयोग करेंगे। दो एक उदाहरण केवल बानगी के तौर पर लें :

रूप के भारनि होति है सौहीं लजौं हियँ दीठि सुजान यों भूली।
लागियै जाति, न लागी कहूं निसि, पागी तहीं पलकौंमति भूली।
बैठियै जू हिय पैठति आजु कहां उपमा कहियै समतूली।
आये हो भोर भये घन आनंद आंखित मांझ तौ सांझ सी फूली।

—सुजान हित, २३

विरहिणी का यह मार्मिक कथन भी दृष्टव्य है :

इत बांट परी सुधि, रावरे भूलनि कैसें उराहनों दीजियै जू।
अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।
घन आनंद जीवन-प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्है चाड़ कहां पै असीस हमारियौ लीजियै जू।

रूप रसिक देव :

निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायियों के अनुसार रूप रसिक देव का समय १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। परन्तु अन्य जन इन्हें १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में मानते हैं। 'लीला विंशति' का रचना-काल बताने वाला संवत् 'पन्द्रह से सत्ता-

सिया एवं 'सवत् सत्तरा से सत्तासिया'[1] का द्वन्द्व ही उस मत वैभिन्न्य के मूल में है। इधर हमें जो प्राचीन पोथियों के पूर्वग्रहरहित प्रमाण मिले हैं वे यह सूचित करते हैं कि रूप रसिक देव १८ वीं शती के अंतिम भाग एवं १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। यही नहीं उन्हें महावाणी प्रकट करने वाला भी कहा गया है।

ललित संप्रदाय के महात्मा वंशी अलि के शिष्य किशोरी अलि की बानी की एक प्रति हमें वृन्दावन में अनायास ही उपलब्ध हो गई है। प्रति खंडित है उसके अंत के ही नहीं बीच-बीच के पृष्ठ भी खो गये हैं, पर कागज़, लिखावट एवं प्रति की जर्जर स्थिति उसे १६ वीं शती (विक्रमीय) से बाद का नहीं सिद्ध करती। इस सम्बन्व में यह भी ध्यान में रखना है कि प्रस्तुत वाणी किसी सांप्रदायिक विवाद से सम्बन्धित नहीं है। किशोरी अलि जी वि० की १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध महात्मा थे। वे वृन्दावन के तत्कालीन संतों में समादृत थे। प्रस्तुत प्रति में उनकी रचनाएँ (बानी) तो संकलित हैं ही, उनके बारे में लिखे गए समकालीनों के प्रशंसामूलक छन्द भी संकलित हैं तथा प्रसिद्ध राधावल्लभीय गोस्वामी चन्दलाल (संवत् १८२५ के लगभग) के साथ उनके पत्र-व्यवहार का भी संग्रह किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित न होकर एक प्रसिद्ध महात्मा के महत्त्व-स्थापन का प्रयास है जो मध्यकाल में विरल नहीं है। इस प्रति में २०८ अंतिम पृष्ठ है पर बीच-बीच में कुछ अन्य पृष्ठ खो गये हैं। इसमें एक स्थान पर हरिदास, हरिराम व्यास, ललित किशोरी आदि की प्रशंसा करते हुए रूप रसिक जी के बारे में कहा गया है :

रूप रसिक से रूप रसिकवर
दिव्य महाबानी रस सानी प्रकट करन प्रकटे अवनी पर।
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिबे इनकी कोउ न सरवर।
उमड़ि घुमड़ि हिय भाव घटा सों बरसत नित प्रति आनंद को झट।
गौर स्याम के रंग झकोरे कोरे जो आये नारी नर।
नैननि की सैननि सों अलि कों दरसायो नवकेलि कुंज घर।

इस पद की अंतिम पंक्ति से ऐसा लगता है कि किशोरी अलि को रसरहस्य का कुछ संकेत भी रूप रसिक जी ने दिया था।

इसी प्रकार पृ० १६१ पर गो० चन्दलाल जी के पत्र में भी उन्हें याद किया गया है :

---

१. पंदरा सै सत्यासिया, मासोत्तम आसोज।
यह प्रबंध पूरन भयो शुकला शुभ दिन द्योग ॥
—लीला विंशति, बृन्दाबन माधुरी, ८२।

रूप रसिक जन कृपा सों होत सकल मन काज।
प्रीति सहित बंदित रहौं तिनकौं मेरी लाज।

इस पत्र के उत्तर में श्री जगन्नाथ भट्ट (किशोरी अलि) ने जो उत्तर लिखा (पृ० १८३) उसमें भी रूप रसिक जी तक संदेश पहुंचाने एवं उत्तर में उनकी प्रणति लिखी है :

रूप रसिक जी सों कही श्री राधावल्लभलाल।
उनहू सुनि हिय हुलसि कै प्रणति करी तिहि काल।

ऐसा लगता है कि गो० चन्दलाल जी एवं रूप रसिक जी में प्रत्यक्ष पत्र-व्यवहार की घनिष्ठता नहीं थी पर पारस्परिक समादर का भाव विद्यमान था एवं किशोरी अलि के माध्यम से ही एक दूसरे को प्रीति पहुँचाते थे। पृ० १८४ पर इसका स्पष्ट संकेत है। गो० चन्द लाल जी के पत्र में कहा गया है :

रूप रसिक जू सौं वहां कहियौ अमित प्रणाम।
उनकौं पत्री आप हौ करिहौ सब विधि काम।

इसी प्रकार पृ० १८६ पर की गद्य की पत्री में कहा है—"श्री रूप रसिक जी कौ बड़ी पत्री आप हौ।"

इन सभी पत्रों पर तिथियाँ तो नहीं पड़ीं, पर पृ० १९० पर चन्दलाल जी के शिष्य रतन लाल ने जगन्नाथ भट्ट को जो पत्र लिखा है, उसमें तिथि एवं सम्वत् का इस प्रकार उल्लेख हुआ है :—"मिती असाढ़ शुक्ल पक्ष ७ सप्तमी सम्वत् १८३१ में लिखी।" इस प्रकार अधिकांश पत्र सं० १८२५ के आसपास के माने जा सकते हैं। इन पत्रों आदि के आधार पर इस समय तक रूप रसिक जी का विद्यमान होना सिद्ध होता है। इस काल तक उन्हें महावाणीकार एवं रस-रहस्य के ज्ञाता के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि भी मिल चुकी थी। अतः सम्वत् १७८७ के लगभग रचना नितांत संभव है।

इस हस्तलिखित प्रति से रूप रसिक जी के पुत्र एवं कृपापात्रों का भी परिचय मिलता है। किशोरी अलि जी की प्रशंसा में जिनके स्तुतिमूलक प्रशंसा-परक छन्द एकत्र किये गये हैं, उनमें रूप रसिक जी के पुत्र हरिजन दास जी द्वारा लिखे गए बधाई के पद पृ० १४३ एवं १४४ पर संगृहीत हैं एवं रूप रसिक जी के कृपा पात्र 'गोपाल दास' के पद पृ० १४५-१४६ में संकलित हैं। इससे भी उनका समय वि० की १८ वीं शती का उत्तरार्ध ही सूचित होता है।

अस्तु, इस प्रति के आधार पर भी हमारा पूर्व अनुमान सत्य ही सिद्ध

होता है कि रूप रसिक जी का रचना काल १८ वीं शती है एवं इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद हरिव्यास देव का समय १७ वीं शताब्दी के मध्य भाग से पहले नहीं खींचा जा सकता।

रचनाएँ :

निम्बार्क संप्रदाय में रूप रसिक देव जी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संप्रदाय में रसोपासना की व्यवस्थित परिपाटी इन्हीं से प्रारम्भ होती है। कहते हैं कि हरि व्यास देव जी ने उन्हें स्वप्न में महाबानी प्रदान की थी तथा श्री भट्ट जी के युगल शतक का संपादन भी उन्होंने किया था। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिखे चार ग्रन्थ और बताये जाते हैं।

(१) हरिव्यास यशामृत सागर
(२) नित्यविहार पदावली
(३) लीला विंशति
(४) वृहदोत्सव मणिमाल

(१) हरिव्यास यशामृत सागर :

यह रूप रसिक देव जी की प्रारम्भिक कृति माना जाता है।[1] हमारा मत है कि महावाणी उनकी प्रथम रचना है। यशामृत सागर में महावाणी की अलौकिक अवतारणा का प्रसंग २१ बार आया है।[2] यह बात ही हमारे मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अस्तु, हरिव्यास यशामृत सागर में हरिव्यासदेव जी की कीर्ति का विशद गान हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस लहरियों में पूरा हुआ है। हरिव्यासदेव जी के चरित्र के अतिरिक्त रसिक-साधना के सैद्धान्तिक पक्ष की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। जीवन के नैतिक-व्यावहारिक पक्ष का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थ का प्रकाशन वृन्दावन से हो चुका है।

(२) लीला विंशति :

इनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ है। इसे रूप रसिक देव जी की बानी भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मंजरी, विलास, माधुरी एवं सुख इन चार विभागों में विभक्त है एवं प्रत्येक विभाग में पाँच-पाँच उपविभाग हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ रचना एवं सिद्धांत दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। प्रौढ़ता, परिपक्वता की दृष्टि से इसे कवि का अंतिम ग्रन्थ मानने में संकोच न होना चाहिए। बीसों लीलाओं के नाम विभागानुसार इस प्रकार हैं :

१. डॉ० नारायणदत्त शर्मा : नि० सं० कृ० भ० हि० कं०, पृ० ३२५।
२. वही, पृ० ३२६।

१. शिक्षामंजरी २. रस मंजरी ३. रसिक मंजरी ४. तरंग मंजरी ५. प्रेम रस ६. नव विलास ७. भावना विलास ८. नित्य विलास ६. रास रति विलास १०. फूल विलास ११. नामावलि माधुरी १२. माधुर्य माधुरी १३. वृन्दाबन माधुरी १४. सिद्धांत माधुरी १५. हरिभक्ति माधुरी १६. सार सुख १७. सगेह सुख १८. सरूप सुख १६. सुहाग सुख २०. होरी सुख

लीला विंशति में निकुंज लीला और उसकी विधायक साधना-पद्धति का सांगोपांग, विशद एवं मनोहर वर्णन उपस्थित किया गया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय की नित्य विहार-उपासना का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रकाशन बाबा माधुरी दास ने वृन्दावन से सं० २०१५ में कर दिया है।

(३) वृहदोत्सव मणिमाल :

संप्रदाय के विविध उतसवों में गाये जाने वाले पदों का संग्रह है। वसन्त होली, फूल डोल, राम नवमी, अक्षय तृतीया, जानकी नवमी, नरसिंह जन्मोत्सव, जलयात्रा, हिंडोलोत्सव, वामन द्वादशी, रास महोत्सव, दीप मालिका, गोवर्द्धन पूजा, राधाकृष्ण विवाहोत्सव, आदि के अवसरों पर गाने के लिए इसमें पद संकलित हैं। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही है।

(४) नित्य विहारपदावली :

निकुंज रस के फुटकर पदों का संकलन है। निम्बार्क शोध मंडल वृन्दावन की प्रति में ७२ पद हैं। श्यामा-श्याम की एकान्त रसात्मक लीलाओं का भावपूर्ण चित्रण इन पदों में किया गया है। लीला विंशति के साथ ही इन पदों का भी प्रकाशन हो गया है।

रूप रसिक देव अच्छे कवियों में हैं। भाषा उनकी सरल, सहज एवं प्रसाद गुण पूर्ण ब्रजभाषा है जिसमें यत्र-तत्र राजस्थानी एवं पंजाबी शब्दों का भी मिश्रण प्राप्त हो जाता है। परन्तु कथन के ढंग में वक्रता कभी-कभी रीतिकालीन अभिव्यंजना की याद दिलाती है। दोहा उनका सबसे प्रिय छन्द है, साथ ही अरिल्ल, सवैया एवं अनुरूप छन्दों के साथ भक्तिकाल की पद शैली एवं पंजाबी मांझ भी उन्होंने अपनाए हैं। पदों आदि पर राग-रागिनियों का संकेत भी मिलता है। यह कहना कठिन है कि ये संकेत स्वयं उनके द्वारा दिये गए हैं या परवर्ती हैं। नायिका के सात्विक भाव की यह झलक देखिये :

अनोखे बेनी गूथनहार।
लागे नीर चुचान पुलक तन नीठि सुखाये बार।[1]

१. नित्य विहार पदावली, पृ० ७२, संख्या ४०।

विहारी का ठीक इसी भाव को व्यक्त करने वाला दोहा इसे पढ़कर सहज ही याद हो आता है। प्रिया की यह लीला भी दृष्टव्य है :

रमकि रमकि रस में सनी, झमकि झमकि झमकाति।
चमकि चमकि चपलानि सी, दमकि दमकि दमकाति।[1]

यह रूपक भी उनकी काव्यकला का नमूना है :

सहज दोउ सुख के सिन्धु सरीर।
स्यामा स्याम स्वरूप उजागर नागर गुन गंभीर।
अंग अंग उठत तरंग रुचि उमंग नेह नव तीर।
रूप रसिक जन अंचवत है नित, सुरस सुधा की सीर।[2]

नेत्रों का यह अलसाया सौन्दर्य भी देखिये :

उनींदे नैन मैन रंग मीनें सलज हंसोहीं सैनं।
रतनारे कारे सु ढरारे अति अनियारे ऐंन।
झपकौने दौनेंरस कैसे सहज सलौंने मन हरि लैंन।
रूप रसिक राग रंगे सुहागे अनुरागे नैंन॥

—नि० वि० पदावली, १७

श्री गोविन्द देव :

आप श्री वृन्दाबन देवाचार्य के शिष्य थे और जयराम शेष के साथ होने वाले झगड़े के अनन्तर संवत् १८०० में सलेमाबाद पीठ पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आपका गोलोकवास संवत् १८१४ में हो गया था।

ऐसा लगता है कि गोविन्द देव जी में राजनैतिक कुशलता अधिक थी, इसी कारण 'जयराम शेष', जैसे विद्वान् को ये आचार्य पद से हटा सकने में समर्थ हो सके थे। उनकी रचनाकुशलता का प्रमाण हमें विशेष रूप से उपलब्ध नहीं होता। उनकी रचना 'जयति चतुर्दश' में विभिन्न पूज्य एवं सेव्य जनों का गुणगान किया गया है। पर रचना साम्प्रदायिक गंध से भरपूर है। 'गुरु परम्परा जयति' में चैतन्य महाप्रभु एवं नित्यानंद स्वामी को केशव काश्मीरी भट्ट का शिष्य गिना दिया गया है। ब्रह्मचारी बिहारी शरण ने इनका रचनाकाल १०० वर्ष पहले खींच कर संवत् १६७० के आसपास बताया है[3] जबकि संवत् १७७०

---

१. लीला विंशति : माधुर्य माधुरी सं० २०, पृ० २५।
२. नित्य विहार पदावली १२।
३. ब्रह्मचारी बिहारीशरण : निम्बार्क माधुरी, पृ० १६६।

के ग्रासपास रचनाकाल स्वीकार करना ही तर्कसंगत होगा। उनके 'राधिका जयति' वाले ग्रंश की कतिपय पंक्तियाँ रचना के उदाहरणस्वरूप उपस्थित की जा रही हैं :

जयति नव नागरी रूप गुण ग्रागरी, कृष्ण सुख सागरी महोदारा।
जयति श्री स्वामिनी, महा अभिरामिनी, देह द्रुति दामिनी छवि ग्रपारा।
जयति ग्राह्लादिनी, प्रान प्रियावादिनी, प्रेम उत्पादिनी कृष्ण मित्रा।
जयति पिय बस करी, भरी रति रंग सहचरी, ग्रमित रानी विचित्रा।
जयति नव नायिका, कृष्ण रस दायिका, प्राणप्रिय गोपिका, ग्रति नवीना।
जयति नव भामिनी, महा कल कामिनी, ब्रजेश्वर नामिनी पिय ग्रधीना।

'श्री युगल रस माधुरी' काव्य-सम्पदा की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठतर रचना है। इसमें उपासना का भाव नित्य विहार-रस के ग्रनुकूल पूर्णरूपेण प्रस्फुटित दिखायी देता है। समतामूलक ग्रलंकारों का इसमें बहुत ग्रधिक उपयोग किया गया है। कुछ उदाहरण लें :

प्रीतम सुन्दरस्याम प्रिया छवि फबी गुराई।
मनु सिंगार रस संग सिंगार किय सुन्दरताई।
(गोविन्द देव नि० मा०, पृ० १७१)

दीपसिखा सी नाक मुक्त पर मुख ढिग डोलैं।
मनहुँ चन्द की गोद चन्द को कुंवर कलोलैं॥
उरसि उरवसी मध्य ग्ररुण नग यों छवि छाजत।
तिय हिय को ग्रनुराग विदित जनु बाहर राजत॥
(वही, पृ० १७२)

१८वीं शती में बल्लभ संप्रदाय का ब्रजभाषा काव्य : पृष्ठ भूमि ग्रौर संक्षिप्त रूपरेखा

१८ वीं शती तक ग्राते-ग्राते पुष्टिमार्ग का प्रारंभिक ग्रावेग मद्धिम पड़ गया था। ऐसा लगता है कि ग्रष्टछाप के कवियों के ग्रश्वत्थ रूप के तले ग्रन्य प्रतिभाएं या तो विकसित ही नहीं हो सकीं या फिर उस विराटता के ग्रातंक के नीचे बौनी ही रह गयीं। समीक्षकों एवं शोधकों का ध्यान भी उसी काव्य-वैभव के

द्वारा आकर्षित कर लिया जाता है। हम अपनी शोध के आधार पर कतिपय कवियों के नाम और परिचय उद्धृत तो कर रहे हैं, परन्तु उनकी रचनाओं की सूची पढ़ने से ही यह पता लग जाता है कि पूर्व-पुरुषों की कीर्ति को वार्ता साहित्य के माध्यम से ही वे उपस्थित करके अपने को गौरवान्वित कर रहे थे। सृजन की नयी शक्ति के दर्शन उनमें कम होते हैं। चिन्तन एवं सिद्धांत-निरूपण की दृष्टि से गो० हरिराय जी एवं श्री गोपेश्वर महाराज महत्त्वपूर्ण अवश्य हुए हैं, परन्तु जहाँ तक रचनात्मक क्षमता का प्रश्न है वह कतिपय स्फुट पदों, बधाइयों अथवा श्यामा-श्याम की. बहु-चर्चित एवं चित्रित लीलाओं तक ही सीमित है।

१८ वीं शताब्दी की वल्लभ-संप्रदायान्तर्गत लिखी जाने वाली रचनाओं से एक अन्य तथ्य का भी पता लगता है कि इस काल में सखी भाव वाले रसिक सम्प्रदायों का महत्त्व बढ़ गया था, तथा वल्लभ-सम्प्रदाय भी युगलोपासना को पूरी तरह अपनाता दिखायी पड़ता है। युगलोपासना की प्रवृत्ति हमें अष्टछाप में ही दृष्टिगोचर होने लगी थी, वह इस युग तक आकर प्रौढ़ एवं परिपक्व हो जाती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के कवि

गो० हरिराय जी :

गो० हरिराय जी गोकुलनाथ जी के बाद पुष्टिमार्ग के श्रेष्ठतम आचार्य हुए हैं। ये गो० विट्ठलनाथ के प्रपौत्र थे तथा पिता का नाम कल्याण राय था। कल्याण राय जी स्वयं बड़े विद्वान और लेखक थे। हरिराय जी का जन्म संवत् १६४७ है एवं मृत्यु काल सं० १७७२ वे संस्कृत, गुजराती तथा ब्रजभाषा के अच्छे विद्वान थे। वल्लभ एवं गोकुलनाथ की तरह उन्हें भी महाप्रभु या प्रभुचरण की पदवी दी जाती है। रसिक, रसिकराय, हरिधन, हरिदास आदि अनेक नामों से इन्होंने संस्कृत, ब्रजभाषा एवं गुजराती में भक्ति-सम्बन्धी साहित्य की रचना की है। औरगंज़ेब के युग में जब श्री नाथ जी के विग्रह को उदयपुर ले जाया गया था, तब वे भी साथ गये थे। हरिराय जी के निम्नलिखित ग्रन्थ ब्रजभाषा में रचित कहे जाते हैं :

(१) नित्य लीला (२) स्नेह लीला (३) गोवर्द्धन लीला (४) चिंतन प्रकार (५) चरण चिह्न (६) दामोदर लीला (७) बन यात्रा (८) नवरात्रि (९) पुष्टि दृढाव (गद्य) (१०) दानलीला (११) होरी भावना (१२) यमुना जी के घोल पद (१३) बालकन कौ स्वरूप (१४) श्री गोकुलेश के रास के प्रसंग (१५) श्री गोकुलनाथ जी के बैठक-चरित्र (१६) श्री नाथ जी चरण चौकी के चरित्र (१७ भाषा शिक्षा पत्र गद्य (१८) अनेक वार्ताओं के भाव प्रकाश वाली टीकाएँ (गद्य) (१९) श्री नाथ जी की प्राकट्यवार्ता (२०) श्री महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता

इनके अतिरिक्त १०४ से ऊपर संस्कृत के छोटे-बड़े ग्रन्थों, टीकाओं, वृत्तियों आदि का उल्लेख कंठमणिशास्त्री ने 'वल्लभीय सुधा' (वर्ष ६, अंक २, पृ० १८-१६) में किया है। उनके कुछ पद कीर्तन संग्रहों में बिखरे पड़े हैं। कीर्तन-संग्रहों से ही हम उनके दो पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं। ये पद अधिकांशतः सिद्धांत-संबन्धी हैं। गो० हरिराय जी का स्थान संप्रदाय के इतिहास में सिद्धांत-निरूपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने वल्लभाचार्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों की पुनर्व्याख्या की है। इस व्याख्या में उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय को युगलोपासना की ओर मोड़ने का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यों तो युगल-उपासना के पद हमें अष्टछाप के कवियों में ही मिल जाते हैं, पर सखी-भाव को पूरी प्रतिष्ठा गो० हरिराय जी ने ही दी है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गोपी-भाव का उन्होंने तिरस्कार किया है। निम्न पद में उन्होंने गद्गद् कंठ से गोपियों के सौभाग्य का ही गुणगान किया है :

परम रस पायो ब्रज की नारि।
जो रस ब्रह्मादिक को दुर्लभ सो रस दियो मुरारि।
दरशन सुख नैनन को दीनों रसना को गुन गान।
बचन सुगन श्रवनन को दीनों बदन अधर रसपान।
आलिंगन दीनों सब आंगन भुवन दियो भुजबन्ध।
दीनी चरम विविध गति रस की नासा को सुख गंध।
दियो काम सुख भोग परम फल त्वचा रोम आनंद।
ढिग बैठिबो नित बन ले उछंग नंद नंद।
मन को दियो सदा रस भावन सुख समूह की खान।
'रसिक' चरन ब्रज-जुवतिन ही अति दुर्लभ जिय जान।

—कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० १५०-१५१।

हमारे साहित्य को हरिराय जी की सर्वोत्तम देन वार्ता साहित्य है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का संकलन-सम्पादन उन्हीं का किया हुआ है तथा उन पर 'भाव प्रकाश' टिप्पणी भी गो० हरिराय जी की ही है।

हमें ज्ञात हुआ है कि इधर गो० हरिराय जी के पद बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, पर दुर्भाग्यवश वे हमें देखने को नहीं मिल सके। उनके अद्यावधि उपलब्ध पदों के आधार पर हमें यह विश्वास है कि इन पदों का समुचित विश्लेषण एवं मूल्यांकन भविष्य में कवित्व की दृष्टि से भी उन्हें महत्त्वपूर्ण सिद्ध करेगा।

श्री जगन्नाथ कविराय :

श्री गोस्वामी विट्ठल नाथ के दौहित्र थे। इनकी माँ यमुना जी विट्ठलनाथ जी की चौथी पुत्री थीं। इस प्रकार इनका उपस्थिति-काल १७ वीं शती का अंतिम एवं १८ वीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। संस्कृत में इनका 'गंगालहरी' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ब्रजभाषा के कुछ पद कीर्तन संग्रहों में उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ एक पद यह है :

कान्ह रस मीनी ग्वालिनी और गौरस तजि कुल कान।
ना घर में ना अंगना वाको मन जो लाज के पान।
जोवन रूप, रिझोते नैननि में, वाकी परी चितवन की वान।
डफ मुरली सुनि गई कोर तजि, पानी के उत्तर ठान।
खेलत मोहन गहि काजर दै, हंसी पीत पट तान।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु सों, फाग खेलत खिलरान।

—कीर्तन संग्रह, भाग २, पृ० १३४-१३५।

कवित्व की दृष्टि से यह पद अष्टछाप की परम्परा में होने के साथ ही रसात्मक भी है।

श्री गिरधर जी (तृतीय घर) :

सम्वत् १६६२ जन्म संवत् है। इनके ६ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से तीन गद्य ग्रन्थ हैं।

(१) सर्वोत्तम बधाई (२) सर्वोत्तम के पद (३) स्फुट कीर्तन (पद्य) (४) तृतीय गृह की उत्सव मालिका (५) शरणमंत्र व्याख्या (६) सज्ञानपट को ख्याल (गद्य)।

जीवन के विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। तीनों काव्य-ग्रन्थ भी वस्तुतः स्फुट पद ही हैं। यत्र-तत्र कीर्तन संग्रहों में इन पदों को देखा जा सकता है। अलग से कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया है। एक उदाहरण लें :

एक अली भुज गहे एक पटका झकझोरे।
एक धरे हरी दसे एक मुख सों मुख जोरे।
एक कहे री छांड़िये कहिये गरम दुभाय।
एकन बातन लाय लाल की मुरली लई छिनाय।
छूटन पाओ तबे देवी फगुआ मनमान्यो।
रंगरंग वसन मंगाय दियो जाहि जैसी ही बान्यो।

एक नयन की सैन दे एक नतन मुसिक्याय ।
एक आको मर लें चले हरी सबको भलो मनाय ।
नाना भोग विलास रास बृन्दाबन कीनों ।
हरखी वल्लभी नारि परम सुख सबको दीनों ।
मदन लजानों देख कें कमल नयन की केलि ।
गिरधर पिय आये घरे सब सुख सागर झेलि ।

—कीर्तन संग्रह, भाग २, १४४ ।

उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का परिनिष्ठित रूप या प्रवाह उपलब्ध नहीं होता । ऐसा लगता है कि यह ब्रजभाषा-भाषी की रचना नहीं है ।

श्री ब्रज भूषणजी (कांकरौली) :

आपका जन्म १७६५ ई० में हुआ था । १८ वीं शती का उत्तरार्द्ध उनका रचनाकाल रहा है । आपके संस्कृत के भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । (१)स्फुट रचना (२) लित्य विनोद (गद्य) (३) नीति विनोद (४) श्याम श्यामा लीला (५) दान लीला (६) साँझी (७) श्री द्वारिकाधीश की प्राकट्य वार्ता (८) श्री महाप्रभु जी श्री गुंसाई जी को चरित्र इनमें से काव्य-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रथम, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ ही हैं नीचे हम उनका रचित एक स्फुट पद दे रहे हैं :—

आज बने सखी दूल्हे श्री द्वारकानाथ ।
रतन जटित को शीश सेहरो कंचन पंहोंची हाथ ।
अंग-अंग पीत अमित माधुरी शोभा बरनी न जाय ।
श्री ब्रजभूषण चरण शरण गहे जा दिन किये सनाथ ।

—कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० १३०-१३१ ।

ये समस्त संप्रदाय की लीला-भावना के अनुरूप ही हैं । इसी कारण अष्टछाप की स्पष्ट छाप इन कवियों पर उपलब्ध होती है । ब्रजभूषण जी के पदों में भी लीला-सम्बन्धी नवीनता का अभाव है । परन्तु कवित्व की शक्ति भी उनमें बहुत प्राप्त नहीं होती है । लीलाओं का उन्होंने वर्णन किया है, चित्रण नहीं जबकि काव्य की परिपाटी चित्रण की होती है ।

---

१. द्वारकादास परीख : पुष्टिमार्गीय ब्रजभाषा के कवियों की ग्रंथ सूची: वल्लभीय सुधा पत्रिका, वर्ष ६ अंक २ (सं० २०११-१२), पृ० २४।

श्री द्वारिकेश जी (पंचमगृह) :

इनका जन्म सम्वत् १७५१ में एवं सम्वत् १८०० के आसपास मृत्यु हुई थी। निम्नलिखित ग्रन्थ आपके लिखे बताये जाते हैं :

(१) पद्योपदेश (२) मूल पुरुष (३) अष्टसखान के दोहा (भाव संग्रह) (४) नित्यलीला (५) श्री आचार्य जी का जन्म (६) श्री नाथ जी आदि सात स्वरूप की भावना (७) धनुमति भावना (८) उत्सव भावना (९) फुटकर रचना (१०) यमुना नाम टीका (११) शिक्षा श्लोक टीका का अनुवाद (१२) भगवदीय गुण मणिमाला।

इनकी रचना गुजराती एवं संस्कृत में भी उपलब्ध है। व्रजभाषा के पद कीर्तन-संग्रहों में भी मिल जाते हैं।

जेंवत श्री बृषभानु नंदिनी कान्ह कुंवर की परछांई
जोइ सोइ व्यंजन भावत रुचि सों सोइ-सोइ सब ललिता ले आई।
हित सों जिमावत मोहन प्यारौ, मधु मेवा पकवान मिठाई।
अति अनुराग बढ्यो जु परस्पर, द्वारकेश तहां बलि बलि जाई।
(कीर्तन संग्रह भाग ३, पृ० १०३)

आप पंचम गृह कामवन के अधिपति थे। यह पद युगलोपासना के अन्तर्गत आता है एवं कवि का सखी भाव की ओर सम्मान सूचित करता है।

श्री काका वल्लभ जी :

आपका जन्म संवत् १७०३ में हुआ था। मृत्यु संवत् का ठीक निश्चय नहीं है। द्वारकादास परीख इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मानते हैं:--

(१) ८४ वै० का लीला भावना का घोल (२) २५२ वै० का लीला भावना घोल (३) स्फुट पद रचनाएँ (४) चरण चिन्ह (५) ५२ वचनामृत (गद्य) (६) सर्वोत्तम बधाई।

उनकी रचना के उदाहरण रूप में हम एक पद उद्धृत कर रहे है। उनके पद कीर्तन संग्रहों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं :

उठे प्रात अलसात कहत मीठी तोतरी बात।
मांगत है सद माखन लाई हैं यशोदा भात।।
वाजत नूपुर सुहात नाचत त्रैलोकनाथ।
देखत सब गोपी वाल नाहीने अघात।
नंद नंदन सुखपाइ चिर जीयो री कन्हाई।
निरखत सुख या ढोटा को जीजत दै माई।।

बालकेलि देखा ग्राई रोम रोम सचु पाई ।
'वल्लभ' हरख निरख लेत हैं बलाई ।।[1]

उपर्युक्त पद में ग्रनुप्रास की ग्रातंरिक स्थापना छन्द को ग्रतिरिक्त सांगीतिक गुण से मंडित कर देती है ।

कृष्ण जीवन लछी राम :

ये गोकुलनाथ जी के शिष्य थे । १८ वीं शती के पूर्व भाग में इनकी उपस्थिति ग्रनुमानित है—क्योंकि संवत् १६९८ तक गोकुलनाथ जी ही जीवित रहे थे । इनका लिखा 'करुणा भरण' नाटक प्रसिद्ध है । कीर्तन-संग्रहों में ग्रापके कुछ फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं । एक उदाहरण यह है :

चलो सखी बाग तमासे प्यारो मोहन खेलत होरी ।
सगरी सखी मिलि देखन निकसी, पातरी कुँवारी गोरी भोरी ।
काहू पै गुलाब काहू पै केसर, ग्रबीर लिये भरि-भरि झोरी ।
'कृष्ण जीवन' लछीराम के प्रभु बने किशोर किशोरी ।
(कीर्तन संग्रह भाग २, पृ० १५२)

ग्ररे ढोटा भर देई यमुनजल मेरी सौं तु मो तन चिते चोरे ।
मेरे संग की दूर निकसि गई मोहि ठाड़ी कीनी ।
भरिये नागर जिन हित बोरे ।
बाट घाट में रोकत झगरत रही रैन वितबो रे ।
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभु माई ग्रकेली जन जिन निरवोरे ।
कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० १७९ ।

ग्राली री मंद मंद मुरली धुनि बाजत नृत्यत कुँवर कन्हैया ।
तैसीये शरद की चांदनी, निरमल तैसी बनी दुल्हैया
चंदन की खार कीये ग्रौर बनमाल हिये कंचन की बेलीमानों बनी दुलहैया
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभु प्यारे दौड़कर लेत बलैया ।
(कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० १७९)

नागरीदास :

नागरीदास का वास्तविक नाम सावंतसिंह था । नागरीदास उनका भक्ति

१. कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० १७ ।

क्षेत्र का नाम है। ये किशनगढ़ के राजा महाराजसिंह के पुत्र थे। संवत् १७५६ में इनका जन्म हुआ था। मध्यकाल में हिन्दी में अनेक नागरीदास हो गये हैं परन्तु उनमें सबसे अधिक प्रमुख, महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट प्रस्तुत नागरीदास ही हैं।

बाल्यावस्था से ही सावन्तसिंह बड़े वीर एवं साहसी थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्हें राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होता था। परन्तु छोटे भाई बहादुरसिंह ने, जिस समय कि ये दिल्ली में ही थे, गद्दी पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों तक सिंहासन प्राप्त करने के लिए राजनैतिक कुचक्रों में वे फँसे रहे। परन्तु उसे प्राप्त करने में कृतकार्य नहीं हो सके। एक बार मराठों से सहायता लेने के लिए दक्षिण जा रहे थे रास्ते में वृन्दावन में किसी वैष्णव ने इनसे कहा कि राज्याधिकार प्राप्त करने का योग आपको नहीं आपके पुत्र को है। आपको तो भगवद्भजन करना चाहिए। उसके परामर्श को स्वीकार कर इन्होंने अपने पुत्र सरदार सिंह को बहादुर सिंह के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा और स्वयं वृन्दावन में रहकर भगवद्भजन करने लगे। इनके भाई ने इनके पुत्र से संधि कर ली और राज्य का एक भाग सरदार सिंह को दे दिया। संवत् १८१४ में सावन्त सिंह ने वृन्दावन से आकर सरदार सिंह का राजतिलक किया और पुन. वृन्दावन चले गये। इनका भगवद्भक्ति-निष्ठता का सूचक सवैया हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो कि उन्होंने जयपुर के राजा सवाई माधवसिंह के अनेक प्रश्नों के उत्तर में कहा था :

जाति के हम हैं तो ब्रजवासी जू ना रही औरहु जात की बाधा।
देश है घोष नँ चाहत मोख को तीरथ श्री जमुना सुख साधा।
संतन को सतसंग आजीविका कुंज विहार अहार अगाधा।
नागर के कुलदेव गोवर्धन मोहन मंत्र अरु इष्ट है राधा।

नागरीदास जी वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी रणछोड़ जी के शिष्य थे।[1] डॉ० फ़य्याज़अली खां ने उन्हें परम पुष्टिमार्गीय माना है।[2] इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु, पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं विगोगी हरि ने भी उन्हें वल्लभ मतानुयायी माना है। इधर डॉ० नारायण दत्त शर्मा ने निम्बार्क संप्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवियों पर लिखे अपने शोध-प्रबन्ध में उन्हें निम्बार्क संप्रदाय का अनुयायी बताया

---

१. नागर समुच्चय, पृ० ११ (भूमिका)।

२. डॉ० फ़य्याज़ अलीखां : भक्त और नागरीदास—इनके काव्य विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन, पृ० ११६ (अप्रकाशित प्रबन्ध)।

है ।' हमें ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रारम्भ में उन्होंने वैष्णावीय दीक्षा किसी पुष्टि-मार्गीय गुरु से ली है किन्तु बाद को वे अपने परिवार की परम्पराओं के अनुरूप ही निम्बार्क संप्रदाय की ओर आकृष्ट हो गये थे। इसी कारण उनके काव्य में पुष्टिमार्ग की ब्रजलीला, गोपीभाव की साधना तथा निम्बार्कीयों का निकुंजलीला-गान तीनों ही उपलब्ध हो जाते हैं। पीछे जिस सवैये को हम उद्धृत कर चुके हैं उसमें राधा को इष्ट मानना इन्हें सखी-सम्प्रदायों के निकट ले आता है। यों उनके काल तक पुष्टिमार्ग में सखी-भावना का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में हो चुका था।

नागरीदास का स्वर्गवास संवत् १८२१ में वृन्दावन के कृष्णगढ़ राज्य की कुंज में हुआ था। वर्तमान समय में इसे नागरकुंज कहते हैं। वहां पर इनकी छतरी, चरण चिन्ह आदि विद्यमान हैं। समाधि पर उनकी प्रशस्ति में एक लेख भी खुदा हुआ है तथा भादों सुदी ५ संवत् १८२१ मृत्युतिथि भी दी हुई है।

नागरीदास बड़े कला प्रमी और कवि थे। काव्यकला, चित्रकला एवं संगीत के प्रेमी ही नहीं गहरे पारखी भी थे। कवियों के वे आश्रयदाता थे। कहते हैं कुछ कवि उनके साथ बराबर निवास करते रहे। ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानंद इनके परम मित्रों में थे। नागरीदास का साहित्य मात्रा में विशाल है। इनके ६९ ग्रन्थों का संग्रह 'नागर समुच्चय' के नाम से बहुत पहले बम्बई से प्रकाशित हुआ था। यह वैराग्य सागर, सिंगार सागर और पद सागर नामक तीन खंडों में विभाजित है। उसमें संगृहीत ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :

१. वैराग्य सागर :

(१) भक्तिमग दीपिका (२) देहदसा (३) वैराग्य बटी (४) रसिक रत्नावली, (५) कलि वैराग्य वल्ली (६) अरिल्ल पच्चीसी (७) छूटकपद (८) छूटक दोहा, (९) तीर्थानन्द (१०) रामचरित्रमाला (११) मनोरथ मंजरी (१२) पद प्रबोधमाला (१३) जुगल भक्त विनोद (१४) भक्ति सार और (१५) श्रीमद् भागवत पारायन विधि प्रकास।

२. श्रृंगार सागर :

(१) ब्रजलीला (२) गोपी प्रेम प्रकाश (३) पद प्रसंगमाला (४) ब्रज वैकुण्ठ तुला (५) ब्रजसार (६) बिहार चन्द्रिका (७) भोर लीला (८) प्रातरस मंजरी (९) भोजनानंद-अष्टक (१०) जुगलरस माधुरी (११) फूलविलास (१२) गोधन-आगम (१३) दोहनानंद-अष्टक (१४) लगानाष्टक (१५) फागविलास (१६) ग्रीष्मविहार (१७) पावस पचीसी (१८) गोपी-बैन विलास (१९) रास-

१. डॉ० फय्याज अली खाँ : भक्त और नागरीदास, पृ० ४७७।

रसलता (२०) रैनरूप रस (२१) सीतसार (२२) इश्क चिमन (२३) छूटक दोहा मजलस मंडन (२४) रास अनुक्रम के दोहे (२५) अरिल्लाष्टक (२६) सदा की मांझ (२७) वर्षा ऋतु की मांझ (२८) होरी की मांझ (२९) शरद की मांझ (३०) श्री ठाकुर जी के जनम उच्छब के कवित्त (३१) श्री ठकुरानीजी के जनम उच्छब के कवित्त (३२) सांझी के कवित्त (३३) सांझी फूल बीननि समय संवाद अनुक्रम (३४) रास के कवित्त (३५) चांदनी के कवित्त (३६) दिवारी के कवित्त (३७) गोवर्द्धन धारन के कवित्त (३८) होरी के कवित्त (३९) फाग खेल समैं अनुक्रम (४०) वसंत वर्णन के कवित्त (४१) फाग विहार (४२) फाग गोकुलाष्टक (४३) हिंडोरा के कवित्त (४४) वर्षा के कवित्त (४५) छूटक कवित्त (४६) बन विनोद (४७) बालविनोद (४८) सुजनानंद (४९) रास अनुक्रम के कवित्त (५०) निकुंज विलास और (५१) गोविन्द परचई।

३. पद-सागर :

(१) बन जन प्रशंसा (२) पद मुक्तावली और (३) उत्सवमाला।

उपर्युक्त ६९ ग्रन्थों के अतिरिक्त नागरीदास के बनाये नौ ग्रन्थ और कहे जाते हैं। उनके नाम ये है :—

(१) छूटक विधि (२) शिखनख (३) नखशिख (४) चरचरियाँ (५) रेखता (६) बैन विलास (७) गुप्त रस प्रकाश (८) धन्य धन्य और (९) ब्रज संबधी नाममाला।

इस प्रकार नागरीदास के ग्रन्थों की कुल संख्या ७८ होती है। परन्तु जैसा कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इन सभी को ग्रन्थ संज्ञा देना उचित न होगा। क्योंकि इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें पाँच-पाँच दस-दस पद्यों से अधिक नहीं हैं। वास्तव में ये ग्रन्थ न होकर वर्ण्य विषय के शीर्षक मात्र हैं।[1]

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से नागरीदास राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के गायक थे। वल्लभ संप्रदाय में विरह को पर्याप्त मान मिला था पर जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, रसोपासकों में मिलन ही मान्य है, विरह एवं मान वहां पर 'छद्म' हैं। १८वीं शती तक आते-आते रसोपासकों द्वारा निर्मित वातावरण ही अधिक मुख्य हो उठा था। इसी प्रभाव के अन्तर्गत नागरीदास की संप्रयोग-परक रचनाएँ अधिक भास्वर एवं प्रभविष्णु प्रतीत होती हैं। परन्तु सब मिलाकर उनका काव्य ब्रजलीलागान की परम्परा के भीतर आता है और इसी कारण पूर्व राग, मान, विरह आदि के भी मार्मिक चित्र उनमें उपलब्ध होते हैं।

भक्तिकाल के कवियों की अभिव्यंजना के मुख्य काव्यरूप गेयपद थे। पर

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ३२१।

नागरीदास एवं उनके अन्य सहयोगी कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि अन्य छन्दों का सुष्ठु प्रयोग करते प्राप्त होते हैं। काव्यगत भावभूमि के संकुचन की क्षतिपूर्ति इन लोगों ने छंदों के नक़्क़ाशीदार प्रयोगों, अलंकार-वैचित्र्य, चित्रात्मकता एवं वाग्वैदग्ध्य से करनी चाही है। नागरीदास प्रारंभ से ही चित्रकला के शौक़ीन थे, उनके संरक्षण में किशनगढ़ शैली के कितने ही मनोहर चित्र लिखे गए थे। चित्रकला की इस रंग एवं रेखा-योजना का प्रभाव नागरीदास की कविता पर भी पड़ा था। इस चित्रता का एक उदाहरण देखिये :—

भांदों की कारी अंध्यारी निसा, झुकि बादर नंद फुही बरसावैं।
स्यामा जू आपनी ऊंची अटा में छकी रसरीति मलारहिं गावैं।
ता समै मोहन की हम दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूंघट टारे दया करि दामिनी दीव दिखावैं।

—नागर समुच्चय से

वल्लभ संप्रदाय के कुछ अन्य कवियों के नाम और उनकी रचनाओं के शीर्षक हम दे रहे हैं। संप्रदाय में इन नामों के साथ इन ग्रन्थों की स्वीकृति है, परन्तु हमें प्रयास करने पर भी इन लोगों की रचना के उदाहरण नहीं मिल सके, इसी कारण केवल नाम उद्धृत कर रहे हैं। इनके रचनाकाल का निर्णय हमने वल्लभीय सुधा (वर्ष ६, अंक २) में प्रकाशित पुष्टिमार्गीय विद्वान द्वारकादास परीख के आधार पर किया है।

श्री ब्रजभूषण जी :

जन्म १७१५ वि० है। इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है (१) ८४ वै० का घोल (२) नवरत्न का घोल (३) सर्वोत्तम का घोल (४) स्फुट घोल (५) श्री हरिराय जी का घोल।

श्री सुन्दरवतां बहु जी :

ये श्री हरिराय जी की बहू थीं। जन्म-मृत्यु संवत् का पता नहीं है, पर इतना निश्चय है कि रचना काल १८वीं शती था। ब्रजभाषा में इनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मात्र हैं तथा गुजराती में 'चिन्तन घोल' नामक एक ग्रन्थ है। लगता है कि इनकी मातृभाषा गुजराती थी।

श्री ब्रजराय जी (सूरत) :

जन्म-संवत् १६८२ माना जाता है। रचनाकाल १८वीं शती का प्रथम भाग। इनके द्वारा रचित तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं :

(१) नित्य सेवा विधि (२) स्फुट कीर्तन (३) सर्वोत्तम जी का घोल

ललित संप्रदाय का अठारहवीं शती का साहित्य : संक्षिप्त रूपरेखा

ललित सम्प्रदाय का उद्भव १८ वीं शती के अंतिम चरण में होता है। राधा-प्राधान्य इस सम्प्रदाय में अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है। काव्य की दृष्टि से यह संप्रदाय १९ वीं शती में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बनता है, जब किशोरी अलि एवं अलबेली अलि जैसे कवि इस संप्रदाय में उत्पन्न होते हैं। हमारे आलोच्य युग में केवल इस संप्रदाय के प्रतिष्ठापक महात्मा वंशी अलि जी ही आते हैं।

ललित संप्रदाय के कवि

वंशी अलि जी :

ललित संप्रदाय के प्रतिष्ठापक थे। उनके पूर्वज नवला वंश के प्रसिद्ध नारायण मिश्र थे। नारायण मिश्र भी भक्त रूप में प्रख्यात थे। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनके ऊपर भी एक छप्पय लिखा है।[1] श्री नारायण मिश्र जी सारस्वत ब्राह्मण थे एवं लाहौर से आकर मथुरा रहने लगे थे। उन्हीं के वंश में नवीं पीढ़ी में वंशी अलि का जन्म आश्विन शुक्ल १ संवत् १७६४ में हुआ। उनके घर का नाम वंशीधर था। उनके पिता प्रद्युम्न मिश्र का दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह के दरबार में अच्छा सम्मान था। वे भागवत के ज्ञाता पंडित थे। भक्ति और भागवत की परम्परा वाले इस वंश में बालक वंशीधर को प्रारंभ से ही भक्ति साधना का वातावरण मिला और शीघ्र ही उनके हृदय में उपस्थित भक्ति का अंकुर लहलहा उठा।

उनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे राधिका जी की वंशी के अवतार थे तथा श्री राधा के नाम में उन्हें शैशव से ही रुचि थी। बिना राधा नाम सुने वे मां का दुग्धपान भी नहीं करते थे। १५ वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया था, एवं वीस वर्ष की आयु में वे एक पुत्र के पिता भी हो गये। संवत् १७६४ में वे वृन्दावन आ गये एवं १७९८ में तो उन्होंने वैराग्य ही ले लिया। उनका गोलोकवास संवत् १८२२ में आश्विन शुक्ल एक को वृन्दावन के गोविन्द घाट के ललित कुंज में हुआ।

भागवत कथा के वे भी मर्मज्ञ व्याख्याता थे। तथा राधा नाम को दार्शनिक पूर्णता तक उन्होंने पहुँचा दिया। राधा परतत्त्व सिद्धकर दी गयीं। सिद्धांतों

---

१. भक्तमाल, छ० स० १३४।

की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं अतः यहाँ हम उसे विवेचित नहीं करेंगे। वंशी अलि उनका सखी भाव का साधनागत नाम है।

उन्होंने 'राधा-तत्त्व प्रकाश' तथा 'राधा-सिद्धांत' नामक ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की। इसके अतिरिक्त मोक्षवाद, शक्ति स्वातन्त्र्य परामर्श एवं राधोपनिषत् की टीकाएँ भी उन्होंने लिखी हैं। परन्तु वे ब्रजभाषा के मर्म के भी पैने जानकार थे। उन्होंने रासपंचाध्यायी एवं हृदय सर्वस्व के अतिरिक्त लीला के तमाम पदों की भी रचना की है। उनकी वाणी में सिद्धांत के ४१ पद, वात्सल्य के ४६ पद, माधुर्य शत के १२४ पद तथा अन्य उत्सव-सम्बन्धी पद भी प्राप्य हैं। विभिन्न बधाइयाँ, वंशावली, हृदय सर्वस्व एवं महारास भी इस वाणी में संगृहीत है। इसके अतिरिक्त भी उनके पद यत्र-तत्र मिल जाते हैं। प्रस्तुत लेखक को इस संप्रदाय की एक महत्त्वपूर्ण वाणी प्रति मिली है, उसमें यद्यपि मुख्य रूप से 'किशोरी अलि' जी की रचनाएँ संग्रहीत हैं पर कुछ पद एवं उनका राधाष्टक भी उसमें सम्मिलित है।

वंशी अलि जी अत्यंत मधुर एवं सरस कवि हैं। सहज, अकृत्रिम ब्रजभाषा में अत्यंत स्वाभाविक शैली में उन्होंने अपनी राधानिष्ठा एवं कुंजविहार को प्रकट किया है। अलंकारों की चमक-दमक उनमें नहीं है, लक्षणा-व्यंजना के मार्मिक प्रयोग भी वंशी अलि जी की रचनाओं में प्राप्त नहीं होते, परन्तु उनके सिद्धांत-कथन एवं लीला-गान अपनी सादगी एवं अकृत्रिमता में तथा भाव-संवेदना में मन को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। उनके हृदय सर्वस्व के कुछ दोहे लें :

सेव्य सदा श्री राधिका सेवक नन्द कुमार।
पूजे सेवक सहचरी सेवा विपुन विहार।।
नयनन से श्रृंगार सब होत है अंगन मांझ।
विहिरन में बूड़े रहें नहीं जानत दिन सांझ।।
नयन नासिका राधिका राधा मन विच आइ।
विछुरत नाहीं राधिका मो को परो सुभाय।३०
राधा अंग सिंगार हो जावक देहुँ पाँव।
राधा ही सो भगर हों मोंहि नहीं कहि ठांव।३८

वंशी अलि जी के किशोरी अलि एवं अलबेली अलि नामक दो समर्थ शिष्य थे जिन्होंने प्रभूत साहित्य की रचना की। यह साहित्य मात्रा की ही दृष्टि से नहीं काव्य-गरिमा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इन दोनों महानुभावों का रचनाकाल १६ वीं शती का प्रारंभिक अंश है, इसी कारण हम उनकी विस्तृत चर्चा नहीं कर रहे हैं।

१८वीं शती का राम भक्तों का व्रजभाषा साहित्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

रामभक्ति काव्य एवं गोस्वामी तुलसीदास के नाम बहुत दिनों तक हिन्दी में पर्यायवाची से बने रहे। कुछ अन्य परवर्ती लोगों के नाम सामने आये भी, पर आचार्य शुक्ल जी ने उनकी ऐसी तीखी आलोचना[1] की कि बहुत दिनों तक उन कवियों के बारे में गंभीरतापूर्वक सोचा ही नहीं गया। पर इधर पिछले कुछ वर्षों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एवं डॉ० कामिल बुल्के आदि के सद्प्रयत्नों से गो० तुलसीदास-परवर्ती रामभक्ति का प्रभूत साहित्य सामने आया है। इस साहित्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि श्रृंगारी उपासना इसमें प्रमुख है। यद्यपि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य भावों की भी स्वीकृति इस साहित्य में है, परन्तु इन सभी भावों को सीता-राम के विहार में ही अंततः नियोजित किया गया है। कृष्ण की श्रृंगारी उपासना का इस संप्रदाय के साहित्य पर गहरा प्रभाव है। लीला गान की दृष्टि से राम के राजा रूप का ऐश्वर्य एवं उपासना का माधुर्य दोनों ही इसमें स्वीकृत रहे। १७ वीं शती में अग्रदास के साथ यह परम्परा प्रारम्भ होती है, १८ वीं शती में बाल अली, राम सखे, मधुराचार्य आदि इसे प्रकट करते हैं। परन्तु अपने चरम वैभव पर यह साधना और साहित्य १९ वीं शताब्दी में पहुँचती है। रीतिकालीन श्रृंगार की छाया भी इस साहित्य पर बहुत स्पष्ट है।

इस सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य अवधी में लिखा गया है, यद्यपि व्रजभाषा में भी यथेष्ट साहित्य की रचना हुई है।

रामोपासक कवि :

बालानंद :

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने इनका जन्म सांप्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार सं० १७१० निर्धारित किया है।[2] ये राजस्थान के किसी गांव में पैदा हुए थे एवं बाल्यावस्था के प्रथम चरण में ही विरक्त हो गये थे।

बालानंद जी का स्थान वैष्णव संप्रदायों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १७-१८ वीं शताब्दियों में जब शैव साधुओं के अत्याचार बहुत बढ़ गये थे तब जयपुर में वैष्णवों ने अपनी रक्षा के उपाय सोचने के लिए संवत् १७५० के आस-पास एक सम्मेलन बुलाया था। इस सम्मेलन में वैष्णवों को भी फ़ौजी ढंग पर

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४०-१४२।

२. डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ०३८९।

शिक्षित करने का निश्चय हुआ था। इस वैष्णव अनी एवं अखाड़ों के संगठन का भार बालानंद जी को ही दिया गया था। अपनी संगठन-शक्ति, प्रतिभा एवं शौर्य से उन्होंने शीघ्र ही वैष्णवों की एक व्यवस्थित सेना खड़ी कर दी, इस व्यवस्था ने शैवों के आतंक को समाप्त कर दिया।

बालानंद जी राम के बलरूप के उपासक थे; गो कि ऐश्वर्य एवं माधुर्य रूपों के प्रति भी उनके मन में आदर का भाव कम न था। काव्य रचना की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती, केवल कुछ पद प्रकीर्ण रूप से यत्र-तत्र मिल जाते हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण देखिए :

कमल मुखी कमला मुख हेरें, प्रेम प्रीति रस भीजै।
मन क्रम बचन तुम्हें प्रभु सेवै, चपला अचल करीजै।
मंद मंद मुसकात छबीले, बोलत बचन रसीले।
बालानंद को देहे किंकरी, श्रीपति ऐसे सुसीले।

बालकृष्ण नायक 'बाल अली' :

बालअली का रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। उनका ग्रन्थ 'ध्यान मंजरी' सं० १७२६[1] में लिखा गया था तथा नेह प्रकाश का सृजनकाल सं० १७४९ है।[2] प्रारम्भ में वे रामानुजाचार्य की वैधी भक्ति वाले संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। पर उस युग के व्यापक प्रभाव के अन्तर्गत उन्होंने आचार-प्रधान इस साधना को छोड़कर रैवासा जाकर अग्रदास की परम्परा के पाँचवें आचार्य चरणदास से रसिक-साधना की दीक्षा ले ली। चरणदास जी के बाद वे रैवासा गद्दी पर आचार्य रूप में अधिष्ठित हुए थे।

उनके पदों में 'बाल अली' की छाप मिलती है। उनके बनाए हुए आठ ग्रन्थों का पता लगता है। (१) ध्यान मंजरी (२) नेह प्रकाश (३) सिद्धांत तत्त्व दीपिका (४) दयाल मंजरी (५) ग्वाल पहेली (६) प्रेम

---

१. **सत्रह से षड्विंश बरस मास पुनि फाल्गुनि।**
शुक्ल पक्ष पंचमी अमल सुमवार लग्न दिन॥
तेहिं अवसर यह ध्यान मंजरी प्रगट भई है।
परम सुमंगल करनि बरनि वर मोदमई है॥

—ध्यान मंजरी, पृ० ५४।

२. **प्रगटी नव श्रुति सिन्धु शशि गनित समय सुभसोय।**

—नेह प्रकाश की पुष्पिका, (सभा खोज रिपोर्ट, १९१७-भाग २, सं० सं० १६ ब)।

पहेली (७) प्रेम परीक्षा (८) परतीत परीक्षा। इन आठों ग्रन्थों में काव्य एवं सिद्धांत की दृष्टि से प्रथम तीन ध्यान मंजरी, नेह प्रकाश एवं सिद्धांत तत्त्व दीपिका अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नेह प्रकाश के १४८ दोहों में सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार आह्लादिनी शक्ति का विचार, सखियों की नामावली एवं उनकी सेवाओं का विवरण प्रारम्भ में ही उपस्थित किया गया है। राम का सीता से प्रणय-निवेदन भी है एवं रस, प्रेम तथा रूप के विलास हैं। सखियों के राम और जानकी के प्रति प्रीतिवचन तथा सीता की छवि का भव्य वर्णन भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। सीता की छवि का एक प्रभावशाली वर्णन देखिए :

अरुण वरण तब चरण नख हैं कि तरुणि शिर मौर।
अनुरागी दृग लाल के बसे आय इहि ठौर।
सब दिशि कंचन मय करत तन तन जोति अनूप।
मनु झर झरि अंगन परै अंग रमावै रूप।
सिय तव रूप अपार पिय पियतन नैन अघाय।
भये चहत सुर राज से नियरे अति अकुलाय।

ये दोहे अपने कसाव एवं अभिव्यक्ति-मुद्रा में रीतिकालीन कवियों के दोहों के समान ही हैं। यह ध्यान रहे कि बिहारी हमारे प्रस्तुत कवि के समकालीन थे। यह बात सूचित करती है कि दोहों के द्वारा शृंगारी अभिव्यक्ति की एक व्यापक परम्परा थी, जिसमें मूर्धन्य बिहारी सिद्ध हुए, पर उनके आसपास के स्तर पर ही अन्य कवि भी अभिव्यक्तियाँ प्रकाशित करते रहे। 'बाल अली' जी ऐसे ही श्रेष्ठ कवियों में थे।

उन पर सूफ़ी प्रवंधपद्धति का भी गहरा प्रभाव मिलता है। सिद्धांत तत्त्व-दीपिका में सूफ़ी-पद्धति के प्रभाव में समासोक्ति एवं अन्योक्ति के आधार पर परम-तत्त्व की रसिकजनसम्मत व्याख्या उपस्थित की गयी है। सूफ़ी-प्रभाव की दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा अवधी है। ६ अर्द्धालियों के बाद दोहे का क्रम इसमें भी स्वीकार किया गया है। इसमें प्रभावती साधन है, संभ्रमा माया है, कृपावती गुरु हैं, भगवत्प्राप्ति इष्ट मिलन है और रसिक-साधना के अनुसार मधुरा भक्ति का संदेश दिया गया है। इस ग्रन्थ में ३६ प्रकाश हैं। व्रजभाषा का न होने के कारण हम यहां उसकी विस्तृत विवेचना नहीं करेंगे। 'ध्यान मंजरी' में भी रसोपासना का ही निरूपण किया गया है। भाषा अत्यन्त मुहावरेदार, भावना तीव्र एवं रस साधना का सूक्ष्म विवेचन इसमें उपलब्ध है।

सुनि सिय चरित सुमुखि मन हरष्यो, उर आनन्द जलद क्यों बरष्यो।
सिय पद प्रेम बड़ै नित वाकें, और न सुधि आवै उर ताकै ।
उलही किधों सिंगार बेलि चह मदन सुहाई।
नाभि कूप के सलिल सो सींचि बढ़ाई।

राम प्रिया शरण 'प्रेम कली' :

जनकपुर की गद्दी पर ये महन्त थे तथा संवत् १७६० के लगभग विद्यमान थे। 'रामायण' के अनुकरण पर लगभग ६३४ पृष्ठों के 'सीतायन' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की उन्होंने रचना की थी । इस ग्रन्थ में सीता-चरित्र का अत्यंत उदात्त एवं महिमामण्डित चित्रण हुआ है । बालकाण्ड, मधुरमाल कांड, जयमाल कांड, रसमाल काण्ड, सुख माल काण्ड, रसाल काण्ड और चन्द्रिका काण्ड इन सात काण्डों में पूरा ग्रन्थ विभाजित है । पर जैसा कि इनके शीर्षकों से ही अनुमानित है, इस ग्रन्थ में सीता-चरित्र का परिपाटी-विहित परम्परा से प्राप्त चित्रण नहीं है । इसमें रसिक-भावना के अनुरूप केवल बाल एवं यौवन की अवस्थाओं की विहार-लीलाओं का ही वर्णन किया गया है । इनमें से बालकाण्ड और मधुरमाल काण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। रहस्य प्रमोदबन, जानकी घाट, अयोध्या एवं छतरपुर राज्य पुस्तकालय में ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं । रसिक-साधना की दृष्टि से वास्तव में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मधुरमाल काण्ड में कवि ने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया है :

प्रिया शरण गुरु भावना अरु निज भाव समेत ।
युगल नायका करि कहौ प्राप्ति भाव के हेत ।
नेह कली आचार्य मम प्रेम लली मम रूप ।
युगल सुनयना की सुता अद्‌भुत युगल स्वरूप ।
वय सन्धिनी मधुराननी, परम मनोहर अंग ।
गौर वरण सिय कुंज में, रहत सदा सिय संग।
मधुर भावना युगल की, अरु शृंगार रस रीति ।
सो सब वर्णन करत हौं, अति प्रसन्न अति प्रीति ।

इस प्रकार उन्होंने अपने गुरु का नाम, अपना साधनागत स्वरूप, सेवा और स्थान तथा उपासना भाव-एवं ग्रन्थ अभिव्यंजित भावना को स्पष्ट कर दिया है ।

सीतायन की भाषा टकसाली अवधी है, पर बीच-बीच में ब्रजभाषा का भी पुट उन्होंने दिया है ।

जानकी रसिक शरण 'रसमाला':

जिस प्रकार 'सीतायन' की रचना सम्वत् १७६० में ही हुई थी वैसे ही 'रसमाल' जी का 'अवधी सागर' भी संवत् १७६० में ही सम्पूर्ण हुआ था। 'रसमाला' उनका साधनागत नाम है एवं माधुर्यभावपरक सीताराम की बिहार-क्रीड़ाओं का वर्णन अवधी सागर में हुआ है। 'अवधी सागर' की रचना भी अवधी में ही हुई है, इसी कारण हम विस्तार से उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। पर उन्होंने कुछ फुटकर पद एव भजन आदि भी लिखे हैं और इनमें अवधी के साथ ही 'व्रजभाषा' का भी प्रयोग हुआ है। इनके छन्दों में रस माला के अतिरिक्त 'रस मालिनि' 'रस मालिका' आदि अन्य छापें भी मिलती हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं:

> **झूलैं सिय पिय संग हिंडोरे।**
> **प्रीतन के संग रमक बढ़ावत साँवरी सखियाँ चहु ओरैं।**
> **घन गरजत बिजुली अति चमकत, बरसत रिमझिम पवन झकोरैं।**
> **'रस मालिनि' प्रीतम मनमोहन बोलत खगरव मोर चकोरैं।**

रूपलाल 'रूप सखी':

बाल अली के शिष्य थे। 'होरी' नामक रचना प्राप्त है इनका समय १८वीं शती का मध्यभाग है।

> **फागुन भागन भरि चढ़्यो अलिन बढ़्यो अनुराग।**
> **अब हिलमिल हम खेलिबो लली लाल संग फाग।**
> **लालन लालन की जरी, भरी रंग पिचकारि।**
> **आंस छोड़ छबि सो दिसि, सिय उर ओर निहारि।**
> **दुरि विमला तब दौरि के उठी, हिलिमिलि नवल किशोर।**

प्रेम सखी :

विक्रम की १८ वीं शती के अंतिम भाग में प्रेम सखी जी विद्यमान थे। ये महात्मा रामप्रसाद विन्दुकाचार्य के समकालीन थे। कहते हैं कि प्रयाग के निकट श्रृंगवेरपुर में एक ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ था। वाल्यावस्था में ही वैराग्य ग्रहण कर ये महात्मा रामदास गूदर के शिष्य हो गये थे। मिथिला, अयोध्या आदि में घूमते-घामते एवं रसिक-साधना की दीक्षा लेते हुए वे चित्रकूट आ गये थे। एवं वहीं पर रहकर राम-सीता की दिव्य क्रीड़ाओं का चित्रण एवं चिन्तन वे करते रहे। कहते हैं कि रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य से अवध के नवाब

सम्रादत अली खाँ ने पूछा कि अपनी टक्कर के दूसरे भक्त का नाम लीजिए और उन्होंने 'प्रेम सखी' का सादर उल्लेख किया। 'सीताराम नखशिख' उनकी कीर्ति का आधार मुख्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'होली' एवं कवित्तादि प्रबन्ध में उनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह है। इन छन्दों में भी नित्य-विहार का ही वर्णन हुआ है।

सीता-राम के नख-शिख का अत्यंत मोहक एवं बिम्ब उपस्थित कर देने वाला चित्रण उन्होंने किया है। इस चित्रण को रीतिकालीन कवियों के नख-शिख चित्रणों की तुलना में सुविधापूर्वक रखा जा सकता है। भाषा एवं शब्द-चयन की खराद, अनुप्रास एवं अलंकारों की सजावट तथा छन्द की सुघरता, सभी दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ साहित्यिक एवं रसात्मक है। सीता के शरीर की रोम राजि का यह वर्णन किसी भी रीतिसिद्ध कवि के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता हैं परम्परासिद्ध उपमानों का सघन चित्रण इसमें हुआ है :

नीलम नीली कसी ससी हैं मध्य कंचन के तन
जाति कैधों सिंगार पांति साजी है।
आई स्यामताई की निकाई सब सिमिट के
जाहि देखि देखि रोम-रोम पिय राजी हैं।
झीनी दरसात हैं बिसात छवि सरसात रूप
सुधासर में संवार सी विराजी हैं।
प्रेम सखी मेरी जान सुखमा समूह राजी गुनगन
राजी धौं सिया की रोम राजी है।

यह ग्रन्थ सम्वत् १७९१ में लिखा गया था।

विलास क्रीडाओं के अन्तर्गत निम्न छन्द में राम को नव वधू बनाकर सीता के 'हूजूर' में पेश किया जा रहा है :

जावक लगायो जल जात ऐसे पायन में
बिछिया कलित ह्वै अधिक छवि छाई है।
घूमि रह्यो घेरवारो लहंगो सबजारंग
नील जरतारी सारी कंचुकी सुहाई है।
प्रेम सखी अंग-अंग भूषण विविध साजि
बहू-बहू कहत वधूटी गहिल्याई है।
सुभगा सखी सिवा जू के तुरत हजूरि
कियो नवल वधूटी एक सासुरे ते आई है।

इस स्त्रैणता को यदि रसिक-साधना के सन्दर्भ में देखा जाए तो अनुचित ठहराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ।

राम सखे :

राम सखे का स्थान रामभक्ति के रसिक संप्रदाय में अत्यधिक आदरणीय है। वे सख्य भाव के मुख्य प्रतिष्ठापक एवं प्रवर्तक थे। विक्रम की १८ वीं शती का अंतिम चरण एवं १९ वीं शती का प्रारंभिक चरण उनका मुख्य कार्यकाल रहा है। वे जयपुर राज्य के किसी ब्राह्मण के पुत्र थे। कुछ वड़े होने पर रामभक्ति में मग्न होकर तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिण के प्रसिद्ध माध्व केन्द्र 'उडुपी' जा पहुँचे। वहीं उन्होंने तत्कालीन माध्व आचार्य वशिष्ठ तीर्थ से दीक्षा ली। फिर अयोध्या, चित्रकूट, उचेहरा आदि स्थानों पर काफी दिनों तक निवास कर वार्धक्य में मैहर चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

उनके साधनागत भाव के विषय में अष्टछाप के कवियों के समान ही प्रसिद्ध है कि दिन में वे सखा-भाव से उपासना करते थे एवं रात को सखी भाव से दम्पति की रासलीला में सेवा करते थे। उनकी १० कृतियों का उल्लेख डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने किया है जो इस प्रकार है:— (१) द्वैत भूषण (२) दान लीला (३) पदावली (४) वानी (५) रूप रसामृत सिन्धु (६) मंगल शतक (७) राम माला (८) नृत्य राघव मिलन दोहावली (९) नृत्य राघव मिलन कवितावली (१०) रास्य पद्धति।[1] इसके अतिरिक्त 'जानकी नौ रत्न माणिक्य' नामक ग्रन्थ संवत् १८९९ में कानपुर के डायमंड जुबली प्रेस से प्रकाशित भी हो चुका है। वास्तव में डॉ० सिंह द्वारा गिनायी गई दान लीला, जानकी नौरत्न माणिक्य की ही अंश प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-लीला के अनुकरण पर दानलीला चित्रित हुई है। इसके अतिरिक्त राम द्वारा सीता का शृंगार, कुंज विहार, रामविलास धामलीला एवं नाम की उपासना का आकर्षक एवं भावित वर्णन हुआ है। दान-लीला का एक छन्द इस प्रकार है :—

विपिन प्रमोद सो जोरि महा व्है आओ यही लै बड़ी अलवेली।
मानत न डर काहू को नेत कहू पाई अचानक आजु अकेली।
दीजौ हमें करि नेग तुम्हें भावतौ चित्त की चोर हो रूप नवेली।
बात हमारी सुनो सब कान दे हौ तुम तो दय जोग सवेली।

'नृत्य राघव मिलन' उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसकी रचना संवत् १८०४ में हुई थी। दोहे, चौपाई एवं कवित्त छन्दों में इसकी रचना हुई है। दोहे

१. रा० म० र० स०, पृ० ४०६।

एवं चौपाइयों की भाषा अवधी है, पर कवित्तों में ब्रजभाषा का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में सैद्धान्तिक निरूपण की ओर प्रवृत्ति अधिक है, लीला-चित्रण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत सीधी सादी है।

राम को रूप अनूप समुद्र में,
आगरि नाव निवाह नहीं है।
आंखिन्ह देखि जु जाति वही सब,
डूबि अथाहन थाह मही है।
घेरि फिरे न घिरावन हार को'
फेरे रहे सो उठाऊ वही हैं।
राम सखे मति चाप करौ,
चित चुंबक लोइ की लीक सही है।

वेंकटेश्वर प्रेस से सम्वत् १७७९ में मुद्रित उनकी पदावली से एक पद हम उद्धृत कर रहे हैं जिसमें कि राम-सीता के होली खेलने का शृंगारी चित्रण हुआ है :

अहो पिय राम पकरि सिय लीन्हो कटि पट सखियन छीनो।
होरी समै रास मंडल में मन भायो सो कीनो।
मुख सों मसलि मैथिली अखियन अंजन दीनो।
राम सखे लखि अवध लाल प्रभु प्यारी के रंग भीनो।

राम प्रपन्नः मधुराचार्य :

रसिक-साधना के क्षेत्र में मधुराचार्य का नाम 'मधुर प्रिया' कहा जाता है। वे गलता गद्दी के आचार्य थे और कील्ह स्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में थे। कहते हैं कि षडयन्त्रपूर्वक उनकी गद्दी छीन ली गयी थी, पर वे निर्द्धन्द्व भाव से चित्रकूट चले आये और सारा जीवन रसिक-सिद्धांतों के विवेचन, विमर्श एवं प्रचार में लगाया। वस्तुतः अब तक प्राप्त साहित्य में मधुराचार्य से बड़ा विद्वान एवं तत्त्व-चिन्तक रामभक्ति की रसिक-शाखा में दूसरा व्यक्ति प्राप्त नहीं होता। दार्शनिक-धार्मिक (फ़िलोसॉफ़िकल-थियोलाजिकल) दृष्टि से गौड़ीय वैष्णव में जो स्थान जीव गोस्वामी का है, वही स्थान रामशाखा में मधुराचार्य जी का है। परन्तु इनका अधिकांश सृजन संस्कृत में है, हिन्दी में कुछ पद मात्र मिलते हैं। संस्कृत में इनके लिखे चार ग्रन्थ कहे जाते हैं :

(१) भगवद् गुण दर्पण :

जीव गोस्वामी के 'भागवत सन्दर्भ' की भांति यह भी छह सन्दर्भों में विभाजित था । पर अब केवल 'सुन्दर मणि सन्दर्भ' एवं अधूरा 'वैदिक मणि सन्दर्भ' प्राप्त होते हैं। सुन्दर मणि सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही जीव गोस्वामी की 'यस्य ब्रह्मेति संज्ञा' वाले श्लोक की भांति ही मधुराचार्य ने मंगलाचरण में ही अपना मत स्पष्ट कर दिया है :

प्रोद्यद् भानुसपत्नरत्ननिकरैर्ददैदीप्यमाने महा
मोदे दिव्यतराति मंजु वनितावृन्दैः सदा सेविताम् ।
रासोल्लासमुखे ऽच व्याकृततम दिव्ये महामंडपे
ऽयोध्यामध्यप्रमोद शुभ्रविपिने रामं ससीतं भजे ।

(अयोध्या के मध्य में स्थित सूर्य के समान प्रभा विस्तार करने वाले रत्न समूहों से आलोकित शुभ्र प्रमोद-बन में मंजु वनिता-वृन्द से सेवित रासोल्लास के आरंभ में दिव्य महामण्डल में आसीन सीता-सहित राम की बन्दना करता हूं ।

(२) माधुर्य केलि कादंबिनी :

इसमें राम सीता की केलि का अत्यंत ललित वर्णन है ।

(३) बाल्मीकि रामायण की टीका (शृंगार परक) :

यह उपलब्ध नहीं है ।

(४) राम तत्त्व प्रकाश :

इस ग्रन्थ में भी संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुसार ही राम की लीलाओं का दार्शनिक लीलापरक विवेचन किया गया है । रसिक भक्तों में इसका प्रमाण ग्रन्थ के समान ही आदर किया जाता है ।

उनकी हिन्दी रचना उतनी भास्वर नहीं है । नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं :

सखि मैं आज गई सिय कुंज ।
देखि नृपति किशोर दौरे घेरि पिचका पुंज ।
तब कहीं मैं सुनहु लालन लाल कौशलजन्य ।
फाग मिस का करहु चोरी चलहु हमरे संग ।
'मधुर प्रीतम' आजु तुमकौं जीतिहौं रतिरंग ।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कल्पना' अप्रैल १९५५ के अंक में उनका समय वि० की अठारहवीं शताब्दी का मध्य माना गया है ।

सिया सखी :

विक्रम की १८ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान सियासखी का वास्तविक नाम गोपाल दास था। ये भी जयपुर राज्य के अन्तर्गत एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। कुछ दिनों तक ये जयपुर के सीताराम मन्दिर में महन्त भी रहे पर उनके साधक चित्त को वहां शान्ति न मिली और ये चित्रकूट चले आये। बहुत दिनों तक चित्रकूट के कामद गिरि पर रस-साधना के उपरान्त पुनः जयपुर लौट गये थे। प्राचीन संग्रहों में इनके कतिपय पद उपलब्ध होते हैं, जिनमें कि ब्रजभाषा के साथ राजस्थानी का भी मिश्रण हैं :

सिया बाई जू सुनियो अरज हमारी।
औरन के तो और भरोसो म्हारे आस तिहारी।
करनी की तुम और न देखो अपनी बिरद सम्हारी।
ऐसो होने नहीं या जग में लोग हंसै दै तारी।
रंग महल में आवन दीजौ सुनो पिया अवध बिहारी।
सिया सखी के सरबस तुम हो और लगै नहि सारी।

महाराज छत्रसाल :

औरंगज़ेब एवं मुग़ल सेना से जीवन पर्यन्त युद्ध करने वाले एवं शिवाजी के साथ ही हिन्दू राष्ट्रीयता का ध्वज ऊँचा करने वाले छत्रसाल पन्ना के बुन्देला राजा चम्पतराय के पुत्र थे। इनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ३, सं० १७०६ में हुआ था। सारे जीवन उन्होंने मुग़लों और पठानों से युद्ध किया तथा संवत् १७८६ में उनकी मृत्यु पन्ना में हुई। प्रसिद्ध वीर रस के कवि भूषण को इन्होंने अपने यहां आश्रय दिया था। अपने वीरत्व के कारण और भूषण के आश्रयदाता के रूप में उनकी कीर्ति बहुत फैली पर उनकी सृजनात्मक शक्ति का अधिक प्रसार नहीं हो सका। छत्रसाल का जीवन वास्तव में शौर्य एवं पराक्रम के क्षेत्र में एक मिशनरी भावना का जीवन था। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें ईश्वर-भक्ति से यथेष्ट प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त होती थी। इसी कारण रीतिकाल की अपेक्षा उनकी रचनाओं का टोन भक्तिकाल का है। वियोगी हरि द्वारा संपादित 'छत्रसाल ग्रंथावली' में उनकी आठ रचनाओं को संगृहीत किया गया है। वे रचनाएँ हैं (१) रामावतार के कवि (२) रामध्वजाष्टक (३) हनुमान पचीसी (४) श्री राधाकृष्ण पचीसी (५) कृष्णावतार के कवित्त (६) महाराज छत्रसाल प्रति अक्षर अनन्य के प्रश्न (७) दृष्टांती और फुटकर कवित्त (८) दृष्टांती तथा राजनैतिक दोहा समूह।

छत्रसाल में भक्ति का साम्प्रदायिक आग्रह नहीं था। यद्यपि वे मुख्यतः रामभक्त थे पर कृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धा कम नहीं थी। प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ जी उनके गुरुतुल्य थे तथा पन्ना में ही रहते थे। उस संप्रदाय का एक मुख्य पीठ वहां पर आज भी है। प्राणनाथ जी सर्व धर्म-समन्वय में विश्वास रखते थे। संभवतः उन्हीं के प्रभाव में छत्रसाल में धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय वृत्ति आई होगी। इस वृत्ति का सुन्दर निदर्शन उनके निम्नांकित कवित्त में हुआ है :

सीतानाथ,सेतुनाथ, सत्यनाथ, संभुनाथ,
नाथ-नाथ, देव-नाथ, दीननाथ दीनगति।
रघुदेव, ज देव, जच्छदेव, देव देव
विश्वदेव, वासुदेव, व्यासदेव, देवरति।
रनबीर, रघुबीर, जदुबीर, ब्रजबीर,
बलबीर, बीर बीर, ब्रतबीर, चारुमति।
रागपति, रंगपति, रमापति, छतापति,
राधापति, रसपति, रसापति, रासपति।

ऐसा लगता है कि रस एवं रास के स्वामी की रसिक साधना का इन पर पर्याप्त प्रभाव था। यह प्रभाव चित्रकूट की स्थानगत निकटता का भी हो सकता है एवं सखी संप्रदाय की रसिक-भावना का भी परिणाम हो सकता है। छत्रसाल के हृदय में राम की मधुर लीला के प्रति पर्याप्त आकर्षण था तथा उनके कृतित्व में राम-विहार संबंधी रचनाएँ पर्याप्त हैं। एक उदाहरण लें :—

तीज पर्व पावनि सुहावनि है आई आजु,
पूजन को सोमबट गोठि वनितानि की।
मानों घनश्याम को रिझाइबे अनेक वेष,
आईं चारु चन्द्रमुखी तुल्य तड़ितान की।
कैधों कान्ति दीपमालिका की चन्द्रमालिका की,
एक ओर है करोर एक ओर है जानकी।
जोरि जोरि पानि सीता कहैं राम 'छत्रसाल',
राम कहै सीता ले के बोदर लतान की।

—छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ० ४४।

कृष्ण की माधुर्य लीला का एक प्रसन्न कवित्त हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो अपने कसाव, सौन्दर्य एवं शब्द-सामर्थ्य की दृष्टि से देव एवं पदमाकर की घनाक्षरियों की तुलना में सहज ही उपस्थित किया जा सकता है :

स्याम स्याम रंग एक ग्वाल ग्वालिनी अनेक,
गोद लै गुलाल लाल घालै मुरि-मुरि कै।
बोलत धमार मंजु फाग और फबीलो राग,
स्यामा बनी स्याम, स्याम स्यामा नेह धुरि के।
कहे छत्रसाल ऐसो चूकिबे न दांव आजु,
कीजै अनुराग फाग वाही ठौर जुरि के।
रूप रस रंग की हिलोरनि में बोरो अंग,
जोरो नवनेह लाल रंग में हिलुरि के।

महात्मा सूर किशोर :

१८ वीं शती के मध्यभाग में ही कील्ह स्वामी के पौत्र शिष्य सूर किशोर जी हुए हैं। मधुराचार्य जी के ये समकालीन थे और उनके गलता छोड़ देने पर ये भी गलता छोड़ कर सीकर रहने लगे। सीता को ये पुत्री के समान मानते थे, अतः वात्सल्य भाव से राम और सीता की भक्ति करते थे। कहते हैं कि राम को जामाता मानने के कारण ये अयोध्या में जल भी ग्रहण नहीं करते थे। सीता की बालक्रीड़ाओं का यह चित्र देखिये :

जनक लली मधुरे सुर गावैं।
कोइ सखि रैन दिवस सुधि भूलीं कोउ सखि व्याह की बात चलावैं।
कोई सखि रीझि रीझि गुन गावें कोइ सखि मुख पर भंवर उड़ावैं।
कोइ सखि मधुर मधुर सुर गावें चन्द्रकला अलिबीनि बजावैं।
'सूर किशोर' बलैया लेहीं बिन सखियां कोउ जान न पावैं।

अवधी भाषा में इनका मिथिला विलास नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। शेष फुटकर पद उनके मिलते हैं। कवि के रूप में उन्हें उतनी प्रसिद्धि नहीं मिल सकी है, जितनी कि अपनी वात्सल्य निष्ठापूर्ण भक्ति भावना के लिए प्राप्त हुई है। मिथिला में रहने की यह निष्ठा देखिए। अवधी एवं व्रज दोनों ही भाषाओं का रंग छंद में मिला हुआ।

नृप के गृह बाल विहार करें सिय की पद रेनु जहाँ लहिये।
मुनिवृन्द उपासक राम विवाह सोई निजठौर हिये गहिये।
कह 'सूर किशोर' विचार वही हिम वो तप वो बरषो सहिये।
चिउरो चवि के पलिवो भीख के, मिथिलः मंह बांधि कुटी रहिये।

ऊपर उद्धृत दोनों छंद 'मिथिला विलास' से लिये गए हैं।

हर्याचार्य 'हरि सहचरी' :

राम भक्ति की रसिक शाखा के प्रमुख व्याख्याया मधुराचार्य के शिष्य थे। तथा उनके बाद गलता गद्दी की आचार्य पीठिका पर प्रतिष्ठित हुए थे। राम की रास लीला ये बड़े धूम-धाम से मनाया करते थे। हिन्दी में इनका एक अष्टयाम तथा कुछ स्फुट पद मात्र मिलते हैं। संस्कृत में गीत गोविन्द के अनुकरण पर 'जानकी गीत' नामक एक ललित ग्रंथ की रचना की थी। उनकी ब्रजभाषा के कृतित्व का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

माई री रास रच्यो सरजू तट सोम श्रवन बट छांहीं।
नाचत राम गोपाल कुंज में दै सीता गर बाहीं।
रागिनि में अनुराग लता खिली वन प्रमोद के माहीं।
हरि सहचरि सुख चहल पहल में लोक वेद सुधि नाहीं।

१८ वीं शती का उत्तरार्ध एवं १६ वीं शती का प्रथम चरण इनका रचना काल है। इनके बारे में निश्चित तिथियों को जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

गुरु गोविन्द सिंह:

सिक्खों के प्रसिद्ध दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी केवल लड़ाकू वीर योद्धा ही नहीं थे, वे भावुक भक्त भी थे। यद्यपि सिक्ख सिद्धांतों के अनुसार वे निर्गुणोपासक थे, परन्तु वास्तव में उनका झुकाव पूरी तरह सगुणोपासना की ओर था। संभवत: देवी देवताओं की श्रद्धा उनके भीतर उस मानसिक शक्ति को स्फुटित करती थी, जिसकी उस संकट में समय वे उन्हें अत्यधिक आवश्यकता थी। उनका जन्म संवत् १७२३ में हुआ था और संवत् १७६५ में मृत्यु हो गई थी। वे स्वयं तो कवि थे ही, कवियों को आदर भी बहुत देते थे। उनके दरबार में वीर रस के छन्द कहने वाले अनेक कवि सम्मान प्राप्त करते रहते थे।

अपने ग्रन्थ 'गोविन्द रामायण' में रामकथा का सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण उन्होंने किया है। संभवतः राम का प्रतापी, ऐश्वर्यशाली, चतुर दमनकारी एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप उनकी आदर्श भावना के अधिक निकट था। इनकी रचना शुद्ध रूप से रसिक भावना के अन्तर्गत नहीं आती। वास्तव में वे तुलसी की परम्परा के कवि थे। उनका एक कवित्त हम उद्धृत कर रहे हैं :

निर्जन निरूप हौ, कि सुन्दर स्वरूप हौ,
कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ ?
प्रान के बचैया, दूध, पूत के देवैया,
रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौं ?

विद्या के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
　　कि सुद्धता की मूर्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ ?
जीवन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
　　कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रण के प्राण हौ ?

इसी प्रकार निम्नलिखित सवैये में उन्होंने प्रभु प्राप्ति में प्रेम का महत्त्व बताया है :

काह भयो दुहु लोचन भूपि कैं बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो ।
न्हात फिरयो लियो सात समुद्रन, लोक गयो परलोक गंवायो ।
वासु कियो विखियान सो बैठि के ऐसिहि ऐस सु बैंस बितायो ।
साचु कहौं सुनि लेहु सबै जिन प्रेंम कियौ तिन ही प्रभु पायो ।

रामप्रसाद विन्दुकाचार्य :

आपका जन्म संवत् १७६० में अवध प्रदेश के मलिहावाद नामक स्थान में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था । तरुणावस्था के प्रारम्भ में ही ये विरक्त होकर अयोध्या चले आये । कहते हैं कि एक वार जानकी नवमी के दिन सम्वत् १७८७ में स्वयं जानकी जी ने अपने हाथ से इनके तिलक लगा दिया था । मृत्यु इनकी सम्वत् १८६१ में मानी जाती है । इनके नाम से 'शिक्षा पत्री' और 'गीता तात्पर्य निर्णय' दो रचनाएँ कही जाती हैं । परन्तु इनका महत्त्व कवि के नाते न होकर साधना एवं प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक है । अपने समय के ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली संत थे ।

मामा प्रयागदास :

साधना एवं निष्ठा की दृष्टि से इस युग के एक अन्य प्रसिद्ध महात्मा हो गये है ।

१८वीं शती का निर्गुणमार्गीय ब्रजभाषा-काव्य : पृष्ठभूमि तथा संक्षिप्त रूपरेखा

निर्गुण भक्ति-मार्ग प्रेम-प्रतीक-भावधारा के आधार पर विकसित हुआ है । सगुण साकार लीलागान की परम्परा एवं अवतारवाद की अस्वीकृति के

कारण रागानुगा पद्धति के व्यवहार की आवश्यकता निर्गुण मार्ग में नहीं थी। राधा, गोपी, सखी, नन्द, सुबल या हनुमान अथवा वशिष्ठ के भाव की कल्पना करके जैसे ही भाव या कार्य की योजना का स्वीकरण निर्गुणियों की पद्धति के अनुकूल नहीं था। इसी कारण उनके सारे सम्बोधन एवं अभिव्यक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीकों पर आधारित हैं। इस दृष्टि से वे सूफी सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। ईश्वर को सामान्यतः इन लोगों ने स्वामी, पिता-माता अथवा पति के रूप में देखा है। यह परम्परा १८ वीं सदी के निर्गुणिया कवियों में पूर्णतया सुरक्षित रही है। यारी, बुल्ला, मलूकदास, सुन्दरदास, रज्जव सभी कवियों ने भगवान को इन्हीं रूपों में भावित किया है।

इस समय के निर्गुणमार्गी कवियों में एक समन्वय की वृत्ति और भी मिलती है। सगुणोपासना एवं अवतार तत्त्व का ऐसा तीखा विरोध इनमें नहीं है जैसा कि हमें कबीर में प्राप्त होता है। चरणदास एवं प्राणनाथ के बारे में तो यह कहना ही कठिन है कि वे सगुणोपासक थे या निर्गुणोपासक।

निर्गुणी कवियों के बारे में एक तथ्य और भी दृष्टव्य है कि वे या तो पूर्वीय प्रदेशों में केन्द्रित रहे या फिर राजस्थान उनका मुख्य केन्द्र रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध ब्रजभाषा में काव्य-रचना निर्गुणमार्गियों द्वारा कम ही हुई है। पूर्वीय प्रदेशों के संतों की भाषा या तो भोजपुरी रही या फिर ब्रज भाषा में भी पूर्वीय प्रयोगों का यथेष्ट उपयोग किया गया। राजस्थान में राजस्थानी शब्दों का भी अत्यधिक मिश्रण ब्रजभाषा में किया गया। रज्जवदास जैसे कवियों में यह राजस्थानी छाया अच्छी तरह देखी जा सकती है। सुन्दरदास की भाषा अवश्य स्वच्छ एवं प्रवाहशील ब्रजभाषा बनी रही है। संभवतः संतों में सर्वाधिक अधीन व्यक्ति भी वही थे। प्राणनाथ जैसे सन्त जहाँ तथ्य के क्षेत्र में समन्वयवादी हैं वहीं भाषा में भी तरह-तरह के मिश्रण उन्होंने किये हैं। गुजराती, सिंधी, फ़ारसी, तुर्की, ब्रजभाषा, बुन्देली राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं की खिचड़ी उनमें उपलब्ध हो जाती है। कभी-कभी तो उसको समझना भी कठिन हो जाता है।

इस युग की एक अन्य विशेषता है कि सन्त मत अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँटता है। यह विघटन की प्रवृत्ति भी थी और एक प्रकार का धार्मिक पुनरुत्थान भी। इस प्रवृत्ति की समानान्तर स्थितियाँ राजनैतिक जीवन में भी देखी जा सकती हैं।

दादूपन्थ के कवि

रज्जब जी—सन्त सम्प्रदायों में कबीर-पन्थ के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक दादू-पंथ है। दादू का व्यक्तित्व एवं महत्व लगभग कबीर

जैसा ही है । दादू के सैकड़ों शिष्य थे, उनमें से तीन—रज्जब जी, सुन्दरदास एवं जगन्नाथ प्रमुख हैं । इनमें से प्रथम दो का कार्यकाल विक्रम की १८ वीं सदी के पूर्वार्ध तक रहा है ।

रज्जब जी का जन्म सांगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान वंश में सं० १६२४ में हुआ था । रज्जब अली खां इनका वास्तविक नाम था । रज्जब जी के विरक्त हो जाने के बारे में एक बड़ी विचित्र किंवदन्ती है । इस किंवदन्ती के अनुसार २० वर्ष की वय के तरुण रज्जब अली खां अपना विवाह करने के वर-वेश में सांगानेर से आमेर जा रहे थे । रास्ते में दादू जी से साक्षात्कार हो गया । दादू ने उनके मन को इतना प्रभावित किया कि तत्काल विवाह का विचार छोड़ कर उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा दादू के साथ ही रहने लगे । रज्जब ज़ी के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि आजीवन वे दूल्हे के वेश में ही रहे । वे कहा करते थे कि जिस वेश ने सद्‌गुरु के दर्शन कराकर उचित राह पर लगा दिया, उसे छोड़ना उचित नहीं है । मध्यकाल के सभी कवियों में हमें गुरु के प्रति आदर का भाव प्राप्त होता है, परन्तु रज्जब जी जैसी निष्ठा के दर्शन कम ही होते हैं । दादू दयाल जी की मृत्यु का इन्हें बहुत कष्ट हुआ था । उनकी मृत्यु के पश्चात् कहा हुआ रज्जब का यह वाक्य प्रसिद्ध है :

दीन रयाल दिनो दुख दीनन, दादू सी दौलत हाथ सो लीनी ।
रोष अतीतन सौ जु कियौ हरि, रोजी जु रंकनि की जग छीनी ।[1]

रज्जब जी की बानी ज्ञान सागर प्रेस बम्बई से सम्वत् १९७५ में प्रकाशित हो चुकी है । इसमें १९४ अंगों में विभाजित उनकी ५४२८ साखियाँ हैं ।[2] तथा २१८ पद, ११६ सवैये, ८३ अरिल्ल, ८९ छप्पय तथा कुछ त्रिभंगी छन्द की फुटकर कविताएँ भी संगृहीत हैं । कुछ अन्य छोटी-छोटी रचनाएँ भी इस ग्रन्थ में प्रकाशित हैं । इस बानी के अतिरिक्त उन्होंने दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है । दादूजी की रचनाओं का संकलन सम्पादन 'अंगबधू' के नाम से एवं विभिन्न महात्माओं की रचनाओं का संकलन 'सर्वगी' के नाम से रज्जब ने किया है । सर्वंगी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसके द्वारा उस समय के संतों की वाणियों का प्रामाणिक रूप ही उपलब्ध नहीं होता, रज्जब जी की उदारतावादी विचारधारा भी प्रकट होती है ।

रज्जब जी के साहित्यिक महत्त्व का आकलन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"रज्जवदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ४२५ ।
२. वही, सन्त काव्य, पृ० ३७० पर दी गई संख्या के आधार पर ।

अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथा कथित शास्त्रीय काव्य गुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पदों में कहते हैं रज्जब उस तत्त्व को सहज ही छोटे-छोटे दोहे में कह जाते हैं। इनके वक्तव्य विषय भी वही हैं जो साधारणतः निर्गुण भावापन्न साधकों के होते हैं, पर साफ़ और सहज अधिक।[1] ऐसा लगता है कि रज्जब जी कथा-वार्ता की शैली के मर्मज्ञ थे, इसी कारण दृष्टान्तों के बड़े मार्मिक प्रयोगों द्वारा एक प्रकार की नाटकीयता की स्थापना उन्होंने अपने काव्य में की है।

थकित होत पाका सुमन, ज्यूं कण हांडी मांहि।
काचा कूदै ऊधलै, निहचल बैठे नांहि।[2]

मुसलमान होने के कारण सम्भवतः वे सूफी प्रभाव को अधिक स्वाभाविक रूप में ग्रहण कर सके थे; इसी कारण उनके काव्य में प्रेम का वेग अतिरिक्त रूप से तीव्र एवं प्रवाहशील है। विरहिणी की मर्मान्तक वेदना को विचित्र करने वाला पद नीचे हम उद्धृत कर सके हैं—भाषा का राजस्थानी रंग भी उल्लेख्य है :

म्हारो मंदिर सूनो राम बिन विरहिण नींद न आवै रे।
पर उपगारी नर मिलै, कोइ गोविन्द आन मिलावै रे।
चेती विरहिण चित न भाजै, अविनासी नहिं पावै री।
बहु वियोग जागे निसवासर, बिरहा बहुत सतावै री।
बिरह बियो बिरहिणी बीधी, घर बन कछु न सुहावे रे।
दह दिसि देखि भयो चित चकरित, कौन दसा बरसावै रे।
ऐसा सोच पड्या मन माहीं, समझि समझि घूंधावै रे।
बिरहबान घटि अन्तर लाग्या, घायल ज्यूं घूमावै रे।
विरह अगिनि तनपिंजर छीनां, पिव कूं कौन सुनावै रे।
जन रज्जब जगदीस मिले बिन, पल पल बज्र बिहावै रे।[3]

विरह के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला निम्नलिखित दोहा तो ठेठ सूफ़ी शब्दावली एवं भावना को ही व्यंजित करता है :

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० १४७।

२. सन्त काव्य, पृ० ३८२।

३. कल्याण : सन्तवाणी अंक, पृ० २५७।

दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहां मिलै सो पीव।

रज्जब की मृत्यु सम्वत् १७४६ में मानी जाती है, इस प्रकार उन्हें १२२ वर्ष की लम्बी आयु मिली थी।

सुन्दरदास :

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में सुन्दरदास के महत्त्व का स्थापन करते हुए कहा है, "निर्गुणपंथियों में ये ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य-कला की रीति आदि से परिचित थे। अतः इनकी साहित्य रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है।...उन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं।...संत तो ये थे ही, पर कवि भी थे इससे समाज की रीति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे।"[1]

ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सुन्दरदास का जन्म वैश्य कुल में जयपुर राज्यान्तर्गत द्यौसा नामक क़स्बे में सं० १६५३ चैत्र शुक्ल ९ को हुआ था। ६ वर्ष की आयु में ही इनके पिता ने दादी जी के चरणों में डालकर इनको दीक्षा दिला दी थी। उसके बाद से अधिकांशतः वे दादी जी के पास ही रहने लगे। जग जीवन जी इनके ज्येष्ठ गुरुभाई थे और वे स्नेहपूर्ण ढंग से सम्प्रदाय की साधना का मर्म उनके सम्मुख उद्घाटित करते चलते थे। दादू की मृत्यु के पश्चात् वे जगजीवन जी के प्रयत्नों से संवत् १६६३ में विद्याध्ययन के लिए काशी आये। काशी में विविध शास्त्रों का गंभीर अध्ययन लेकर सं० १६८२ में वे फ़तेहपुर (शेखावाटी) लौट आये। काशी से लौटने के बाद उन्होंने लगभग १२ वर्ष योगाभ्यास किया तथा फिर तमाम देश का पर्यटन कर अनुभव प्राप्त करते रहे। योगाभ्यास एवं देशाटन इन दोनों के अनुभव उनके काव्य में हमें उपलब्ध हो जाते हैं। घूमघाम कर वे फिर सांगानेर (रज्जब जी की जन्मभूमि) चले आये। रज्जब जी के प्रति उनके मन में अत्यधिक स्नेह एवं आदर का भाव था। कहा जाता है कि संवत् १७४६ में रज्जब जी की मृत्यु की वेदना से ही इन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार सं० १७४६ ही उनका भी मृत्यु संवत् है।

सुन्दरदास द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। दो भागों में अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पादित करके उनकी रचनाओं का संग्रह 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम मे पुरोहित हरि नारायण शर्मा ने प्रकाशित कराया है। उनमें

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८१-८२।

संकलित छोटे बड़े ग्रन्थों की संख्या ४२ है परन्तु 'ज्ञान समुद्र' एवं 'सुन्दर विलास' ही आकार एवं महत्त्व दोनों ही में बड़े हैं। 'ज्ञान समुद्र' में पांच उल्लास या अध्याय हैं जिनमें क्रमशः गुरु, नवधा भक्ति, अष्टांग योग, सैश्वर सांख्य मत एवं अद्वैत ब्रह्म ज्ञान का पाण्डित्यपूर्ण निरूपण किया गया है। ग्रन्थ पूर्ण रूपेण सिद्धान्तपरक कहा जा सकता है। सुन्दर विलास में सन्तों द्वारा निरूपित विषयों एवं आत्मानुभूतियों का ललित एवं काव्यात्मक शैली में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ को सवैया भी कहा गया है। इसमें कुल ५६३ छन्द हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी जी ने उनके सम्बन्ध में रज्जब जी से तुलना करते हुए एक टिप्पणी दी है। उसमें कहा है:—"अपनी विद्वत्ता में ये अपने गुरुभाई रज्जब जी से भी बढ़े-चढ़े थे और साहित्यिक प्रवीणता भी इनमें उनसे अधिक थी।[1] पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़ कर ये अन्य विषयों पर लिखते थे तब निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी।"[2]

सुन्दरदास की इन दार्शनिक, योगपरक रचनाओं से हमारे आलोच्य विषय का सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में वे अनावश्यक ही कही जायेंगी। परन्तु जहाँ पर प्रेम और भक्ति की अनुभूतिप्रवण कलात्मक रचनाएँ उन्होंने की हैं, वे हमारे लिये अवश्य ही प्रासंगिक एवं विवेचनीय हैं। नीचे हम उनकी ऐसी ही कतिपय रचनाएँ उद्धृत कर रहे हैं। निम्न दोहे में प्रेम एवं अनन्यता के साथ ही व्याकुलता की भी अनुभूति छिपी हुई है :

प्रीतम मेरा एक तू, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारज, काहि न परगट होइ।

निम्नांकित सवैये में उन्होंने प्रेम का शरीर एवं चित्तवृत्तियों पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्ट किया है। इस पराभक्ति की अवस्था में उनके अनुसार नवधा भक्ति से भक्ति करने का भी अवकाश शेष नहीं रहता। प्रेमाभक्ति की यह परिभाषा भी है और उसका व्यावहारिक रूप भी :

प्रेम लग्यो परमेस्वर सों, तब भूलि गये सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित नेकु रही न सरीर संभारा।
सांस उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करे नवधा विधि छाकि पर्यौ रस पी मतवारा।[3]

---

१. सन्त काव्य, पृ० ३८५।
२. हिन्दी साहित्य, पृ० १४६।
३. ज्ञान समुद्र : भक्ति निरूपण, ३८।

न लाज कानि लोक को न वेद को कह्यो करे ।
न संक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरे ।
सुने न कौन और की, द्रसे न और इच्छना ।
कहे न कहू और वात, भक्ति प्रेम लच्छना ।[1]

गोपी-भाव और इस प्रेमा-भक्ति की समानता और एकता दिखाते हुए भी उन्होंने कहा है कि :

प्रेम अधीनो क्यों डोलै, क्यों की क्यों ही बानी बोलै ।
जैसे गोपी भूली देहा, ता कौं चाहे जासों नेहा ।[2]

उनके समस्त पाण्डित्य, कलात्मकता, कारुकारिता एवं व्यापक अनुभव को स्वीकार करते हुए भी हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि आत्मानुभूति की जिस तीव्रता के दर्शन हमें रज्जब जी में होते हैं उसका सुन्दरदास में अपेक्षाकृत अभाव है। परन्तु फिर भी वे हमारे आलोच्य युग के कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ कवियों में से हैं।

सत्तनामी सम्प्रदाय के कवि

जगजीवन दास :

सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के पुनः संगठनकर्ता जगजीवन दास जी का जन्म सं० १७२७ माना जाता है तथा इनका देहान्त सं० १८१८ में हुआ था। वे बाराबंकी जिले के सरदहा नामक गांव के रहने वाले थे जो कोटवा से ४ मील दूर है। जगजीवन दास जी यावत्‌जीवन गृहस्थी में ही रहे। इन्होंने परमात्मा को अधिकतर सत्त या सत्य कहा है, उसी के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। शरणागति एवं प्रभु-कृपा का इस सम्प्रदाय में बहुत अधिक महत्त्व है। उनके काव्य की भाषा यद्यपि अवधी है पर कहीं-कहीं ब्रज के भी प्रयोग उनमें उपलब्ध हो जाते हैं। यत्र-तत्र उनमें सूफी-भावना की झलक भी मिल जाती हैं। उनका एक पद इस प्रकार है :

पपिहै पीय पुकारेउ पंछिन आगे रोय ।
तीनि लोक फिरि आयेउ बिनु दुख लख्यो न कोय ।
जोगिन ह्वै जग ढूढ़ेउ, पहिरयों कुंडल कान ।
पिय को अन्त न पायेउं, खोजत जनम सिरान ।

---

१. ज्ञान समुद्र : भक्ति निरूपण, ३६ ।
२. वही, वही, ४१ ।

जगजीवन दास के रचे हुए सात ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से शब्द-सागर प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्थों के नाम हैं:—प्रथम ग्रन्थ, ज्ञान प्रकाश, आगम पद्धति, भट्टा प्रलय, प्रेम पंथ और अघ विनाश।

दूलनदास :

सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के पुनः संगठनकर्ता जगजीवन साहब के शिष्य दूलनदास का जन्म लखनऊ ज़िले के समेसी ग्राम में सं० १७१७ माना जाता है। मृत्यु आपकी संवत् १८३५ में हुई थी। ये एक ज़मींदार कुटुम्ब में उत्पन्न हुए थे और जीवन का अधिकांश भाग गृहस्थ-रूप में ज़मींदारी की व्यवस्था करते हुए बिताते रहे। इस सांसारिक जीवन के बावजूद उन्होंने अपना जीवन बड़े सादे ढंग से बिताया एवं आध्यात्मिक चिन्तन में सदैव लीन रहे। जीवन के अन्तिम भाग में अपना साधनात्मक जीवन रायबरेली जिले में एक गांव में बस कर व्यतीत करते रहे।

अवधी भाषी प्रदेश में उत्पन्न दूलनदास के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अवधी में काव्य-रचना करते। फिर भी व्रजभाषा में उनके कुछ-न-कुछ पद अवश्य प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि इनमें भी पूर्वीय प्रयोगों की प्रचुरता रहती है। सन्त दूलनदास के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि वे निर्गुणमार्गी सत्तनामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर उनकी अभिव्यक्तियाँ सगुण भाव के रंग में पूरी तरह रंगी हुई हैं। उन्होंने सगुण-लीला के अनेक प्रसंगों का बहुधा उल्लेख किया है। परन्तु वे उन्हीं घटनाओं या लीलाओं की ओर आकृष्ट हुए हैं जो प्रभु के रक्षक, शरणागत प्रतिपालक, दीनबन्धु रूप को स्पष्ट करती हैं। गजेन्द्र मोक्ष, दौपद्री लाज रक्षा, आदि प्रसंगों का उन्होंने कृतज्ञ एवं आतुर भाव से उल्लेख किया है। इस प्रकार सगुण मतवाद का उन पर प्रभाव पड़ रहा था। उनका गजेन्द्र मोक्ष का पद इस प्रकार है :

> **जब गज अरध नाम गुहरायो।**
> **जब लगि आवे दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो।**
> **पाय पियादे में करुनामय, गरुड़ासन बिसराये।**
> **घाइ गजेद गोद प्रभु लीन्हों, आपनि भक्ति दिढ़ाये।**[1]

इस प्रकार उन्हें दास-भाव का भक्त माना जा सकता है।

---

१. कल्याण : सन्तवाणी अंक, पृ० २२९।

शुक-सम्प्रदाय के कवि

चरणदास :

शुक-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक स्वामी श्यामचरण दास का प्रारंभिक नाम रणजीत था। भाद्रपद शुक्ल तृतीया सं० १७६० को इनका जन्म भार्गव वंश में हुआ था।[1] भागवत कथा के गायक शुकदेव मुनि को ये अपना गुरु मानते थे तथा सरस माधुरी जी के अनुसार १९ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली थी। संभवतः प्रारम्भ में वे योग-साधना में लगे रहे, परन्तु उससे मन नहीं भरा और सम्वत् १७९३ में ब्रज चले आये, यहाँ पर प्रेमाभक्ति के शीतल जल ने उन्हें सन्तुष्ट किया। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है :

चार वेद किये व्यास ने, अर्थ विचार विचार।
ता में निकसी भक्ति ही, रामनाम तत सार।

यह बात सूचित करती है कि उनका मन भक्ति में ही सन्तुष्टि प्राप्त कर सका था। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि पहले वे भक्ति के मार्ग में गये हैं या योग के। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी रचनाओं में भक्ति, योग, ज्ञान का अद्‌भुत संयोग है। भक्ति के इस क्षेत्र में भी उन्होंने विविध विचार-धाराओं का समन्वय अपनी रचनाओं में किया है। पीछे चतुर्थ अध्याय में हम इन सब बातों का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। साधनागत इन समन्वयों के अतिरिक्त नैतिक शुद्धता सद्‌व्यवहार आदि को भी उन्होंने पर्याप्त स्थान दिया है।

सन्त चरणदास के ग्रन्थों के बारे में कुछ विवाद है। कुछ लोग इनके २१, १५ या १२ ग्रन्थ मानते हैं। १५ ग्रन्थों का एक संग्रह श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से इनके ग्रन्थों का संग्रह 'भक्ति सागर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें निम्नलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं :—ब्रज चरित्र, अमरलोक अखंड धामवर्णन, धर्म जहाज, ज्ञान स्वरोदय, अष्टांग जोग, पंचोपनिषद्, सन्देह सागर, भक्ति पदारथ वर्णन, मन विरक्त करन सार गुटका, ब्रह्म ज्ञान सागर, भक्ति सागर। इसके अतिरिक्त उदयपुर के सरस्वती भंडार पुस्तकालय में इनके हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रामाणिक संकलन उपलब्ध है।[2]

---

२. भक्ति-सागर में सरसमाधुरी द्वारा वर्णित चरणदासाचार्य, पृ० ६, (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)।

२. डॉ० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १९९।

इसमें संगृहीत ग्रन्थ लगभग वही हैं जो नवल किशोर प्रेस के संग्रह में हैं। अपने ग्रन्थ लेखन का रचना संग्रह सम्वत् उन्होंने एक स्थान पर सम्वत् १७८१ बताया है। निर्गुण और सगुण भक्ति दोनों को सूचित करने वाली हम इनकी दो रचनाओं को उद्धृत कर रहे हैं। प्रथम रचना निर्गुण प्रेमप्रतीक भावधारा के अन्तर्गत परिगणनीय है :

गद्गद वाणी कंठ में, आंसू टपके नैन।
वह तो विरहन राम की, तड़फत है दिन रैन।
हाय हाय हरि कब मिलै, छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करूं अघाय।
पीव चहौ कै मत चहौ, वह तो पी की दास।
पी के रंगराती रहै, जग सूं होय उदास।
आज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के संग।
तन मन सों सेवा करै, और न दूजो रंग।

चरणदास जी ने राधा और कृष्ण की तथा कृष्ण और गोपियों की अनेक लीलाओं का गान किया है। रास-नृत्य में निरत राधाकृष्ण का यह चरित्र किसी भी युगलोपासक के लिए स्पृहणीय हो सकता है :

रास में निरत करत बनवारी।
मुदित मनोहर रंग बढ़ावत संग वृषभानु दुलारी।
मोर मुकुट छवि शीश विराजत नाक बुलाक सुढारी ;
कर मुरली कटि काछनि काछै अलकै घूंघरवारी।
राधा जी के शीश चन्द्रिका नीलाम्बर जरतारी।
गावै सखी श्याम श्याम संग नखशिख रूप उजारी।
ताधिना ताधिना धीन बजत पखावज ताल बीन गति न्यारी।
ठनन ठनन ठन नूपुर की धुनि झननझनन झनकारी।
चरणदास शुकदेव दया सूं पायो दरश मुरारी।[1]

चरणदास के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि वे बहुश्रुत और बहुपठित व्यक्ति थे। उनके काव्य में यद्यपि कृत्रिम आलंकारिता का स्थान नहीं है परन्तु फिर भी अभिव्यंजनागत चमत्कारों का उनमें नितान्त अभाव नहीं है। यों

---

१. चरणदास : भक्ति सागर, पृ० ३५६-३५७।

सीधी सादी सरल शैलीं में उन्होंने अपने कथ्य को उपस्थित किया है। ब्रज के अतिरिक्त उनकी भाषा में राजस्थानी, पंजाबी एवं रेख्ता के भी प्रयोग हैं। प्रेम और भक्ति के प्रसंगों में उनकी वाणी में एक अतिरिक्त भास्वरता आ जाती है।

सहजो बाई :

सहजो बाई महात्मा चरणदास की शिष्या थीं तथा संवत् १८०० में वे वर्तमान थीं।[1] उनका रचनाकाल १८ वीं शती का अंतिम भाग एवं १९ वीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। साधना एवं भावात्मकता की दृष्टि से सहजो बाई के काव्य में निष्ठा की एक दीप्ति प्राप्ति होती है। अपने गुरु के प्रति इनके मन में अगाध निष्ठा थी :

निस्चैं यह मन डूबता मोह लोभ की धार।
चरनदास सतगुरु मिला, सहजो लाई उबार।[2]

सहजो बाई के काव्य में साधनानुभूति की तीव्रता और निष्ठा के साथ ही जीवन के अनुभव एवं काव्य की चामत्कारिकता भी संजोयी हुई है।उन्होंने सांसारिक कष्टों के प्रभावशाली चित्र उपस्थित करते हुये प्रभु-भक्ति का उपदेश दिया है। यह अंश कवयित्री की काव्य-कुशलता एवं कल्पनाशक्ति का प्रमाण है। यों तो संसार की असारता दिखाकर सभी संतों ने आध्यात्मिक पथ की ओर मन को मोड़ना चाहा है, परन्तु उस असारता का काव्य की परिपाटी पर जो बिम्बग्रहण होना चाहिए उसे कराने में या तो अधिकांश संत असफल हुए हैं अथवा उनकी प्रवृत्ति उस ओर नहीं रही है। परन्तु सहजोबाई ने मनुष्य के जीवन से लेकर मृत्यु तक के अनेक कष्टों के मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं। अर्थ सम्बन्धी कष्ट का एक चित्र देखिए :

द्रव्यहीन भटकत फिरै, ज्यों सरांय को स्वान।
झिड़कि दियो जेहि घर गया, सहजो रह्यौ न मान[3]।

सहजोबाई ने प्रेम मार्ग के भी अनेक मार्मिक वर्णन किये हैं :—

---

१. सहजोबाई की वानी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग में सहजोबाई का जीवन चरित्र।
२. वही, पृ० १०।
३. सहजोबाई की बानी, पृ० २६, दोहा सं० ७८।

प्रेम दीवाने जो भये, प्रीतम के रंग माँहि।
सहजो सुधि बुधि सब गई, तन की सोधी नाँहि।
प्रेम दीवाने जो भये, पलटि गयो सब रूप।
सहजो दृष्टि न आवई, कहा रंक कहा भूप।
प्रेम दीवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हांसी छूटै, कबहूं टपके नैन।[1]

दया बाई :

दयाबाई सहजो बाई की गुरु बहिन तथा महात्मा चरणदास की शिष्या थीं। इसीलिए इनका भी समय १८ वीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जा सकता है। दयाबाई में लगभग वही प्रवृत्तियाँ हमें मिलती हैं जिनकी चर्चा हम सहजोबाई के प्रसंग में कर चुके हैं। बल्कि उनमें स्त्रियोचित भावावेग का प्राबल्य अधिक है। उनके कुछ उद्गार आन्दाल, राबिया, एवं मीरा के समकक्ष रखे जा सकते हैं। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं :

जनम जनम के बीछुरे, हरि ! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूं दुख देत हो, विरह तपाय तपाय।
काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्ध में परयो मन, ना निकसन को घाट।
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवे केहि ओर।
छिन उठूं छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर।।[2]

दयाबाई के काव्य में सहजता एवं स्वाभाविकता का गुण बड़ी मात्रा में हैं। विद्वत्ता एवं व्यापक जीवनानुभवों के स्थान पर सहज पारिवारिक चित्रों के माध्यम से उन्होंने अपनी बात कही है। उन्होंने भगवान् और भक्त के मध्य माता एवं पुत्र का संबंध भी उपमान के रूप में उपस्थित किया है :

नहिं संजम नहिं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत हैं, ज्यों बालक नादान।
लाख चूक सुत से परै, सो कुछु तजि नहि देह।
पोष चुचुक ले गोद में, दिन-दिन दूनों नेह।[3]

---

१. सहजोबाई की बानी पृ० ३६ दोहा सं० ३-४-५।
२. दयाबाई, कल्याण, संतवाणी अंक, पृ० २७१।
३. वही, वही, पृ० २७१।

बावरी पंथ के कवि

यारी साहब :

बावरी सम्प्रदाय के अनुयायी यारी साहब का पूरा नाम यार मुहम्मद था। अपने सांसारिक जीवन में वे संभवतः ऐश्वर्य सम्पन्न थे तथा उस वैभव को छोड़कर उन्होंने फकीराना वेश अपनाया था। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि वे प्रारंभ में सूफ़ी थे परन्तु बाद को बावरी पंथ के बीरू साहब के सम्पर्क में आने पर संत मत में दीक्षित हो गये थे।[1] यारी साहब की एक रचना 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है, उसके सम्पादक के अनुसार वे संवत् १७२५ से १७८० के बीच वर्तमान रहे होंगे परन्तु परशुराम जी का अनुमान है कि अठारहवीं शती के मध्य भाग में उनका स्वर्गवास हो गया होगा।[2] उनकी समाधि दिल्ली नगर में अब भी वर्तमान है।

यारी साहब के काव्य के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि "इनकी पंक्तियों में तल्लीनता एवं निर्द्वन्द्वता के भाव विशेष रूप से लक्षित होते हैं और अनुमान होता है कि ये सदा किसी ऊँचे भाव-स्तर पर रहा करते थे।" यारी साहब, चूंकि तसव्वुफ़ के भी निकट सम्पर्क में रह चुके थे इसलिए उनके काव्य में प्रेम की एक मार्मिक दीप्ति प्राप्त होती है। यह हम पहले भी कह चुके हैं कि निर्गुणियों एवं सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति लगभग समान होती है। कहानी का आवरण हटा देने के बाद शुद्ध प्रेमानुभूति ही दोनों में अवशिष्ट रहती है। यारी साहब के निम्न पदों में हमें प्रेम की यही मार्मिकता मिलती है। प्रथम छन्द विरहिणी आत्मा का उद्बोधन है एवं द्वितीय में प्रेमानुभूति में पगी आत्मा की अभिलाषा व्यक्त हुई है :

विरहिणी मन्दिर दियना वार।
बिन बाती बिन तेल जुगुति सों बिन दीपक उजियार।
प्रान प्रिया मेरे घर आयो, रचि पचि सेज संवार।
सुखमन सेज परमतत रहिया, पिय निरगुन निरंकार।
गावहु री मिलि आनंद मंगल, यारी मिलकै यार।

—रत्नावली, शब्द सं० १

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ३७८।
२. वही, पृ० ३७९।

हौं तो खेली पिया संग होरी।
दरस परस पतिबरता पियाकी छवि निरखत भई बौरी।
सोरह कला संपूरन देखौं, रवि ससि में इक ठौरी।
जब ते दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगोरी।
रसना रटत रहत निसिवासर, नैन लगो यहि ठौरी।
कहँ यारी भक्ती करूं हरि की, कोई कहै सो कहो री।

—रत्नावली, शब्द सं० २।

केशवदास :

यारी साहब के पाँच प्रमुख शिष्यों में से एक केशवदास थे। उनकी एक छोटी-सी पुस्तिका 'अमी घूंट' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक की भूमिका में उन्हें संवत् १७५० से १८२५ के मध्य में स्वीकार किया गया है।[1] परन्तु यदि परशुराम चतुर्वेदी का यह अनुमान ठीक है कि यारी साहब का रचना-काल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध था तो फिर केशवदास का समय अधिक से अधिक १८ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। प्रेम एवं पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग केशवदास जी ने भी किया है :

अविनासी दूलह बने मन मोह्यो, जा को निगम बतावै नेत।
निरंकार निरअंक निरंजन, निर्विकार निरलेस।
अगद अजोनि भवन भरि पायो, सतगुरु के उपदेश।[2]

मारवाड़ी-राजस्थानी शब्दों के प्रयोग के समेत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

पिय प्यारे रूप भुलानी हो।
प्रेम ठगौरी मन रह्यो, बिन दाम बिकानी हो।
भंवर कमल रस बोधिया, सुख स्वाद बखानी हो।
दीपक ज्ञान पतंग सों, मिलि जोति समानी हो।[3]

बुल्ला (बूला) साहब :

यारी साहब के एक अन्य प्रमुख शिष्य बुल्ला साहब थे। इन्होंने बावरी पंथ का प्रचार पूर्वी क्षेत्रों में किया था। ग़ाजीपुर ज़िले में भुरकुड़ा ग्राम इनका मुख्य केन्द्र था। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे कुनबी या कुरमी जाति के थे एवं

१. अमी घूंट (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), जीवनचरित्र, पृ० ४।
२. वही, पृ० ४।
३. वही ६।

यारी साहब के सम्पर्क में आकर वैराग्य के क्षेत्र में आ गये थे तथा शीघ्र ही पहुँचे हुए सन्तों में उनकी गिनती होने लगी थी। परशुराम चुतुर्वेदी के अनुसार उनका जन्म संवत् १६८९ में हुआ था तथा मृत्यु १७६६ में। बुल्ला साहब की रचना 'शब्द सार' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। इनकी रचनाओं में भी अपने गुरु के ही समान प्रेम-प्रतीक-प्रधान भक्ति-भावना का प्रकाशन हुआ है। नीचे जो पद हम उद्धृत कर रहे हैं उसमें से यदि शून्य भवन जैसे कुछ शब्द निकाल दिये जायँ तो यह कहना कठिन हो जायँगा कि यह किसी गोपी का वचन है अथवा निर्गुण मार्गी भक्त का उद्गार। पद इस प्रकार है :

आली आजु कि रैन प्रीति मन भावे।
गाय बजावत हँसत हँसावत, सब रस लेय मनावें।
जन बुल्ला हरि-चरन मनावै, निरखि सुरति गति आपु मैं पावें।

—शब्द सार पृ० १५।

हरि हम देख्यौं नैननि बीच, तहां बसंत धमारि कीच।
आदि अंत मधि बन्यो बनाय, निरगुन सरगुन दोनो भाय।
चीन्हेव तिन्ह को लियो लगाय, अनबूझो रहिगो मुंह बाय।
सुन्न भवन मन रह्यो समाय, तहं ऊठत लहरि अनन्त आय।
जगमग जगमग है अंजीर, जनबुल्ला है सेवक तीर।

शब्दसार पृ० १८।

आठ पहर चौंसठ घड़ी, भरो पियाला प्रेम।[1]
बुल्ला कहै विचारि कै, इहै हमारो नेम।

यों अपने प्रियतम को उन्होंने नित्य एक रस तथा सर्वगुणसम्पन्न बताया भी है।

ना वह टूटै ना वह फूटै, ना कबहीं कुम्हिलाय।[2]
सर्वकला गुण आगरो, मो पै वरनि न जाय।

(तुलनीय किशोर कृष्ण से।)

गुलाल साहब :

बूला साहब और गुलाल साहब के मध्य बड़ा विचित्र सम्बन्ध रहा है। कहते है कि अपने लौकिक सांसारिक जीवन में गुलाल साहब मालिक

१. बुल्ला साहब का शब्द सार, साखी २, पृ० ३१।
२. वही, साखी, पृ० ३१।

थे और बूला साहब (बुलाकीराम) नौकर। परन्तु जब बुलाकी राम संत मत में दीक्षित होकर बूला साहब बन गये तब गुलाल साहब ने भी उनसे संत मत की दीक्षा ली और वे उनके प्रमुख शिष्यों में से गिने गये। गुलाल साहब की बानी भी बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ज्ञान गुष्टि और राम सहस्रनाम भी कहे जाते हैं। गुलाब साहब का समय भी सं० १७५० से लेकर सं १८१७ तक माना जाता है। भुरकुड़ा की गद्दी पर वे सं० १७६६ से लेकर सं० १८१७ तक आसीन रहे।[1] इनकी रचनाओं में भाषा का स्वर पूर्वी रचनाओं का है। परन्तु ब्रजभाषा के प्रयोग भी उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। इनकी रचना एवं प्रेमकृति का प्रकाशक एक पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं :

राम चरन चित अटको।
सहज सरूप भेख जब कीन्हेयां, प्रेम लगन हिय लटको।
लागि लगन हिय निरखि निरखि छवि,सुधि बुधि बिसरी उर के नयन।
उठत गुंज नभ गरजि दसहुं दिसि, निरपट झरत रतन।
भयो है मगन पूरन प्रभु पायो, निर्मल निर्गुनसत तटनी।
कह गुलाल मेरे वही लगन है, उलटि गयो जैसे नटनी।[2]

भोजपुरी-अवधी मिश्रित ब्रजभाषा में प्रभु अनुग्रह पर विश्वास प्रकट करने वाली ये पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं :

यह मन चंचल चोर अन्याई,
भक्ति न आवत एक किना।
कृपा कियौ प्रभु दृष्टि निहार्यों।
सब थकि लागि रहल को ना।[3]

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४८४।
२. कल्याण संतवाणी अंक, पृ० २२२।
३. वही, पृ० २२८।

१८वीं शती के कतिपय अन्य ब्रजभाषा-काव्य की रचना-करने वाले संत कवि

मलूकदास :

मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ में इलाहाबाद के कड़ा नामक ग्राम में हुआ था। जाति से ये खत्री तथा पेशे से व्यवसायी थे। प्रारम्भ से ही ये कोमल प्रकृति के थे। तथा बहुत कम आयु में ही ये वैराग्य की ओर आकर्षित हो गये थे। लड़कपन से ही ये साधुओं का स्वागत और सत्संग किया करते थे। उन्होंने तीर्थाटन भी किया था तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु से दीक्षा लेने के उपरांत भी यावज्जीवन गृहस्थ ही बने रहे। इनकी मृत्यु संवत् १७२६ में हुई थी। मलूकदास के रचे हुए नौ ग्रन्थ परशुराम चतुर्वेदी ने बताए हैं जिनके-नाम इस प्रकार हैं :[1]

(१) ज्ञान बोध (२) रतन खान (३) भक्त बक्षावली (४) भक्त विरुदावली (५) पुरुष विलास (६) रस रत्नग्रन्थ (७) गुरु प्रताप (८) अलख बानी (९) रामावतार लीला।

मलूकदास का एक दोहा संसार में प्रसिद्ध है :

अजगर करै न चाकरी पक्षी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

परन्तु मलूकदास आलस्य का उपदेश कभी नहीं देना चाहते। वास्तव में उन्हें ईश्वर और उसके अस्तित्व पर बहुत अधिक विश्वास था। यद्यपि वे संत मतानुयायी एवं निर्गुण उपासक थे परन्तु भावना के आवेग में निर्गुण के बन्धनों को त्याग कर एक परमेश्वर से अपना निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। दैन्य एवं विनय के भाव की व्यंजना करने वाला उनका यह सवैया इस बात को स्पष्ट करने में समर्थ है :

दीन दयाल सुनी जब तै, तब तै हिय में कुछ ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, मैं तेरे हित की खैंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहो अब मेरी हंसी नहिं तेरी हंसी है।[2]

---

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५०८।
२. परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, पृ० ३५८।

मलूकदास पूर्वी प्रदेश में जन्मे थे और वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। इसलिए उनकी रचनाएँ पूर्वी भाषाओं के अन्तर्गत आती हैं। ब्रजभाषा में उनकी रचनाएँ कम ही प्राप्त होती हैं। मलूकदास ने मलूकदासी पंथ का प्रवर्तन भी किया था।

संत तुलसीदास निरंजनी :

आपका समय संवत् १७०० के आसपास है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध निरंजनी संप्रदाय के अनुयायी थे तथा ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन तथा वेदान्त का उनका अच्छा अध्ययन था। उनकी रचनाओं का एक बड़ा संग्रह डॉ० बड़थ्वाल के पास था। संत तुलसीदास ने नवधा भक्ति का वर्णन अपने सम्प्रदायानुसार किया है :

> **तुलसी यह साधन भगति तरलौं सींची सोय।**
> **तिन प्रेमाफल पाइया प्रेम मुक्ति फल जोय॥[1]**

परन्तु सब मिलाकर उनकी रचनाओं में भावात्मकता का अभाव मालूम पड़ता है। सिद्धांत कथन, वैराग्य, निर्गुण-उपासना आदि की ही चर्चा उन्होंने अधिक की है। भाषा भी मधुर एवं चामत्कारिक नहीं हो सकी है।

धरणीदास :

बाबा धरणीदास का रचनाकाल १७ वीं शती का अन्तिम एवं १८ वीं शती का प्रथम चरण था। उनके जीवन-मृत्यु के संवतों का प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सका है पर उनके ग्रन्थ 'प्रेम प्रगास' से ज्ञात होता है कि सं० १७१३ में उन्होंने वैराग्य लिया था। वे छपरा के किसी कायस्थ के पुत्र थे। रामानंद की शिष्य-परंपरा में विनोदानंद को उन्होंने अपना गुरु बताया है। धरणीदास के शब्द प्रकाश, प्रेम प्रगास, तथा रत्नावली नामक तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें से 'प्रेम प्रगास' ग्रन्थ में एक प्रेम-कहानी दी हुई है। इस कहानी की योजना यह बताती है कि उन पर सूफ़ी प्रभाव की स्पष्ट छाया थी। इसके अतिरिक्त सगुण मतवादियों से उन्होंने ईश्वर के दयालु, दीनबन्धु वाले रूप को ग्रहण किया है। प्रिय एवं प्रिया (परमात्मा एवं आत्मा) के प्रतीक के साथ ही रक्षक, प्रतिपालक आदि रूपों को भी उन्होंने स्वीकारा है :

---

१. संतकाव्य, साखी ६।

प्रभु जी अब जनि मोंहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन-तारन, जुग-जुग विरद तिहारो।[1]

प्रेम की प्रगाढ़ व्यंजना उनके द्वारा रचित भोजपुरी के पदों में अधिक सुन्दर हो सकी है। ब्रजभाषा का तो प्रयोग ही उनमें अत्यंत विरल है।

प्रणामी सम्प्रदाय के कवि

प्राणनाथ :

प्राणनाथ जी प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। १८ वीं शती की धर्म-साधना के क्षेत्र में उनका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सर्वधर्म-समन्वय का अपूर्व प्रयास उस युग में किया था। कहते हैं कि औरंगज़ेब की धर्मान्धिता से क्षुब्ध होकर वे उसे समझाने दिल्ली भी गये थे, परन्तु वहाँ पर किसी ने इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ से निराश होकर प्राणनाथ जी पन्ना चले गये एवं छत्रसाल की हिन्दू राष्ट्रीयता के पीछे भी उनका आशीर्वाद रहा है। इनके सम्प्रदाय की दो मुख्य गद्दियों में आज भी एक पन्ना में है और दूसरी सूरत में। १६७५ वि० के आसपास उनका जन्म हुआ था एवं सम्वत् १७५१ में वे स्वर्गवासी हुए थे। प्राणनाथ जी के गुरु का नाम देवचन्द था और सम्भवतः वे कृष्णोपासक हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय के शिष्य थे। राधाकृष्ण की युगल-लीलाओं के गान की शिक्षा उन्हें संभवतः अपने सखी भावोपासक गुरु से ही मिली थी। पर प्राणनाथ जी का महाप्राण व्यक्तित्व केवल गुरु द्वारा बताई उपासना-विधि में समा नहीं सका। उन्हें और भी जिज्ञासा हुई और अनेक धर्मग्रन्थों का पारायण करके उन्होंने अपने लिए जो रास्ता निकाल लिया है उसका समझना दूसरों के लिए भले ही कठिन हो पर स्वयं प्राणनाथ जी अविचल विश्वास के साथ अपने सामंजस्यवादी मार्ग पर चलते रहे परन्तु वैष्णव प्रेम मार्ग का तिरस्कार उन्होंने कभी नहीं किया। उनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तारतम सागर (स्वरूप सागर) से चुनकर 'प्रेम-पाठ' नामक पुस्तक प्रकाशित की गई है।[2] अधिकारियों के हाथ में ही वितरित की जाने वाली इस पुस्तक की एक प्रति हमें प्राप्त हो गई है, उससे ज्ञात होता है कि राधाकृष्ण के लीलागान का उन्होंने बाद को भी प्रत्याख्यान नहीं किया। इस वाणी में यद्यपि निर्गुण अथवा अन्य धर्म भावापन्न रचनाएँ प्रभूत हैं, पर लीला-गान का अंश भी कम नहीं है।

---

१. प० रा० चतुर्वेदी: संतकाव्य, पृ० ४००।
२. प्रेमपाठ (प्राणनाथ की बानी), प्रकाशक: अमर दास वनमालीदास शर्मा, दार्जिलिंग।

प्राणनाथ जी की रचनाओं के बारे में कुछ भी कहना इस समय कठिन है। १४ से लेकर २३ तक उनके ग्रन्थ माने जाते हैं। (१) रामग्रन्थ, (२) प्रकाश ग्रन्थ, (३) षट्ऋतु, (४) कलस, (५) संबंध, (६) किरतन, (७) खुलास, (८) खेलवात, (९) प्रकरण इलाही दुलहन, (१०) सागर सिंगार, (११) बड़े सिंगार, (१२) सिंधि भाषा, (१३) मारफत सागर, (१४) कयामत नामा। ये १४ ग्रन्थ ग्राउज़ ने अपने मथुरा मेमॉयर्स में पृ० २३१ पर गिनाए हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने (१) प्रकट बानी, (२) ब्रह्म बानी, (३) बीस गिरोहों का बाव, (४) बीस गिरोहों की हकीकत, (५) कीर्तन, (६) प्रेम पहेली, (७) तारतम्य, (८) राज विनोदों नामक इन ८ रचनाओं का उल्लेख डॉ० बड़थ्वाल के आधार पर किया है।[1] चतुर्वेदी जी ने खोज रिपोर्ट के आधार पर विराट चरितामृत पदावली की भी चर्चा की है।[2] परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि 'कुलज़मे शरीफ़' इनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। डॉ० शरण विहारी गोस्वामी ने बताया है कि इस सम्प्रदाय के सखी भावोपासक 'तारतम सागर' को उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[3]

इन रचनाओं का न तो ठीक से प्रकाशन हुआ है एवं न व्यवस्थित अध्ययन ही। अतः उनके संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। प्राणनाथ जी में समन्वय का एक विचित्र खिचड़ी रूप मिलता है। उन्होंने विविध धर्मों से प्रभाव ग्रहण किये, पर लगता है कि सबको पचाकर एक व्यवस्थित साँचे में ढाल नहीं सके एवं उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी (ब्रज, खड़ी, मारवाड़ी), उर्दू, गुजराती, फारसी, संस्कृत, सिंधी आदि विविध भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया है। इस कारण वे दुरूह ही नहीं बने, काव्य की रसात्मकता भी खो दी है। प्राणनाथ जी अपने युग के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं विचित्र व्यक्ति हैं जो सर्वधर्म समन्वय भी करते हैं एवं छत्रसाल के हिन्दू राष्ट्रवाद को भी गति देते हैं। तथा सखी-भाव से (इन्द्रावती उनका सखी साधना का नाम था) श्याम-श्यामा को लाड़ लड़ाने की एकान्तिक रहस्य-साधना भी करते हैं। उनकी ब्रजभाषा रचना का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

> निसिदिन गहिरा प्रेम सों, युगल स्वरूप के चरन।
> निर्मल मन होनायाही सो, और धाम बरनन॥

---

१. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५३२।

२. वही, पृ० ५३२।

३. डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृ० ३६०।

प्राणनाथ जी की रचना का एक अन्य उदाहरण है :

यह सब इच्छा सो जो मंगावै, पर सखियों को सेवा भावै ।
सैया सेवा करन बेलि लावै, लेवै एक दूजी पै छिनावै ।
श्री राज बैठे वार्ता करै, श्री स्याम जी चित्त धरै ।
सखियां अरस परस करै हास, लेवै धनीजी को विविध विलास ।
सखियाँ दौरि दौरि के जावै, आरोगन की वस्तु लावै ।
हुआ सन्ध्या का अवसर, श्री राज स्यामा जी बैंठे सिंगार कर ।

—प्रेम पाठ, पृ० २६

निर्गुण-प्रेम-पद्धति के अनुसार भी इनकी रचनाएँ मिल जाती हैं :

मेरे धनी धाम के दूलहा, मैं कर ना सकी पहिचान ।
सो रोऊँ मैं याद कर कर, जो मारे हेत के बान ।

—प्रेम पाठ पृ० ११४

महात्मा मुकुन्द दास जी :

ये स्वामी प्राणनाथ के शिष्य थे । इनकी रचनाएँ अधिक उपलब्ध नहीं है । केवल कुछ पद मिलते हैं । नीचे कुछ पंक्तियाँ हम उद्धृत कर रहे हैं :

वेद रिचा तलफत ब्रज घोड़ी, विरह दाह में जारी ।
कृष्ण द्वारिका काहे न बुलाई, गोकुल गोप कुमारी ।
लीला त्रिविध भई नाना विधि, बाल तरुन भा बृध मारी ।
कहत मुकुन्द सतगुरु समरथ, कोई न सकै निरवारी ।

—हस्तलिखित पद, (शरण विहारी गोस्वामी के संग्रह से)

भूषण दास :

प्रणामी धर्म के अनुयायी थे । इनका समय सं० १७५५ के लगभग माना गया है ।[1] 'वृत्तान्त मुक्तावली' तथा 'बोध सागर' उनके दो मुख्य ग्रन्थ हैं । देवचन्द्र जी (प्रणामी धर्म के संस्थापक) ने गुरुदीक्षा कैसे ग्रहण की एवं गुरु ने उनको कौन सा मार्ग बताया, इसका प्रवाहपूर्ण वर्णन भूषणदास ने किया है :

१. श्री सर्वेश्वर : वृन्दावनांक, पृ० १०० ।

अखण्ड नित्य बृन्दावन भाख्यो, सो हरिदास चित्त में राख्यो।
ताकी चर्चा करै प्रेम सो, सेवै नित आचार नेम सो। १३
निज शिक्षा गुरु और बताई, सो देवचन्द चित्त सो लाई।
अपनो सखी भाव करि लीजै, पुरुष भाव अपनो तजि तीजै। ७७
श्री कृष्णचन्द्र जानै गुरु आपन, श्यामा निज उपासना थापन।
सखी बिना इत पुरुष न पहुँचें, कोटि कष्ट करि जो मन शौचै। ७८
ताते सखी भाव करि लीजै, पुनियह नाम मंत्र रस पीजै।
कहै शिष्य स्वामी विधि नीकी, इच्छा पुरुष भाव की फीकी।
—श्री सर्वेश्वर: वृन्दावनांक, पृ० १००।

अथवा

नित्य बृन्दावन का वर्णन करते हैं :

जहां छहो ऋतु निशाकर युत, विरह नाहि विजोग।
जहाँ श्याम श्यामा सखिन सहित, कटाक्ष प्रेम संओग।
जहाँ हरष शोक न जरा आरति, सत्व रज तम नाहिं।
उद्वेग विछुरन जहां नहि है, सदा आनन्द माँहि।[1]

१८वीं शती का ब्रजभाषा सूफ़ी प्रेमख्यानक-काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

प्रथम अध्याय में सूफ़ी मत की ऐतिहासिक रूपरेखा स्पष्ट करते हुए हमने कहा था कि भारतवर्ष में हिन्दी का भक्तिकाल तसव्वुफ़ का स्वर्ण युग रहा है। वहीं यह भी कहा गया है कि इब्नुल अरबी का 'वहदतुल वुजूद' सिद्धांत भक्तिकाल के सूफ़ियों को प्रभावित कर रहा था। यह सिद्धांत प्रेम-प्रधान वैष्णव अद्वैतवादियों के निकट था—इसी कारण पारस्परिक सम्मिलन और प्रभाव की इतनी संभावना हो सकी थी। परन्तु हमारे आलोच्य युग तक आते-आते यह उदारतावाद निःशेष हो चला। १७वीं-१८वीं शताब्दी में धर्मान्धता अपना मस्तक उठाती प्रतीत होती है। 'वहदतुल वुजूद' के स्थान पर 'वहतुल शुहूद' की मान्यता बढ़ने लगती है। नक्शबंदी सम्प्रदाय (वि० की १७वीं शती का मध्य भाग भारतवर्ष में प्रवेश का

1. श्री सर्वेश्वर : वृन्दावनांक, पृ० १००-१०१।

समय है) को केन्द्र बनाकर यह प्रेम-मार्ग की अपेक्षा शरीअत को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति आगे बढ़ती है। इस रूढ़िवाद को औरंगजेब जैसा सशक्त एवं दुराग्रही शासक सरंक्षक रूप में उपलब्ध भी हो जाता है। उदारतावाद के अंतिम एवं सर्वोत्तम विचारक तथा संरक्षक दारा शिकोह के वध के साथ ही मानों उस विचार-धारा की भी हत्या हो जाती है। हिन्दू-मुसलमानों के मध्य की खाई चौड़ी होने लगती है। यह भी दृष्टव्य है कि इसी काल में हिन्दू-राष्ट्रवाद भी उभरता है। मराठा, जाट, गूजर, सिक्ख एवं राजपूत शक्तियाँ मुग़ल शासन के विरुद्ध विद्रोह करती हैं। इससे भी अंतराल बढ़ता है। सूफ़ी प्रेमाख्यानकों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। पूर्ववर्ती सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में भारतीय जन-जीवन, कथा-अभिप्रायों एवं प्रतीकों को जिस अकुंठित भाव से स्वीकार किया गया था, उसका अब अभाव होने लगा। अपनी हिन्दू वंश-परम्परा की पृष्ठभूमि के बावजूद जान कवि ने लैला-मजनूँ, तमीम अनसारी, खिज्र खां, देवल देवी आदि प्रेम-कथाओं के कथानकों को अपनाया है। प्रेमाख्यानकों की जो विशुद्ध भारतीय परम्परा (जायसी आदि की) थी, उसका प्रवाह समाप्तप्राय था। उसके स्थान पर दकनी (हिन्दी या उर्दू) खड़ी बोली में चली आने वाली फ़ारसी-प्रभावित परम्परा से महत्त्वपूर्ण हो उठती है। जान कवि जैसे व्यक्ति प्रथम परम्परा से एकदम विलग तो नहीं हुए हैं, पर दूसरी परम्परा के प्रभाव में आ अवश्य गये हैं।

प्रेमाख्यानक कवि

जान कवि :

जान कवि उनका लेखन संबंधी उपनाम था। वास्तविक नाम न्यामतखाँ था। उनके पूर्वज सीकर के कुलीन चौहान वंशीय क्षत्रिय थे जो संवत् १४४० में मुसलमान हो गये थे। अतः परम्परागत संस्कारों की दृष्टि से वे हिन्दू हृदय के निकट थे। वे संस्कृत, अरबी, फ़ारसी एवं ब्रजभाषा आदि अनेक भाषाओं के अच्छे जानकार थे। कहते हैं कि जान कवि में आशुकवित्व भी था। उनके जन्म-मृत्यु का ठीक निश्चय नहीं है, पर ग्रन्थों पर जो रचनाकाल उन्होंने दिया है, उससे ज्ञात होता है कि संवत् १६७१ से १७२१ तक लगभग ५० वर्षों के विस्तृत अंतराल में उनका रचनाकाल फैला हुआ है। उनके द्वारा रचित ७५ ग्रन्थों में से २१ ग्रन्थ तो सूफ़ी परम्परा में शुद्ध रूप से प्रेमाख्यानक हैं। काव्य-वैभव की दृष्टि से जान कवि सर्वोत्तम सूफ़ियों में नहीं ठहरते, परन्तु एक मौलिकता उनकी दृष्टव्य है। उन्होंने मसनवियों की दोहा-चौपाई वाली शैली तो स्वीकार की पर माध्यम अवधी के स्थान पर ब्रजभाषा को अपनाया। माध्यम का यह परिवर्तन कथा की स्वाभाविकता और प्रवाह को कहीं से भी नष्ट नहीं करता। कहानी कहने की उनमें सहज एवं जन्मजात प्रतिभा ज्ञात होती है। सरल,

प्रचलित ब्रजभाषा में कहानी का प्रवाह लोककथा-गायक की सहज मन्थर गति से निरन्तर बढ़ता रहता है। ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा के संबंध में बहुत अधिक स्वतंत्रता ली है, जान कवि की भाषा अत्यधिक व्यवस्थित भी है और प्रसंगोचित भी। एक उदाहरण लें :

पदमिनि कहै कहा भयो भेद। नैन सजल तव आवत स्वेद।
रतन कह्यौ मों सीस पिरात। प्रगट न करत पैमु की बात।
पद्मिनि कह्यौ सुनहु रतनावलि। जौंलों मेरी पीरिन पावति।
तौं लों तेरी पीरि न जाइ। मेरी पीरि चढ़ी सिर आइ।
रतन कह्यौ सुनि पद्मिनि रानी। हों तो मोहन हाथ बिकानी
तैं मुहि दीनों कुवंर दिखाइ। किधों दई तैं चेटक लाइ।
पद्मिनि को भाये ये बैन, कह्यो चलहु देखहु भरि नैन।
रतन कह्यो अछिरा सब जागे। चल्यौ न जै देखत इन आगें।
अरध निशा अछिरा गई सोइ। पदमिनि रतन चली ये दोइ।
आगे बैठो हो यहि मोहन। लग्यो दूरहू ते अति सोहन।

जान कवि द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है :

(१) मदन विनोद (२) ज्ञानदीप (३) रस मंजरी (४) अलफ़ खाँ की पैड़ी (५) क़ायम रासो (६) पुहुप वरखा (७) कंवला वती कथा (८) बरखा ग्रन्थ (९) छवि सागर (१०) कलावती कथा (११) छीता की कथा (१२) रूप मंजरी (१३) मोहनी (१४) चन्द्र सेन राजा सील निधान की कथा (१५) अरदेसर पातिसाह की कथा (१६) काम रानी या पीतमदास की कथा (१७) पाहन परिच्छा (१८) शृंगार शतक (१९) भाव शतक (२०) विरह शतक (२१) बलुकिया विरही की कथा (२२) तमीम अनसारी की कथा (२३) कथा कलंदर की (२४) कथा निर्मल की (२५) सतवन्ती की कथा (२६) शीलवती की कथा (२७) कुलवती की कथा (२८) खिज़र खां साहिजादा व देवल देवी (२९) कनकावती की कथा (३०) कौतूहली की कथा (३१) कथा सुमतराय की (३२) बुधिसागर (३३) कामलता कथा (३४) चेतननामा (३५) सिख ग्रन्थ (३६) सुधासिख ग्रन्थ (३७) बुधिदायक (३८) बुधिदीप (३९) घूंघट नामा (४०) दरसनामा (४१) अलकनामा (४२) दरसननामा (४३) बारह मास (४४) सतनामा (४५) वर्तनामा (४६) वांदीनामा (४७) वाजनामा (४८) कवूतर नामा (४९) गूढ़ ग्रन्थ (५०) देसावली (५१) रस कोष (५२) उत्तम सब्द (५३) सिया-सागर (५४) वैद्यक सिख शतपद (५५) शृंगार तिलक (५६) प्रेम सागर (५७) वियोग सागर (५८) षट्त्रतु पवंगम छंद (५९) वसंत रागिनी (६०) रतन

मंजरी (६१) नल-दमयन्ती (६२) पैमुनामा (६३) मान विनोद (६४) विरही के मनोरथ (६५) ज़फ़रनामा (६६) पदनामा (६७) भाव कल्लोल (६८)कन्दर्प कल्लोल (६९) नाम माला अनेकार्थी (७०) रतनावली (७१) सुधा सागर (७२) खास संग्रह (७३) लैला-मजनूं (७४) कवि वल्लभ और (७५) वैदक मति ।[1]

जान कवि के काव्य में तसव्वुफ़ के आध्यात्मिक आवेश के स्थान पर परिपाटी विहित वर्णन का आग्रह अधिक प्रतीत होता है। यह भी एक प्रकार से प्रेमाख्यानकों के क्षेत्र में रीतिकाल का प्रभाव कहा जा सकता है।

दुख हरनदास :

दुख हरनदास कायस्थ थे एवं प्रसिद्ध संत मलूकदास के शिष्य थे। उन पर सूफ़ी प्रेम-मार्ग एवं सिद्धांतों का प्रचुर प्रभाव था। ग़ाज़ीपुर ज़िले में इनका जन्म हुआ था। यद्यपि जन्म-समय का ठीक निश्चय नहीं है, पर इतना प्रामाणिक रूप से ज्ञात है कि संवत् १७२६ में 'पुहुपावती' नामक प्रेमाख्यानक की उन्होंने रचना की। रस ग्रन्थ का आदर्श जायसी की प्रेम कथा पद्मावत है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पद्मावत के समान ही अवसर पाते ही लेखक ने आध्यात्मिकता के संकेत दिये हैं एवं प्रेम मार्ग की कठिनाइयों या सिद्धांतों की चर्चा की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ अवधि में दोहा-चौपाई की परम्परा प्राप्त शैली में लिखा गया है, पर बीच-बीच में घनाक्षरी एवं सवैयों में ब्रजभाषा का भी प्रयोग लेखक ने किया है। ब्रजभाषा का एक कवित्त उदाहरण के लिए नीचे हम उद्धृत कर रहे हैं :

बन भवो भवन गवन जब कीन्हों पीव,
तन लागे तवन मदन लाइ तापनी।
भूत भवो भूखन वो चूरी चुरइल भई,
हार भयो नाहर करेंगे घूटी सांप की।
दु:ख हरन पीव बिनु मरन की गति गई,
कासो मैं बरनि कहौं विधा कहौ आपनी।
फूल भवो सूल मूल कली भई कांटा ऐसी,
रात राकसिनी भई सेज भई सांपिनी।

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारियाः राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ८२। (हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर-बम्बई, १९५८)

१८वीं शती में रीति प्रवृत्तियों की छाया में पलने वाला ब्रजभाषा-काव्य एवं उसके अध्ययन की दिशा। प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति : पृष्ठभूमि और रूपरेखा

प्रस्तुत प्रबन्ध के समय की सीमा संवत् १७०० से संवत् १८०० तक है। रीतिकाल का पूर्वार्द्ध भी यही है। ब्रजभाषा का काव्य ही हमारा भी विवेच्य है तथा रीतिकाल की प्रवृत्तियों का ९० प्रतिशत काव्य भी ब्रजभाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमाभक्ति के जिन विभिन्न संप्रदायों के सिद्धान्तों की विवेचना हमने पीछे की है, उनमें हम देख चुके हैं कि कृष्ण-राधा एवं कृष्ण-गोपियों की मधुर लीला ही प्रमुख रही है। इन भक्ति-संप्रदायों के १८ वीं शती के जिन कवियों का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है उनमें भी हमने यह ध्यान दिया था कि वक्तव्य का स्वर शृंगारिक था तथा अभिव्यक्ति की विधि आलंकारिक। इस तथ्य को अगले अध्याय में हम और अधिक विस्तार से देखेंगे। रीतिकाल में भी ठीक यही प्रवृत्ति है। शृंगार एवं आलंकारिकता दोनों ही रीति-काव्य की प्रधान विशिष्टताएँ हैं। फिर कितने ही रीतिकवि भक्ति-सम्प्रदायों के अनुयायी भी थे। इन कवियों के जीवन संबंधी यदि सभी तथ्य सामने आ जायें तो हमारा अनुमान है कि रीति-काव्य के अधिकांश रचयिता किसी न किसी सम्प्रदाय (मुख्यतः वैष्णव-संप्रदाय) से संबंधित दिखायी देंगे। ऐसी स्थिति में प्रेमाभक्ति-काव्य एवं रीतिकाल के मध्य एक सामान्य विभाजक रेखा खींचनी कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीति-कवियों की कविताओं पर भक्ति का आवरण भी माना है[1] तथा उनकी ईमानदारी भी स्वीकार की है।[2] इस ईमानदारी को स्वीकृति देते हुए भी डॉ० बच्चनसिंह ने उसे क्षणिक और अस्थिर कहा है।[3] भक्ति-भावना की यह ईमानदारी स्वीकार कर लेने के बाद समीक्षक के सामने समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या इन अपेक्षाकृत अस्थिर किन्तु भक्ति-भावापन्न रचनाओं को रीति-काव्य से पृथक् करके प्रेमाभक्ति काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाय ? हमारा विचार है कि इस विश्लेषण एवं पृथक्करण के द्वारा ही इन कवियों के ऐसे काव्य के प्रति न्याय किया जा सकेगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रीति-काव्य के प्रणेताओं की रचनाओं का सूक्ष्मता से विश्लेषण करके यह निश्चित किया जाय कि इनमें से कितना अंश शुद्ध भक्ति-

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ३०३।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११९ (दूसरा संस्करण)।

३. डॉ० बच्चनसिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ०१०४।

भावापन्न है एवं कितना अंश ऐहिक शृंगार का है जिसके साथ राधा-कृष्ण के नाम भर जोड़ दिये गये हैं। वास्तव में सामाजिक कवच[1] दूसरे प्रकार वाला काव्य है। जहाँ तक आत्म-संतुष्टि या आत्मग्लानि के दबाव में[2] भक्तिपरक काव्य रचना का प्रश्न है वह काव्य सृजन-प्रक्रिया में किसी भी प्रकार उपेक्षणीय या कम मूल्यवान नहीं है। मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तथा सामाजिक कवच वाली बात के सन्दर्भ में स्वयं धर्म के बारे में कहा गया कार्ल मार्क्स का यह कथन विचार्य है—"धार्मिक वेदना एक ओर वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति है एवं दूसरी ओर वास्तविक कष्ट के प्रति विरोध भी। धर्म-दलित व्यक्तियों की आह है, हृदयहीन जगत् का हृदय है एवं आत्मारहित परिस्थितियों की आतमा है। यह जन की अफीम है।[3] रीतिकाव्य के भक्ति-सम्बन्धी उद्‌गार ऐसे ही आह, हृदय या आतमा रूप हैं और उनकी किसी भी प्रकार अवहेलना न होनी चाहिए। आश्रयदाता की रुचि से अनुकूलित होने को बाध्य उसकी प्रवृत्ति ऐहिक शृंगार से आमुष्मिक प्रेम के क्षेत्र में प्रयाण कर वास्तव में वास्तविक कष्ट की अभिव्यक्ति ही करती होगी।

परन्तु यहीं पर यह कह देना भी आवश्यक है कि इन कवियों के प्रेमा-भक्ति सम्बन्धी उद्‌गारों में वह सहज, अकुण्ठ वृत्ति नहीं मिलती जिसका कि भक्त कवियों में अभाव नहीं है।

रीति-कवियों ने सिद्धांत-कथन के क्षेत्र में भी नीति, वैराग्य, परोप-कार आदि के वैसे ही वचन कहे हैं जैसे कि पूर्व-वर्णित कवियों में हमें उपलब्ध हो जाते हैं।

अस्तु, आगे हम जिन रीति-कवियों को उपस्थित कर रहे हैं उनके नाम एवं रचनाएँ छांटने में हमने उन्हीं को स्वीकार किया है जिनमें सचमुच ही भक्ति-भाव की झलक प्राप्त होती है। स्थानाभाव से यह विवरण हमें बहुत थोड़े में सीमित करना पड़ता है—अन्यथा इस कसौटी पर रीति-काव्य की विस्तृत समीक्षा और मूल्यांकन संभव है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०।

तथा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ३०३।

२. डॉ० नगेन्द्र इसे ही मनोवैज्ञानिक आवश्यकता कहते है।

—रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८३।४।

३. जार्ज थामसन के 'ऐन एसे ऑन रेलिजन' में पृ० ४ पर उद्धृत।

प्रमुख रूप से रीति और गौणतः प्रेमाभक्ति कवि

सेनापतिः

सेनापति के बारे में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। अपने ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' में उन्होंने पिता का नाम गंगाधर तथा पितामह का नाम परशुराम दीक्षित बताया है। हीरामन दीक्षित के शिष्यत्व में उन्होंने विद्याध्ययन किया था।[1] सेनापति उनका कवि-नाम था तथा किसी मुसलमान दरबार से भी वे सम्बन्धित रहे हैं।[2] उन्होंने अपना ग्रन्थ कवित्त रत्नाकर किसी राजा को समर्पित किया था। सेनापति बड़े ही स्वाभिमानी कवि थे। उनका कवित्त-रत्नाकर ग्रन्थ संवत् १७०६ में लिखा गया था। काल की दृष्टि से वे भक्तिकाल और रीतिकाल की संधि में ज्ञात होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें अपने साहित्य के इतिहास में रीतिमुक्त काव्य-धारा में रखा है।[3] आचार्य शुक्ल ने उन्हें भक्तिकाल की फुटकर रचनाओं में स्थान दिया है।[4] नागरी प्रचारिणी सभा वाले हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के रीतिकाल वाले खण्ड (छठा भाग) में भी उन्हें रीति-कवि न कहकर भक्ति काल का कवि कहा गया है।[5]

वास्तव में सेनापति में रीतिकाल एवं भक्तिकाल दोनों की प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है। कवित्त रत्नाकर ग्रन्थ की पांचों तरंगों का संक्षिप्त विश्लेषण भी इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। इस ग्रन्थ की पहली तरंग श्लेष वर्णन में प्रयुक्त हुई है। इस तरंग में प्रत्येक छंद में सभंग या अभंग पद श्लेप का अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया गया है। श्लेष का गठन, शोभा और आग्रह रीतिकाल के किसी भी अलंकार प्रेमी कवि के लिए ईर्ष्या का विषय है। दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन हुआ है। शृंगार-वर्णन भी नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन आदि की भाँति रीतिकालीन पद्धति पर ही है। इतना अवश्य है कि शृंगार की अपेक्षा वियोग-वर्णन में उनका मन अधिक रमा है परन्तु विरह-वर्णन में मानसिक स्थितियों का वैसा सूक्ष्म विश्लेषण और अभिव्यंजन सेनापति में नहीं प्राप्त होता जैसा कि घनानंद आदि स्वच्छन्द धारा के

---

१ कवित्त रत्नाकर पृ० १-५।

२. वही, वही, पृ० १-५।

३. हिन्दी साहित्य, पृ० ३४२-३४३।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०६-२१०।

५. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, संपादक-डॉ० नगेन्द्र, पृ० २०५।

कवियों के काव्य हमें में उपलब्ध होता है। तीसरी तरंग प्रकृति-वर्णन की है। यह उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। प्रकृति के कुछ संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर उन्होंने बहुत से सहृदयों की प्रशंसा प्राप्त की है। प्रकृति के उनके ये चित्र उन्हें अवश्य रीतिकालीन परिपाटी से अलग घोषित करते हैं; क्योंकि सेनापति के ये प्रकृति-चित्र स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप से प्रभाव उत्पन्न कर सकने में समर्थ हैं। परन्तु इस निरपेक्ष प्रकृति-चित्रण के साथ ही ऐसे छन्दों की भी कमी नहीं है जिनमें प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में ही उपस्थित की गई है।[1] चौथी एवं पांचवीं तरंग में सेनापति की रामभक्ति-भावना अभिव्यंजित हुई है। इनमें राम का चरित्र वर्णित है, परन्तु राम के शृंगारी रूप की अपेक्षा पराक्रम और ऐश्वर्य से मंडित विग्रह के प्रति ही उन्होंने अपनी रुचि दिखाई है। भगवान् के इस रूप के प्रति उनके मन में पूर्ण श्रद्धा थी। उनके भगवान् भक्त-वत्सल थे, विराट् थे। उस भक्त-वत्सलता तथा विराटता के सम्मुख उनका हृदय आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप से भर जाता है। वह सोचता है कि क्यों हमें सेवक का पद भगवान् ने दिया है।

> **आलस की निधि, बुधि बाल, सु जगतिपति।**
> **सेनापति सेवक कहा धौं जानि कीनों है।[2]**

शरणागति में भक्त को अपनी रक्षा का पूरा विश्वास रहता है। यह बात हम द्वितीय अध्याय में भक्ति-विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं। सेनापति भी कहते हैं :

> **सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप।**
> **जाकी सब लागै पीर ताही रघुबीर ही।[3]**

क्योंकि उसे विश्वास है कि :

> **अति अनियारे, चंदकला से उजारे तेई,**
> **मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं।[4]**

---

१. कवित्त रत्नाकर ३।५६।५७।५८।५६।६१ आदि।
२. वही ५।२४।
३. वही, ५।१६।
४. वही, ५।३६।

पंचभक्ति-भावों की दृष्टि से सेनापति गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा में दास भाव के उपासक माने जावेंगे। तुलसी के समान ही उन्होंने अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। उनका निम्न पद किसी भी वृन्दावन रसोपासक कवि की रचना में खप सकता है :

महा मोह-कंदनि में जगत जकंदनि में,
दिन दुःख दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घर बार परिवार तजौं,
डारौं लोक लाज के समाज विसराय कै।
हरिजन पुंजनि में वृन्दावन कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति में भक्तिकाल एवं रीतिकाल दोनों की प्रवृत्तियाँ समान रूप से मिली हुई हैं। पं० उमाशंकर शुक्ल का यह मत उचित ही मालूम पड़ता है कि यद्यपि सेनापति ने "रीतिकालीन परिपाटी पर रचना नहीं की है परन्तु फिर भी रीति-युग की प्रवृत्तियों की छाप उनकी रचनाओं में प्रचुरता से पायी जाती है।"[2]

आगे हम रीतिकालीन कुछ कवियों का परिचय देने जा रहे हैं जिनमें कि प्रेमभक्ति की भावना अभिव्यंजित हुई है। सेनापति इन कवियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि जहाँ रीतिकालीन कवि लौकिक काव्य और भक्ति-परक दोनों ही रचनाओं में कृष्ण के शृंगारी स्वरूप का आश्रय ग्रहण करते हैं वहीं सेनापति अपनी भक्तिभावना में आलम्बन के पराक्रम और ओज को व्यंजित करते हैं एवं स्वयं दास-भाव के भक्त हैं, न कि माधुर्य भाव के। परन्तु अपने लौकिक काव्य में उन्होंने शृंगार एवं लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी को पूरी तरह से स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके काव्य के दो बहुत स्पष्ट पक्ष सामने आ जाते हैं। एक आमुष्मिक और दूसरा ऐहिक।

सेनापति हमारे आलोच्य युग के बहुत समर्थ कवियों में से हैं। उनका कथ्य और उनकी अभिव्यंजना दोनों ही सक्षम हैं। उनके बारे में आचार्य शुक्ल जी

---

१. कवित्त रत्नाकर, परिशिष्ट ७, पृ० १२२।
२. कवित्त रत्नाकर भूमिका पृ० ४।

ने लिखा है "भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है।"[1]

बेनी :

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में तीन बेनी नामधारी कवियों का उल्लेख हुआ है। एक तो बैंती के भंडौआ वाले बेनी तथा दूसरे लखनऊ के बेनी प्रवीन। ये दोनों ही परवर्ती कवि हैं। प्रस्तुत तीसरे बेनी कवि असनी के बंदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान् थे।[2] उनका रचा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु फुटकर कुछ छन्द मिल जाते है। भक्तिकाल के अन्तिम भाग में होने वाले बेनी में भक्ति का भाव पूरी तरह विद्यमान् था। वे राधा-कृष्ण युगल के नित्यविहार सुख के आकांक्षी थे। हमारा अनुमान है कि उनका काव्य वास्तविक रूप से मात्र शृंगारपरक न होकर युगल दम्पति के विहार से भी सम्बन्धित है। बेनी कवि की निम्न अभिलाषा उनके भक्तिभाव को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है :

लहरै सिर पै छवि भोर पखा उनकी तथ के मुकता थहरैं।
फहरै पियरे पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं।
रस रंग निरै अमिरै हैं तमाल दोऊ, रस प्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा विहरैं।

चिन्तामणिः

चिन्तामणि रीतिकाल के प्रारम्भिक रीति-निरूपक आचार्यों में से हैं। आपका जन्म-संवत् निश्चित नहीं हो सका है। कानपुर ज़िले के तिकवाँपुर ग्राम के ये रहने वाले थे। प्रसिद्ध है कि भूषण और मतिराम इनके छोटे भाई थे पर इधर इस सम्बन्ध में संशय प्रगट किया गया है। काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश, रस मंजरी पिंगल और रामायण उनके पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि काव्य के विविध अंगों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं पर उनके महत्त्व का कारण उनका काव्य है न कि काव्य-निरूपण। भक्तिकाल एवं रीतिकाल की संधि में होने के कारण उनमें भक्ति की स्पष्ट छाया मिलती है। योगक्षेमं वहाम्यहम् कहने वाले के प्रति उनका यह विश्वास का भाव द्रष्टव्य है :

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०८।

२. हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास (षष्ट भाग) पृ० (ना० प्र० सभा, वाराणसी)।

येई उधारत हैं जिन्हें जे भरे मोह महोदधि के जले-फेरे।
जे इनको पल घ्यान धरैं मन, तेन परैं कबहूँ जम घेरे।
राजे रमा-रमनी-उपधान अभै वरदान रहें जन नेरे।
हैं बल भार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे।

बिहारीलाल :

बिहारीलाल का जन्म काफी विवाद का विषय रहा है। परन्तु अब लगभग यह स्वीकार कर लिया गया है कि उनकी स्थिति संवत् १६५२ से १७२० के मध्य रही है। सम्भवतः उनके काव्य के सृजन का सर्वोत्तम युग संवत् १७०० के आसपास रहा होगा। अभिव्यक्ति का जो संयम और अनुशासन उनके काव्य में प्राप्त होता है, वह सूचित करता है कि प्रथम तारुण्य का आवेग न होकर प्रौढ़ होते हुए व्यक्ति की वह अभिव्यक्ति है। उसमें भी नीति उपदेश, जीवनानुभव एवं तत्त्व-दर्शन के जो अंश हैं, ऐसा हमारा अनुमान है कि वे संवत् १७०० के आसपास के ही होंगे।

बिहारीलाल धौम्य गोत्रीय सोती घरवारी माथुर चौबे थे। ओड़छे के वे रहने वाले थे। किशोरावस्था में ही बिहारी अपने पिता के साथ वृन्दावन आ गए थे। इस प्रकार उनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता था, किशोरावस्था में वे ब्रज में आ गये। वृन्दावन में हरिदासी संप्रदाय के स्वामी नरहरिदास का शिष्यत्व उन्होंने स्वीकार कर लिया था। युगल रूप की दीक्षा इस प्रकार उन्हें अपने जीवन के प्रथम चरण में ही मिल गई थी। उनके काव्य के शृंगारी स्वरूप के नीचे यह दीक्षा यदि लगातार कार्य करती रही हो तो आश्चर्य न होना चाहिए।

नित प्रति एक ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक।[1]

जिसका स्वरूप स्वामी नरहरि देव ने उनके सम्मुख स्पष्ट किया होगा। उस रूप का ही पल्लवन अपनी कवि-कल्पना, लक्षण ग्रन्थों के दबाव एवं आश्रयदाता की रुचि के अनुरूप उन्होने किया है।

स्वामी नरहरि देव ने ही शाहजहाँ से बिहारी की काव्य-कला की प्रशंसा करते हुए उन्हें परिचित करा दिया था, जिसके फलस्वरूप वे मुग़ल-दरबार में आ गये थे। इस तथ्य से यह भी प्रकट होता है कि वृन्दावन निवास-काल में

---

१. बिहारी रत्नाकर, सं० २३८।

उन्होंने अपने गुरु के समक्ष काव्यकला का प्रदर्शन अवश्य किया होगा। इसी तथ्य की तार्किक परिणति यह भी है कि यह काव्य श्याम-श्यामा की लीलाओं से ही सम्बन्धित रहा होगा। विरक्त स्वामी नरहरि देव लौकिक नायक-नायिकाओं की काम चेष्टाओं पर क्यों मुग्ध होने लगे ?

आगरे के मुग़ल-दरबार की शान-शौकत एवं फ़ारसी प्रभाव लेकर ये जीविका की खोज में जयपुर के राजा जयसिंह के दरबार पहुँचे थे एवं अपनी प्रतिभा तथा वाग्वैदग्ध्य के बल पर सम्मान भी अर्जित किया। पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था वाले राजपूती जीवन की विलास-क्रीड़ाओं ने भी उनके काव्य को अनुकूलित (कण्डीशन) किया है। इस प्रकार धार्मिकता की प्रारम्भिक भाव-भूमि पर फ़ारसी परम्परा एवं सामन्ती विलासिता तथा लक्षण ग्रन्थों की रीति-बद्धता का आश्रय लेकर उनके काव्य का शीशमहल खड़ा होता है।

बिहारी के काव्य में मधुरा भक्ति का पुट निश्चित रूप से प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एक पुरानी किंवदन्ती हमें बड़ी महत्त्वपूर्ण लगी। असनी के प्रसिद्ध ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता देवकीनंदन के लिए 'सतसैया वर्णार्थ' नामक बिहारी सतसई की टीका लिखी है। इसमें बिहारी का विस्तृत वृत्तान्त भी दिया है। उसकी वर्णित एक घटना की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। उस वर्णन के अनुसार जयसिंह से अपनी सतसई पर पुरस्कृत होने के पश्चात् बिहारी राजा छत्रसाल के दरबार में पहुँचे। छत्रसाल ने अपने गुरु प्राणनाथ जी (धामी संप्रदाय के संस्थापक) के पास परीक्षा के लिए उसे भेजा। प्राणनाथ जी ने उसकी शृंगारिकता की निन्दा करते हुए अस्वीकृत कर दिया। इस पर पत्नी के परामर्श के अनुसार बिहारी ने परीक्षा के लिए एक दूसरी कसौटी सुझाई। इस कसौटी के अनुसार पन्ना के युगल किशोर मन्दिर में रात्रि को सतसई एवं प्राणनाथ जी की धर्म-पुस्तक हस्ताक्षर के लिए रख दी गई। प्रातःकाल सतसई पर युगल किशोर जी के हस्ताक्षर प्राप्त हुए प्राणनाथ की वाणी पर नहीं।[1] इस घटना की प्रामाणिकता का निर्णय हमारा कार्य नहीं है। इसके द्वारा हम इतना मात्र निवेदित करना चाहते हैं कि युगल-रूप की माधुर्य-भावना सतसई में है, इस विचार का अस्तित्व काफी पुराने समय में भी पाया जाता है। ध्यान रहे कि यह टीका संवत् १८६१ में लिखी गई थी।[2]

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि बिहारी विशुद्ध रूप से साधनानुभूति का काव्य नहीं लिख रहे थे। इसी कारण लौकिकता का

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ५१०-५११ पर दी गई कथा के आधार पर।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३५०।

प्राधान्य तो है ही, साथ ही नित्य निकुञ्ज लीला का सीमित क्षेत्र भी उन्होंने नहीं स्वीकार किया। गुरु-परम्परा उनकी निकुञ्ज लीला की थी, परन्तु कवि-कल्पना को अधिक मुक्त आकाश देने के लिए व्रजलीलाओं का वैविध्य उन्होंने स्वीकार किया था। इसी कारण चीर हरण, रास, पूतना वध, गोवर्धन धारण, दावानल-पान, भ्रमरगीत आदि अनेक लीलाएँ उनके काव्य में चित्रित हुई हैं। भक्ति संप्रदाय के कवियों के समान नैतिक (वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की नैतिकताएँ) एवं दार्शनिक सिद्धान्त-कथन भी विहारी में उपलब्ध होते हैं। सब मिलाकर सतसई में लगभग १०० दोहे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति एवं नीति से सम्बन्धित हैं।

जहाँ तक बिहारी की काव्यकला, अनुभाव-विधान, हस्तलाघव कौशल भाषा की शक्ति, चित्रमयता, सांगीतिकता, नाटकीयता एवं ध्वन्यात्मकता आदि का प्रश्न है, बिहारी के महत्त्व की स्थापना पूरी तरह से हो चुकी है। ये रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ दो कवियों में तथा हिन्दी के सुन्दरतम व्यंजनाओं वाले कवियों में से एक गिने जाते हैं। नीचे हम उनके भक्ति सम्बन्धी कतिपय दोहे मात्र उद्धृत कर रहे हैं :

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोई।
जा तन की झांई परें, स्यामु हरित दुति होई ॥[१]
स्याम सुरति करि राधिका तकति तरणिजा तीर।
अंसुवनि करत तरौंस कौं खिनकु खरौंहों नीर ॥[२]
उर लागै अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं निकसी हुलसी सु तौ गौ हुलसी हिय लाइ ॥[३]
जस अपजसु देखत नहीं देखत सांवल गात।
कहा करौं, लालच भरे चपल नैन चलि जात ॥[४]
कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ॥[५]
गोपिनु संग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहा छेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास।[६]

---

१. बिहारी रत्नाकर, १।
२. वही, २९२।
३. वही, ५६०।
४. वही, १५७।
५. वही, १५४।
६. वही, २९१।

जौ न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकुलि मुंह दीन।
जौ लहिये संग सजन तौ धरक नरक हूँ की न ।[1]
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूढ़े जहां हजारू ।
वहै सदा पसुनरनु कौ प्रेम-पयोधि पगारू ।।[2]

आलोचकों ने यह बात नोट की है कि बिहारी का विरह-वर्णन तो ऊहात्मक हो गया है पर मिलन के उनके चित्र अत्यन्त प्रसन्न एवं उस उल्लास को सजीव करने वाले हैं। वस्तुतः इस तथ्य के मूल में बिहारी के सम्प्रदाय की नित्यविहारोपासना विद्यमान है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नित्यविहारोपासना में चिन्तन की ही स्वीकृति है, विरह की नहीं। यह तथ्य बिहारी ही नहीं रीतिकाल के अन्य कवियों के संदर्भ में भी दूर तक काव्य-सृजन को अनुकूलित करता है।

मतिराम :

मतिराम बिहारी के कुछ बाद के कवि हैं। उनका जन्म संवत् १६६१ के लगभग बनपुर ज़िला कानपुर में वत्सगोत्रीय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ था। डॉ० महेन्द्र कुमार ने मतिराम का मृत्यु संवत् काफी ऊहापोह के पश्चात् संवत् १७५८ वि० के आसपास निश्चित किया है।[3] मतिराम को देव की भाँति ही अनेक आश्रयदाताओं की खोज में भटकना पड़ा था। कहते हैं कि ये मुग़ल-दरबार का भी चक्कर अपनी बढ़ती वय में लगा आये थे तथा अनेक राजपूतों की भी जीवनचर्या के समीपी पर्यवेक्षक बनने का अवसर उन्हें मिला था। इसी कारण उनके काव्य में ये दोनों प्रभाव मिल जाते हैं।

---

१. बिहारी रत्नाकर, ७५।

२. वही, वही, २५१।

३. (क) डॉ० महेन्द्र कुमार: मतिराम: कवि और आचार्य, पृ० २३-३४।
(ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने उन्हें तिकवांपुर (जि० कानपुर) का निवासी माना है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इनका जन्म संवत् १६७४ माना है (पृ० २३३)। डॉ० महेन्द्र कुमार ने अपने शोध प्रबन्ध में इन सभी मतों की परीक्षा करके उपर्युक्त तथ्य निश्चित किये हैं।

उनके सात ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं...फूल मंजरी, रस राज, ललित ललाम, सतसई, अलंकार पंचाशिका, छन्द सार पिंगल और वृत्त कौमुदी। मतिराम द्वारा रचित 'साहित्य सार' एवं 'लक्षण श्रृंगार' नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी चर्चा की जाती है। 'बरवै नायिका भेद' नामक उनके द्वारा संपादित एक ग्रन्थ भी बताया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ उनके द्वारा संपादित नहीं हैं तथा 'साहित्य सार' एवं 'लक्षण श्रृंगार' प्राप्त नहीं हैं। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'रस राज' नामक उनका नायिका-भेद का ग्रन्थ है। इसमें दोहों में लक्षण एवं कवित्त-सवैया आदि छन्दों में उदाहरण दिये गये हैं। उनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ ललित ललाम अलंकार-सम्बन्धी है। उनकी सतसई के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।[१]

उपर्युक्त ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों का अनुशीलन करने से ऐसा लगता है कि बिहारी रीतिबद्ध काव्य-रचना करने वाले श्रृंगारी कवियों के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। परन्तु जैसा कि रीतिकाल के बहुत से कवियों के लिए कहा जा सकता है, मतिराम को भी राधा और मोहन का नाम लेकर पवित्रता बोध जगाना पड़ा है। उनके धार्मिक सिद्धांतों की चर्चा करते हुए डॉ० महेन्द्र कुमार ने उन्हें शुद्धाद्वैत से प्रभावित माना है।[२] हमारा विचार है कि इन कवियों को सदैव किसी न किसी धार्मिक-दार्शनिक मत से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इसका अतिरिक्त जिन तर्कों के आधार पर उन्हें शुद्धाद्वैत संप्रदाय का माना गया है उन्हीं तर्कों के आधार पर मध्यकालीन गोपी-भाव के किसी भी संप्रदाय के अन्तगत उन्हें रखा जा सकता है। यों मूलतः रीतिकाल के कवियों का एक बड़ा भाग स्मार्तमतानुयायी प्रतीत होता है। स्वयं मतिराम ने गणेश,[३] शिव,[४] शक्ति[५] सरस्वती,[६] रामचन्द्र[७] आदि विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ लिखी हैं, परन्तु वातावरण (धार्मिक एवं सामाजिक) में जो श्रृंगार व्याप्त था, उसने उन्हें माधुर्य-भावपरक बनने में सहायता दी। इस स्थिति में किस समय वे भावविभोर होकर राधा-कृष्ण या गोपी की बात कह रहे हैं या सामान्य नायक-

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३३।
२. डॉ० महेन्द्र कुमार, : मतिरामः कवि और आचार्य, पृ० १४७।
३. ललित ललाम, छंद १।
४. वही, ११९।
५. वही, ३७९।
६. छंदसारू मंगलाचरण का छंद।
७. सतसई, ७०३।

नायिका का, यह कहना कठिन हो जाता है। नीचे हम एक सवैया दे रहे हैं, इसे क्यों न प्रेमविह्वला गोपी का वचन माना जाय ? मध्यकालीन समाज में नायक-नायिका इस प्रकार के स्वच्छन्द मिलन की कामना तो कर नहीं सकते थे—ऐसी स्थिति में कृष्ण एवं गोपी की मधुर लीलाएँ यदि उसे आकर्षित करें तो अनुचित न कहा जाना चाहिए। भक्ति का भाव मूलतः भक्ति का ही है—चाहे वह किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के वशीभूत हो या सामाजिक दबाव का परिणाम। अस्तु सवैया इस प्रकार है :

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गांव बसे कहो कैसे के बीजै।
होत रहे मन यों मतिराम कहूं बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।[1]

इस सवैये की श्रृंगार संवलित भक्ति के अन्तर्गत विवेचना करते हुए एक विद्वान ने कहा "शुद्धभक्ति-भावना में भक्त भगवान के चरणों का सान्निध्य चाहता है। भक्त की दृष्टि भगवान के चरणों पर ही रहती है। किन्तु प्रेमी-प्रियतम के मुखारविन्द का मकरंद-पान करके ही जीवित रहता है। मतिराम की भक्ति भावना में श्रृंगार भाव का ही पुट है, क्योंकि कवि की दृष्टि मोहन के चरणों पर नहीं, अपितु उनके हृदय और अधरों पर है। इस श्रृंगार-भाव की पूर्ति के लिए ही वह बनमाला और मुरली बनने की अभिलाषा कर रहा है।[2] परन्तु यहीं पर समीक्षक महोदय यह भूल गये हैं कि पुष्टिमार्ग में ही गो॰ हरिराय जी ने 'शीतल' और 'उष्ण' भक्तियों के दो विभाजन किये थे। शीतल भक्ति का भक्त प्रभु के चरण-सरोवर में निमज्जित होकर शीतलता चाहता है तथा 'उष्ण' भक्ति का साधक प्रभु के अधरों का आसवपान करना चाहता है।[3] वह सचमुच ही मुरली बनकर अधरों एवं बनमाल बनकर हियरे में लगना चाहता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ऊष्ण भक्ति ही पुष्टिमार्ग के भक्त के लिए काम्य थी। उनके कतिपय अन्य मधुर भावापन्न दोहे नीचे उद्धृत हैं :

मों मन तम तोमहिं हरौ राधा को मुखचन्द्र।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं नंदनंदन आनंद।[4]

---

१. रस राज, ६०।
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० १६२।
३. देखिये, द्वितीय अध्याय, भक्ति के प्रकार, चार्ट सं० १३।
४. सतसई, १ :

गुंज गुंज के हार उर मुकुट मोर पर पुंज।
कुंज बिहारी बिहरिये मेरे ई मन कुंज ।[1]
राधा मोहन लाल कौ जाहि न भावत नेह।
परियौ मठी हजार दस ताकी आंखिनि खेह।[2]
मुरलीधर गिरिधरन प्रभु पीताम्बर घनस्याम।
बकी विदारन कंस अरि चीर हरन अभिराम।[3]

मतिराम की जैसी साफ सुथरी प्रकृत ब्रजभाषा लिखने वाले कवि रीतिकाल में भी कम मिलेंगे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते थे।[4] शुक्ल जी की सम्मति है कि भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम है और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाए[5] मतिराम में चित्र-निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। साथ ही पारिवारिक जोवन में उनकी गहरी रुचि भी थी। उनका अलंकार-विधान इसीलिए अधिक मार्मिक एवं सहज हो सका है।

कुलपतिः

कुलपति मिश्र के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे महाकवि बिहारी के भागिनेय थे। वे आगरा के रहने वाले माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके रचे पांच ग्रन्थों का उल्लेख साहित्य के इतिहासों में होता है—द्रोण पर्व, मुक्ति तरंगिणी, नखशिख, संग्राम सार और रस रहस्य। उनमें से अन्तिम ग्रन्थ रस-निरूपक ग्रंथ है। तृतीय एवं चतुर्थ भी श्रृंगार से ही संवंधित प्रतीत होते हैं। प्रथम महाभारत के द्रोण पर्व के आधार पर रचित काव्य प्रतीत होता है एवं दूसरे ग्रन्थ मुक्ति तरंगिणी का शीर्षक उसे आध्यात्मिक अभिव्यंजना का काव्य सिद्ध करता है। उनका रचनाकाल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। रस-रहस्य उन्होंने संवत् १७२७ में बनाया था। कुलपति मिश्र आचार्यत्व की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही-साथ ही सुकवि भी थे। सीधी एवं सहज ब्रजभापा में हृदय के स्वाभाविक उद्गार उन्होंने प्रकट किये हैं।

भक्ति-भावना का उनमें अभाव न था। 'रस रहस्य' के प्रारंभ में ही

---

१. सतसई, २।
२. वही ४।
३. वही, ७००।
४. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ३१३।
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३४।

कृष्ण की वन्दना उन्हें वैष्णव सिद्ध करती है। कृष्ण को आराध्य मान लेने के बाद स्वाभाविक रूप से उनकी मधुर लीलाओं की ओर व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट होता है। ऐसे ही एक विहार-प्रसंग का उल्लेख निम्न छंद में प्रतीत होता है:

ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज रहे अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैन विशाल हिये वनमाल विलोकत रूप सुधा भरि पीजै।
जामिनि-जान की कौन कहैं जुग जात न जानिये यों छिन छीजै।
आनंद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै।

वृन्द :

नीतिकार के रूप में बृन्द कवि की हिन्दी में पर्याप्त ख्याति है। परन्तु वृन्द केवल नीतिकार ही नहीं थे, वे एक श्रेष्ठ कवि भी थे। वृन्द कवि का जन्म संवत् १७०० के आसपास मेड़ता (जोधपुर) में हुआ था। ये जाति के सेवक या भोजक थे। काशी में साहित्य, दर्शन तथा विभिन्न शास्त्रों का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। काशी से लौटने पर अपने पांडित्य एवं प्रतिभा के कारण जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह (प्रथम) से आपको सम्मान भी प्राप्त हुआ था। बाद में ये औरंगज़ेब के दरबार में भी पहुँच गये थे। औरंगज़ेब की काव्य-संगीत आदि कलाओं-संबंधी उदासीनता प्रसिद्ध है, परन्तु कहते हैं कि वृन्द ने उसके मुख से भी प्रशंसा एवं हाथों से धन प्राप्त कर लिया था। औरगंज़ेब ने उन्हें दरबार में स्थान देने के साथ ही अपने पौत्र अज़ीमुश्शान का अध्यापक भी नियुक्त कर दिया। अज़ीमुश्शान जब बंगाल का सूबेदार हुआ तब वे उसके साथ ढाका चले गये। डॉ० मेनारिया का कथन है कि सं० १७६४ के आसपास किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने अज़ीमुश्शान से वृन्द को माँग लिया था और अच्छी भूमि देकर अपने यहां बसा लिया।[1] किशनगढ़ में ही वृन्द की मृत्यु सं० १७८० में हुई थी।

वृन्द कवि के रचे हुये ११ ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है:

(१) समेत सिखर छंद (रचना १७२५) (२) भाव पंचाशिका (१७४३) (३) शृंगार शिक्षा (१७४८) (४) पवन पच्चीसी (५) हितोपदेश संधि (६) वृन्द सतसई (१७६१) इसका निर्माण ढाका में अज़ीमुश्शान के अनुरोध पर हुआ था (७) वचनिका (१७६२) (८) सत्य स्वरूप (१७६४) (९) यमक सतसई (१०) हितोपदेशष्टाक (११) भारत कथा।

इन रचनाओं में विषय का बहुत वैविध्य है। वास्तव में वृन्द को देशाटन एवं जीवननुभावों को अर्जित करने का पर्याप्त अवसर मिला था। इन अनु-

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारियाः राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ९९।

भवों को उन्होंने अपने काव्य में रोचक अभिव्यक्ति दी है। उनके नीति-कवि के पीछे भी जीवन का यही विशाल अनुभव विद्यमान था।

रीतिकाल के कवियों जैसा शृंगार रस एवं नायिका भेद का वर्णन उन्होंने भाव पंचाशिका एवं शृंगार शिक्षा में किया है। उनका वृन्द सतसई अपने नीतिपरक दोहों के लिए प्रसिद्ध ही है, पर उसकेअतिरिक्त उनकी यमक सतसई भी है। यमक सतसई के अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं एवं प्रत्येक दोहे में यमक अलंकार की स्थापना हुई है। यह रचना भी आलंकारिकता की दृष्टि से रीति-बद्धता ही सूचित करती है।

वृन्द अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में चाहे जैसे कवि रहे हों, पर वार्द्धक्य की अवस्था में वे भक्ति की ओर उन्मुख हो गये थे। किशनगढ़ राज्य का पूरा कुटुम्ब ही भक्त और कवि था। राजपरिवार के प्रभाव में ही वृन्द भी निम्बार्कीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि वृन्दावन देव के शिष्य हो गये थे। वृन्दावन देव ने स्वयं 'गीतामृत गंगा' में आलंकारिक शैली में ब्रजलीलाओं का गान किया है। नीचे हम वृन्द कवि के कतिपय भक्तिभावपरक छंद उद्धृत कर रहे हैं, परन्तु इन पर भी रीतिकाल की चमत्कार-योजना का प्रभाव देखा जा सकता है:

पटु पराग पट पीत, सुखद सुन्दर तन सोहत,
बंसी बंस बजाय, सुमन खग मृग मन मोहत।
करि विलास रस केलि, लता ललिता पुंजन में।
सदन सदन संचरत, धरि विचरत कुंजन में।
जलन्हात पदमिनीवास हर, चढ़त सुविटप कदम्ब पर।
माधव स्वरूप माधव पवन, कहत वृन्द आनन्द कर।

—पवन पच्चीसी से।

कुंज बिहारी कुंज में, छरी छरी दिखराइ।
चित उनकी चितवत चकी, परतन परतन पाइ।
बनी मांहि राधे बनी, बनी बनी की भांति।
भई देखि सिर उनमनी, सबै उनमनी कांति।

—यमक सतसई से।

देव :

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था। देव उपनाम से वे कविताएँ लिखते थे। डॉ० नगेन्द्र ने देव के अंत:साक्ष्य के आधार पर उनका जन्म संवत् १७३०

माना है[1] वे इटावा के रहने वाले कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।[2] अपने जीवन-निर्वाह के लिए देव को कई आश्रयदाताओं के पास भटकना पड़ा था। देव की मृत्यु संवत् १८२४-२५ के आसपास हुई थी।[3] देव के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या अट्ठारह हैं। यों ५२ या ७२ ग्रन्थ भी बताये जाते हैं। इनमें से काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ हैं एवं प्रेम चन्द्रिका, राग रत्नाकर, देव शतक, देव चरित, और देव माया प्रपंच, भक्ति, संगीत एवं अध्यात्म से सम्बन्धित हैं। प्रेम चन्द्रिका में उन्होंने प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इसमें साधारण प्रेम के अतिरिक्त भक्ति के प्रेम का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। देव शतक में प्रेम पच्चीसी के अन्तर्गत भी प्रेमतत्त्व का वर्णन करते हुए उन्होंने परमात्मा को केवल प्रीति द्वारा प्राप्य बताया है। 'देव चरित' में कृष्णजीवन से सम्बन्धित विविध प्रसंगों एवं लीलाओं का संक्षिप्त वर्णन है।

देव हमारे आलोच्य काल के अत्यंत समर्थ कवियों में से हैं। राधा और कृष्ण के युगल-रूप के अनेक मार्मिक चित्र उनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। मधुर भावापन्न जिन भक्ति-सम्प्रदायों की चर्चा हम इस प्रबंध में कर चुके हैं उनमें राधा तथा कृष्ण और गोपियों के जो चित्र हमें प्राप्त होते हैं उनसे देव के चित्र भिन्न नहीं प्रतीत होते और वह भी उस स्थिति में जबकि देव के काव्य में भक्ति-सम्बन्धी उद्‌गार निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। जहाँ तक अलंकरण और अभिव्यंजना की सचेष्टता का प्रश्न प्रेमाभक्ति के साम्प्रदायिक कवियों में भी वह उपलब्ध हो जाती है तथा इसी कसौटी पर भक्ति को भी यदि कसा जाता है तो अभिव्यंजना की सचेष्टता एवं रीतिबद्धता तुलसीदास में भी प्राप्त होती है। अतः देव जैसे कवियों कीसमीक्षा में किसी रूढ़ दृष्टि को अपनाने की अपेक्षा प्रत्येक छन्द पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना अधिक समीचीन होगा। उनके कतिपय प्रेमा-भक्ति सम्बन्धी छन्द नीचे उद्‌धृत है:

बटु है नटु ह्वै कै रिझावैं जिन्हें हरि, देव कहैं बतियां तुतरी।
विधि ईस के सीस बसी बहु बारन कोटि कला रज सिंधु तरी।
जगमोहनि राधे तू पाइं परों वृषभान के मौन अभै उतरी,
गुन बांधै नचावति तीनिहुँ लोक लिये कर ज्यों कर की पुतरी।[4]

---

१. डॉ० नगेन्द्र: देव और उनकी कविता, पृ० १७।
२. वही, वही, पृ० १८-२०।
३. वही, वही, पृ० ३२।
४. निम्बार्क माधुरी, पृ० ४८२ के संग्रह से।

'देव' मैं सीस बसायौ सनेह कै भाल मृगम्मद विंदु कै भाख्यो।
कच्चुंकी में चुपर्यो करि चौवा लगाय लियो उर सौं अभिलाख्यो।
कै मख़तूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
सांवरे लाल को सांवरे रूप मैं नैननि में कजरा करि राख्यौ।[1]

कालिदास त्रिवेदी :

कालिदास अन्तर्वेद के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म-संवत् निश्चित नहीं है, पर अनुमानतः वे संवत् १७२५ के पूर्व ही उत्पन्न हुए थे, क्योंकि १७४५ की गोलकुण्डा वाली चढ़ाई में वे औरंगजेब की सेना के साथ गये थे।[2] उस समय उनकी आयु कम से कम २० वर्ष की तो रही ही होगी। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—वधू (वार वधू) विनोद, राधा माधव-वुध मिलन-विनोद तथा संपादित ग्रन्थ कालिदास-हजारा। वारवधू विनोद नखशिख एवं नायिका-भेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर प्रस्तुत विवरण में हम उससे अधिक संबंधित न होकर दूसरे ग्रन्थ से संबंधित हैं। राधा माधव-वुध-मिलन-विनोद के छन्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि कालिदास युगलोपासक किसी संप्रदाय में दीक्षित हो गये थे तथा उसी के अनुरूप वे कविता (साधना) करते थे। रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के वियोग या संयोग की चेष्टाओं का वर्णन किया है, पर नित्य विहार के वास्तविक रूप के दर्शन उनमें कम होते हैं। कालिदास त्रिवेदी की रचनाएँ ब्रजलीला की अपेक्षा इसी निकुंज-लीला के अधिक निकट हैं। उदाहरणार्थ एक छन्द लें :

एक ही सेज पै राधिका माधव धाइ ह्वै सोइ सुभाइ सलोने।
पारे महाकवि कान्ह कों मद्धि पै राधा कहै यह बात न होने।
ह्वै हौं न सांवरी सांवरे तें अलि बावरी बात सिखाई है कोने।
सोने को रूप कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने।

निम्न छंद में उन्होंने अपनी भक्ति-भावना एकदम स्पष्ट कर दी है :

छाय रहै जु छहों रित जा घर प्रेम जंजीर जकरि कै।
कालिदास राधा माधव के पूजौं पाइ पकरि कै।

उदयनाथ कवीन्द्र :

प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र कवीन्द्र का जन्म-समय आचार्य

---

१. डॉ० नगेन्द्र द्वारा 'देव और उनकी कविता' पृ० १०२ पर उद्धृत।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४१।

रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १७३६ के लगभग माना है ।[1] इस प्रकार इनका कविता-काल, १८वीं शती का अंतिम चरण माना जा सकता है । 'रामचन्द्रोदय', विनोद चन्द्रिका' 'जोग लीला' नामक ग्रंथों का उल्लेख भी शुक्ल जी ने किया है । रस चन्द्रोदय शृंगार रस का ग्रन्थ है और वही इनकी ख्याति का मुख्य आधार है । प्रेम की वेदना का अत्यंत मार्मिक रूप उन्होंने उपस्थित किया है । इस प्रेम-चित्रण पर सूफ़ी प्रभाव भी देखा जा सकता है :

कैसी ही लगन जामें लगन लगायी तुम,
प्रेम की पगनि के परेखे हिय कस के ।
केतिको छिपाय के उपाय उपजाय प्यारे ।
तुम तें मिलाय के बढ़ाये चोप चस के ।
भनत कबिन्द हमैं कुंज में बुलाय कर ।
बसे कित जाय दुख देकर अबस के ।
पगनि में छाले परे नांछिबे को नाले परे ।
तऊ लाल लाले पर रावरे दरस के ।

महाराज बुद्धसिंह :

हाड़ा के राजपूत बूंदी नरेश अनिरुद्ध सिंह के पुत्र बुद्धसिंह का जन्म सं० १७४२ में एवं मृत्यु सं० १७९६ में हुई थी । संवत् १७५२ में बूंदी की गद्दी पर आसीन हुए । यद्यपि उनका सारा जीवन युद्धों एवं राजनैतिक उथल-पुथल में ही बीता, पर फिर भी उनका कलाकार मन रचना के लिए अवसर निकालता ही रहा । बुधसिंह का 'नेह तरंग' नामक, १४ तरंगों वाला रीति-निरूपक ग्रंथ है । वे एक सुकवि प्रतीत होते हैं । भ्रमरगीत के प्रसंग पर लिखी हुई उनकी यह घनाक्षरी द्रष्टव्य है :

ऊधौ एक सुनिबे हैं अरज हमारी और,
एते पर उनहूँ कें मन मैं न आती हैं ।
भौन भयौ भाखसी सौ साखसी सौ दिन भयौं,
राकसी सी रैंनि भई देखें न सुहाती है ।
कहियो जू एती दई मन में जौ आवै क्यों हूं,
देखन जो पाऊँ केती कहिबें न आती है ।
चढ़ि-चढ़ि नेह निधि कढ़ि-कढ़ि लाज हम,
सूखें पानी सफरी लौं बढ़ि-बढ़ि जाती हैं ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५० ।

राजसिंह :

ये किशन गढ़ के महाराज मानसिंह के पुत्र थे। आपका जन्म संवत् १७३१ में हुआ था। देहावसान उनका सं० १८०५ में हुआ। वे निम्बार्क-संप्रदाय के अनुयायी थे। राजसिंह बड़े ही गुण-ग्राही, कलाप्रेमी एवं स्वयं कवि थे। अज़ी-मुश्शान से वृन्द को वे ही मांग लाये थे। राजसिंह से किशनगढ़ राज्य में एक काव्य-परम्परा ही प्रारंभ हो जाती है। राजसिंह स्वयं कवि थे। उनकी पत्नी ब्रजदासी जी के भागवत अनुवाद की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। नागरीदास उनके पुत्र थे तथा सुन्दर कुँवरि जी उनकी पुत्री। उनकी पौत्री छत्र कुंवरि भी कवयित्री थीं। अस्तु राजसिंह के लिखे दो ग्रन्थ हैं—बाहु विलास एवं रसपाय। प्रथम ग्रन्थ में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का विवाह वर्णित है एवं द्वितीय ग्रन्थ में रीतिकाल के प्रभाव के अन्तर्गत नायकों के गुणावगुण बताये गये हैं। आपके कतिपय फुटकर पद भी मिलते हैं :

ए अखियाँ प्यारे जुलुम करैं।
यह महरेरी लाज लपेटी झुकि-झुकि घूमैं भूमि परैं।
नगधर प्यारे होड़ न न्यारे हा हा तो सौं कोटि करैं।
राजसिंह को स्वामी नगधर बिनु देखे दिन कठिन परैं।

सूरति मिश्र :

'हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास' में सूरति मिश्र के बारे में कहा गया है कि इनके संबंध में किसी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं है।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनका रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना है।[2] डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने सूरति मिश्र का जन्म सं० १७४६ के आसपास अनुमानित किया है।[3] सभी इतिहासकार इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा आगरे का निवासी मानते हैं। जहानाबाद, जयपुर, बीकानेर आदि राज्यों से वे संबंधित रहे हैं। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या १५ से ऊपर है। 'रसिक प्रिया' 'कवि प्रिया' एवं 'बिहारी-सतसई' की उन्होंने ब्रजभाषा गद्य में टीकाएँ भी की हैं तथा अनेक रीति-ग्रन्थ (अलंकार माला, नखशिख, रस सरस, रस ग्राहक चन्द्रिका, रस रत्न माला, काव्य सिद्धांत और शृंगार सार) हैं। संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक तथा 'बैताल-पंचविंशति' के अनुवाद भी सूरति मिश्र ने किये

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ३४०।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४९।
३. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १३२।

थे। भक्ति विनोद, राम चरित्र, कृष्ण चरित्र, रास लीला व दान लीला उनके भक्ति-मार्ग से संबंधित ग्रन्थ हैं। भक्तिकाल की दृष्टि से उनकी रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं, एवं भक्ति-काव्य का सरस रंग भी उन पर मिलता है। प्रेमाभक्ति के कवियों को होली का उत्सव अत्यधिक प्रिय रहा है। नीचे उद्धृत छंद भी होलिकोत्सव से ही संबंधित है :

फागुन के दिन बावरे ये इनमें न सयानपना निबहै हैं।
काम दुहाई रही घिरि कैं अब कोउन काउ की फूक लहै हैं।
आय कै रंगनि सौं भरि हैं हरिहैं नहीं नागर सांची कहै हैं।
चोरी नहीं बरजोरी नहीं होरी मैं कौन धौं केरि रहैं हैं।

—भक्ति विनोद

श्रीपति :

श्रीपति कवि का अधिक प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है।[1] वे कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके 'काव्य सरोज' नामक ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७७७ वि० है। अत: विक्रम की अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में वे विद्यमान थे। उनके ७ ग्रन्थ कहे जाते हैं पर वे सभी रीति-निरूपण या रीतिबद्ध काव्य के प्रतीत होते हैं। काव्यशास्त्र के आचार्य रूप में वे अत्यधिक महत्त्पूवर्ण हैं। यत्र-तत्र उनके कुछ फुटकर भक्ति पदों में भाव-संबंधी उद्गार भी मिल जाते हैं। एक उदाहरण निम्नलिखित है :

तातहू की जाति नीकी निगम प्रतीति नीकी।
श्रीपति जू प्रीति नीकी, लागै हरिनाम की।
रेवा नीकी बानर खेत, मुंदरी सुवा की नीकी।
मेवा नीकी काबुल की, सेवा नीकी राम की।

सोमनाथ :

सोमनाथ को आचार्यत्व एवं प्रबन्ध-कवि की दृष्टि से शुक्ल जी ने रीति-काल का महत्त्वपूर्ण कवि माना है।[2] उनका ''रसपीयूष निधि'नामक रीति का विस्तृत विवेचन करने वाला ग्रन्थ संवत् १७६४ में लिखा गया था। इस आधार पर शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल संवत् १७६० से १८१० माना है। इनका

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास षष्ठ भाग, पृ० ३४८।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६२-२६३।

'माधव विनोद' नामक नाटक संवत् १८०७ में लिखा गया था।[1] ये माथुर ब्राह्मण थे तथा भरतपुर नरेश मर्दनसिंह के छोटे पुत्र के आश्रित थे। इनके पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रस पीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी सुजान विलास। इनमें से प्रथम दो ग्रंथ काव्य-शास्त्र से संबंधित है। कृष्ण लीलावती नाम ही कृष्णलीलाओं का सूचक है, पंचाध्यायी प्रकाशित हो गई है और भागवत की परम्परा में कृष्ण की रास-लीला को चित्रित करती है। पंचाध्यायी का रचनाकाल सं० १८०० है। इस प्रकार यह रचना हमारे आलोच्य युग के अन्तिम बिन्दु पर स्थित है। इनके अतिरिक्त 'सुजान विलास' (सिंहासन बत्तीसी का अनुवाद) एवं 'माधव विनोद' नाटक दो ग्रन्थ और कहे जाते है।[2]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि सोमनाथ में प्रेमाभक्ति का गहरा संस्कार था। गोपियाँ रास के समय कृष्ण से तिरस्कृत होती हैं। उस समय गोपियों के मार्मिक वचन सोमनाथ जी के इस छन्द में पूरी वेदना के साथ उपस्थित हुए हैं :

रावरी हाँसी बिलोकन सों,
अरु बांसुरी की सुन तान तरेरी।
जागि उठी मनमत्थ की आगि
छिनोछिन बाढ़ति भांति अमेरी।
सींचों हमें अधरामृत से,
शशिनाथ कहौ जिन बात करेरी।
नातरु या विरहानल में,
जरिहोयेंगी कान्ह भभूत की ढेरी।[3]

यह छन्द भागवत के निम्न श्लोक के भावावेग को पूरी तरह सुरक्षित रख सका है :

सिंचांग नस्त्वदधरामृत पूरकेण,
हासावलोककल गीतजहृच्छयाग्निम्।

---

१. सोमनाथ रत्नावली की भूमिका में उनके १० ग्रन्थ गिनाये गये हैं। सोमनाथ रत्नावली (आलोक पुस्तक माला, प्रयाग) पृ० ५-६।

२. वही, वही।

३. वही, छंद ६८, पृ० ३७।

नो चेद्वयं बिरहजाग्न्युपयुक्त देहा,
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ।[1]

सोमनाथ का एक और सुन्दर छन्द निम्न है। नायिका का स्वप्न दर्शन अत्यंत मनोहर एवं भावपरक बन पड़ा है :

आये गुपाल सखी सपने में, समीप हमारे रतीक डरै नहीं।
हौं कितनौं समुझाइ रही तऊ लाजतें नैन उतै ठहरे नहीं।
चाइन सौं मुसकाइ कछू ललचाइ कै वे तौ घरीक टरै नहीं।
मैं ही अयानपन्यौ परस्यौ जु निसंक ह्वै मोहन अंक भरै नहीं।[2]

आलम :

आलम नाम से हिन्दी में दो कवियों की चर्चा होती है। मुअज़्ज़म (बहादुरशाह) के आश्रित थे। बहादुरशाह का गद्दीकाल संवत् १७६४ से आरंभ होता है। अतः आलम को भी १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है। आलम के संबंध में एक मनोहर प्रेमकथा कही जाती है। कहते हैं कि वे ब्राह्मण थे, पर किसी शेख़ रंगरेज़िन के प्रणय में उन्होंने अपना धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लिया था। उससे उन्होंने विवाह कर लिया। रंगरेज़िन भी कवयित्री थी और कहते हैं कि 'आलम केलि' में शेख की भणिति वाले छन्द उसी के हैं। पर इधर डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने युक्तियुक्त प्रमाणों के आधार पर इस मत का खंडन किया है। उनके अनुसार शेख़ आलम कवि का पूरा नाम था और 'आलमकेलि' के समस्त छंद उन्हीं के हैं। शेख उनकी पत्नी का नाम नहीं था। रंगरेज़िन वाली प्रेमकथा सत्य हो सकती है पर उससे उनकी स्त्री का शेखनामधारी होना निश्चित नहीं होता।[3]

आलम की दो रचनाएँ हैं—आलम केलि एवं सुदामा चरित्र। इन दोनों रचनाओं से ऐसा लगता है कि आलम के पास हृदय हिन्दू का ही था। सुदामा चरित्र की भाषा में फ़ारसी और रेख़्ता का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर इस कथानक का चित्रण ही उनकी उदारता का सूचक है। आलम केलि में शृंगार और विशेष कर विप्रलंभ शृंगार के अत्यंत अनुभूति-प्रवण चित्र उपलब्ध होते हैं। निम्न छंद

१. श्रीमद्भागवत, १०।२९।३५।
२. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट कविता, छंद ३४।
३. डॉ० मनोहरलाल गौड़: शेख़ आलम—हिन्दी अनुशीलन (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक,) पृ० ३९५-३९६।

में स्मृति कथन की तीव्रता दृष्टव्य है। नायिका मिलन की शारीरिक बात नहीं करती, मात्र प्रकृति के उन दृश्यों को देखकर मन में एक गहरी वेदना का अनुभव करती है। वेदना-जन्य ऐसी अनुभूतियाँ रीति के स्थान पर भक्ति-प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। दोनों (विरह-मिलन) ही स्थितियों को एक दूसरे के परिपार्श्व में रखकर अपेक्षित विरह-व्यथा की व्यंजना कवि की शक्ति का प्रमाण है :

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौं करैं।
जा रसना सों करी बहु बात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यौं करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यौं करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौं करैं।

भिखारीदास :

प्रतापगढ़ के ट्योंगा ग्राम के निवासी कायस्थ थे। वे विक्रम की १८ वीं शती के अन्तिम दशक एवं १९ वीं शती के प्रथम दशक में रचनाकार्य में अधिक क्रियाशील रहे हैं। उनके सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—रस सारांश, काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, छंदोर्णव पिंगल, शब्द-नाम प्रकाश, विष्णु-पुराण भाषा और शतरज-शतिका। भिखारीदास रीतिकाल के सर्वोत्तम आचार्य कवियों में से एक हैं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी दास जी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवि हैं। रूप सौन्दर्य में ठगी राधा का यह चित्र देखिए जिसे विषम अलंकार के माध्यम से कवि ने उभारा है :

जेंहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी उनहीं की चितौनि के भाय अघाय गई।
वृषभान लली की दसा यह 'दास' जू देत ठगौरी ठगाय गई।
बरसाने गई दधि बेचन को तंह आपुहि आपु बिकाय गई।

भिखारीदास यद्यपि प्रमुखतः रीति ग्रन्थों के ही प्रणेता थे। पर वातावरण में भक्ति की जो मधुरता और व्रजरस का जो प्राचुर्य था, उसे अभिव्यंजित करने से अपने को रोक नहीं सके। इधर उद्धृत छंद इसी भक्तिपरक अनुराग का व्यंजक है।

षष्ठ अध्याय

अठारहवीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति-काव्य का साहित्य विश्लेषण और मूल्यांकन

१८वीं शती के प्रेमाभक्ति काव्य का साहित्यिक विश्लेषण और मूल्यांकन

प्रेमाभक्ति काव्य की तीन परम्पराएँ : संक्षिप्त परिचय

विक्रम की १८ वीं शती के हमारे समीक्ष्य साहित्य में तीन परंपराएँ अत्यंत स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। एक परम्परा निकुंज-लीला या सखी-भावोपासकों की है। दूसरी परम्परा व्रजलीला अथवा गोपी-भाव के साधकों की है। ये दोनों परम्पराएँ रागानुगा-भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। तीसरी परम्परा सगुण लीलागान की न होकर निर्गुण के प्रति प्रेमाभाव की है—इसे हम प्रेम-प्रतीक-भाव-धारा भी कह सकते हैं। निर्गुण-संप्रदायों एवं सूफ़ियों की भक्ति इसी प्रेम-प्रताकवाद पर मुख्यतः आश्रित हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे प्रतीक प्रस्तुत युग तक प्रतीकात्मकता खोकर वास्तविकता ग्रहण कर लेते हैं। अस्तु, इन तीनों परम्पराओं में दूसरी एवं तीसरी परम्पराएँ इस अर्थ में परस्पर अधिक निकट हैं कि उनमें वियोग-तत्त्व को ही मान्यता प्राप्त नहीं है बल्कि प्रिय को सीधे-सीधे कान्त या कान्ता-भाव से प्राप्त करने की चेष्टा भी है। पहली और तीसरी परम्परा में निकटता एक दूसरे स्तर पर है। सूफ़ी भी किसी कथा के पात्र में अपने सौन्दर्य-प्रेम आदि के आदर्शों को केन्द्रित करके अभिव्यक्त करते हैं एवं नित्यविहार के गायकों ने उस सारे सौंदर्य, प्रेम आदि को राधा-कृष्ण (या राम-सीता) के युगल में राशिभूत करके देखा है। प्रथम एवं द्वितीय परंपराओं के पारस्परिक नैकट्य या पार्थक्य की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। द्वितीय परम्परा (गोपी-भाव) के भावबोध का ही चरम विकास हमें प्रथम परम्परा के नित्यविहार एवं सखीभावपरक उपासना में प्राप्त होता है।

यहीं पर इतना संकेत कर देना ठीक रहेगा कि हमारे साहित्य में काव्य-सृजन के स्तर पर वैविध्य के लिए द्वितीय परम्परा का विकास मुख्य रूप से होता है, यद्यपि अन्य धाराएँ भी इस परिणति में अपना योग दे रही थीं। इस समस्त विकास-प्रक्रिया का विवेचन हम आगे विस्तार से करेंगे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सखी-भाव एवं प्रेम-प्रतीक-भाव की धाराएँ निःशेष हो

गई थीं। हमारे आलोच्य काल में तो वे अत्यधिक बलवती रही हैं एवं १९ वीं शती तक उनका वेग कम नहीं पड़ा। परन्तु ऐसा लगता है कि मुख्य काव्य-धारा से कटकर वे मात्र रहस्यानुभूति के सरोवर बन गयी थीं। वस्तुतः ये दोनों (प्रथम एवं द्वितीय) परम्पराएँ मुख्यतः रहस्यानुभूति पर ही आधृत हैं। इस रहस्यानुभूति की ऐकान्तिकता के कारण ही उनको साहित्य-सरिता के मुख्य बहाव से अलग हो जाना पड़ा था। अस्तु, आगे हम अपने आलोच्य काल की इन्हीं तीनों परम्पराओं के कथ्य एवं शिल्प के विश्लेषण तथा मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

नित्य विहारोपासकों द्वारा सृजित काव्य :

निर्गुणियों एवं सूफ़ी-प्रेमाख्यानकारों को छोड़कर नित्यविहार की स्वल्पाधिक अभिव्यक्ति हमें इस युग के प्रत्येक संप्रदाय में प्राप्त हो जाती है। यहां तक कि निर्गुण कहे जाने वाले प्रणामी (धामी)[1] एवं चरणदासी (शुक)[2] संप्रदाय भी इस भावना से बच नहीं सके हैं। पीछे चतुर्थ अध्याय में हम कह चुके हैं कि गोपी-भाव वाले सगुणोपासक गौड़ीय वैष्णव तथा वल्लभ-संप्रदाय एवं मर्यादामार्गी रामभक्ति-संप्रदायों में भी राधावाद (सीतावाद) प्रमुखता प्राप्त कर लेता है एवं नित्यविहारोपासना की भरपूर अभिव्यक्ति प्रस्तुत युग तक आते-आते उन संप्रदायों में होने लगती है। पीछे क अध्यायों में विभिन्न संप्रदायों के कवियों की चर्चा करते हुए हम इस तथ्य की ओर इंगित कर चुके हैं कि नित्यविहार की भावना बराबर बल पकड़ती गयी है। राधा और कृष्ण (सीता-राम) सौन्दर्य, प्रेम एवं केलि के साक्षात् रस-विग्रह स्वीकार कर लिये गए थे। रीतिकाल की नायक-नायिका संबंधी कल्पनाओं में नित्य-विहारोपासकों की इन धारणाओं ने अत्यधिक बल दिया होगा।

चतुर्थ अध्याय में हम कह चुके हैं कि नित्यविहारोपासक सखी-भाव के अनुग हैं। लाड़िली और लाल के अहर्निशि चलने वाले विहार में सेवा एवं उसी विहार का दर्शन उनका एक मात्र काम्य लक्ष्य होता है। अतः उनकी समस्त अभिव्यक्तियाँ इसी केन्द्र के चारों ओर सदैव रहती हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से जिन बातों, दृश्यों एवं परिस्थितियों को अभिव्यंजना मिली है, उनकी विवेचना हम कर रहे हैं।

इन संप्रदायों में चूंकि परात्पर-तत्त्व की कल्पना मधुर एवं सुन्दर के रूप में ही हुई है,[3] अतः परात्पर-तत्त्व की अभिव्यक्ति जिन युगों (राधा-कृष्ण एवं

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५२८-५३८।
२. वही, वही, ५९६-६०६।
३. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

सीता-राम) के रूप में हुई है वे भी निखिल सौन्दर्य की राशि एवं परम मधुर रूप में ही चित्रित हुए हैं। ऐश्वर्य, तेज, बल, प्रताप आदि गुण इस क्षेत्र में उपेक्षित ही हैं।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शील, शक्ति और सौन्दर्य की जिस वृहत्त्रयी को विभु में देखना चाहा है उसमें से केवल सौन्दर्य ही इन अभिव्यक्तियों में गृहीत है। इसी कारण इन कवियों ने अपने उपास्य युगल के रूप का अत्यंत विशद, मनोहारी एवं सर्वातिशायी प्रभावकर रूप में चित्रण किया है। इस रूप से सखियाँ एवं समस्त जड़-चेतन तो प्रभावित होते ही हैं, वे दोनों परस्पर भी इस रूप की ठगौरी में एक दूसरे की ओर सतत आकर्षित रहते हैं। परस्पर का यह आकर्षण ही प्रेम है और यह रंगीला आकर्षण एवं चटकीला प्रेम उन्हें निरन्तर मिलनोत्सुक बनाए रखता है। मिलन की यह आकुलता पलकान्तर या अंचल की ओट में भी तीव्र विरह को उत्पन्न करने में समर्थ होती है तथा विहार की उत्कट वांछा ही तनिक-सी बाधा प्राप्त होते ही मान का रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु विरह और मान के वास्तविक कारणों का अभाव उन्हें छद्म ही बनाए रखता है। फिर अभिसार है, अभिसार की नाना चेष्टाएँ हैं। सुरत एवं सुरतान्त के मादक, मदिर चित्र हैं, रासक्रीड़ा का उत्फुल्ल वैभव है तथा अन्य अनेक मिलन लीलाएँ हैं, और इन सभी में सखियों की **प्रसन्न परिचर्या एवं सेवाविधि** है। इन सभी को युगलोपासक प्रस्तुत कवियों ने अपने सहस्रों छन्दों में संजोया है, प्रकाशित किया है। यह तो लीलागान हुआ, पर इस लीलागान को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके, वह भ्रमपूर्ण धारणाओं में न लपेटा जाय, इसके लिए उन्होंने सिद्धांत-कथन भी प्रभूत मात्रा में किया है। रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थ और प्रेमाभक्ति के सिद्धांत एक ही मनोभूमि से उपजे जान पड़ते हैं—समझने की दृष्टि देना ही इनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इस प्रकार इन कवियों के तथ्य की संक्षिप्त सप्तसूत्री रूपरेखा यों बनती है—(१) रूप-चित्रण (२) आकर्षण और प्रेम (३) मिलनाकुलता (४) छद्म-विरह और छद्म-मान (५) विहार-क्रीड़ा (६) सखियों की सेवा-परिचर्या (७) सिद्धांत-कथन। इस परम्परा में, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है,[2] राधा और कृष्ण अजन्मा, नित्य किशोर, नित्य विहाररत माने गए हैं, इसी कारण न तो शैशव के रूपचित्र हैं एवं न बालक्रीड़ाएं। बहु-वल्लभत्त्व की स्वीकृति न होने से नाना प्रकार के नायिका भेदों एवं नायक-रूपों की कल्पना का भी अभाव है। स्थूल विरह और स्थूल मान का भी इस स्थिति में चित्रण संभव नहीं है। ब्रज-

---

१. राम-सीता के रूप में ऐश्वर्य की भावना का मिश्रण अवश्य है, पर वह मुख्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य की इस समाविष्टि के कारण की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं।

२. दे० चतुर्थ अध्याय।

लीलाओं की स्वीकृति न होने के कारण लीला का वैविध्य भी नहीं है । रामचरित्र में भी वन-गमन आदि की स्वीकृति न होने से लीला की अनेक रूपता में व्याघात पड़ा है । अस्तु आगे हम इस सप्त सूत्री को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं ।

(१) रूप चित्रण :

इस संबंध में कुछ लिखने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि प्रेम और माधुर्य को प्रधानता देने वाले इस काव्य में राधा या सीता का महत्त्व रूपचित्रण की दृष्टि से कहीं अधिक है । श्याम के रूप का चित्रण करने वाले संकेत अपेक्षाकृत विरल भी हैं और कम कल्पनाशील भी । परन्तु प्रिया का वह रूप जो प्रिय को भी उन्मथित कर देता है, प्रभूत मात्रा में अंकित हुआ है । यों सैद्धांतिक रूप से दोनों एक ही हैं एवं विहार काल के जो शोभाचित्र हैं वे दोनों के मादक रूप को उपस्थित करते हैं । सैद्धांतिक एकता की ओर भी यत्र-तत्र संकेत मिल जाते हैं । सब मिलाकर विहार से तटस्थ युग्म के रूप का अंकन इस साहित्य में बहुत कम है । संभवत: इसका कारण यह है कि इन कवियों के मन में नित्य-विहार से तटस्थ युग्म की धारणा का स्थान ही नहीं था । एक क्षण के लिए भी अलग हैं तो निश्चय ही विरह और मान की स्थिति है । इसी कारण युग्म के तटस्थ रूप सैद्धांतिक अधिक एवं बिम्बाधायक कम हैं । बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है :

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक ।
चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक ।[1]

इस दोहे में सखी की उस भावात्मक स्थिति की ओर संकेत अधिक है जिसमें कि युगल की उस अनिन्द्य रूपमाधुरी के ग्रहण के लिए दो नेत्र पर्याप्त नहीं होते । रामोपासक महात्मा बालअली ने सखी की मन:स्थिति से भी असम्पृक्त होकर युगल का उल्लेख किया है ।

एक चित्त दाउ एक वय एक नेहु इक प्राण ।
एक रूप इक वेश है, क्रीड़त कुंवर सुजान ।[2]

एक दूसरे रामोपासक प्रेम सखी जी ने अवश्य ही दोनों के युग्म-रूप का वर्णन एक साथ किया है । परन्तु यह चित्रण अत्यधिक परम्परामुक्त शैली में हुआ

---

१. बिहारी सतसई, २३८ (रत्नाकर) ।
२. बालअली : नेह प्रकाश (रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना में संगृहीत अंश से, पृ० २०६) ।

है। चन्द्रमा जैसा भाल, कमान जैसी भृकुटी एवं कुद से दाँत कवि-कल्पना की समृद्धि नहीं सूचित करते :

गोरे श्याम रंग रति कोटिन अनंग संग
जाकी छवि देखि होत लज्जित विचारे हैं।
चंद कैसो भाग भाल, भृकुटी कमान ऐसी
नासिका सुहाई, नैन जोर छोर वारे हैं।
ओठ अरुणारे तैसे कुंद से दसन प्यारे
ललित कपोलन पै कच घुघरारे हैं।
'अस भुज धारे दोऊ नील पीत पट धारे
प्रेम सखी' राम सिया जीवन हमारे हैं।

यद्यपि इसी कवि ने इस अंश के कुछ पूर्व सीता की छवि का कहीं अधिक कलात्मक एव विदग्ध-वर्णन किया है।

हरिदासी संप्रदाय के स्वामी पीताम्बर देव ने भी युग्म के शृंगार का चित्रण किया है। यह शृंगार ऐसा है कि परस्पर एक-दूसरे पर रीझ कर विहार करने लगते हैं :

आजु सिंगार हमारौ भाई, सब दिन भांवते अधिकाई।
भूषन वसन कुसुम नहिं भावत श्री गुरुमहलनि सैन बताई।
सावधान सहचरि सब देखत घोरि सुगंध विविध विधि ल्याई।
फबि गयौ रंग अंग संगी सुख देखत बना-बनी सुखदाई।
बार बचाय अंग तन लेपन सिख ते नख लौं चित्र बनाई।
रहि गये रीझि परस्पर दोई तन सों तन-मन मनहिं मिलाई।
यही गान संमान भोग जल सरस सिंगार सेज सुखदाई।
रसिक सुगन्ध मई पीताम्बर देखत बनें कही नहिं जाई।।

प्रस्तुत पद में रूप या शृंगार का वस्तुपरक स्वरूप नहीं उपस्थित किया गया है, केवल कुछ वस्तुओं (रग-सुगन्ध आदि) के माध्यम से किये जाने वाले अपूर्व शृंगार का संकेत करके पुनः उस स्थिति के दर्शन के लिए कवि का मन प्रभावित हो गया है जहाँ वे एक दूसरे की शोभा देखकर बस 'रहि गये रीझि' तथा तन से तन एवं मन से मन मिलने की क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। दोनों की एक समान स्थिति की ओर राधावल्लभ-सप्रदाय के अनुयायी अनन्य अलि जी ने

१. प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन (रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना के संग्रह, पृ० ४०२ से)।
२. पीताम्बरदेव की बानी, पृ० ६८ (ह० लि० प्रति)।

इंगित किया है। भोलेपन (इनोसेंस) के सौंदर्य की बहुधा प्रशंसा की जाती है-पर युगल भी वैसा ही है। इसीलिए इस भोले और बावले युगल को देख-देख सखियाँ निहाल होती रहती हैं भोलेपन पर रीझना अपने आप में निहायत रोमण्टिक धारणा है :

ये भोरे ये बावरे दोऊ एक हवाल।
निरखि निरखि निज सखी सब कहत निहाल निहाल।[1]

प्रिया एवं प्रियतम सारी रात अनुराग के रंग में रंगे जागते रहत हैं, उस समय उनके उनींदे नेत्रों का सौन्दर्य रूप रसिक देव (निम्बार्कीय) को सहज ही आकर्षित करता है। मदन के रंग में भीने, सलज्ज हंसौहीं इगित वाले लाल एवं काले वर्णों से समन्वित ढरारे एवं अनियारे नेत्रों का सौन्दर्य दृष्टव्य है :

उनींदें नैन मैन रंग मीने सलज हंसोंही सैंन।
रतनारे कारे ढरारे रु अति अनियारे ऐंन।।
झपकोने दोंने रस कैसे सहज सलोने मन हरि लैंन।
रूप रसिक सगवगे सुहागे अनुरागे जागे रैंन।।

इस छन्द में व्यंजित आंखों का सौन्दर्य मध्यकालीन साहित्य के नेत्रों के श्रेष्ठतम् वर्णनों से टक्कर ले सकता है। ढरारे एवं अनियारे जहाँ उनके आकार को व्यंजित करते हैं वहीं रतनारे काले नेत्र वर्ण-योजना को तथा अनुराग को भी प्रकट करते हैं। सलज हंसौही सैंन एवं उनींदे नेत्रों का झपकने का स्वाभाविक गुण क्रियाशीलता को भलीभाँति व्यंजित करने में समर्थ हैं। मदन का रंग एव रस के होने का उपमान आंतरिक रूप गुण, लावण्य एव प्रभावात्मकता को प्रकट करने के लिए लाये गये हैं। इसके अतिरिक्त अभिव्यंजना का जो सांचा और जो ताना-बाना (टेक्सचर) अपनाया गया है, वह भी वक्तव्य को बिम्ब रूप में उपस्थित करने में नितान्त सक्षम है। छन्द के प्रथम दो शब्द हैं 'उनींदे नन' एवं अंतिम शब्द हैं 'अनुरागे जागे रैंन।' इन दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध है। रातभर अनुराग में जागे हैं, अतः नैन उनींदे हैं एवं इस सम्बध के भीतर ही छन्द में चित्रित अन्य समस्त गुणएव धर्म हैं। इसी कारण कवि ने इन दोनों के द्वारा छन्द को संपुटित किया है। फिर इस अनुराग के पीछे भी मदन का रंग है अतः अनुराग का लाल रंग एवं शृंगार का नील(काला)रंग अगली पंक्ति में कवि रंगबोध को स्पष्ट करते हैं। तो अभिप्रायगत रंग हुए पर स्वाभाविक रूप से भी उनींदे नयन लाल होते हैं एवं आंखों की पुतलियों को काला होना ही है। सुरतान्त में दम्पति में लज्जा का

१. अनन्य अली की वाणी : भोरता लीला (ह० लि० प्र०)।

आगमन भी सहज एवं मनोवैज्ञानिक है, पर साथ ही आनन्द लाभ की स्मिति भी है, इसलिए सैंन (चितवनि) को सलज्ज एवं हंसौंहीं बताया गया है। यों हास्य का उज्ज्वल वर्ण आंखों की श्वेत भूमि को भी इंगित करता है। ढरारे एवं अनि-यारे आकार के उस रूप को अत्यंत शक्ति के साथ स्पष्ट कर देते हैं जो अनायास भाव से प्रिय की ओर ढलक कर नुकीलेपन के साथ कटाक्ष करता है। तीसरी पंक्ति का प्रथम शब्द झपकोंने पुनः सारे सन्दर्भ का उनींदे से जोड़ देता है। है। नींद से भरी आँखें झप-झा पड़ती हैं तथा मदन का रंग भी आंखों को झपका देता है। एक दूसरे की रूप-मदिरा भी उन्हें 'झपकोंने' बना सकने में समर्थ हैं। झपकोंने शब्द वास्तव में कवि की शब्द-चयन-सामर्थ्य का प्रतीक है। यह शब्द एक साथ अनेक व्यंजनाएं भी कर देता है एवं नेत्रों का एक क्रियाशील बिम्ब (functional image) भी खड़ा कर देता है। इसके पश्चात् कवि आँखों के लिए जिस उपमान को लाता है, वह नेत्रों के उस गुण की ओर इंगित करता है जो सखी, पाठक या दर्शक पर पड़ता है।। उनींदे नैन क्या हैं—मानो रस के दोने हैं। दोने आकार की ओर भी सूक्ष्म संकेत कर जाते हैं तथा रसात्मकता तो स्पष्ट ही है। रस सामान्यतः मधुर होता है, पर ये सहज 'सलोने' भी हैं। यह लावण्य नेत्रों के आंतरिक गुण, रूप विशेषता को भी संकेतित करता है। ऐसे नेत्र यदि मन हर लेते हैं तो कोई विचित्र बात नहीं हैं, यह तो सामान्य वक्तव्य हुआ। पर अभी कुछ छूट गया था, अतः कवि ने 'अनुरागे जागे रैंन' के पहले दो विशेषण और जोड़ दिये—'सगबगे' और 'सुहागे'। सगबगे शब्द एक प्रकार की निर्बोधता, सरलता एवं आश्चर्यपूर्ण शंकित स्थिति की व्यंजना करता है। अंगरेजी शब्द 'इनोसेंस' में जो ध्वनि है कुछ-कुछ वैसी ही ध्वनि इस शब्द में भी है परन्तु संग-बगे होना कोई बुराई नहीं है, दुर्भाग्य भी नहीं है इसी को अगला शब्द स्पष्ट कर देता है सुहागे—सौभाग्यशील। इस प्रकार यह छन्द नेत्रों की सुषमा वर्णित करने वाले श्रेष्ठतम छन्दों में से एक है। आकार, वर्ण, गुण, धर्म, क्रिया आदि सभी बातों को—पूरी चित्रात्मकता के साथ इसमें उपस्थित किया जा सका है। यह ध्यान रहे कि इस छन्द का सौन्दर्य रूपक, उपमा या अनुप्रास का नहीं है। पूरे छन्द के संघटन में ही इस सौन्दर्य को रूपायित किया जा सका है।

कृष्ण या राम का सौन्दर्य :

जैसा कि पीछे अभी संकेत किया जा चुका है, इन भक्तों ने युगल के पुरुष-तत्त्व के रूपचित्रण की ओर कम ध्यान दिया है। चूंकि यहाँ पर मुख्यता प्रिया के रूप की है अतः प्रिय का रूप उन्हें बहुत आकर्षित नहीं कर सका। उसमें एक साधनागत रहस्य भी प्रतीत होता है। जब भक्त पुरुष भाव को छोड़कर सखी भाव का अनुगामी बनता है तब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित ही होगा कि

पुरुष-रूप की ओर वह अधिक ध्यान न दे। यदि पुरुष के रूपसौंदर्य पर ध्यान देगी (देगा) तो बहुत संभावना है कि उसके मन में भी काम-भावना जाग्रत हो जाय। परन्तु जैसा कि चतुर्थ अध्याय में सिद्धांत-विवेचन के प्रसंग में कहा जा चुका है, सखी को निर्विकार होना चाहिये। संभवतः इस साधनागत आपत्ति के कारण इन सखि भावोपासक कवियों ने स्वतंत्र रूप से लाल के रूप-चित्रण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। अधिकांशतः वे या तो युगल-रूप में दर्शनीय हैं अथवा उनका रूप प्रिया पर रीझने वाला, प्रिया के लिए व्याकुल, प्रिया के साथ विहाररत ही चित्रित हुआ है। फिर भी कतिपय स्वतंत्र चित्र प्रकार्ण रूप से उपलब्ध हो जाते हैं।

हरिदासी संप्रदाय के स्वामी नरहरिदेव ने कृष्ण का परम्परा-बद्ध शैली में चित्रण करते हुए कहा है :

सखी री आजु बनें पीय सांवरे।
रूप अनूप अधिक छवि राजत कुटिल केस मनो भांवरे।
टेढ़ी पाग ग्रीवा कटि टेढ़ी चितबनि को बलि जाव रे।
श्री नरहरिदास पीय की छवि निरखति प्यारी रूप सभाव रे।[1]

इस पथ की तृतीय पंक्ति अवश्य कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का एक चित्र उपस्थित करती है, अन्यथा समस्त पद से रूप और सौन्दर्य का बिम्ब न उपस्थित होकर कथन मात्र सम्मुख आता है। यहीं पर यह भी याद रखना उचित होगा कि स्वामी नरहरि देव के समय से सखी-संप्रदाय (हरिदासी) में शुद्ध विहार के स्थान पर ब्रजलीला की भावना घर करने लगी थी। अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत हम उनका एक अन्य सिद्धांत का पद उपस्थित कर रहे हैं, वह भी कृष्ण के रूप को सखी नहीं गोपी-भाव से उपस्थित करता है। पद इस प्रकार है :

जाकी मनमोहन दृष्टि परे।
सो तो भयो सावन को अंधो सूझत रंग हरे।
जड़ चेतन कछु नहिं समझत जित देख्यो तित स्याम खरे।
विह्वल विकल संभार न तन की घूमत नैना रूप भरे।
करनी अकरनी दोउ विधि भूली विधि निषेध सब रहे घरे।
श्री नरहरि दास जे भये बावरे ते प्रेम-प्रवाह परे।[2]

कृष्ण सौन्दर्य के प्रभाव में विधि-निषेध का भूलना एवं सावन के अंधे की हरियाली की भाँति सारे संसार का कृष्णमय देखना नित्यविहार की युगलो-

---

१. अष्टाचार्यों की वाणी : नरहरिदेव की बानी, शृंगार रस के पद, ३।
१. वही, वही, सिद्धान्त के पद, १।

पासना के अनुकूल नहीं है।

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी मनोहरदास के राधारमण रस सागर में कृष्ण का रूप चित्रण इस प्रकार हुआ है :

केशर की भूमिका पै जरी खिरकी की पाग,
भूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटकै।
झगा बूंटेदार दोदामी को कष्ट बार रग्यों,
उपरेना पटुका सुनेली चित्र चटकै।
छुद्रावलि बाजूबंद पहुचीयां अतलस,
सूवन नूपुर सुर पग चूरौ मटकै।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़े,
मनोहर मन मुसकान मोही अटकै।[१]

कृष्ण के रूप का यह वस्तुपरक वर्णन प्रथम तो सौन्दर्य की उस भूमिका तक नहीं पहुचता जिसकी कि अपेक्षा थी। यह विशुद्ध रीतिकालीन नायक की वेश-भूषा का वर्णन प्रतीत होता है। दूसरे 'राधारमणरससागर' में ऐसे छन्दों की ही अधिकता है जो नायक-नायिकाभेद, गोपी भाव एवं व्रजलीलाओं का वर्णन करते हैं। अतः शुद्ध विहाररोपासक की दृष्टि से किया गया चित्र इसे भी न मानना चाहिये।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन कवियों में शुद्ध विहार के स्तर पर कृष्ण या राम के रूप-सौंदर्य की स्वीकृति नहीं है।

प्रिया (राधा या सीता)-रूप-चित्रण :

युगलोपासक वैष्णव कवि जिस समय प्रिया जी का रूप-वर्णन करने बैठता है, उस समय लगता है कि उसका चित्त तरलायित होकर निछावर हो उठता है। उसे उपमाएँ ढूंढ़े नहीं मिलतीं, उत्प्रेक्षाएं हीन प्रतीत होने लगती हैं और रूपक असमर्थ।[३] उसके मन में यह धारणा स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि स्वयं परात्पर ब्रह्म लाल जी (कृष्ण या राम) उनके इस रूप पर बलि-बलि जाते हैं।

१. मनोहरदास : राधारमण रस सागर : ११
२. रामोपासक राम सखे इत्यादि में यत्र-तत्र राम का रूप-वर्णन मिल जाता है। पर राम सखे सख्य-भक्ति के उपासक थे, यह हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं। अतः उन चित्रणों को नित्य-विहारोपासकों के साथ मिलाना उचित न रहेगा।
३. श्री फल कंचन गिरि किधैं कुन्दन कलस अनूप।
उपमां सब फिसली परें सुनि ले इनको रूप॥
—अनन्य अली की वाणी (ह० लि० प्र०)।

इस रूप को वे आँखों से पीते रहते हैं पर कभी तृप्त नहीं होते ।[1] राधा के समान राधा ही हैं, अन्य कोई उनकी समता नहीं कर सकता ।[2] इसीलिए युगलोपासक उनके रूप-वर्णन में अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहता है ।

इस नारी-रूप-वर्णन में इन कवियों ने सौन्दर्य का वस्तुपरक अंकन भी किया है तथा इसके उस पक्ष का भी अंकन किया है जो मानसिक अनुभूति का विषय है ।

वस्तुपरक सौन्दर्यांकन :

वस्तुपरक अंकन में इन कवियों ने रूढ़ उपमानों का अत्यधिक उपयोग किया है । उपमानों के इस चयन में सर्वदा यह ध्यान नहीं दिया-गया कि रूप का वास्तविक बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो सके । परम्परा-निर्वाह के ढंग पर अंगों के उपमानों को उपस्थित कर दिया गया है । परन्तु कभी-कभी आकार या व्यापार का चित्र अधिक मार्मिक एवं चित्रात्मक हो सका है । उन्हीं के अन्तर्गत ये चित्र भी आते हैं जिनमें प्रिया के उपमानों का प्रिय के लिए क्या महत्त्व है, इसे भी बताया गया है ।

वस्तुपरक रूप के चित्रण में 'नखशिख' वर्णन अनिवार्य रूप से आता विभिन्न अंगों के लिए अनेक प्रकार के उपमान भारतीय कवियों ने सदैव से जुटाये हैं । नीचे हम कतिपय वे अंश उपस्थित कर रहे हैं जिनमें नारी-अंगों को चित्रित किया गया है ।

---

१. (क) कुटिल लंब कल चीकने घने मिही महकान ।
बार बार बर देत प्रिय बार बार निज प्रान ।।

(ख) कहा अनंगी धनुष सम भ्रूभंगी नव बाल ।
जाकी भंगी मैं नचत नवल त्रिभंगीलाल ।।

—रसिकदास : सौन्दर्यलता ।

(ग) मंगल आरति करत किशोर,
दीप दृगन करि चरन डंडवत, चित्र जानकी रहिमन ठौर ।

—पीताम्बर देव की बानी, पद ४२

२. तोसी तुही हरिदास दुलारी,
तेरी सरिहू जौनहि कोऊ तेरे रस बस कुंज बिहारी ।
तेरो रूप कहत नहिं आवै तैसीये तेरी प्रीति महारी ।
तैसी ये ललित केलि सुबैरासी रसिक सिरोमनि प्रान अधारी ।।

—ललित किशोर देव :सिद्धांत के पद, ६८ ।

नेत्र :

> **रघुवर मन रंजन निपुण गंजन मद रस मैन।**
> **कंजन पै खंजन किधौ अंजन अंजित नैन ॥[१]**

सीता के नेत्रों का प्रभाव भी यद्यपि इसमें दिखाने की चेष्टा हुई है, पर वास्तव में दोहा कोई अनुभूति जगा सकने में असमर्थ है। नेत्र राम के मन-रंजन में चतुर हैं तथा कामदेव के मद को खंडित करने वाले हैं—इतना तो सामान्य कथन मात्र है। दूसरी पंक्ति में सन्देह अलंकार के माध्यम से रूप खड़ा करने की चेष्टा है। नेत्रों का आकार कमल से व्यक्त होता है एवं अंजन-अंजित होने का जो वर्णन है वह खंजन की श्यामता से परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त खंजन की चंचलता नेत्र-व्यापार को प्रकाशित कर देती है। परन्तु यह सारी योजना रूढ़ उपमानों के चमत्कार पर है। सहृदय के मन में कोई गहरी अनुभूति जगाने में यह समर्थ नहीं है।

सूरदास जैसे कवियों ने परम्परा सिद्ध अप्रस्तुत विधान को कथन की भिन्न-भिन्न भंगिमाओं में रख कर जिस प्रकार देखा है वह उपमानों को नवीनता प्रदान कर देती है पर इन कवियों में कथन की वे नानावर्गी भंगिमाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

इसी प्रकार प्रेम सखी ने भी सीता के नेत्रों के लिए उपमानों का जो ढेर लगाया है, वह चमत्कार-प्रधान ही है अनुभूति प्रधान नहीं।[२] इस उपमान-राशि के भीतर से नयनों का यथार्थ रूप खोज निकालना बहुत कठिन है। इस प्रकार के वर्णनों में रीतिकाल की चित्तवृत्तियों का समानान्तर रूप स्पष्ट ही देखा जा सकता है। निम्बार्क-मत के प्रसिद्ध नित्यविहारोपासक रूप रसिक देव के निम्नांकित छंद में नेत्रों की निकाई का वर्णन हुआ है :

---

१. बाल अली: नेह प्रकाश।

२. नैन अनियारे तारे पुंडरीक पान सारे
पुतरनि पे द्विरेफमन वारे है।
कछु कजरारे, सील सागर सुधा सुधारे
बरुनी विशाल धारे जोर छोरवारे हैं।
दीन पै सनेह वारे प्रीतम के प्रान प्यारे
उपमा न पावत विरंचि रचि हारे हैं।
मीन मृग खंजन बनाये विधि प्रेम सखी
वारि वन व्योम बसे लज्जित विचारे हैं।
—प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन।

खंजन तें नीके हैं ए कंजन तें नीके है,
कुरंगन ते नीके हैं ए नैन अति नीके हैं ।[1]

पर काव्य के रसिक जानते हैं कि मात्र यह बताना कि यह वस्तु उस वस्तु से अच्छी है, काव्यचित्रण की परिपाटी नहीं है ।

घनानंद ने नेत्रों में व्यापारों का वर्णन किया है, पर यहाँ भी परम्परा-सिद्ध उपमानों के जाल में उनकी विशेषता बहुत उभर नहीं सकी है, यद्यपि उनके प्रभाव की ओर वे अधिक मार्मिक संकेत कर सके हैं :

बंक विसाल रंगीले रसाल छबीले कटाछ कलानि में पंडित ।
सांवल सेत निकाई निकेत हियो हरि लेत हैं आरस मंडित ।
बेधि के प्रान करें घिरिदान सुजान खरे भरे नेह अखंडित ।
आनंद आसन घूमरे नैन मनोज के चाजनि ओज प्रचंडित ।[2]

सीता की आँखों की चितवनि का एक प्रभावशाली और अपेक्षाकृत नया रूप प्रेम सखी के निम्न छन्द में प्राप्त होता है । यद्यपि इससे नेत्रों की शोभा का भावन नहीं होता, परन्तु उसके तीन गुणों के कथन में कवि की मौलिकता दृष्टव्य है :

वा अनियारी विलोकनि की छवि गाइबे को विधि की बुधि हीन है ।
प्रेम सखी मिथिलेश सुता की कटाक्ष के कोर भये गुन तीन है ।
मीचु समान दशानन की सुर धेनु समानि सु पालत दीन है ।
रूप सुधा की तरंगिनी सों निशद्योस जहाँ हरि को मन मीन है ।[3]

तीन प्रकार के लोगों के लिए उसमें तीन गुण हैं । रावण के लिए वह चितवनि संहारक है एवं दीन जन के लिए कामधेनु सी प्रतिपालक पर प्रियतम राम के लिए तो वह रूप-सुधा की तरंगिणि है जिसमें उनका मन मीन बना निवास करता रहता है । इसमें उपमानों का नयापन अपेक्षाकृत वर्णन अधिक प्रभावशाली बना सका है ।

अन्य नारी अंग :

नारी के अप्रधान यौन अंगों में कुचो का अत्यधिक महत्त्व है, पर यह बात कुछ विचित्र सी लगेगी कि प्रेमाभक्ति के कवियों ने स्तनों का वर्णन बहुत

---

१. रूप रसिक देव : नित्य विहार पदावली, ५६ ।
२. घनानंद : सुजान हित, १८ (घनानंद ग्रन्थावली, पृ० ८) ।
३. प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन ।

नहीं किया। रूप रसिक देव ने तो उनकी गोलाई, ऊँचाई एवं कठोरता आदि का चलता हुआ संकेत मात्र किया है।[1] बाल अली ने उल्लेख अलंकार के सहारे कुचों का सुन्दर वर्णन किया है :

हैं अलि सुन्दर उरज युग रहे तब उर जु प्रकाश।
नवलनेह के फन्द द्वै अति पिय सुख की रासि।

इस वर्णन की विशेषता यह है कि इस वर्णन में उद्दाम श्रृंगार की मांसलता नहीं आने पाई है।

अस्तु केश, नासिका, नथ का मोती, भालपट्ट, पीठ, कटि उरु द्वय, नाभि आदि के वर्णन परम्परा-प्राप्त शैली पर ही अधिक हुए हैं, पर बीच-बीच में अपनी मौलिकता के भी यथेष्ट दर्शन उन्होंने दिये हैं। उदाहरणार्थ राधावल्लभीय रसिकदास द्वारा मस्तक पर हुई पत्र-रचना की शोभा देखिये :

अति छबीलों स्वच्छ रचि वृक्ष लिलार लसाइ।
पियमन पक्षी लक्ष्यगति विहरत हित मंडराय॥[2]

इसी प्रकार नासिका की नथ का मोती हिलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानों हास और अनुराग की शोभा हिंडोले पर चढ़ी है।[3] मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान उपस्थित करने की यह लाक्षणिक शैली घनानंद जैसे कवियों में खूब मिलती है। इसी प्रकार दाँतों की उन्होंने प्रसन्नता के बीज कहा है।

बालकृष्ण नायक 'बाल अली' ने सीता को तन ज्योति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यह वर्णन वास्तव में उपमान-परक उतना नहीं है जितना कि अनुभूति-परक। सीता के शरीर की छवि-ज्योति दिशाओं को कंचनमय कर देती है, ऐसा लगता है कि मानो यह स्वर्ण शरीर से झर रहा हो और जिसे कि रूप (चांदी) अपने अंग में रमा लेता है :

सब दिशि कंचन मय करत तव तन जोति अनूप।
मनु झरि झरि अँगन परे अंग रमावे रूप।[4]

राम-सीता के सौन्दर्य पर अपने अपनपौ का जो 'राईलून' उतारते रहते हैं वह भी सौंदर्य का अनुभूति-परक वर्णन ही है :

---

१. रूप रसिकदेव : नित्य विहार पदावली ५०, ५१, ५३।
२. रसिकदास : सौंदर्य लता। २।
३. वही, वही, ५।
४. वही, वही, ६।

वारि अपनपौ दृगन ते उरि अलि कछू कछून ।
रहत उतारत हीय माँहि पियहू राई लून ।[1]

राधा के रूप का व्यापक प्रभाव दर्शाने वाला यह रूप भी दृष्टव्य है। राधा दुलहिन के वेश में कल्पतरु पूजने जा रही हैं। इस वधूवेश की छवि का वर्णन करते हुए हरिदासी संप्रदाय के स्वामी रसिकदेव कहते हैं कि जब अपने नूपुर की रुनुक-झुनुक करती हुई पद रखती हैं तो पृथ्वी को उस छवि से छवि प्राप्त होती है :

रुनुक झुनुक पग धरति धरनि पर छवि पावति अवनी ।
छिटकि सुगंध मूल तरु पूज्यो फूलनि माल घनी ।।[2]

श्याम पीताम्बरधारी प्रसिद्ध हैं, परन्तु एक दिन राधा ने पीत-शृंगार किया, इस रूप-शृंगार के आगे कृष्ण चकित हुए कि अरे यह कौन पीताम्बर धारी आ गया ? पीले रंगों की यह सज्जा उपमान रहित निरलंकृत निम्न पद में दर्शनीय है :

पीरी सारी पहिरें प्यारीं ।
अंगिया लहंगा तिहीं रंग की तापरि जरद किनारी ।
पियरे ही भूषनि कुसुमनि के कर गेंदुआ लिये फूल हजारी ।
प्रीतम प्रेम प्रवाह परे लखि यहै कौन पीताम्बर धारी ।।[3]

ऐसा ही एक उपमान (रति के उल्लेल द्वारा प्रतीप अवश्य आ गया है) रहित पुष्प-शृंगार राम ने सीता का किया था। पर सौंदर्य का कोई मानसिक प्रभाव उसमें उभर नहीं पाता, केवल फूलों और उनसे बनाये जाने वाले वस्त्रा-भूषणों का परिगणन मात्र हुआ है :

घूम घुमारौ गुलाब को घाघरौ पीत चमेली की ओढ़नी झीनी ।
कँज की लाल कसे कल कंचुकी नील जुही की संजा पुजु दीनी ।
चम्पे का हार कनेरि की चन्द्रिका देखि के चित्त भई रति हीनी ।
फटिक शिला पैं रामसखे पिय, फूल सिंगार सिया छवि कीनी ।[4]

---

१. बाल अली : नेह प्रकाश।
२. रसिकदेव : रस के पद २२ (अष्टाचार्यों की बानी, ह० लि० प्रति)
३. पीताम्बरदेव की बानी, पद ३३ ।
४. रामसखे : जानकी नौ रत्न माणिक्य (राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना में संगृहीत, पृ० ३२३)।

ललित किशोरी देव जी के एक सोरठे के वाद इस ग्रंश को हम समाप्त करेंगे। इस दोहे में एक ग्रोर तो चित्रात्मकता है, एवं दूसरी ग्रोर वह सूक्ष्मता है जो संपूर्ण चेतना पर व्याप्त हो जाती है :

राधे रूप रसाल, क्षण क्षण उठत तरंग प्रति।
अद्भुत नैन विशाल, ललित किशोरी प्राण हैं।[1]

(२) आकर्षण और प्रेम :

रूप की यह ग्रपार राशि प्रिय के मन में गहन ग्राकर्षण ग्रौर प्रेम को जन्म देती है। इस सम्वन्ध में यह द्रष्टव्य है कि चूंकि प्रेम की देवी एवं सौन्दर्य की राशि के रूप में प्रिया जी की कल्पना हुई है ग्रतः ग्राकर्षण एवं प्रेम का ग्राधिक्य कृष्ण में दिखाया गया है। परन्तु सैद्धांतिक रूप से प्रेम, रूप, ग्राकर्षण ग्रादि की एकता दम्पति में ही मानी गयी है। राधावल्लभीय रसिकदास जी ने बताया है कि प्रेम भी कहता सब कोई है पर वास्तव में वह राधा ग्रौर लाल के ही हृदय में पूर्णरूप से भरा हुग्रा है ग्रन्यत्र तो उसकी लघु मात्रा ही दी है; तथा रूप भी संसार में एक कण मात्र है, वास्तविक ग्रमायिक सौंदर्य तो दम्पति में ही है तथा दम्पति का रस लोक को दूलह-दुलहिनियों में थोड़े काल के लिए होता है पर यह दम्पति ऐसे हैं कि कल्प भी इनके लिए पल के समान वीत जाता है। लोक में जो शृंगार का 'गरुवा रस' कहलाता है वह नित्य एवं एक रस राधा में ही है, उन्हीं से उसे ग्रपना महत्त्व प्राप्त होता है :

और दुलहिनी दूलह दिन दस ही जु कहावैं
ये दिन दूलह न्याइ कलम पल सम जु विहावैं।
गरुवौ रस सिंगार लोक लोकनि जु कहावैं,
नित्य एक रस श्री राधा से यह कवि पावैं।
प्रेम प्रेम सब कहै कहूं लघु दरसि पर्यो है,
पूरन राधा लाल हिय नित रहतु भर्यौ है।
रूप रूप सब कहें लोक भा इक-इक कण हैं,
सत चित्त आनंदरूप अमाइक दंपति तन है।
ता रस रूप प्रेम ग्रानंद भोगता दोऊ,
भेदी विरले रसिक ग्रौर जाने कहा कोऊ।[2]

कृष्ण ग्रौर राधा के पारस्परिक एकत्व, प्रेम, ग्राकर्षण ग्रादि के लिए

---

१. ललित किशोरीदेव : साखी।
२. रसिकदास : श्री राधा विपिनेश्वरी को परत्व (ह. लि. प्रति, पृ० ६३)।

जल-तरंग का अप्रस्तुत बहुधा इन कवियों ने उपस्थित किया है।[1] महावाणी में दोनों के पारस्परिक आकर्षण एवं अन्योन्याश्रयत्व का बड़ा ही उदात्त वर्णन हुआ है।

प्यारी जू प्यारे की जीवन प्यारो प्यारी प्रान अधार।
प्यारी प्यारे के उर माला, प्यारो प्यारी के उर हार।
प्यारी प्यारे रंगमहल में, रंग भरे दोऊ करत विहार।[2]

वास्तव में स्वर्ण एवं उसकी लाली का जैसा सहज प्राकृतिक संग होता है वही स्थिति इस दम्पति की है:

ज्यों लाली अरु हेम कों संग निरंतर देखि।
तैसें नित्य विहार सुख, लाल लाड़िली लेखि।[3]

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी ब्रह्मगोपाल जी ने एक दूसरे की इस प्रेमाधीनता को यों वर्णित किया है:

श्री राधामाधव रंगे सुरति रंग रस लीन।
प्यारी पिय के प्रेम वश पिय प्यारी आधीन।।[4]

इस प्रकार युगल के पारस्परिक आकर्षण को व्यक्त करने वाले पद तो बहुत से मिल जावेंगे, परन्तु राधा की आकर्षणजन्य विह्वलता का अलग से चित्रण इस उपासना-पद्धति के बहुत अनुकूल नहीं है। युगलोपासक जिन कवियों में ये चित्रण उपलब्ध हो जाते हैं उन्हें हम गोपीभाव वाली ब्रजलीला की उपासना के अन्तर्गत विवेचित करेंगे। इस अंश में हम कृष्ण की उत्सुकता वाले अंशों की ही चर्चा करेंगे। पीताम्बर देव एवं रूपरसिकदेव ने तो कृष्ण के नेत्रों को

---

१. (क) ज्यों जल और तरंग है त्यों पिय प्यारी रूप।
पूर्ण प्रेम माधुर्य मय श्री वृन्दावन भूप।।
—गो० रूपलाल : रस रत्नाकर (ह० लि० प्रति)।

(ख) तू सिय पिय के रंग रंगी रंगे पीव तव रंग।
रहे अली इक रूप ह्वै जल मिले तरंग।।
—बालअली : नेह प्रकाश।

२. महावाणी, सेवासुख, पद संख्या ६, पृ० २६।
३. गो० रूपलाल : रस रत्नाकर (ह० लि० प्रति)।
४. ब्रह्मगोपाल : हरिलीला, दोहा ४, पृ० ३।

राधा रूप की आरती उतारने वाला कहा है।[1]

उनका मन राधा के रूप-तन-वन में रसिक बना मंडराया करता है।[2] प्रिया दास के अनुसार घनश्याम कृष्ण चातक हैं एवं राधा गोरी घटा है।

ढिग विलास-गढ़ दान गढ़ और मान-गढ़ नाम।
गोर घटा उनवति इहां चात्रिक वह घनस्याम ॥[3]

राधा के काले लंबे सचिक्कण सुगंधित केशों पर प्रिय बार-बार अपने प्राण निछावर करते रहते हैं।[4] बालअली जी के राम स्वयं सीता से कहते हैं कि जैसा आनंद तुम्हारे मुख कमल के मकरन्द पान से मुझे मिलता है, वैसा आनंद तो मुझे कोटि ब्रह्मांड मिलने पर भी नहीं प्राप्त होता है।[5] ललित किशोरी देव ने राधा-रूप का कृष्ण पर पड़ने वाला प्रभाव बड़े सशक्त शब्दों में प्रस्तुत किया है। कतिपय अनुभावों के माध्यम से मन की प्रेमदशा की व्यंजना में यह दोहा बिहारी या मतिराम किसी के भी कलात्मक दोहे के साथ सुविधा से रखा जा सकता है:

हरष हरष मुसकात ए भरि भरि देखत नैन।
पुलकि पुलकि अंगनि उठे दल दल भरि रति सैन।[6]

(३) मिलनाकुलता :

इस रूपाकर्षण एवं प्रेम-भावना का सहज विकास है कि मन में मिलन की तीव्र आकुलता उत्पन्न हो जाय। यह आकुलता प्रिय के प्रसंग में अत्यधिक भावावेग के साथ चित्रित की गई है। रामसखे के राम सीता को स्वप्न में देखते हैं, उनके उस स्वप्न वाले रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं:

---

१. (क) मंगल आरति करत किसोर
दीप दृगन करि चरन डंडवत चित्र जावकी रहि मन ठौर।
—पीताम्बर देव, पद ४२।

(ख) करत कवनीय किशोर कुंवर वर नीराजन नैननि सों।
—रूप रसिकदेव : नि० वि० पदावली, ६९।

२. रूप रसिक देव : नि० वि० पदावली, ५४।

३. प्रियादास : रसिक मोहनी, दोहा २३।

४. रसिकदास : सौन्दर्यलता।

५. बालअली : नेह प्रकाश, रामजी के वचन सीताजी के प्रति।

६. ललितकिशोरी देव की बानी, साखी।

कैसे मिले प्रसिद्धि प्रिया वह करों सो जतन बनाई ।
रामसखे कहि-कहि है सीते सुधि-बुधि सब बिसराई ।।[1]

राधा के मोहन रूप में मोहित हुए मोहन राय उस रूप की प्राप्ति के लिए ललचाते रहते हैं ।[2] वास्तव में मोहन का मन मधुप है जो प्यारी-पदारविंद के मकरन्द को चखते-चखते इस फंदे में फंस गया है :

मोहन को मन मधुप है, पर्‌यौ आनि इहि फंद ।
प्यारी पद अरविंद कौ, चाखि-चाखि मकरंद ।[3]

कृष्ण स्वयं राधा से निवेदन करते हैं कि चलो प्यारी किसी एकान्त निभृत कुंज में विहार करें जहां पर कि किसी पक्षी तक का खटका न हो और फिर ऋतु भी विहार की है :

एक बात कहौं श्रवन लगि चित दे सुनहु पियारी ।
सुभग फूल फूले बृन्दाबन तैसी ये सरद उजियारी ।
चलि राधे अंतर सुख लूटैं सखी रहै सब न्यारी ।
मोहिं तोहि जहाँ अपनुपौ भूले रहे न सुरति सभारी ।
जहाँ न षरकों होइ पंछी को यों दुरि कहत बिहारी ।
नरहरिदास पीय मन की जानी आगे सेज सँवारी ।[4]

सिद्धान्ततः दोनों नित्य एक रस विहार में निमग्न माने गये हैं; ऐसी अवस्था में सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि मिलन की यह आकुलता कैसी ? पर यही तो इस प्रेमी युगल की विशेषता है कि गौर श्याम तन-मन से मिले रहते हैं, पर फिर भी मिलन की चाह बनी ही रहती है ।

छिन-छिन उत्सव रसिक के महाकेलि के भाइ ।
गौर स्याम तन मन मिले मिलन को चाइ ।।[5]

प्रिया को तन-मन से प्रियतम मिले रहते हैं और लाल को तन-मन से प्यारी पर इस मिलन और नेह की बात कुछ अनोखी ही है, इसके बारे में कुछ भी

---

१. राम सखे : पदावली (भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : रा० भ० म० उ० में संगृहीत, पृ० ३२५) ।
२. रूप रसिकदेवः नि० वि० पदावली, पद ५० ।
३. वही, लीला विंशति 'प्रेम मंजरी' ५ ।
४. स्वामी नरहरि देव : रस के पद ६ (अष्टाचार्यों की बानी) ।
५. ललित किशोरी देव : साखी १३८ ।

कह पाने में ललितकिशोरी देव अपने को असमर्थ पाते हैं। है भी तो यह अनिर्वच-नीय मिलन और प्रेम :

कहा कहौं या मिलन की जो मिलिबो जिय होइ।
तन मन सो प्रीतम तऊ मिलन की खोइ।[1]
परम नेह की बात यह मो पं कही न जाय।
तन मन सो प्यारी मिली तऊ लाल अकुलाय।[2]

यही दशा राम की भी है। यद्यपि दम्पति सदा रसलीन रहते हैं पर प्रिय अपना अपनपौ त्याग कर अधिक आधीन हो गये हैं। वे सीता के नीलाम्बरों के पुण्य की सराहना करते हैं, (कि उन्हीं के समान तन से लिपटे रहें) उनके नेत्र अंगराग हो जाना चाहते हैं :

यद्यपि दम्पति परस पर सदा प्रेम रस लीन।
रह अपन पौ हारि कै पै पिय अधिक अधीन।
श्यामवरण अम्बरन को सुकृति सराहत लाल।
छराहरा अंग राग भो चाहत नैन विशाल॥[3]

(४) विरह और मान :

साहित्य-शास्त्रियों ने विरह के चार अंग माने हैं :—पूर्व राग, मान प्रवास, और करुण।[4] इनमें से अजर अमर, अजन्मा, नित्य विहार रत दम्पति के मध्य पूर्वराग, प्रयास एवं करुण का प्रसंग ही नहीं उठता। व्रजलीलाओं के अस्वीकरण के कारण इनमें से किसी भी अवस्था के स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसी कारण विरह की केवल मान वाली स्थिति ही यहां पर स्वीकृत है। पर चतुर्थ अध्याय में हम यह कह चुके हैं कि मान के वैसे कोई स्थूल कारण यहाँ पर नहीं हैं जैसे कि व्रजलीला गायकों द्वारा स्वीकार किये गए हैं। साहित्य दर्पण में मान के दो भेद किये गये हैं।—प्रणय मान और ईर्ष्या मान।[5] प्रणयमान के प्रसंग में विश्वनाथ कविराज ने कहा है कि नेम की कुटिलगति होने से अकारण ही कोप होता है। ईर्ष्यामान नायक की अन्य किसी पर अनुरक्ति

१. वही, वही, १३९।
२. ललित किशोरी देव : साखी १४०।
३. बालअली : नेह प्रकाश।
४. विश्वनाथ कविराज : साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १८७।
५. वही, वही, ३।१९८।

जानकर होता है।[1] प्रथम नायक और नायिका दोनों में स्वीकार किया गया है।[2] इन रसोपासकों में शास्त्रीय दृष्टि से प्रणय मान की ही स्वीकृति है पर उभयपक्षीय न होकर यह नायिका में ही चित्रित किया गया है। संस्कृत में एक सूक्ति प्रसिद्ध है :

नदीनां च वधूनां च भुजंगानां व सर्वदा।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते।

नदियों, वधुओं, सर्पों एवं प्रेम की गति अकारण ही वक्र होती है (साहित्य दर्पणकार ने प्रेम की वक्रता बताई है।) प्रेम एवं वधूजन की यह अकारण वक्रता इन नित्य विहारी-विहारिणि में मान के रूप में व्यक्त हुई हैं।

राधा अचानक ही मान कर बैठी, एक सखी आकर उन्हें समझाती है और उनके इन वक्र स्वभाव के लिए कुछ डाँटती भी है। उसके अनुसार श्यामा का तो स्वभाव ही मान का पड़ गया है, कौन यह निर्णय करे कि अपराध किसका था—इनका या तुम्हारा ? वास्तव में ये तो तुम्हारे रूप-रस के लोभी हैं, मुख देखते ही उनका दिन बीतता है। तुम तो क्षण मात्र में ही रस को विरस कर देती हो। राधे ! जरा समझ बूझकर देखो, तुम तो बिना पानी की नाव चला रही हो (बिना कारण ही मान किये जा रही हो।)

तुम्हारो तो पर् यौ मान को सुभाव।
तुम्हारी खोट कैइनकी कहिये, कौन करे यह न्याव।
ये तो तिहारे रूप रस लोभी मुख जोवत दिन जाव।
छिन में रस बेरस करि डारत कोप करे करवाव।
समझि देख राधे मन माहीं बिन पानी की नाव।
श्री रसिक बिहारी रस बस कीने अपने-अपने दाव।[3]

यहीं पर यह याद दिला देना अनुचित न रहेगा कि सहचरियाँ यद्यपि प्रिया-प्रियतम दोनों को समान प्रिय होती हैं पर मान के समय वे प्रिय का पक्ष लेकर प्रिय के मान-मोचन का प्रयास करती है। उपरोक्त पद में सखी यही कार्य कर रही हैं—उसने श्याम का पक्ष लिया है। इस सखी ने कुछ शिकायत एवं आक्षेप के स्वर में मान-मोचन करना चाहा था, दूसरी सखी 'साम' नीति का सहारा लेकर प्रिय की वकालत करती है और सफल भी हो जाती है :

---

१. विश्वनाथ कविराज : साहित्य दर्पण, ३।१९९।
२. वही, वही, ३।१९८।
३. स्वामी रसिकदेव (हरिदासी संप्रदाय): सिंगार रस के पद, सं० १३, (अष्टाचार्यों की वाणी)।

मानु न कीजै रसीले स्याम सों।
तुम तो हो लालन की अंखियाँ बंधे तिहारे दाम सों।
बिनु आगस जिय दोष धरति हो निरखि आयु सी वाम सो।
श्री रसिक बिहारी जानि अपुनपौ विहसि मिली पीय धाय सो।[1]

विश्वनाथ कविराज ने मान भंग के छह उपाय (साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर) साहित्य दर्पण में बताए हैं,[2] उनमें से भेद और साम का उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वामी नरहरिदेव ने 'नति' का एक मनोहर उदाहरण दिया है। कई बार मनाने का प्रयास किया गया, पर वह अपना हृदय और कठिन बनाकर मान गहे रही। तब प्रिय ने पैर पकड़कर आधीनी करके विश्वास दिलाया कि मेरी प्रिया एक मात्र तू ही है जो कि मानिनी वन बैठी है। जब प्रिया ने (प्रिय के हृदय में) अपना ही रूप देखा और किसी स्त्री को वहां न पाया तब जाकर कहीं मन से मान की छरक गयी और सुख की वह राशि हंसकर प्रिय से बोली थी। छन्द यों है :

केहू बार कही मानित न मान गही
हियो कठिन कछू और ही ठईरी।
पाइ गहि मनाई आधीन कीये माई सु
तू एक प्यारी मानिनि भई री।
जब देख्यो आपनो रूप और न कोई त्रीय
अनूप मान की छरक तबही हीय ते नई री।
हंसि बोली सुख की रासि मन भाई
नरहरिदास बाढ़ै प्रीति नई री।[3]

परन्तु सब मिलाकर मान-संबंधी रचनाएँ १८वीं शती के नित्यविहारोपासकों में विरल ही हैं। उनका ध्यान विहारत युगल की नाना चेष्टाओं को चित्रित करने की ओर ही अधिक रहा है।

(५) विहार क्रीड़ाएँ :

इन कवियों की प्रतिभा और प्रेरणा का मुख्य क्षेत्र दम्पति की नाना विहार-क्रीड़ाओं और आनंद के लिए का रस-निर्भर गद्-गद् गान है। विहार-क्रीड़ाओं में भी उनका मन अधिकांशतः शैया के ही आसपास मंडराता रहा है। सुरत एवं सुरतान्त के असंख्य मनोहर चित्र इस काव्य में संजोए हुए हैं। सेज के बाद, रास क्रीड़ाओं के चित्रण में भी उनका मन रमा है। उत्सवों में होली एवं

१. स्वा० रसिकदेव : सिंगार रस के पद, १४ (अष्टाचार्यों की वाणी)।
२. साहित्य दर्पण, ३।२०१।
३. नरहरिदेव : पद ८ (अष्टाचार्यों की वाणी)

हिंडोल उनके सबसे प्रिय उत्सव हैं। वसंत एवं वर्षों के चित्रों का इसीलिए इस काव्य में बाहुल्य है। दम्पति को लेकर ही अनेक अन्य हास-परिहास एवं क्रीड़ाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं। इस सारे साहित्य को आधुनिक नैतिक मानदण्डों से नापने पर बहुसंख्यक स्खलन के स्थल दिखाई पड़ेंगे। संयोग शृंगार के निरावरित ऐसे वर्णन बहुत से मिलेंगे जिन्हें शुद्धतावादी (प्यूरिटन) अश्लील भी कहना चाहेंगे। पर इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन कवियों की अनुभूति साधना की है। ये समस्त कवि साधना-पथ के सक्रिय पथिक थे एवं प्रिया-प्रियतम के इस नित्यविहार को आध्यात्मिक-मानसिक स्तर पर अत्यंत उदात्त भाव से स्वीकार करते थे। वास्तव में यह सारी साधना एक प्रकार के 'प्रेम रहस्यवाद' (Love Mysticism) की है। इसमें बौद्धिक उन्नयन नहीं भावात्मक संवेग की एक मनः संस्कार (Mental Culture) जन्य स्थिति होती है। ये समस्त रचनाएँ किसी आश्रयदाता को रिझाने के लिये भी नहीं लिखी गयीं, दम्पति के स्वरूप का भावन ही इनकी मुख्य प्रेरणा थी। अतः लौकिक नीति के मानदण्डों पर इन्हें परखना ठीक न रहेगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भले ही इनमें काम की अतृप्ति मानी जाय, पर साधना के क्षेत्र में इससे कामगन्ध-शून्य कहना ही उचित होगा।

आगे हम कतिपय इन क्रीड़ाओं के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

अभिसार :—

जैसा कि अभी हमने कहा है, इन कवियों का मन सर्वाधिक प्रिया-प्रियतम के अभिसार-वर्णन ही में लगा है। अभिसार-क्रीड़ाओं की अनेक रस-निर्भर स्थितियों की चर्चा इन कवियों ने की है। विहार का ऐसा ही अनुभूतिपरक पर साथ ही ऐन्द्रिक चित्र रसिकदास (राधावल्लभीय) का है। रस के सिन्धु में झकोरे लग रहे हैं, भाव की तरंगे उठ रही हैं एवं प्रेम में पगे हुए अभिलाषाओं की मरोड़ में अंचल झकझोरते हैं, पसीने की थोड़ी-थोड़ी बूंदे झलक आई हैं। एक दूसरे पर नेत्र लगे हुए हैं, सुख के रोर में बंधन छोरते हुये रात जगे हैं। ऐसी बुद्धि कहाँ जो इस सबका वर्णन किया जा सके :

रस सिंधु झकोरैं भाव हिलोरैं चाव मरोरैं प्रेम पगे,
अंचल झकझोरैं श्रमकन थोरैं पटलो भोरैं अंग लगे।
दृग दुहू ओरैं अति सुख रोरैं बधन छोरैं रैन जगे,
सुकहा मन मोरैं सादर जोरैं त्रिभुवन ओरैं ओर नगे।[1]

कभी-कभी तो यह मिलन-लीला मन ही मन हो जाती है। सखियाँ जान भी नहीं पातीं। मन ही मन एक दूसरे को अंक में भरकर आनंद भी ले लेते हैं

---

१. रसिकदास : अष्टक ७ (ह० लि० प्रति, पत्र २६)।

और चोरा-चोरी कटाक्ष भी चला देते हैं। कह भी लेते हैं, नट भी लेते हैं, रीझते भी हैं, खीझते भी हैं एवं हिलमिल भी लेते हैं :

> **दोउजन नैनन ही बतरावैं।**
> **स्यांमास्याम सखिन के संगहि भेद न कोउ पावैं।**
> **रहसि रंग राते रसभाते खिजिआवत हिलत मिलत लगि जावैं।**
> **मन ही मन विब अंक भरत पुनि हिय आनंद बढ़ावैं।**
> **चोरा चोरी चलत कटाछनि सबकी दीठि बचावैं।**[1]

अभिसार समय की अभिलाषा का अत्यंत मार्मिक दृश्य अनन्य अली जी ने प्रस्तुत किया है। दो अंगों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता दिखाकर विहार की उत्कट लालसा और व्याकुलता इसमें प्रकट की गई है। स्पर्श करने के लिए हाथ तरसते हैं एवं देखने के लिए दृग ललचाते हैं, इस प्रकार भुजाओं एवं नयनों के मध्य होड़ परी है। इस दोहे में प्रेम की उस गहन अवस्था का संकेत है जब बिना देखे भी नहीं रहा जाता और देख लेने पर स्पर्श-आलिंगनादि भी अनिवार्य हो जाते हैं।[2]

काव्य की सर्वोत्तम सिद्धि होती है जब किसी एक सूक्ष्म संकेत के द्वारा किसी पूरे दृश्य का बिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। व्यंजना-शक्ति की पूरी सामर्थ्य होने पर ही यह उपलब्धि कवि को मिलती है। रूप रसिक देव का निम्नांकित दोहा ऐसी ही व्यंजना-शक्ति से भरपूर है। कवि सुरति का चित्रण करना चाहता है, पर उसे स्पष्ट ऐन्द्रिक रूप में न करके एक संकेत दे देता है कि प्यारी जब प्रिय को अपने चरण कमलों की माला पहनाती है तब अनिर्वचनीय आनंद मिलता है :

> **कहा कहौं तिहि समैं को, सुख आनंद रसाल।**
> **पहिरावति प्यारी जबहिं, पियहिं पदंबुज माल।**[3]

परिरम्भन आदि की इसी क्रिया को ब्रह्मगोपाल अत्यंत स्थूल रूप में वर्णित कर देते हैं :

---

१. रूप रसिकदेव : नि० वि० पदा०, २६।

२. परसन को कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सो लंपट अति तरलाइ॥
—अनन्य अली की वाणी (डॉ० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य में पृ० ४६३ पर उद्धृत)।

३. रूप रसिकदेव : लीला विंशति, फूल विलास, ७।

प्रिया प्रिय पोढ़ि रहे पर्यंक ।
प्रेमविवश खेले निश सारी भरि भरि निजु निजु अंक ।
परिरम्भन चुम्बन आलिंगन करत सहज निःशंक ।।[1]

अभिसार ऐसा सघन गुंफित है कि प्रिय का कुण्डल प्रिया की अलक से एवं कर का कंकण माला से एवं मन से मन तथा नेत्रों से नेत्र परस्पर उलझ गये हैं :

पिय कुण्डल तिय अलक सों कर कंकण सो माल ।
मन सो मनीदृगन सों रहे उरझि दोउलाल ।।[2]

मिलन समय के हास-परिहास एवं पारस्परिक छेड़-छाड़ :

रीझने के साथ खीझना और खिझाना शृंगार-तरु के अनुपम फल हैं। यह खीझ एवं छेड़छाड़ रति द्वारा पुष्ट होती है एवं रति को और अधिक पुष्ट करती है। ऐसी अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवं आंतरिक क्रीड़ाओं की ओर भी इन रसोपासकों का ध्यान गया है। स्याम-स्यामा रूप-रस चख रहे हैं। कुंज महल में अकेले हैं, कोई झांकता भी नहीं है। ऐसे एकांत में राधा बैठी हैं लाल ठाढ़े हैं एवं रति के लिए बार-बार कर पकड़ते हैं। पर राधा हैं कि खिझा रही हैं—मधुर स्वर में कहती हैं कि अभी खड़े रहो एवं किंकनी संवारो, यद्यपि एक दूसरे अंग एक दूसरे के लिए ललचा रहे हैं, हृदय में अभिलाषाएँ उमड़ रही हैं :

स्यामा स्याम रूप रस चाखै ।
कुंजमहल अकेले दोउ तहां न कोऊ झांखै ।
बैठी आपु ठाढ़े लाल पकरि पकरि कर राखै ।
ठाढ़े रहो किंकनी संवारो मंद मधुर सुर भाखै ।
अंग अंग ललचाइ रहे मन उमगी उर अभिलाखै ।

पर श्याम भी खिझाने में पीछे नहीं है। प्रिया जी सोना चाहती हैं—नयन मूंद लेती है पर प्रिय फूंक देकर जगा देते हैं, भले ही प्रिया भौंह तरेरे। कभी-कभी चुटकी भी बजाने लगते हैं। अंततः प्यारी भी रतिवश होकर ललक कर प्रिय के कंठ लग जाती है :

---

१. ब्रह्मगोपाल : हरिलीला, ६।
२. बाल अली : नेह प्रकाश, प्रेम विलास।
३. स्वा० रसिकदेव : सिंगार रस के पद, ३।

पलकैं झपकति प्रिया जू की ज्यों ज्यों पिय दै फूंक जगावै।
त्यों त्यों तरुनि तरेरे त्योरे सों सोंहनि भोंह चढ़ावै।
कबहुंक कर पलवनि सों कोमल चट चटुकी चटुकावै।
रूप रसिक जब प्यारी पिय के ललकि कंठ लपटावै।[१]

प्रेम की यह खींचातानी भोजन के समय भो देखी जा सकती है। यमुना पुलिन पर कुंज में दोनों भोजन कर रहे हैं और एक दूसरे के कर से झुक-झुक कर कौर छीन लेते हैं। इस प्रकार हँसते हुए बहुत प्रकार से मनभाया करते हैं।[२] जलक्रीड़ा में डुबकी लेकर पानी के भीतर ही भीतर प्रिया के अगों का स्पर्श कर आते हैं, कोई इस भेद को जान ही नहीं पाता।[३] संगीत और गान की गोष्ठियों का भी वर्णन इनमें मिल जाता है।

अभिसार के चित्र बहुधा मांसल और ऐन्द्रिक हो जाते हैं, पर नीचे हम सखी-सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव का एक पद उद्धृत कर रहे हैं। इस पद में अभिसार का ऐन्द्रिक बिम्ब नहीं हैं पर उसमें ऐसी गहन अनुभूति का ऐसा संप्रेषण कराया गया है जो सारी चेतना पर अनायास ही छा जाता है :

लेत परस्पर अंग सुवास।
मन तरंग उठति मन मथ की और न कछु प्रकास।
रोम रोम तन यह सुख विलसत भोजन भूख न प्यास।
श्री रसिकबिहारी मगन रहत, नित गहत न खटक उसास।[४]

अंग की गंध लेने से मन में मदन की तरंगें उठती हैं और किसी बात के लिए अवकाश नहीं रहता। रोम-रोम में यही आनंद विलसता है, न भोजन की भूख है और न प्यास। नित्यप्रति समस्त खटक और चिन्ता से दूर इसी में वे मग्न रहते हैं। समस्त चित्र गहन मानसिक अनुभूति को उपस्थित करता है।

सुरतान्त एवं जागरण :

सुरतान्त एवं जागरण-काल के अलस-सौन्दर्य का भी अत्यंत कुशल एवं बारीक रेखाओं में अंकन इन कवियों ने किया है। सुरति के सेज पर उठकर जागे हुए युगल का यह शारीरिक चित्र देखिए :

---

१. रूप रसिकदेव : नि० वि० पदावली, ६७।
२. रसिकदास : कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० २६१।
३. रूप रसिकदेव : नि० वि० पदा०, ३५।
४. स्वा० रसिकदेव : सिंगार रस के पद, ७।

प्रिया प्रीय सुरति सेज उठि जागे।
घूमत नैन अरुन अलसाने मनहुं समर सर लागे।
सिथिल अंग छूटी सिर अलकैं बदन स्वेद कन लागे।[1]

यह अभिसार वस्तु चित्रण रूप में हुआ है, पर अधिक सूक्ष्म रूप में पीताम्बर देव ने इसे उपस्थित किया है। कठिन सुरति की भोर उठने वाली छबीली को मूर्तिमती रागिनी (राग की शर्वरी) कहा है जिसके कि सौन्दर्य का नीराजन स्वयं किशोर करते हैं :

तबै छबीली तान सुनि कठिन सुरत की भोर।
उठी राग की सरवरी आरति करत किसोर।[2]

राघव भोर होने पर जागते हैं पर आँखों में नींद भरी है। मंद मंद मुसकाते हैं एवं आलस्य में सिया तन की ओर झुक-झुक पड़ते हैं। सिया तन की ओर झुक-झुक पड़ना जहां नींद भरे होने का संकेत करता है वहीं राम की गहरी अनुराग व्यंजना भी होती है। ऐन्द्रिक बिम्ब के साथ मानसिक पक्ष का मणि-कांचन संयोग इसमें हो सका है :

राघव भोर ही नींद भरी अँखियन मन भावन।
बैठि उठे फूलन शय्या पर कोटिन काम लजावन।
मृदु मुसक्यात जम्हात सिया तन झुकि झुकि परत सुहावन।
राम सखे या मधुर रूप लख मो जिय अतिहिं जिवावन।[3]

होली एवं हिंडोल आदि उत्सवों के भी प्रभूत वर्णन इन कवियों ने किये हैं। ऐसे छन्दों की संख्या सहस्रों में पहुंच सकती है जिनमें वसन्त, होली, वर्षा एवं झूलने की शोभा वर्णित हो। शरद् ऋतु एवं रासलीला के भी पर्याप्त चित्र उपलब्ध होते हैं। विस्तार-भय से हम इनके उदाहरण यहाँ पर नहीं दे रहे हैं।

(६) सहचरी-सेवा :

नित्य विहारोपासकों की साधना सखीभाव की होती है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। सखीभाव में सखियाँ युगल दम्पति की सुख-सुविधा की सारी व्यवस्था करती हैं, उनके नित्य-विहार का दर्शन-सुख लूटती है एवं इस सेवा तथा

---

१. स्वा० नरहरिदेव : श्रृंगार रस के पद, २।
२. पीताम्बरदेव : परमोज्ज्वल श्रृंगार रस की साखी, ५।
३. रामसखे : पदावली (रा०भ०सा०म०उ०, पृ० ३२५)।

इस दर्शन में ही वे अपनी कृतार्थता मानती हैं। रामोपासकों की स्वसुखी शाखा को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र वे तत्सुखी भाव से ही साधना करती हैं। अष्टयाम की सेवा-विधियाँ इन्हीं की सेवा के लिए स्थापित हुई हैं। वे उन्हें सवेरे गा-गाकर जगाती हैं, मुख धुलाती हैं, भोजन कराती हैं, शृंगार कराती हैं, उन्हें सिंहासन पर पधरातीं हैं, पान खिलाती हैं, विहार के लिए कुंज में चलने के लिए प्रेरित करती हैं, संगीत-नृत्य के आयोजन करती हैं, रास रचाती हैं, शैया बिछा देती हैं एवं शयन-समय सोने का अनुरोध करती हैं।[1] मान के समय वे मान-मोचन करती हैं, विहार के समय सेवा। 'स्याम' दूल्हा है एवं सखियाँ बराती बन जाती हैं :

सखी बरात पिय स्याम कंत।
अरुण साज बन राज धाम, पीत फूल तन पहिरि धाम।
अंब भौरि ले सिर धारि मौरि-द्रुम सुछत्रपति पत्र पोरि।
फल प्रवाल तोरन बनाय छुवत पवन बसि परसि धाय।
पिय प्यारी बन तन सुवास सहचरि भ्रमरी सब आस पास।[2]

सखियाँ साथ में अद्भुत क्रीड़ाएँ भी करती हैं। एक बार सखियाँ कृष्ण को अपने समान स्त्री-वेश पहना वहाँ ले आईं जहाँ ललिता, विशाखा, चंपकलता एवं चित्रा आदि सखियाँ थीं। वे सब चकित हैं :

लख्यों सखी सिरमौर रूप इह कौन वधू कित आई।
सबके मन को करत हरत बस निरखत सुधि विसराई।

परन्तु एक चतुर सखी जान गई—वह दौड़कर गई और प्रिया को प्रिय का रूप देकर ले आई और उस वधू कृष्ण से कहा :

---

१. सखियाँ सेज-रचना करके राधा से अनुरोध कर रही हैं :
निज करि सेज संवारी पचि पचि,
पौढ़िये जू प्यारी बलि जाऊं।
सुमन सुमन विचि रचि-रचि पचि-पचि,
सुभग वे सारी बलि जाऊं।
सौरभ-सनी धनी धन हित,
चित दै चतुरारी बलि जाऊं।
रूप रसिक सुख बिलसहु हुलसहु,
हौं वलि बलिहारी जाऊं।
---रूप रसिक देव: नि० वि० पदावली, ६४।

२. पीताम्बरदेव : पद ५१।

ये पतिनी ये पीव तिहारे मिलि विलसो सुखदाई ।

सब सखियां उत्साहपूर्वक विवाह का कर्म ठान देती हैं एवं धूम-धाम से दोनों का विवाह करा देती हैं ।[1]

राम की सखियाँ तो और भी ढीठ मालूम देती हैं । वे राम से कहती हैं कि तुम्हें स्त्रीवेश में सजाकर हम लोग लाड़ली जी के 'हुजूर' में नचावेंगी :

कंचन की गुजरी बिछिया तुमको लहंगो अंगिया पहिराइहो ।
कंचुकी साजु खवाइ बिरी पहिराय चुरी अबतंस बनाइहो ।
मांग संवारि कै प्रेम सखी शिर सेन्दुर में फिरि अंक लगाइहो ।
दै तिय को छवि सुन्दर जू हम लाड़िली जू के अजूरि नचाइहो ।[2]

वास्तव में पीताम्बर देव ने ठीक ही कहा है :

तपत पीव सीतल प्रिया प्रेम अंध अंधियार ।
सहचरि रस जल बरसहीं, ग्रीष्म रति सुखसार ।।[3]

(७) सिद्धांत-कथन :

इस युग के समस्त कवियों की यह सामान्य विशेषता है कि उन्होंने सिद्धांत-कथन अलग से किया है । गुरु-निष्ठा, परोपकार, वैराग्य, विषयों से अरुचि, श्यामा श्याम की एकता, सहचरी-भाव आदि के संबंध में उन्होंने खूब लिखा है । चतुर्थ अध्याय में हम उन अंशों को उद्धृत कर चुके हैं, अतः यहाँ पर दोहराना ठीक न रहेगा । उदाहरण के लिए हम ललित किशोरी देव की कतिपय साखियाँ उद्धृत कर रहे हैं :

१—ललित लाड़ले ललित वर ललित सुकेल उदार ।
जै जै श्री हरिदास को अद्भुत नित्य विहार ।
२—तन करि मन करि पवन करि कीजे पर उपकार ।
ताही में हरि मिलत हैं निहवें करि उर धार ।
३—भजन करों भोजन करौं सोवौं पाइ पसारि ।
कुंज बिहारिनि लाड़िली रंकु न भूलैं पारि ।[4]

---

१. पीताम्बर देवः पद ३६ ।
२. प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन (रा०भ०म०उ०,पृ० ४०२) ।
३. पीताम्बर देव : परमोज्ज्वल श्रृंगार रस की साखी, १० ।
४. ललित किशोरी देव : साखी ८८, २२२, २७७ ।

३. व्रज-लीला-गायकों द्वारा सृजित काव्य

राधा और कृष्ण (सीता और राम) यद्यपि आलम्बन यहाँ भी रहते हैं, पर उनके परिकर का विस्तार बढ़ जाता है। वल्लभाओं की संख्या बढ़ जाने के कारण भिन्नता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। नाना प्रकार की नायक एवं नायिका सम्बन्धी धारणाएँ जन्म लेती हैं।[२] नायिकाओं के बढ़ने के साथ ही स्वकीया-परकीया, विरह-मान इत्यादि की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। दूती या सखी का दायित्व भी किंचित् भिन्न ही है। किशोर-लीलाओं के अतिरिक्त व्रजलीला की स्वीकृति के कारण बाल एवं पौगंड लीलाएँ भी इस साहित्य में चित्रणीय हैं। एवं उपास्य के साथ युगल तत्त्व पूरी तरह आरोपित नहीं होता। यहाँ राधा भी हैं तथा अन्य गोपियाँ भी हैं। राधा की स्थिति अधिक से अधिक प्रधान गोपी की रहती है। इस अन्तर के पड़ जाने के कारण विहार-लीलाओं में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है। नित्य-विहारोपासकों में हमने दो बातों को विशेष रूप से लक्षित किया था :

(१) कृष्ण-सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त विरल है।

(२) राधा की आकुलता, मिलनवांछा आदि का चित्रण भी न्यूनतम हुआ है।

कृष्ण का रूप एवं राधा की अभिलाषाएँ केवल युगल-स्वरूप-चित्रण के समय ही कवियों का ध्यान आकर्षित करती हैं; अन्यथा रूपवती राधा हैं एवं अभिलाषमय कृष्ण। परन्तु इन लोगों में यह बात नहीं है। व्रज-लीला (गोपीभावोपासक)-गायकों ने राधा एवं गोपियों के रूप के विवरण भी दिये हैं पर मोहन के जिस भुवनमोहन रूप और रूप-प्रभाव को उन्होंने चित्रित किया वह उन्हें पूर्व-विवेचित साधना और काव्य से नितान्त अलग कर देता है। इसी प्रकार यद्यपि मोहन की मिलन एवं अभिसार की आकांक्षा व्यक्त करने की भी चेष्टा की है; परन्तु उनका अधिक ध्यान गोपिकाओं या राधा के तन-मन की प्रवृत्ति का चित्रण करने की ओर अधिक रहा है। होली, झूलना आदि उत्सवों तथा संयोग काल की क्रीड़ाओं के अतिरिक्त विरह की विभिन्न स्थितियों, कुब्जा के प्रति ईर्ष्या अथवा मुरली-उपालम्भ आदि के भी मार्मिक चित्र इन कवियों द्वारा उपस्थित किये जा सके हैं। हम

---

१. शीर्षक हमने व्रजलीला-नायक दिया है, पर इसके अन्तर्गत हम विवेचना के लिए राम-भक्ति-साहित्य की भी वे रचनाएँ ले रहे हैं जो शुद्ध नित्यविहारोपासना या तत्सुखी शाखा से भिन्न हैं। इसे आवरण-लीला भी कहा जा सकता है।

२. चतुर्थ अध्याय में इन बातों का हम विस्तार से विवेचन कर चुके हैं।

इन कवियों के कथ्य के प्रधान-प्रधान पक्षों के विश्लेषण एवं उद्घाटन की चेष्टा करेंगे।

(१) **रूप-चित्रण :**

जैसा कि अभी ऊपर संकेत किया जा चुका है स्त्री और पुरुष दोनों ही तत्त्वों के रूप का चित्रण करने का प्रयास इन कवियों ने किया है। परन्तु चित्रण की प्रणाली और अभिव्यंजना की शैली वही है जिसे कि पीछे हम विवेचित कर चुके हैं।

कृष्ण का रूप सौन्दर्य और उसका प्रभाव :

परम्परा-प्राप्त उपमानों के आधार पर कृष्ण के रूप के वस्तुगत चित्रण के ये कतिपय उदाहरण हम दे रहे हैं :

इन्द्र नील इन्दीवर घन छवि छनित श्याम शरीर री।
भौंहें चाप सर कुंकुम टीकौ, नासा राजत कीर री।
अधर बिंब मृदु हास चन्द्रिका दशन सिषिर मनि पांति री।
चारु चिबुक अम्ब फलवादी ग्रीव कम्बु मणि कान्ति री।[1]

ऊपर की पंक्तियाँ विभिन्न अंगों के लिए उपमा जुटाती हैं, परन्तु इनसे इन अंगों का कोई कल्पनाग्राही रूप हमारे नेत्रों के सामने नहीं आता। चैतन्य मतानुयायी मनोहर दास ने भी कृष्ण के रूप को वर्णित करना चाहा है। परन्तु न तो उस रूप का कोई बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो पाता है और न उस रूप की अनुभूति ही हमें भली प्रकार हो पाती है। उपमानों की मधुर कल्पना के स्थान पर इस छन्द में केवल वस्त्राभूषण ही गिनाये गये हैं :

केसर की भूमिका पै जरी खिरकी की पाग,
भूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटकैं।
झगा बूंटेदार दोदामी को कष्ट बार रंग्यो
उपरैना पटुका सुनेली चित्र चटकैं।
छुद्रावलि बाजूबन्द पहुंचीयाँ अतलस,
सूथन नूपुर सुर पग चूरो मट कै।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़ें
मनोहर मुसकान मांही अटकै।[2]

देव का छन्द ठीक इसी परम्परा में है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपने छन्द में कलागत लाघव का अधिक प्रयोग किया है, तथा देव का छन्द उसके प्रभाव की ओर भी संकेत करता चलता है :

१. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ४।६६
२. मनोहर दास : राधारमण रस सागर, सं ११

पायन नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
सांवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै वनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मद हंसी मुख चन्द जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रज दूलह देव सहाई।[1]

इस प्रकार के वस्तुगत अलंकार-प्रधान रूपचित्रण में यत्र-तत्र कल्पना का भी रुचिर प्रयोग मिल जाता है। कृष्ण की पीली पगड़ी वाम भाग को झुकी हुई है और उसके ऊपर मोर की चन्द्रिका सुसज्जित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेर पर्वत पर अखण्ड इन्द्रधनुष उगा हुआ है। रत्न-जटित मणि-कुण्डल मुख पर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो नक्षत्रगण अपना राजा समझ कर चन्द्रमा की सेवा कर रहे हों :

पीत पाग रही वाम भाग झुकि तापर शिखी शिखण्ड री
मानुहुं मेरु शृंग पर ऊग्यो मधवा धनुक अखण्ड री।
रतन पेच मणि कुण्डल राजत छाजत उपम अनूप री।
मनु उडुगण सेवत मुख चन्दहिं जान आपने भूप री।[2]

रूप का वह चित्रण सदैव अधिक मार्मिक होता है जिसमें वस्तुगत स्वरूप के स्थान पर प्रभाव की व्यंजना होती है। सोमनाथ का निम्नलिखित छन्द रूप का प्रभाव ही अधिक उत्पन्न करता है।

मोहन पंकज से दृग हैं इतने,
पै तकौं तिरछे मुसकाय कै।
कोटि मनम्मथ के मथि प्रान
करौ कल कान गरूर गराय कै।
औ 'शशिनाथ' लगै अचकों जब
कानन बांसुरी की धुनि आय कै।
को वह नारि जु धीर धरै उर
प्रेम की पीर गंभीर पचाय कै।[3]
—रास पंचाध्यायी, पृ० ४१ (छन्द ६५)

विहारी का निम्नलिखित दोहा भी एक चेष्टा विशेष के द्वारा ही रूप की व्यंजना करता है :

---

१. देव : बृज माधुरी सार, पृ० १०२।
२. वृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ४।६६।
३. सोमनाथ : रास पंचाध्यायी, छन्द ६५, पृ० ४१।

भृकुटी मटकनि पीत पट, चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोर चित लियौ बिहारी लाल।[1]

सौन्दर्य का वस्तुपरक एवं अनुभूतिपरक रूप समन्वित ढंग पर मतिराम के निम्नांकित सवैये में व्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक पंक्ति में वाह्य शृंगार का चित्रण हुआ है। दूसरी पंक्ति में मुस्कान-चेष्टा तथा कुंडल के हिलने से उत्पन्न होने वाली गत्यात्मक शोभा चित्रित हुई है। तृतीय पंक्ति में शरीर के अंग विशेष नेत्र के आकार एवं नेत्रों के व्यापार का प्रभाव कवि ने चित्रित किया है और अन्त में इन सभी को समेट कर मन में जो अनुभूति जगती है, उसके लिए नायिका विरोध-मूलक उक्ति को अपनाती है। बहुधा जहाँ वाणी शिथिल और असमर्थ होने लगती है, वहीं ये अलंकार उसकी सबसे अधिक सहायता करते हैं :

मोरपखा मतिराम किरोट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छवि छाई।
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अंखियांन लुनाई।[2]

समर्थ कवि कभी-कभी रूप की वस्तुगत अंकन-शैली को छोड़कर प्रभाव को व्यंजित करने वाली किसी सूक्ष्म रेखा से भी बहुत बड़ा काम ले सकता है। बृन्दावन देव ने निम्न पंक्तियों में यही किया है। कृष्ण के अंग, शृंगार आदि के लिए उपमान का वर्णन न जुटा कर नायिका मात्र इतना कह देती है कि उस रूप राशि के एक अंग का अवलोकन संसार की किसी भी नारी को अपनेपन से बाहर कर देने के लिए पर्याप्त है :

आजु भली विधि देखि कै माई सु आई गोवर्धननाथहिं हौं री।
एक ही अंग निहारि जो नारि रहै अपनैपन ताहि बदौं री।[3]

पतिव्रत के सारे अभिमान उस रूप को निहार लेने के बाद धरे रह जाते हैं :

सुरी किन्नरी नरी विश्व में को है ऐसी नारि री
रहै आपनौंपन पतिव्रत लिये एक ही अंग निहारि री।[4]

बात बड़ी कह दी गयी है। कोई करे क्या, यह रूप ही ऐसा है—नायिका की

---

१. बिहारी लाल : सतसई, सं० ३०२ (बिहारी रत्नाकर, ग्रन्थागार, बनारस)।
२. मतिराम, रसराज, छन्द ४१०।
३. बृन्दाबन देव: गीतामृत गंगा, २।२२।
४. वही-वही ४।६६।

चुनौती है कि त्रैलोक्य में उसके प्रभाव से कोई बच ही नहीं सकता, फिर उसी के ऊपर दोष क्यों ?

नायिका रूप चित्रण :

नायिका का रूप-चित्रण परम्परागत आलंकारिक शैली में ही इन कवियों ने भी किया है। नायिका के केशों का यह आलंकारिक वर्णन रीतिकाल के किसी भी वर्णन के समकक्ष है :

सुकुमार सिंवार से मर्कत तार से कज्जल सार से वार निवारि
सुकावति वाला।
मार के जार सिंगार के चौंर से ऐडी छिये पुनि ऐसे विसाला।
श्याम घटा ते मनौं निकसै मुखचन्द दिपैं तन दामिनि माला।
बृन्दाबन प्रभु ओट भये लखि पौंनिपै रीझन नन्द के लाला।[1]

सोमनाथ का निम्न वर्णन भी केशों की इसी शोभा का वर्णन करता है। शब्दावली भी मिलती-जुलती है केवल क्रियात्मकता का अंश बढ़ गया है :

तिमिर के तार हैं बसीकरन हार हैं,
काम करतार हैं कि प्यारी तेरे वार हैं।[2]

इस आलंकारिकता के साथ ही सौन्दर्य की अन्तर्दीप्ति इन कवियों में मिल जाती है। बृन्दाबन देव की ही निम्न पंक्ति है :

तन जोवन यौं जगमगै ज्यों खच्यौ रतन अमोल री।
रूप चुचानौ सौ परै ज्यौं मुख रच्यौ तम्बोल री।[3]

घनानन्द का सम्पूर्ण काव्य अपने सूक्ष्म एवं अनुभूतिपरक चित्रण के लिए प्रसिद्ध ही है। निम्न सवैये में सौन्दर्य की आन्तरिक दीप्ति उपस्थित की गई हैं :

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हंसि बोलनि मैं छवि फूलन की वरषा उर-ऊपर जाति है ह्वै।
लटलोल कपोल कलोल करें, कल कंठ बनी जलजावति है।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै।[4]

---

१. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ४।८८।
२. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट छन्द, सं० ५०।
३. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ४।३१
४. घनानन्द : प्रकीर्णक, सं० २।

(२) नायिका भेद :

जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं ब्रजलीला में बहु वल्लभाओं की धारणा के कारण इस साहित्य में भी नायिकाभेद के अनुरूप चित्रण पाये जा सकते हैं। परकीया अयौथिकी नायिका के ये चित्र देखिये :

(क) लई कन्हैया ने हौ घेरि।
खोरि साँकरी माँझ संझोके आइ गयौ कितहुं ते हेरि।
कौरी भरी उर धरी औचका अकेली काहि सुनाऊँ टेरि।
आनन्द घन धुरि सराबोर करि पठई घर लौं निपट लथेरि।[1]

(ख) पाछै गोपाल आगे गुरुलोग रही अति लाजनि सों दबि नीठ मैं।
ग्रीव फिरायन चाहि सकी मुरि सो के न आये वे मेरी ए दीठ मैं।
नागर प्यारे के देखनि कौं सखि वास मैं आनी यहै उर नीठ मैं।
आंखें भई मुखपै किहिं काज या वेर क्यों आंखैं भई नहि पीठ मैं।[2]

(ग) कैसे जल लाऊँ मैं पनिघट जाऊँ ?
होरी खेलत नन्दलाडिलो क्यों कर निबहन पाऊँ।
वे तो निलज फाग-मदमाते हौं कुलबधू कहाऊँ।
जो छुवै 'रसिक बिहारी' अंचर तो धरती फार समाऊँ।[3]

इसी प्रकार मनोहर दास जी द्वारा चित्रित शुक्लाभिसारिका नायिका का यह चित्र है :

सरद की रैंनि उजियारी अभिसार प्रिया,
प्रीतम पै सेत सारी खौर अंग कीने हैं।
मालती मुकता मल्ली माला अंग अंग सोहे,
आभूषन हीरनि जटित रंग भीने हैं।
चांदनी में मिलि चली देखन न पावै आली,
अंग को सुगंधि अनुसार के हू चीने हैं।
राधिका रमन मिले मनोहर भांति भांति,
खिले नैन झिले मानो शोभा जल मीने हैं।[4]

---

१. घनानंद : आनंद पदावली, १६७।
२. नागरी दास : निम्बार्क माधुरी, पृ० ६२१ पर उद्धृत।
३. बणीठणी जी (रसिक बिहारी), निम्बार्क माधुरी, पृ० ६०४ पर उद्धृत।
४. मनोहरदास : राधारमण रस सागर, छन्द सं० १६।

बृन्दाबन देव का निम्नांकित छन्द खंडिता के बचन उपस्थित करता है :

पतंग को रंग है नेह तिहारौ।
दिन चार तौ चटकीलौ लागै बहुरि यौं परिजाइ सु फीकौ फिकारौ
ऐसीये पाटी पढ़े धुरते तन मन सांवरो है मन तै सोई कारो।
बृन्दाबन प्रभु कारे पै रंग न दूजो चढ़ै तिहारौ कहा चारो।[1]

लक्षिता नायिका का उदाहरण मतिराम के निम्न दोहे में देखा जा सकता है :

सतरौहीं भौहन नहीं, दुरै दुरायौ नेह।
होत नाम नन्दलाल के, नीपमाल सी देह।[2]

वस्तुत: इस प्रकार के श्रृंगारी काव्य में नायिकाभेद के विभिन्न रूप ढूंढ़े जा सकते हैं। यों नायिकाभेद का शास्त्रीय आधार पर इस काव्य में नायिकाओं का चित्रण नहीं हुआ है।

आकर्षण एवं मिलनेच्छा :

इन कवियों ने नायक और नायिका के पारस्परिक आकर्षण एवं एक दूसरे के लिए व्याकुलता के अत्यन्त मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। नीचे हम नागरी दास का एक अत्यन्त ललित छन्द उपस्थित कर रहे हैं। नायिका (राधा) परकीया है, अपनी अटा पर वर्षा ऋतु में मदमस्त बनी मलार गा रही हैं, इधर श्याम दूर से खड़े यह आशा लगाये हैं कि कब एक ही साथ प्रकृति की दो शक्तियाँ उनकी सहायता करें। पवन कृपा करके उनका घूंघट उघाड़ दे और उसी समय दया करके विद्युत दीपशिखा बन कर उस मुख के दर्शन करा दे—यह प्रतीक्षा और यह आकुलता अनुराग के गहन रंग को अत्यन्त सशक्त रेखाओं में उपस्थित करने में समर्थ है। यह चित्र सब मिला कर इतना गतिशील है कि चित्रकला की स्थिर रेखाओं द्वारा लिखा ही नहीं जा सकता, इसके लिए भाषा की सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता पड़ती है

भादौं की कारी अंध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं।
श्यामा जु आपनी ऊंची अटा पै छकी रस रीति मलारहिं गावैं।
ता समै मोहन के दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूंघट टारैं दया करि दामिनि दीप दिखावैं।[3]

---

१. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ८।३७।
२. मतिराम : रसराज, ७८।
३. नागरीदास : निम्बार्क माधुरी, पृ० ६२० पर उद्धृत।

रूप की उत्कण्ठा का यह दृश्य भी दृष्टव्य है। एक ही उपमा में दो-दो अप्रस्तुतों का सम्मिलनकवि की रचना-शक्ति का भी प्रमाण है और अलंकार की सार्थकता का भी। अलंकार द्वारा ध्वनित दृश्य गोपिकाओं की मन:स्थिति और शारीरिक अवस्था को पूर्णतया भावन करा देने में समर्थ है और यही काव्य की सार्थकता होती है। प्यासा जिस प्रकार तीर के समान जल पर टूटता है, वैसे ही अत्यन्त आतुरता से वे प्रिय से मिलती हैं। यह बिम्ब पुन: भावप्रेरित कल्पना द्वारा प्रसूत है एवं भाषा ही इसे संप्रेषित कर सकने का एकमात्र माध्यम है :

लालहिं देखन बाल चली हैं।
गृह गृह तें सजि भूषण अम्बर मूल तें कामलता सी फली हैं।
प्यास्यो ज्यों नीर पै तीर ज्यों टूटत यों अतिआतुर जाय मिली है।
श्री बृन्दाबन प्रभु कौ अवलोकत मानहु मैन की सैनफली हैं।[1]

इसी प्रकार मतिराम,[2] देव,[3] घनानन्द,[4] सोमनाथ,[5] चरण दास,[6] मनोहरदास,[7] आदि में अभिलाषा एवं उत्कंठा के प्रभूत चित्रण उपलब्ध हो जावेंगे। सीमित क्षेत्र एवं सीमित उपमानों के माध्यम से भी इन कवियों ने अभिलाष तथा उत्कंठा जैसी वृत्तियों के आकर्षक अनुभूतिप्रवण विम्ब उपस्थित किये हैं।

(३) मिलन और अभिसार की लीलाएँ :

इन कवियों ने मिलन एवं अभिसार के वैसे रसीले चित्र नहीं खींचे हैं जैसे कि विरह-वेदना के। इस वेदना के घनीभूत प्रवाह को उन्होंने अपने काव्य में और उसके द्वारा उत्पन्न करना चाहा है। संयोगकाल के जो चित्र ये कवि उपस्थित करते हैं, वे तत्त्वत: युगलोपासना के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं, परिणामत: पीछे विवेचित चित्रों से तनिक भी भिन्नता हमें दृष्टिगोचर नहीं होती। पर अभिसारोन्मुख कुछ अन्य क्रीड़ाएँ जिनका कि या तो नित्यविहारोपासकों में अभाव है या फिर मात्र राधा और कृष्ण के मध्य वे छद्म क्रीड़ाएँ हैं उनका सखियाँ रस के लिए आयोजन करती हैं। यह आयोजन कृत्रिम-सा लगने के कारण उतना रस-निर्भर नहीं हो पाता

---

१. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, २।१०।
२. रसराज, ६०।
३. ब्रजमाधुरी सार, पृ० ३१२, छन्द ३२।
४. घनानंदः प्रकीर्णक, १३।६।
५. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट, ३४।
६. भक्ति सागर, पृ० ५००।
७. राधारमण रससागर, छन्द २५।

जितना कि व्रजलीला उपासकों में राधा-कृष्ण के बीच होने पर भी प्रिय लगता है। इसका कारण है कि परकीया-प्रसंग के भीतर ही दान-लीला आदि मार्मिक हो पाती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर केवल राधा और कृष्ण ही भाग नहीं लेते, कृष्ण अन्य गोपिकाओं के संग भी गोरस-दानलीला की क्रीड़ाएँ करते हैं।

वृन्दाबन देव के 'गीतामृत गंगा' में इस दानलीला का अत्यन्त नाटकीय एवं भव्य वर्णन हुआ है। व्रजांगनाओं का एक समूह गोरस बेचने निकलता है, कृष्ण के सखा रास्ते में टोक कर पूछते हैं—तुम लोग जिसकी बहू और बेटियाँ हो; बिना गोरस-दान के जा नहीं सकोगी। गोपिकाएँ भी मुंह तोड़ उत्तर देती हैं कि तुम्हारी कौन-सी थाती हमने रख ली है जो तुम ऐसी बातें करते हो। वे कहती हैं:

अपनै अपनै घर ठाकुर हैं सब आंखि करत कापै तुम रातीं।[1]

(अध्यातम पक्ष में इसका अर्थ यों भी लग सकता है कि सभी ब्रह्म-रूप ही हैं फिर ऊंच-नीच का कोई प्रश्न ही नहीं है) और फिर यदि ठाकुर हो ही तो:

मान्यो तो देव न मींति को लेव कहा भयो जानि बड़ो जो नयो जू।[2]

लगता है कि तुम लोगों के दिमाग चढ़ गये हैं—आँखों में गूद चढ़ गया है। गोपियो और सखाओं में और भी तमाम झड़प होती है, आखिरकार चिढ़कर कृष्ण-सखा कहते हैं:

समझो कहा आखिर होई गंवारि करी बहुतै हम कानि तिहारी।
ज्यौं ज्यौं गही नरमी हम त्यौं ही त्यौं मूड़ चढ़ी बढ़ि बोलत सारी।
बोहनी तौ कर जाहु न बोलत आई बड़े घर की जु सकारी।
वृन्दाबन प्रभु गोपनि राव हैं नंद जु को घर छोनौ कहा री।[3]

तुम गंवारियों की मर्यादा का निबाह अब तक हमने बहुत किया, हम नरमी से बोलते थे, इसलिए सर पर चढ़कर आई हो, पर बिना बोहनी किये जा नहीं सकती हो, गोपों के राव नन्द जू के पुत्र हमारे साथ हैं।

पर गोपियों पर इस झिड़की का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे मुँहतोड़, प्रत्युत्पन्नमतित्व से भरा हुआ, उत्तर देती हैं कि हाँ जी हम तो गँवारिनें हैं ही पर यदुवंशियों के राव तुम भी तो हमारे ही बीच पले हो (और कहीं स्थान नहीं मिला) और हमारे ही समान गँवारपने का कार्य, रास्ता रोककर, कर भी रहे

---

१. गीतामृत गंगा, ३।५।
२. वही, ३।७।
३. वही, ३।१२।

हो, अतः रोके रुकोगे भी कैसे ?

तुम तो जदुवंशिन राव हुते तउ आय गंवारिन मांझ पले हो।
पूंछ बड़ी सु उड़ाइ दै आपकी लाभ तुम्है जु प्रवीन भले हो।
हमैं तो सब जानैं गंवारि हैं ये सब तो तुमहूं हम मांझ रले हो।
बृन्दाबन प्रभु कैसे रहो तुम रोके गंवारनि चाल चले हो।[1]

इस प्रकार ये नाटकीय संवाद चलते रहते हैं और फिर चतुराई पूर्वक कृष्ण दान ले ही लेते हैं। बृन्दाबन देव का यह अंश अत्यन्त नाटकीय एवं संवादकौशल से भरा हुआ है, उत्तर-प्रत्युत्तर एवं पुनः उसका उत्तर अत्यन्त कुशल संवाद-कला के आधार पर है। केशव को छोड़कर ऐसी संवाद-कला भक्ति-काल के कवियों में भी कम ही देखने को मिलेगी।

चरणदास द्वारा चित्रित दान-लीला में भी नाटकीयता एवं स्वाभाविकता का सुन्दर संयोग हो सका है।[2] इस दान-लीला के अन्तर्गत चित्रित एक प्रसंग लीजिए। श्याम की जबरदस्ती से खीझ (रीझ) कर एक गोपी कहती है कि अच्छा! ओक बनाओ, लो हम तुम्हें पेट भरकर गोरस पिलाती हैं। कृष्ण बैठ जाते हैं तो दही की मटकी से डहका कर वे अंगूठा दिखा देती हैं और पूछती हैं कि जरा स्वाद तो बताइये, मन भाया मीठापन है न ?

उठ बोली एक ग्वारिनी, भौंह मटक कर मुसकाय।
पीवो गोरस पेट भर, तुम दोऊ कर ओक बनाय।
बैठ उकहूं चाव सौं, कीनी ओक बनाय।
पीवन की इच्छा करी, मन मैं अति ही ललचाय।
मटकी सों डहकाय के. गुंठा दियो दिखाय।
कहो स्वाद बतलाइये, कछू मीठो है मन भाय।[3]

कृष्ण की इन दान-लीलाओं के अनुकरण पर राम-भक्तों में रामसखेजी ने भी दान-लीला की ठीक ऐसी ही कल्पनाएँ की हैं। यहाँ पर सीताजी अकेली ही राम को मिल जाती हैं :

विपिन प्रमोद से बोरि महा ह्वै आवो दही लै बड़ी अलबेली।
मानत ना डर काहू को नेकहू पाई अचानक आजु अकेली।

---

१. गीतामृत गंगा, ३।३३।
२. दानलीला वर्णन : भक्ति सागर, पृ० ४८६-४८९।
३. चरणदास : भक्ति सागर, पृ० ४८८।

दीजौ हमैं करि नेग तु है भावतो चित्त की चोर हौ रूप नवेली।
बात हमारी सुनौ सब कान दै हौ तुम तो दय जोग सहेली।[1]

रास-लीला :

दान-लीला के समान ही इन दोनों प्रकार के सगुणोपासकों (निकुंज एवं आवरण लीला के गायक में रासलीला में भी यह अन्तर है। हमारे प्रस्तुत समीक्ष्य काव्य की रासलीला भागवत की परम्परा में है। शरद् की छिटकी हुई चाँदनी में गोपिकाएँ मुरली की ध्वनि सुनते ही अपने-अपने घरों से कृष्ण की ओर दौड़ पड़ती हैं :

तैसी रही जोइ सोइ चली है तमकि तैसी,
काहू की न मानै कोऊ आतुरता बढ़ी है।
अस्त व्यस्त भूषन बसन मन मन काज,
मनमथ राज चटसार मानो पढ़ी है।
सनमुख नाद सुधी गति में न भई बाधा,
आगे पूनी साधा प्रेम गजराज चढ़ी है।
रगण सों मिली राधा शोभा सिंधु ते अगाधा,
मानी हर मूरति सनेह सांचे गढ़ी है॥[2]

गोपिकाएँ जैसे-तैसे कृष्ण के पास पहुँचती हैं, पर वे रूखे ढंग से पूछते हैं कि तुम कैसे यहाँ आईं ? उन्हें अपना-अपना धर्म याद दिलाकर घर लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। इस पर वे उत्तर देती हैं :

रावरी हांसी कि लोकन सों,
अरु बांसुरी की सुन तान तरेरी।
जाग उठी मनमत्थ की आगि,
छिनोछिन बाढ़ति भांति अनेरी।
सीचौ हमैं अधरामृत सौं,
'शशिनाथ' कहौ जिनि बात करेरी।
नातरु या विरहानल में
जारि होयँगी कान्ह मभूति की ढेरी।[3]

---

१. राम सखे : जानकी नौरत्न माणिक्य (रा०भ०म०उ०, पृ० ३२३ पर संगृहीत)।
२. मनोहरदास : राधारमण रस सागर, स. २५।
३. सोमनाथ : रास पंचाध्यायी, पृ३७ ।

बिहारी ने रासलीला के उस अंश की ओर संकेत किया है जिसमें गोपियाँ कृष्ण के साथ मदमत्त होकर रास करती हैं एवं प्रत्येक गोपी को यह अनुभव होता है कि कृष्ण उसी के पास हैं :

गोपिनु संग निसि सरद की रमत रसिकु रसरास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास।[1]

इस अद्‌भुत गति से होने वाले परम रमणीय रास को देखने के लिए देव-वधुएँ भी व्याकुल हो रही हैं। वृन्दावन के ऊपर सुरों के विमानों की भीड़ लग गई है :

बृन्दाबन कानन पै भीर है विमान की
देव बधू देखि देखि भई है मनचला।
बंशी कल गान कै वितान धुनिवाय बंध्यो
रमालोक लोमित ह्‌वै भूली उर अंचला।
द्वै द्वै बिच गोपिन कै ललित त्रिभंगी लाल
नागरिया पदन्यास बाजै छनछदला।
रास रंग मंडल अखंड नृत्य होन लाग्यो,
संग ह्‌वै भ्रमत मानो मेघचक्र चंचला।[2]

जल-क्रीडा :

रास के पश्चात् जलक्रीड़ा में थकावट दूर करने का प्रसंग भागवत में भी आता है।[3] बृन्दाबन देव ने वहाँ से प्रेरणा लेकर अपने रासलीला वाशे अंश में उसका वर्णन किया है। यह वर्णन निहायत परम्परामुक्त एवं भावशून्य प्रतीत होता है। इस तरह के वर्णन एक प्रकार के संस्कार (Ritual) जैसे प्रतीत होते हैं।

क्रीड़त कालिंदी तट गोपिन संग लीनैं।
सुन्दर विशाल नैन सुरत रंग भीनैं।
मनों मीन बाल उपय लोहित वपु कीनैं।
उरसि तिय नख प्रकार सोहत अति नीकौ।
जाहि देखै द्वैज चन्द्र लागत अति फीकौ।[4]

---

१. बिहारी रत्नाकर, दोहा २६१।
२. नागरीदास : निम्बार्क माधुरी, पृ.६२०।
३. श्रीमद् भागवत, १०।३३।२३–२५।
४. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ५।१६

होली :

बसन्त ऋतु में होली का मदनमय उत्सव माधुर्य-भाव के उपासक सभी कवियों के मन को आकर्षित कर सका था। आगे चलकर रीतिकाल में दरबारी कवियों ने होली के अनेक रंग-भरे चित्र उपस्थित किये हैं। पद्माकर का 'लला फिर आइयो खेलन होरी' वाला छन्द प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल के होली-सम्बन्धी अंशों के पीछे वस्तुतः उन कवियों का होली-वर्णन विद्यमान था।

इन कवियों ने होली के खेल का ही वर्णन नहीं किया है, होली खेलने की अभिलाषा को भी पहिचाना है। होली मनभाया करने का त्यौहार होता है, ऐसी स्थिति में नायिका यदि प्रारम्भ से ही उस दिन की प्रतीक्षा करती हुई होली खेलने की योजना बनावे तो वह नितान्त स्वाभाविक होगा। पुष्टिमार्गीय जगन्नाथ कविराय का पद इसी आकांक्षा को व्यक्त करता है :

अहो हरि होरी में तब जो गये तुम भाजि।
गारी देहूं भरूं भराउं
मुख माड़ोंगी आज।
हों अपनो मन भायो करि हों
सुनि ब्रज राज कुमार।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु
भाई सकल घोष सिरताज।[1]

बनीठनी जी के पद में नायिक नायिका को वर्जित कर रही है कि मेरे ऊपर रंग न डालो। धमकायी भी है कि यदि न मानोगे तो पिचकारी छीन लूंगी। पर कृष्ण शायद नहीं मानते तो कहती है कि अब तुम मुझसे गाली सुनना चाहते हो। इस वर्जन एवं निषेध में अनुराग एवं स्वीकार की गहरी व्यंजना है यह रसिकों से छिपा नहीं है :—

ए जु ! नीके तुम जाहु चले जिन भरो मेरी सारी।
सुनि श्याम सुनि श्याम सौं है तिहारी, नाही छिनाय लेहुं कर तें पिचकारी।
अब कछु मोपै सुन्यौ चाहत हो गारी, घरमें सीखे ढंग रसिक बिहारी।[2]

होली के चित्र नित्य बिहारोपासको में उतने ललित नहीं बन पड़े हैं जैसे कि इन कवियों के हैं।

---

१. जगन्नाथ कविराय : कीर्तन संग्रह भाग २, पृ० ४५।
२. बनी ठनीजी (रसिक बिहारी), निम्बार्क माधुरी का संग्रह, पृ० ६०४

इसी प्रकार अन्य उत्सवों के पद भी कीर्तन-संग्रहों श्रादि में बिखरे पड़े हैं। अष्टयाम-सेवा-विधि से सम्बन्धित पदों की संख्या भी विशाल है।

(४) विरह :

नित्य विहारोपासकों एवं ब्रजलीला-गायकों के मध्य विरह संबंधी एक बड़ा अन्तर है। निकुंज-लीलाओं में विरह अत्यन्त सूक्ष्म (मन की वृत्ति विशेष) स्वीकार किया गया है क्योंकि राधा और कृष्ण के मध्य वियोग की स्थिति युगलोपासना की आत्मा के विपरीत है। पर ब्रज-लीला-गायकों ने स्थूल विरह का जम कर गायन किया है। सूरदास का—'ऊधो विरहौ प्रेर करे,' हम चतुर्थ अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। वहीं पर हमने इस सम्भावना की ओर भी संकेत किया था कि विरह को मूल्यवान् मानने के पीछे सूफी-प्रभाव भी हो सकता है। गोपियों के अनुग-भाव से प्रभु के प्रति सीधे विरह एवं प्रेम-निवेदन तथा किसी लौकिक प्रेम-कहानी के माध्यम से प्रेम एवं विरह की तीव्र अभिव्यंजना में बड़ा अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अस्तु भौतिक विरह के विविध रूप हमें इस साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। घनानन्द ने निर्भ्रान्त शब्दों में घोषित किया था कि यदि मन में गोपियों की सिसक और कसक न आयी तो रसिक कहलाना व्यर्थ ही है। रसिकता कुछ और ही वस्तु है।[1] इसी कारण इस सिसक और कसक का वर्णन इन कवियों ने अत्यधिक मन लगाकर किया है।

काव्य शास्त्रियों ने विरह के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा ये चार भेद किए हैं। रतिकालीन कवियों ने इन सभी का चित्रण परिपाटी निर्वाह के लिए किया था। प्रेमाभक्ति के इन कवियों में इनमें से प्रथम तीन स्थितियाँ मिल जाएँगी पर उदाहरण देने के लिए नहीं हैं। करुण विप्रलंभ की भगवान के परिकर में स्वीकृति नहीं है। पर शेष तीनों को उन्होंने यथार्थ के स्तर पर भावित किया है।

पूर्वराग

विरह का प्रथम प्रकार पूर्वराग माना गया है। 'साहत्य-दर्पण' में इसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि इससे अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जोकि उनके

---

१. गोपिन की ससक कसक जौ न आई मन, रसिक कहाए कहा रस कहू औरई। —प्रकीर्णक, ३१।

समागम से पहले हुआ करती है।[1] घनानन्द द्वारा वर्णित यह विरह पूर्वराग ही है जो रूप-दर्शन से उत्पन्न हुआ है :

आंखि ही मेरी पै चोरी भई लखि फेरी फिरै न सुजान की छेरी।
रूप छकि तित ही बिथकी, अब ऐसी अनेरी पत्याति न बेरी।
प्राननै साथ परी परहाथ विकानि की बानि पै कानि बखेरी।
पायन पारि लई घन आनंद चायनि बावरी प्रीति की बेरी।[2]

सामनाथ की यह विरहिणी भी प्रिय के दर्शन से उन्मत्त बनी चली आयी है :

सोमनाथ बानिक विलोकि छवि छाकी छकी,
दीन्ही अँचि गाँसी पंचबान बखियान में।
गागरि गिराय बिसराइ कुल कानि ग्वालि,
ल्याई भरि मोहन कौ नेह अँखियान में।[3]

प्रवास :

ब्रज-लीला के अन्तर्गत कृष्ण का ब्रज छोड़कर मथुरा एवं द्वारका चले जाना विरह-काव्य का अक्षय स्रोत रहा है। अपनी प्रीति बढ़ाकर कृष्ण चले जाते हैं। आने की अवधि भी दे जाते हैं, पर आते नहीं। गोपियाँ इस कठिन वियोग में दग्ध होती रहती हैं। इस घटना ने अगणित कवियों के मानस को आन्दोलित किया है एवं सहस्रशः छन्दों में वियोग की यह गाथा फूटी है। बृन्दावन देव का छन्द इसी दुःख को व्यक्त करता है :

आयो है मास सावन न आये मन भावन जे लाये गुन गावन ए
चातक हू चहूंदिश।
दुख की निशानी इह ठाँनी विधि विरहिन कौ पीव पीव बानी
सुनिहोत मन महारिश।
वे तौ महाज्ञानी कछु मन मे न आनी पै औौर नेही प्रानी अब
जीवें लागि कौन मिश।
बृन्दावन प्रभु पानी जानै न बिरानी पीर मीन की कहानी इह
याहि तो अधिक तिश।[4]

बिहारी का यह दोहा भी प्रवास-जन्य विरह की वेदना को अभिव्यक्त करता है।

---

१. विश्वनाथ कविराज : साहित्य दर्पण, ३।१८८।
२. घनानंद : सुजान हित, २।
३. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट ३६।
४. गीतामृत गंगा, ८।५८।

राधा यमुना के किनारे श्याम की याद करती हुई जो आँसू बहा रही हैं वे यमुना के जल को भी खारा बना देते हैं :

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरणिजा तीर।
अंसुवनि करत तरौंस कौ खिनकु खरौहौं नीर।[1]

चंदसखी के इन लोक-गीतों में भी प्रवास जन्य विरह ताप प्रकट हुआ है :

पलक न लगै स्याम बिन पलक न लागै मेरी।
हरि बिन मथुरा ऐसी लागत है, चन्दा बिन रैन अंधेरी।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी, बिच-बिच जमुना गहरी।
सांवरे की खातिर जोगन हूंगी, घर घर दूंगी फेरी।
चंद सखी भज बालकृष्ण छवि, हरि चरनन की चेरी।[2]

मान :

नित्य-विहारोपासकों के काव्य-विवेचन के प्रसंग में मान की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रेम के क्षेत्र में मान का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। मान का इन कवियों ने बहुत चित्रण किया है। अन्तर इतना है कि अकारण मान के साथ ही सकारण मान भी इन कवियों ने चित्रित किया है। परन्तु एक समानता है — प्रिया का ही मान इन कवियों के लिए भी चित्रणीय रहा है। यह सम्भवतः काव्य परिपाटी का दबाव था। हिन्दी काव्य की परम्पराओं में प्रियतमा के मान की ही परिपाटी रही है।

प्रिया मान किए बैठी है, लाल की सखी आकर समझाती है कि रात छोटी है, यह मधु यामिनी यों ही बीत जाएगी, इसलिए कुंज-भवन चलकर रमण करो। यह सत्य है कि प्रिय के निकट शताधिक कामिनियाँ हैं, परन्तु सचाई यह है कि तुम्हारे बिना वे सारी सलोनी कामिनियां अलोनी लग रही हैं। उनके साथ तो तेरी ही शोभा होयी है जैसे कि स्वर्ण के साथ माणिक्य या कि सांवले बादलों के साथ विद्युत शिखा ही शोभा पाती है। अतः हे मानिनी, मान थोड़ी देर के लिए ही अच्छा है। वह उपमा देती है कि दूध के उफान के समान ही मान करना ठीक है (दूध का उफान पानी के छींटे पड़ते ही शान्त हो जाता है, वैसी ही दूती-वचन की शीतलता मान को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त होनी चाहिये) मान के लिए दूध के उफान की उपमा देना स्वतन्त्र निरीक्षण-शक्ति का प्रमाण है :

---

१. बिहारी-रत्नाकर, २६२।
२. चंदसखी के भजन और लोक गीत (प्रभु दयाल मित्तल), १२६ पृष्ठ ४५।

दूध को उफान ऐसो मान कीजै मानिनी,
दैंठे कुंज भदन रमन गमन कीजै,
बीती जात बातन ही मधु यामिनी।
तो बिनु सलौनी सब लागत अलोनी,
जदपि निकट हैं अनेक शत कामिनी।
बृन्दाबन प्रभु संग तूहीं यौं विराजति है,
जैसे हेम मानिक और श्याम घन दामिनी।[1]

दूती मनाते-मनाते थक जाती है पर वह प्यारी मानती नहीं है। कुशल वाक्पटु दूती अनेक कौशल करके हार जाती है, लौटकर वह स्पष्ट कह देती है कि तुम्हारी प्रिया रूपवती तो बहुत है, ऐसा लगता है कि वह रूप का प्रकाश है, स्वयं विधि के हाथ की वह संवारी हुई है, परन्तु (मुझे क्षमा किया जाय) ऐसी अनखारी नारी मैंने नहीं देखी है। यह तो तुम्हीं जानते होगे कि तुमने अपनी प्रीति अन्यत्र कहां विस्तारित की है पर वह सुकुमारी आपका नाम लेते ही गाली देने लगती है। उसके (दूती के) अनुसार आज तो उसका रूप इतना निष्ठुर है कि पैर पड़ने पर भी वह मानने के लिए प्रस्तुत न होगी :

हौं तो पचिहारी बिहारी मानति न प्यारी तिहारी।
रूप की उजारी भारी विधिना संवारी पैं,
ऐसी अनखारी नारि मैं न निहारी।
तुम जानौ प्रीति न्यारी और कासौं विसतारी,
ढिग की गये तै गारी देति सुकुमारी।
बृन्दाबन प्रभु ऐसी देखी मै निठुर आज
मानिहै न पांइ परै कहै हूं हहा री।[2]

प्यारे को मनाने जाना ही पड़ता है। वे 'नति' का आश्रय लेकर मानवती प्रिया की चरण सेवा करते हैं। ऐसी स्थिति में मान को टूटना ही चाहिए, वह टूटता है :

मान कियो मानिनि मनायो हू न माने।
नेंक मानहुँ में सोय रही मानिनि न मान के।
उझकि पिय देखे आय चांपत चरण।
सखी सैन दै उठाई पिय बैठे पगपान के।
पिय को परस जान जान के भई अजान।
चतुर बिहारी जु सों बोली मिष आन के।

---

१. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा ६।५।
२. वही, वही, ६।१६।

रहो रहो रसिक राय छिनहुं न होहु न्यारे
हम तुम पौढ़े दोऊ एक पट तान के ।[1]

प्रेम वैचित्य :

गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों ने करुण विप्रलंभ के स्थान पर प्रेम-वैचित्य नामक एक नया प्रकार स्वीकार किया है। प्रेमोत्कर्ष के कारण स्वाभाविक रूप से ही प्रिय के निकट होने पर भी जब विरह जैसी अनुभूति होती है तब उसे प्रेम-वैचित्य कहा जाता है[2]। प्रेम-काव्य की अमूल्य निधि धनानन्द के काव्य में प्रेम-वैचित्य के हृदयस्पर्शी चित्रण हमें मिलते हैं। एक उदाहरण :—

ढिग बैठे हू पैठि रहैं उर मैं धरकै खरकै दुख दोहतु है।
दृग आगे ते बैरी कहूं टरै न जग जोहनि अन्तर जोहतु है।
घन आनंद मीत सुजान मिलै बसि बीच तऊ मति मोदतु है।
यह कैसी संजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यौं हू विछोहतु है।[3]

(५) उपालम्भ :

प्रेम और वियोग के क्षेत्र में उपालम्भ काव्य भी सहृदयों के मध्य सदैव आदर पाता रहा है। भ्रमरगीत के नाम पर लिखा गया उपालम्भ-काव्य हमारे साहित्य के सर्वोत्तम अंशों में से एक है कुब्जा और मुरली के प्रति दिये गए उलाहने भी कृष्ण-काव्य में कम नहीं हैं।

अत्यन्त सहज स्त्रियोचित शब्दावली में बृन्दाबन देव ने ब्रजबालाओं से यह शिकायत कराई है। गोपियों को प्रिय के प्रेम पर कैसे विश्वास आवे—मथुरा कौन बहुत दूर है पर तनिक-सा संदेश भी उन्होंने नहीं दिया। हृदय एकदम निष्ठुर कर लिया, उस प्रेम की बात उन्होंने सोची ही नहीं। इसके ऊपर भी एक विशेष काम उन्होंने किया है—कुब्जा के प्रेम-रंग में रंग गये हैं।[4] कुब्जा के लिए उलाहना चन्द्रसखी ने भी दिलाया है।[5]

नागरीदास ने मुरली-उपालम्भ-सम्बन्धी अत्यन्त मार्मिक दोहे लिखे हैं।

---

१. गो० हरिराय : (रसिकराम), कीर्तन संग्रह, तीसरा भाग पृ० २०८।
२. उ०नी०म०, पृ० ५४८।
३. सुजान हित १०४ (घन आनंद ग्रन्थावली)।
४. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, ८।४६।
५. चन्द्रसखी और उनका काव्य (सम्पादिका : पद्मावती शबनम) पृ० ४६-४७।

गोपिकाएँ मुरली से कहती हैं कि हमें क्षमा कर, हम तेरे पैरों पड़ती हैं, तेरी स्वर लहरी और सबको प्रिय होगी पर हमें नहीं। हम तो उससे और दु:खी होती हैं। गोपिकाएँ वंशी को अपने पक्ष में करने के लिए एक बड़ा मनोवैज्ञानिक अस्त्र फेंकती हैं। उनका कहना है कि हम दोनों ही ब्रज की हैं, अत: एक स्थान में रहने की बात तो सोचनी ही चाहिए। फिर वंशी और ब्रजनारी इनकी महिमा तो त्रैलोक्य में हैं, यह नाता भी वंशी के लिये विचारणीय है :

तुहू ब्रज की मुरलिया हमहू ब्रज की नारि।
एक वास की कानि करि पढ़ि पढ़ि नंत्र न मारि।
मत मारै शर तानि कै नातो इतो बिचारि।
तीन लोक संग गाइये बंशी अरु ब्रज नारि।[३]

पर वंशी मानती नहीं है। गोपिकाएँ खीझकर कहती हैं कि जड़ से हमारी कुछ चलती है ? यह मौन गहती ही नहीं :—

हम हारी गारी जु दै जड़ सौं कहा बसाय।
मौन गहत नहिं मुरलिया, हाय हाय फिर हाय।[१]

चरण दास की गोपियों ने भी मुरली को उलाहना दिया है कि तनिक से बांस की बनी हुई यह बांसुरी गर्व से भरी गर्जना करती रहती है तथा उनका कलेजा दग्ध करती रहती है :

तनक बांस की बनी बंसुरिया गर्व भरी अति गाजै री।
तैं वश कियो शुकदेव हमारो सुनत कलेजो दाझै री।[२]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि विरह-सम्बन्धी काव्य इस परम्परा में अत्यधिक समृद्ध है। वह अपने कथ्य को लगभग उपयुक्त शिल्प में ढाल सका है।

(६) बाललीलाएँ :

यह विवेचन माधुर्य भाव की दृष्टि से किया गया है, पर ब्रजलीला के अन्तर्गत अन्य भक्ति-भावों का भी समावेश है। वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना का प्रवर्तन बाल-भाव के अनुकूल हुआ था। इसी कारण इस युग में भी वात्सल्य-भाव सम्बन्धी कतिपय रचनाएं प्राप्त हो जाती हैं। नागरी दास वल्लभ मतानुयायी थे, उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है। परन्तु बाल-लीला

१. ब्रजमाधुरी सार, पृ० २०२।
२. श्री सर्वेश्वर में नागर समुच्चय से संकलित (वर्ष ३, अंक १२ सं० २०१२ वि०)।
३. चरणदास : शब्द वर्णन, भक्ति सागर ग्रन्थ, पृ० ३५८।

के चित्रण में इन कवियों का मन बहुत नहीं लगा है। नागरी दास निम्न पद में कृष्ण के बालरूप का वस्तुगत ढंग पर चित्रण करके रह जाते हैं, उस मानसिकता की स्थापना नहीं कर पाते जो सूर या परमानन्द दास के काव्य में हमें उपलब्ध होती है। पद इस प्रकार हैं :

कबहुं गहि फिरत पूंछ बछियान की,
किंकिनी कनक कटि मधुर बाजैं।
गोप-गोपिन दृगनि से खिलौना खिलत,
मुख-कमल मुरि हंसनि भ्राजैं।
बदन दधि-छवि, धूरि-घूसरित अंग,
अर्बाहि ते मदन-गति पगनि पेलैं।
कंठ बधना दिये पाय पैंजनि झनक,
दास 'नागर' हिये आंगन खेलैं।[1]

हरिदासी सम्प्रदाय में यद्यपि बाल-लीला की स्वीकृति नहीं है, पर स्वामी रसिक देव ने बाल-लीला नामक ४६ छन्दों की एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी है जिसमें बाल-लीला की अपेक्षा बालक कृष्ण एवं बालिका राधा के मिलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसमें बाल-भाव को माधुर्य-भाव की ओर मोड़ने की चेष्टा की गई है।

निम्बार्कीय बृन्दावन देव की रचना 'गीतामृत गंगा' का प्रथम घाट बाल-लीलाओं का है तथा द्वितीय घाट पौगंड-लीलाओं का। बृन्दावन देव का भी मन इन लीलाओं में अधिक नहीं रमा है। जन्म की बधाइयाँ गा देने अथवा सूचना रूप में कुछ कह कर वे आगे बढ़ जाते हैं, भावात्मक चित्र कम ही उपलब्ध होते हैं। ऐसा ही एक पद निम्न कहा जा सकता है :

ब्रजरानी की गोद विनोद करैं हरि,
मोद भरी यौं लड़ावति मैया।
नये गावत गीत नचावति दै चुटकी तिहि
जो तिहुं लोक नचैया।
समात न नन्द आनन्द में देखि सुतैं
सु मनोरथ पूर्यो है दैया।
कबहूं दिन व्है वहूं मो लला सु
बृन्दाबन जै हैं चरावन गैया।[2]

---

१. नागरीदास : ब्रज-माधुरी-सार, पृ० २०२।
२. गीतामृत-गंगा, १।२२।

इसी प्रथम घाट में ही उन्होंने श्याम सगाई भी उपस्थित कर दी है।[1] चन्दसखी के भजनों में भी बाल लीला के कतिपय पद उपलब्ध हो जाते हैं।[2]

(७) सिद्धान्त कथन :

पूर्व-विवेचित नित्य-विहारोपासकों के समान सिद्धान्त-कथन-सम्बन्धी साहित्य इन भक्तों में भी उपलब्ध हो जाता है। परन्तु ध्यान से अनुशीलन करने पर एक तथ्य नितान्त उजागर हो उठता है कि नित्य-विहारोपासकों में अनिवार्य रूप से सिद्धान्त-कथन किया है परन्तु इन कवियों में यह अनिवार्यता नहीं है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि परिमाण की दृष्टि से नित्य-विहारोपासकों में सिद्धान्त-कथन की मात्रा कहीं अधिक है। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि जिस ऐकान्तिक (रहस्यात्मक) भक्ति-पद्धति को उन्होंने स्वीकार किया था, उसके बारे में लौकिकता एवं ऐन्द्रियता का भ्रम हो सकने का अवकाश था। इसी कारण वे सिद्धान्त-कथन के लिए विवश हो गए थे। इन लोगों का सिद्धान्त-कथन एक प्रकार से अपनी रचना की व्याख्या ही है। निकल्सन ने बताया है कि ईरानी सूफ़ियों को भी इस भ्रम से बचने के लिए अपनी रचनाओं का अर्थ स्पष्ट करना पड़ा था।[3] अस्तु, ब्रजलीला-नायकों के समक्ष ऐसी कोई समस्या नहीं थी। पुराण हमारे यहाँ धर्म-ग्रंथों के रूप में मान्य थे तथा पुराणों में यह शृंगारादि की लीला भली भाँति चित्रित एवं व्याख्यात हो चुकी थी; सामान्य जन के हृदय में उसकी यथेष्ट प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस कारण सिद्धान्त-कथन द्वारा अपने युगल एवं उनकी केलि के मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रश्न इन कवियों के सामने नहीं उठा था। फिर भी यत्र-तत्र हमें सिद्धान्त-कथन के कुछ-न-कुछ अंश उपलब्ध होते ही हैं। संसार से विराग,[4] गुरु का महत्त्व-स्थापन[5], प्रेम-धर्म का महत्व एवं गोपियों का महिमा-गान[6] आदि सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक बातें इनमें कही गई हैं। गोपियों के महत्त्व को स्वीकार करने वाला गो० हरिराम का निम्न पद दृष्टव्य है जिसमें साथ ही साथ बल्लभाचार्य एवं विठ्ठलनाथ जी की स्तुति भी है :

हौं वारी इन बल्लभियन पर।
मेरे तनका करों विछौना सीस धरों इनके चरणन तर।

---

१. गीतामृत गंगा, १।२८।

२. पद्मावती शबनम् : चन्द्रसखी और उनका काव्य, पृ० १०।

३. आर० ए० निकल्सन : दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, पृ० १०२।

४. नागरीदास : ब्रज माधुरी सार, पृ० १६०-१६१।

५. कीर्तन संग्रह, भाग ३, पृ० २५७-२५८ आदि।

६. वही, वही, पृ० २५६।

नेह भरी देखो मेरी अँखियन मण्डल मध्य विराजत गिरिधर।
यह तो मेरे प्राण जीवनघन दान दिये श्री बल्लभ वर।
पुष्टि प्रकार प्रगट करिबे कौ फिर प्रकटे श्री विट्ठल वपु घर।
रसिक सदा प्रास इनकी कर बल्लभियन की चरण रज अनुसर।[1]

गो० हरिराय जी ने एक अन्य पद में कहा है कि हे ! मनुष्य तुझे लज्जा आनी चाहिये यदि तूने गोपाल-लीला का गान नहीं किया, रसाल लीला में मन नहीं लगाया, सुबोधिनी सुनी नहीं, घड़ी-आध-घड़ी हरि की सुस्वादु सेवा नहीं की तथा कृष्ण का नाम रटा नहीं, बल्लभ एवं विट्ठल प्रभु की शरण में जाकर तूने शीश नहीं झुकाया।[2]

(४) संत-परम्परा के अन्तर्गत रचा गया प्रेमाभक्ति-काव्य

चतुर्थ अध्याय में सगुणोपासक प्रेमा-भक्ति-सम्प्रदायों में उपास्य, लीला धाम एवं परिकर आदि की चर्चा करते हुए हमने देखा था कि ये सभी तत्त्व नित्य स्वीकार किए गये हैं। व्रज, बृन्दाबन, साकेत आदि स्थल भी भगवान् की स्वरूप शक्ति के ही विलास हैं—इस धारणा ने "उन संप्रदायों में प्रतीक-पद्धति की स्थापना नहीं होने दी। प्रतीक में मूल वस्तु का परिचय किसी अन्य वस्तु के द्वारा दिया जाता है।" अब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन कर प्रतीक का काम देता है।[3] परन्तु राधा, कृष्ण, गो गोप, गोपी, बृन्दाबन, अयोध्या आदि किसी परोक्ष प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रतीक नहीं है। वे स्वयं नित्य हैं। अतः प्रतीक, संकेत या अन्योक्ति-पद्धति का इन सगुण-भक्ति-संप्रदायों में नितान्त अभाव है।

निर्गुणभाव-धारा के भक्तों की स्थिति बदल जाती है। वहाँ पर ब्रह्म नित्य है परन्तु उसके आकार, रूप, धाम या परिकर अथवा लीला-कृत्यों की कोई धारणा प्रकल्पित नहीं हुई है। जब इस परोक्ष-सत्ता की अनुभूति या उसके विषय में किसी विचार को वे अभिव्यक्त करते हैं तब उन्हें ऐसे अप्रस्तुतों की आवश्यकता पड़ती है जो उनकी पहुँच के भीतर भी हों तथा उस अनुभूति को अभिव्यक्त भी कर सकें। इस प्रकार अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन जाता है। स्पष्ट है कि यह पद्धति प्रतीकवाद की है। भक्ति की प्रेम-सम्बन्धिनी इसी विशेषता के कारण वे उपास्य को विविध सामाजिक सम्बन्धों के रूप में प्रत्यक्षतः भावित

---

१. कीर्तन संग्रह भाग ३, पृ० २५६।
२. वही, वही, पृ० २५७।
३. डॉ० संसारचन्द्र : हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ० ६६।

करते हैं। प्रेम के आवेश में वह प्रिय बन जाता है, माहात्म्य-बोध के समय स्वामी बनता है, प्रभु-अनुग्रह की भावना जब बल पकड़ती है तब वह दातृत्व, दयालुता, मातृत्व, शरणागत रक्षक आदि गुणों से विभूषित कर दिया जाता है। अपनी साधना की अनुभूति वह नाना प्रकार के रूपकों, उपमाओं दृष्टान्तों से कह देता देता है।

इस साहित्य का अनुशीलन करने पर इस काव्य के दो स्पष्ट स्तर हमें दिखाई देते हैं। एक स्तर वह है जहाँ वे संसार की असारता का संकेत करते हैं, त्याग एवं वैराग्य पर ज़ोर देते हैं, गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा एवं निष्ठा चित्रित करते हैं एवं प्रभु से प्रेम करने का संदेश देते हैं। इन सभी बातों की चर्चा सगुण-लीलावादी भक्त भी करते हैं। उनके सिद्धान्त-सम्बन्धी वचन इन्हीं बातों से सम्बन्धित हैं। परन्तु फिर भी इन दोनों प्रकार के कथनों में एक सूक्ष्म अन्तर है।

सगुण-धारा के कवियों के ये कथन सिद्धान्त वाक्य हैं पर निर्गुण भक्ति के कवि के कथन शान्त-भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय होने चाहिए। प्रभु से लगाव रखने के लिए इन सब बातों को त्यागना होता है।[1] सगुण भक्ति के कवि, केवल प्रभु-प्रेम की रुचि (या लगाव) का ही निर्देश नहीं करता, वह प्रभु की लीला भी बताता है एवं उस लीला में प्रवेश करने के लिए विशेष प्रकार की भावनाओं वाले प्रवेशद्वार भी। निर्गुण-मार्गी को चूंकि लीला-धाम तक नहीं पहुंचना होता, इसीलिए वह भाव-सम्बन्धों की छानबीन में भी नहीं पड़ता। वह मात्र प्रभु-प्रेम की बात करता है। कैसा प्रेम हो—इसकी उसे चिन्ता नहीं है। अतः वैराग्य आदि के साथ प्रभु-प्रेम का स्वीकरण उसे शान्त-भक्त सिद्ध करता है। इसी कारण ये सिद्धान्त-कथन निर्गुण-मार्गीय काव्य में अधिक महत्वपूर्ण भी हो जाते हैं और उनका परिमाण भी कहीं अधिक हो जाता है। सिद्धान्त-कथन सम्बन्धी कतिपय उदाहरण कथ्य के इस रूप को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट कर सकेंगे। सुन्दर दास कहते हैं कि हे संसारी जन, तुम देह, गेह, धन, परिवार 'सेवक' आज्ञा आदि में 'मेरे पन' को देखते हो। कुलीन वंश का अभिमान करते हो और समझते हो कि अपनी तरुणी पत्नी के तुम प्यारे हो, पर :

> "सुन्दर कहत मेरौ मेरौ कर जानैं सठ,
> ऐसे नहिं जानै मैं तो काल ही को चारौं हौं।[2]

---

१. देखिये द्वितीय अध्याय, शान्त-भक्ति-विवेचन, पृ० १०४-१०७।

२. साखी, सुन्दर विलास, काल चितानी को अंग, छंद १५।

इसी कारण सहजो बाई भी कहती हैं :

पानी का सा बुलबुला यह तन ऐसा होय ।
पीव मिलन की ठानिये रहिये ना पड़ि सोय ।[1]

ईश्वर की प्राप्ति के लिए अत्यन्त सहज साधन है—नाम-जप । संत गुलाल साहब का कहना है कि तू अन्य सारे व्यवहार छोड़कर केवल नाम-जप को अपना ले :

करु मन सहज नाम व्योपार, छोड़ि सकल व्योहार ।
निसु वासर दिन रैन ढहत हैं, नेक न धरत करार ।[2]

नाम-जप के साथ 'अन्तः-शुद्धि' का भी बड़ा महत्व बताया गया है । संत रज्जरदास का कहना है कि :

रज्जब अज्जब राम हैं, कहे सुने में नाहिं ।
यह अशुद्ध अन्तःकरण, वह देखै दिल मांहि ।[3]

इस साधना में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है । शिष्य बनराजि के समान है, जिस पर गुरु ज्ञान का जल बरसाता है । जिससे कि छोटे-बड़े विविध स्वादों वाले अंकुर स्वाभाविक रूप से उग आते हैं :

जन रज्जब गुरु ज्ञान जन्व, सींचे सिख बनराय ।
लघु दीरघ अरु स्वाद विध, ह्वै अंकूर स्वभाव ।[4]

इसी प्रकार नम्रता, साधु संगति, परोपकार आदि नैतिक वृत्तियों को इस काव्य में बार-बार उपस्थित किया गया है ।

उपास्य के सम्बन्ध में विचार करते समय या तत्सम्बन्धी स्वानुभूति की व्यंजना करते समय इन कवियों का काव्य एक विशेष भास्वरता से दीप्त हो उठता है । उपमा और रूपक, प्रतीक और संकेत बार-बार उसे प्रकट करने का प्रयास करते है । राज्जब कहते हैं कि शरीर-घट घटा के समान है जिसमें कि ब्रह्म रूपी विद्युत का निवास है, पता नहीं कब वह अंतर में प्रकट हो जाय :

रज्जब बूंद समंद की, कित सरकै कहूं जाय ।
साझा सकल समंद सों, त्यूँ आतम राम समाय ।।[5]

चरणदास एकदम कबीर के स्वर को ही अपना कर कहते हैं, न वह सीमा के भीतर है न वाहर :

---

१. सहजोबाई की बानी, पृ० ४३ ।
२. गुलाल साहब, कल्याण संतवाणी अंक, पृ० २२६ ।
३. संत काव्य, पृ० ३७५ ।
४. वही, पृ० ३७४ ।
५. वही पृ० ३७६ ।

हद कहूं तो है नहीं बेहद कहूं तो नांहि ।
हद बेहद दोनों नहीं, चरणदास भी नाँहि ।[1]

अपने आत्मानुभव को स्पष्ट करते हुए सुन्दरदास ने कहा कि आत्मानुभव का आनन्द अनिर्वचनीय है । जो अमृत पी लेता है, वही उसका स्वाद वता सकता है, बिना पिये तो बकवाद होता है :

मुख तें कह्यौ न जात है, अनुभव को आनंद ।
सुन्दर समझैं आपको, जहां न कोई द्वन्द ॥
सुन्दर जिनि अमृत पियों, सोई जानै स्वाद ।
बिन पीये करतौ फिरै, जहां तहां बकवाद ।[2]

इस ब्रह्म के साथ अपने भाव सम्बन्धों को स्पष्ट करते समय इन कवियों ने प्रिया-प्रियतम के प्रतीक वहुत अपनाए हैं । कुछ उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं :

(१) अविनासी दूलह मन मोह्यो,
जाको निगम बतावै नेत ।[3]

(२) काग उड़ावत कर थके, नैन निहारत बाट,
प्रेम सिन्धु में पर्यो मन, ना निकसन को घाट ।[4]

(३) पतिव्रता कै पीव बिन, पुरुष न जनम्यां कोई ।
त्यूं रज्जब रामंहि रचैं, तिनके दिल नंहि दोई ।[5]

(४) जो हरि कौं तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीतंहि होई ।
ज्यों अपने भरतारंहि छांड़ि भई विभचारिनि कामिनी कोई ।
सुन्दर तांहि न आदर मान फिरैं विमुखी अपनी पति खोई ।
बूड़ि मरै किनि कूप भंभार कहा जग जीवत है सठ सोई ।[6]

(५) अजहुं मिलो मेरे प्रान पियारे ।[7]

परन्तु यहीं पर यह कह देना आवश्यक होगा कि यह माधुर्यभाव की भक्ति नहीं है। प्रिया-प्रियतम यहाँ उपभान भर हैं, उपमेय तो वह 'परस्पर तत्त्व' है, जिसके प्रति ये कवि प्रेम रखते हैं । यों सगुण-भावधारा के प्रभाव के अन्तर्गत कभी-कभी पिय

---

१. चरणदास : ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन (भक्तिसागर) पृ० ३११ ।
२. साखी आत्मानुभव को अंग, १ और १० ।
३. केशवदास : अमीघूंट, पृ० ४ ।
४. दयाबाई : कल्याण, संतवाणी अंक, पृ० २७१ ।
५. संतकाव्य, पृ० ३७७ ।
६. सुन्दर विलास : पतिव्रत को अंग, १ ।
७. धरनीदास : संत काव्य, पृ० ४०१ ।

से होली खेलने की भी योजना बनती है। यारी साहब, चरणदास आदि कवियों ने होली-मिलन की अभिलाषा प्रकट की है। पर वास्तव में होली ऐसे प्रसंगों में प्रतीकार्य को ही लेना समीचीन होगा।

शान्त भक्ति एवं प्रेमपरक इन प्रतीकों के अतिरिक्त दास-भाव के भी यथेष्ट प्रसंग इन कवियों में उपलब्ध हो जाते हैं। संत भीखा साहब प्रार्थना करते हैं :

प्रभु जी करहु अपनो चेर।
में तो सदा जनम को रिनिया, लेहु लिखि मोहि केर।[1]

सामान्यतः प्रभु को बाल या सखा भाव से भजने की धारणा इन सम्प्रदायों में नहीं है।

इन निर्गुणिया प्रेममार्गी भक्तों का काव्य इस प्रकार पिछली दो प्रकार की रचनाओं से भिन्न है, परन्तु यहाँ तक प्रेम की महत्ता का प्रश्न है वह समान भाव से विद्यमान है। एक दूसरी समानता यह भी है कि अभिव्यंजना कौशल का अपेक्षाकृत निखार निर्गुण-प्रेममार्गी काव्य में भी उपलब्ध होने लगता है गो कि उसकी मात्रा उतनी नहीं है जितनी कि सगुण परम्पराओं में दृष्टिगोचर होती है।

१८वीं शती के ब्रजभाषा-प्रेमाभक्ति साहित्य का मूल्यांकन

आलोच्य युग के प्रेमा-भक्ति साहित्य की भाव-संपदा एवं वक्तव्य का विश्लेषण करते समय तथा कवियों का परिचय देते समय हम बीच-बीच में अभिव्यंजनागत विशेषताओं का बराबर उल्लेख करते गये हैं। वास्तव में रचना में एक ऐसी अन्विति विशेष होती है जिसके कारण भावपक्ष एवं कलापक्ष का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव ही नहीं होता। पीछे रूप रसिक देव द्वारा लिखे छन्द की ऐसी ही द्वित्व-रहित मीमांसा हमने की है। अतः यहाँ पर अभिव्यंजना कौशल पर विस्तृत विचार करना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त यदि मात्र अलंकार, छन्द, मुहावरे गिना देने से ही काव्य-सम्पदा का महत्त्व निर्धारित हो सकता है तो हम कहना चाहेंगे कि इस काव्य में अधिकांश अलंकार एवं बड़ी संख्या में छन्द रूप तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ उपलब्ध हो जावेंगी। यों इस साहित्य में काव्य के कुछ श्रेष्ठतम अंश भी मिल जावेंगे और एकदम हीन कोटि की तुक-

---

१. कल्याण, संतवाणी अंक, पृ० २३३

बन्दियों की संख्या भी कम नहीं है। पर हम इस समग्र साहित्य का उसके पूर्ववर्ती एवं समसामयिक साहित्य के सन्दर्भों में मूल्यांकन करना चाहते हैं।

मूल्यांकन-निष्कर्ष :

किसी भी कवि, रचना या युगविशेष के साहित्य का ग्राकलन करते समय एक प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि ग्रनिवार्य हो जाती है। जिस समय हम यह खोजना चाहते हैं कि वह क्या है जो रचना को विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण बनाता है, उस समय हम स्वाभाविक रूप से उसे समकालीन ही नहीं बल्कि पिछली पीढ़ी या परम्परा के परिदृश्य में देखने लगते हैं। प्रस्तुत काव्य का मूल्यांकन करते समय भी यह कसौटी हमें ग्रनिवार्य लगती है। रचना का विश्लेषण करते समय उसे एक इकाई मान कर चला जा सकता है, परन्तु जहाँ मूल्य ग्राँकने का प्रश्न ग्रा जाता है, यह ग्रनिवार्य प्रक्रिया है कि हम ग्रन्य वैसी ही या मिलती-जुलती वस्तुग्रों के साथ तुलना कर लें।

पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से १८वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

(१) भक्ति काल के साहित्य के परिपार्श्व में देखने पर एक बात एकदम स्पष्ट रूप से सामने ग्राती है कि १८वीं शती के प्रेमाभक्ति-कवि ग्रनुगामी हैं। भक्तिकाल के कवियों द्वारा जिन तथ्यों, घटनाग्रों, कथाग्रों, ग्रथवा लीलाग्रों का वर्णन ग्रौर चित्रण सहस्रशः पदों में हुग्रा है, उन्हीं को ये कवि भी उपस्थित करते हैं। परिणाम स्पष्ट है कि यह साहित्य पिष्टपेषण जैसा प्रतीत होने लगता है।

(२) इस पिष्टपेषण का कारण ग्रनुभूति-ग्रहण की ग्रक्षमता या किसी प्रकार की ग्रशक्तता नहीं है। कारण है लीला के ग्रत्यन्त सीमित क्षेत्र को स्वीकार करना। काव्यानुभूति के लिए कच्चा माल इन्हें जिस क्षेत्र से मिलना था, वह ग्रत्यधिक सीमित था। नित्यविहारोपासकों में तो एकदम संकीर्ण क्षेत्र उपजीव्य रहा। राधा ग्रौर कृष्ण का विहार कितना ही ग्रपूर्व एवं नित्य क्यों न हो, मानवीय भाषा ग्रौर उसकी ग्रभिव्यंजना-- क्षमता तो ग्रनित्य है केवल ग्रद्भुत कह देने से ही ग्रद्भुत का चित्र सामने नहीं ग्राता, उसके लिए नयीं लीलाग्रों एवं नये बिम्बों की ग्रावश्यकता पड़ती है। यद्यपि सैकड़ों कवियों ने हजारों पदों की रचना इस बीच में की है, पर ग्राश्चर्य होता है कि राधा-कृष्ण के रूप, शृंगार एवं विहार में ही ये कैसे लगे रहे ? काव्य की दृष्टि से यह भक्ति का ग्रपव्यय था ग्रौर प्रेम साधना की दृष्टि से ग्रपूर्व निष्ठा का उदाहरण।

(३) इतने सीमित क्षेत्र में सीमित रहने के लिए कोई दबाव होना चाहिए और हमारी समझ में यह दबाव सम्प्रदाय-निष्ठा का था। शासन, धर्म, दल आदि, जब साहित्य का नियम करने लगते हैं तो निश्चित रूप से रचनाकार की क्षमता में ह्रास होता है। यह स्थिति इस समय उत्पन्न हो गयी थी। इस युग तक आते-आते सम्प्रदायों के बंधन कड़े होने लगे थे। एवं काव्य-सृजन के प्राकृत विकास का मार्ग अवरुद्ध होने लगा था। लेकिन यहीं पर यह याद रहे कि इन कवियों का मुख्य प्रयोजन था साधना, काव्य सृजन नहीं। चिन्तन-मनन की दृष्टि से जड़ बन गये देश में प्रेरक धर्म में भी नये आयामों का अभाव हो गया था, अतः घूम-फिर कर उन्हीं बिन्दुओं के आसपास उन्हें रहना पड़ता था। वस्तुतः परिवर्तन के लिए आवश्यकता थी कि पतनोन्मुख सामन्ती सामाजिक व्यवस्था बदले। उत्पादन, वितरण विनियम के साधनों का रूप बदले बिना सामाजिक संगठन में परिवर्तन सम्भव न था। स्वयं समाज की विविध इकाइयाँ भी बदलने की बजाय अधिकाधिक प्रस्तरीकृत (Fossilized) हो रही थीं। बदलाव की प्रक्रिया, इसी कारण, उन्नीसवीं शती में आकर ग्रहण करती है जब नयी सामाजिक शक्तियाँ सामने आती हैं और तभी काव्य में नयी अभिव्यंजनाएँ भी रूप ग्रहण करती हैं।

(४) सम्प्रदाय-निष्ठा के साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि इस समय सखी-भाव का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। बल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क आदि विविध सम्प्रदायों में सखी-भाव से युगलोपासना बढ़ रही थी। पतनशील सामन्ती व्यवस्था के हीनवीर्य प्रेम और विलास में यह स्वाभाविक भी था, तथा व्यभिचार के खुले वातावरण में ऐसा प्रेम एक आदर्श भी था।

(५) भक्तिकाल के प्रेमाभक्ति के कवियों में सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना बहुत कम हुई थी, परन्तु आलोच्य-युग तक आते-आते सिद्धान्तकथन की मात्रा बढ़ गई। ऐसा लगता है कि इन कवियों के मन में यह शंका उठने लगी थी कि शायद उनकी बात को सही परिदृश्य में नहीं समझा जा रहा है। शृंगारिकता का जो भ्रम उनके काव्य से उत्पन्न हो सकता था, सम्भवतः उसी के निवारण के लिए यह प्रभूत सैद्धान्तिक साहित्य रचा गया है। इस साहित्य को पढ़ते समय बहुधा रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थ याद आ जाते हैं। दोनों ही प्रकार की रचनाएँ लक्षण-ग्रन्थ हैं। कभी-कभी तो प्रेमाभक्ति के सैद्धान्तिक विवेचन में शैली भी रीतिकाल की ही स्वीकार की गई है। रूप रसिक देव द्वारा सम्पादित युगल-शतक तथा महावाणी में दोहों में लक्षण एवं पदों में उसकी निवृत्ति की गई है। चैतन्य-मतानुयायी ब्रह्मगोपाल की हरिलीला का भी क्रम यही है। जहाँ पर यह शैली नहीं भी स्वीकार की गई, वहाँ सिद्धान्त-कथन अलग से किया गया है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भक्ति का वह तीव्र आवेग कम पड़ने लगा था, जिसकी शक्ति के कारण भक्ति काल के कवि को सिद्धान्त-कथन में

ग्रपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी पड़ी थी।

(६) भक्ति के ग्रावेग की शिथिलता का एक ग्रौर प्रमाण दिया जा सकता है। गुरु का महत्त्व भक्तिकाल में भी बहुत था। गोविन्द से बड़ा गुरु को मान लिया गया था। परन्तु पूरी गुरु-परम्परा को लेकर सहस्रश: पदों में उसकी स्तुति, प्रशंसा या बधाई गाने की परम्परा भक्तिकाल में हमें उपलब्ध नहीं होती। १७वीं शती के प्रारम्भ में हरि राम व्यास इत्यादि ने जब ग्रपने गुरु की प्रशंसा की थी, तब बधाइयों का यह ग्रतिरेक नहीं था। इसके ग्रतिरिक्त हरिदास या हित हरिवंश ग्रपने समय के श्रेष्ठतम महात्मा थे, एवं उनके विराट व्यक्तित्व को श्रद्धा मिलनी स्वाभाविक थी। परन्तु १८वीं शती के कवियों में 'गुरु मंगल ग्राचार्य यश' ग्रथवा 'बधाइयों' का ढेर लग जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयं की सामर्थ्य की ग्रपेक्षा उन्हें पूर्वजों की गरिमा पर ग्रधिक विश्वास था ग्रौर वही उनका प्रेरणा-स्रोत था। इस प्रसंग में सूरदास के सम्बन्ध में कही जाने वाली वह कथा याद हो ग्राती है जिसमें कि मृत्यु-समय उनसे कहा गया था कि तुमने लाखों पद गाये पर बल्लभाचार्य जी का गुणगान किसी पद में नहीं किया। सूरदास ने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' पद बना कर सुना तो दिया, पर उनका उत्तर उनकी शक्ति का बड़ा प्रमाण है। सूरदास ने कहा था कि इन लाखों पदों में गुरु की ही स्तुति तो मैंने की है। सचमुच शिष्य की सबसे बड़ी श्रद्धा यही है कि गुरु का सन्देश ग्रपनी रचना शक्ति से ग्रागे बढ़ावे। ग्रस्तु, ग्रालोच्य-युग में यह रचनाशीलता क्षीण होने लगती है ग्रौर गुरुवचन की ग्रपेक्षा गुरु के व्यक्तित्व का गान ग्रधिक होने लगता है। ग्राधुनिक भाषा में यह एक प्रकार का 'पर्सनैलिटी कल्ट' है।

(७) भक्तिकालीन काव्य एवं हमारे ग्रालोच्य काव्य के मध्य धीरे-धीरे एक ग्रन्तराल ग्रौर बढ़ता गया है। प्रस्तुत काव्य में ग्रभिव्यंजना को ग्रधिक ग्रलंकृत करने की चेष्टा हुई है। वृन्दाबन देव, गोविन्द देव, मनोहर दास, पीताम्बर देव, रूप रसिक देव ग्रादि ग्रधिकांश कवि ग्रलंकृति के प्रति ग्राकर्षित प्रतीत होते हैं। इसे हम समसामयिक कलायुग का प्रभाव मान सकते हैं। इसके ग्रतिरिक्त यह प्रवृत्ति सूचित करती है कि ग्रनुभूति का वेग मन्द पड़ने लगा था ग्रौर इस ग्रनुभूति की ग्रशक्ति को कला-सज्जा के ग्रावरण में छिपाया जाने लगा था। इस तमाम काव्य के मध्य हरिदासीय ललित किशोरी का काव्य ग्रपनी ग्रलंकरण-हीनता एवं ग्रावेगात्मकता में ग्रपवाद ज्ञात होता है तथा घनानन्द का काव्य ग्रनुभूति ग्रौर ग्रभिव्यंजना के मणिकांचन संयोग में ग्रद्वितीय।

समसामयिक रीति-काव्य से १८वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य से तुलना करते समय हमने रीति-काव्य के साथ इसकी समानता इंगित की थी। वस्तुतः इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मध्य इतनी समानता है कि तनिक भी असावधानी उनके रहे-सहे अन्तर को मिटा देती है। इसके पूर्व कि हम इस सम्बन्ध में और कोई स्थापना करें — इन दोनों काव्यों के कुछ समानता सूचक अंश उपस्थित कर देना उचित रहेगा :

(१) प्यारी तू कमनैती कित पढ़ी।
बिन ही पनचि बेधि हिय डारैं भौंह रहत नित चढ़ी।
—रूप रसिक देव, नि० वि० पदावली, ३९.

तुलनीय

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चल चित बेझैं चुकति नहिं बंक विलोकनि-बान।।

—बिहारी सतसई, ३५६

(२) अनौखे बैंनी गूंथन हार।
लागे नीर चुचांन पुलक तन नीठि सुकाये वार।
—रूप रसिक देव, नि० वि० पदावली, ४२,

तुलनीय

रहो, गुह्यौ बेनि, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान, जे नीठि सुकाए बार।।

—बिहारी सतसई (रत्नाकर), ४८०.

(३) लाल उर बसी उर बसी प्यारी।
मनि भूषन कौं धरत उतारी ए कबहूं नहिं न्यारी।
— रूप रसिक देव, नि० वि० पदावली, ४३।

तुलनीय

तौ पर वारौ सरवसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान।

— बिहारी सतसई, (रत्नाकर), २५

(४) सुकुमार-सिवार से मरकत तार से, कज्जल-सार से बार-
निकारि सुकावति बाला ।
मार के जार, सिंगार के चौर से,
एड़ी दिएं पुनि ऐसे विशाला ।
स्यामघन तैं मनौं निकसे,
मुख चन्द दिए तन दामिनी माला ।
बृन्दाबन प्रभु ओट भए लखि,
पाँनि परी सुत नन्द के लाला

—बृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, ४/८८

तुलनीय

सुन्दर सुढार मुख सर के सिवार किधौ,
राजत सिंगार के चमर निरधार हैं ।
मोहन मयूर पखवान कि जमुन चारु,
दीरघ अपार कि फनिंद परवार हैं ।
सोमनाथ सहज सुगंध सुकवार छके,
नन्द के कुमार री निहार इक बार हैं ।
तिमिर के तार हैं बसीकर हार हैं,
काम करतान हैं कि प्यारी तेरे वार हैं ।

—सोमनाथ, स्फुट कविता छन्द ५०,

अथवा

भौंर-चौंर सवाल तम जमुना को जल मेह
मोर पच्छ सम बरनिए केसव सहित सनेह ।

—केशवदास : कवि प्रिया

ये अंश वस्तुचित्रण एवं भावगत एकता के सूचक हैं । इसी प्रकार उपमानों के क्षेत्र में अत्यधिक समानता मिल जायगी । देव कवि ने 'दूध के उफान' का व्यापार एक स्थान पर उपमान रूप में रखा है :

पायों न सिरावन सलिल-छिमा छींटन सों,
दूध सों जनम बिन जाने उफनायगो ।

— देव (ब्रजमाधुरी सार, पृ० ३०९ पर संगृहीत)

अथवा

माखन सौंतन दूध सौं यौवन, दधि सों अधिकै उमगै ईठी—

बृन्दाबन देव ने इसी उपमान का प्रयोग एक दूसरे स्थल पर किया है। जो कि प्रशंसान्तर के कारण दोनों स्थानों पर उपमान अलग-अलग सौन्दर्य की व्यंजनाएँ करता है। मानवती नायिका से दूती कहती है कि अधिक देर तक मान न करना चाहिये : उसके अनुसार :—

दूध को उफान ऐसी मान कीजै भामिनी
— गीतामृत गंगा, ६।५

ये कुछ अंश अनायास ही कविताओं से उठा लिये गये हैं; परन्तु यदि प्रयासपूर्वक समान अंश ढूँढ़े जायँ तो भाव, भाषा, औपम्य-विधान एवं शिल्प की प्रभूत समानताएँ मिलेंगी। केवल यदि छन्द-रूपों को लिया जाय तो प्रेमाभक्त-कवियों में पदों के साथ ही कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, सोरठा, चौपाई, पद्धरी, अरिल्ल, छप्पय आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें भी दोहा इन कवियों का अत्यधिक प्रिय छन्द है। पीछे इसी अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रेमाभक्ति के कवियों के काव्य में नायक-नायिकाभेद के उदाहरण भी मिल जाते हैं। यह नायिका-भेद उज्ज्वल-नील-मणि के अनुकरण पर न होकर काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर है। इतना अवश्य है कि यत्नपूर्वक इन भेदों-प्रभेदों के उदाहरण उन्होंने उपस्थित नहीं करने चाहे हैं।

इतनी समानताओं के होते हुए भी एक बड़ा अन्तर भी मिल जायगा। हम इस अन्तर पर प्रकाश डालने के पूर्व कुछ अन्य तथ्य उपस्थित कर रहे हैं:

(१) प्रस्तुत प्रबन्ध में ही शुद्ध प्रेमाभक्ति के अस्सी से अधिक कवियों का परिचय दिया गया है जब कि हिन्दी-साहित्य के बृहत् इतिहास (पृष्ठ भाग, नागरी प्रचारिणी सभा) में रीति-कवियों की संख्या केवल पचासी ही है। स्मरणीय यह है कि प्रबन्ध का आलोच्य काल केवल सौ वर्षों का ही है जब कि इतिहास में दो शताब्दियों के कवियों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त भक्त-कवियों के साहित्य की साम्प्रदायिक गोपीनयता और रूढ़िवादिता के कारण अनुपलब्ध एवं रीति कवियों के समान राज्याश्रम के अभाव के फलस्वरूप दरबारी पुस्तकालयों की सुरक्षा के अभाव में कृतित्व की विनष्टि ने न मालूम कितने कवियों को प्रकाश में ही नहीं आने दिया। अन्तिम बात है कि जहाँ प्रेमाभक्ति सम्बन्धी शोध-कार्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है एवं जिसकी सीमाओं से यह प्रबन्ध भी परे नहीं है वहीं यह इतिहास अद्यतन खोज की चरम परिणति और विश्वास के साथ सामने आता है।

(२) कवियों की संख्या ही नहीं कवियों की रचना का परिमाण भी रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। पृथक्-पृथक् भी कवियों ने प्रभूत साहित्य का सृजन किया है। अनन्यअली, रसिकदास, हित रूपलाल, नागरीदास, आनन्दघन, रूपरसिकदेव जैसे कवियों की रचनाओं की संख्या काफी बड़ी है। सम्मिलित रूप से भी इस साहित्य का योग सम्पूर्ण रीतिकाल के कवियों से अधिक

ही सिद्ध होगा।

इन तथ्यों से दो निष्कर्ष बिना किसी विवाद के सामने ग्रा जाते हैं—(१) ग्रधिकांश भक्त जन कवि भी थे तथा (२) इन कवियों के सम्मुख ग्रभिव्यक्ति-संयम का कोई ग्रनुशासन नहीं था। इन दोनों वातों की ही विवेचना उचित होगी :

(१) ग्रधिकांश भक्त कवि थे —भक्ति के क्षेत्र में लीला-दर्शन चरम साध्य है। इसके लिए जिस साधना मार्ग को रवीकार किया गया है, उसमें लीला-गान ग्रत्यन्त सहायक होता है। बल्लभ, सखी, चैतन्य, राधाबल्लभीय, निम्बार्क ग्रादि सभी सम्प्रदायों में कीर्तन एवं संगीत का पूजा-विधि एवं सेवा-प्रणाली में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। परिणामस्वरूप भक्त के चारों ग्रोर एक ऐसा वातावरण बना रहता है जिसके कारण उसे भी काव्य-रचना के लिए प्रेरणा ग्रौर उत्साह रहता है। इसके ग्रतिरिक्त काव्य-सृजन-प्रक्रिया में उसे युगलरूप या ग्रन्य उपासना-सम्बन्धी तथ्यों का भावन भी करना होता होगा। ऐसी स्थिति में भक्त-कवि को ग्रपनी रहस्यानुभूति में सहायता भी मिलती होगी। काव्य-रचना से लीलागान ही नहीं होता, लीला-ध्यान भी हो जाता है। ग्रतः काव्य साधन हो जाता है एवं रहस्यानुभूति साध्य। सूफ़ियों के बारे में भी कहा गया है कि प्रत्येक सूफ़ी विचारक कवि था।[१] यही बात वैष्णव-भक्त के लिए भी कही जा सकती है। परन्तु रीति-कवि इसी स्थल पर एक भिन्न भूमि पर खड़ा दिखाई देता है। उसके सामने रचना करने की न तो ऐसी कोई तात्कालिक प्रेरणा ही थी कि प्रतिभा हो या न हो पर कुछ पद लिखे ही जायँ ग्रौर न किसी मानसिक साधना में ही उसे सहायता लेनी थी। परिणामस्वरूप रीति-कवि वे ही जन हैं जिनमें प्रतिभा का कुछ न कुछ विलास ग्रवश्य था। इसके ग्रतिरिक्त रीति-कवि के सामने ग्रभिव्यक्ति के ग्रनुशासन की समस्या थी। उसे ऐसी बात कहनी थी, जिसे 'समझवार सराहें' एवं 'सुकवि रीझें'। पर भक्त कवि के सम्मुख श्रोता-समाज या पाठक-समाज का ऐसा तनिक भी बन्धन नहीं था। वह मन चाहे ढंग से टूटती लय एवं बिखरते शब्दों में भी ग्रपनी बात कह सकता था। प्रशंसा उसे कवि-रूप में ग्रर्जित करनी नहीं थी, जीविका का साधन वह थी नहीं। ऐसी स्थिति में ग्रभिव्यक्ति सँवारने-सजाने का काम करने को उसे कभी ग्रावश्यकता ही नहीं पड़ी।

इन तथ्यों का परिणाम यह हुग्रा कि जहाँ रीति-कवि एवं कविताग्रों की संख्या कम है, वहीं काव्य-कला की दृष्टि से वे ग्रधिक समृद्ध हैं। प्रेमाभक्ति का एक सामान्य कवि रीति काव्य के सामान्य कवि की ग्रपेक्षा इसी कारण काव्य-कला की कसौटी पर हीन उतरता है। घनानन्द जैसे ग्रपवादों की बात को ग्रलग

१. हादी हसन : स्टडीज़ इन पर्शियन लिटरेचर, पृ० ३९।

ही रखना चाहिए।

ऐसी अवस्था में एक प्रश्न उठता है कि फिर रीतिकाल के अलंकरण आदि के प्रभाव कैसे आ गये ? इसका सहज ही उत्तर है कि एक तो वे तत्त्व समस्त वातावरण में व्याप्त थे, दूसरे प्रेमाभक्ति के भी अच्छे कवि रीतिकाल के अच्छे कवियों के कुछ न कुछ सम्पर्क में आते ही रहते थे। किशनगढ़, जयपुर, जोधपुर के दरबारों पर बृन्दाबन देव का प्रभाव था। बृन्द, राजसिंह, ब्रजदासी, सुन्दरि कुंवरि जैसे कवि उनके निकट सम्पर्क में थे। बिहारी नरहरि देव के संपर्क में आये थे। घनानन्द एवं नागरीदास तो दरबारों से सम्बन्धित या दरबारों के स्वामी रहे हैं। फिर रीतिकाल के कवि स्वयं जब भक्तिपरक रचनाएँ करते थे तो उनकी कलागत सचेष्टता स्वभावतः आ जाती होगी। कभी-कभी भक्तों ने ऐहिक काव्य को स्वयं पारमार्थिक अर्थ में भी ग्रहण किया (चैतन्य महाप्रभु, विद्यापति एवं जयदेव की रचनाओं के गहरे समर्थक थे)। इस प्रकार के आदान-प्रदानों ने पारस्परिक प्रभावों को गति दी होगी।

ऊपर विवेचित अन्तरों में दोनों प्रकार के काव्यों के मूल स्वरों का अन्तर समझना समझदार पाठक के लिए कठिन न होगा। एक के मूल में साधनानुभूति का स्वर है एवं दूसरे की जड़ में काव्यानुभूति। यों नकली सिक्कों की कमी दोनों ही क्षेत्रों में नहीं है, उनसे सावधान रहने की आवश्यकता है। और व्युत्पन्न पाठक में ऐसी सावधानता की अपेक्षा सदा की जाती है।

अभिव्यंजना के क्षेत्र में रीतिकाल ने इन कवियों को यदि प्रदान किया है तो ग्रहण भी कम नहीं किया है। लीलागान की दोनों परम्पराओं—ब्रज-लीला एवं निकुंज लीला—की समस्त स्थितियों, दृश्यों, घटनाओं के ऊपरी स्वरूप को राधाकृष्ण के नाम के साथ ही रीतिकालीन कवियों ने प्रेमाभक्ति के कवियों से ले लिया है। मूल दार्शनिक दृष्टि उन्होंने छोड़ दी थी एवं उन लीलाओं को अपने लौकिक शृंगार-परक अर्थों की ओर उन्होंने मोड़ लिया था। इस परिणति का एक शुभ प्रभाव भी हुआ कि रीतिकाल का काव्य उन्हीं लीलाओं को चित्रित करते हुए भी भक्तिकाल से एक भिन्न रसात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित दिखाई देता है; जब कि प्रेमाभक्ति का साहित्य उसी स्तर पर पूर्ववर्ती भक्ति की अपेक्षा नीचे स्तर पर उतर आता है।

परन्तु इससे इस प्रेमाभक्ति-काव्य का महत्त्व तनिक भी कम नहीं होता। प्रारम्भिक भक्तों एवं रीति-कवियों की मध्यवर्ती कड़ी ये कवि हैं। भक्तिकाल की परिणति रीतिकाल में होती है, यह बात हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में बहुधा कही गई है। परन्तु इस विकास की प्रक्रिया क्या रही है, इसे स्पष्ट करने के उपयुक्त प्रयासों का कुछ अभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। इससे यह धारणा बन जाती है कि सूरदास, तुलसीदास, कबीर या मीरा का काव्य ही देव, प्रताप साहि

या भिखारीदास में परिणत हो गया था। पर वास्तव में भक्तिकाल के पर्यायवाची समझे जाने वाले कवियों एवं रीति कवियों की मध्यवर्ती कड़ी प्रेमाभक्ति की माधुर्योपासना वाले ये विविध सम्प्रदाय है। इन्हीं सम्प्रदायों की विविध लीला-परम्पराएँ आपस में टकरा कर घुलती-मिलती रही हैं। और उन्हीं का समन्वित रूप १८वीं शती तक आते-आते उभर ही नहीं आता, जनप्रिय भी हो जाता है। प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार होता है तथा दूसरी ओर युगल-लीलाओं अथवा ब्रज-लीलाओं के तत्त्व-दर्शन को प्रत्येक व्यक्ति न तो समझ पाता है और न वैसी मानसिक साधना ही कर पाता है जिसमें कि यह समस्त अभिव्यक्तियाँ लौकिक काम से ऊपर उठ जाती हैं।

इस स्थिति में राधा-कृष्ण का स्थूल रूप एवं भक्ति-भाव दोनों ही जन मानस में एक साथ चलते रहते हैं। लोक-मानस ऐसे विरोधाभासों को लिए बहुधा आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार धर्म-साधना एवं लीलागान एक विकास-प्रक्रिया से होकर आगे बढ़ता है, एवं इस प्रक्रिया का जब अन्य सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों से संयोग होता है तो अपने ढंग का एक अपूर्व कलात्मक रंगीन काव्य रीतिकालीन काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह साहित्य रीतिकाव्य को अपनी कतिपय विशेषताएँ समर्पित कर निःशेष हो जाता है। बल्कि, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वह रीतिकाव्य से स्वयं भी प्रभाव ग्रहण कर समानान्तर गति से आगे बढ़ता है। १८वीं शती के उत्तरार्ध में भक्ति के ये विविध सम्प्रदाय एक बार पुनः संगठित होकर पुनरुत्थान का प्रयास करते हैं। ललितकिशोरीदेव, रूपरसिकदेव, विश्वनाथ चक्रवर्ती, गो० हरिराय वंशी अलि जी, चरणदास, बाल अली आदि भक्त और कवि विघटित होती हुई भक्ति-भावना एवं सम्प्रदायों के पुनः संघटन का प्रयास करते हैं। यह पुनरुत्थान १९वीं शती के मध्यभाग तक विशेष गतिशील रहा। राम-सम्प्रदाय की रसिक शाखा इसी काल में फलती-फूलती है—परन्तु १९वीं शती के उत्तरार्द्ध से नये युग की परिस्थितियों से टकरा कर यह पुनरुत्थान भी समाप्त हो जाता है। वस्तुतः मध्यकालीन धर्म-भावना की यह अन्तिम लौ थी और १९वीं शती के समाज की नई शक्तियों ने सबसे पहले इसी को समाप्त करने की चेष्टा की। ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन प्रेमाभक्ति की मूल आत्मा के निकट कहीं से भी न थे। विकृतियों से भरी पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था ने इस प्रेमाभक्ति के स्वरूप को भी इतना अधिक विकृत अथवा स्वाभाविक सीमाओं से दूर हटा दिया था कि स्वस्थ जीवन एवं पुष्ट धर्मचेतना के लिए इनको हटाना आवश्यक हो गया था। यों प्रवाहपतित जल की भाँति आज भी इस परम्परा में साधना और काव्य रचना हो रही है पर स्पष्ट है कि वह जीवन्त प्रवहमान स्रोतस्विनी नहीं है।

उपसंहार

अठारहवीं शती के ब्रजभाषा के प्रेमाभक्ति-काव्य का अध्ययन करने के उपरान्त कतिपय बातें हमारे सम्मुख अत्यन्त स्पष्ट रूप से उभर कर आ जाती हैं। उन्हें संक्षेप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है :

(१) भाव की दृष्टि से प्रेमाभक्ति को पाँच प्रमुख भक्ति-भावों, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, में विभाजित किया जा सकता है। इनमें भी अठारहवीं शती के साहित्य में प्रधानता शान्त, दास्य एवं शृंगार की ही है।

(२) लीला की दृष्टि से अठारहवीं शती के ब्रजभाषा के प्रेमाभक्ति-साहित्य में तीन परम्पराओं की स्पष्ट स्थिति देखी जा सकती है :

(क) ब्रजलीला (आवरणलीला)

इस लीला-प्रकार में समस्त शास्त्रपुराणादि-वर्णित कृष्ण-चरित्र की घटनाएँ एवं अभिव्यक्तियाँ स्वीकार की गई हैं। काव्य-चित्रण की दृष्टि से इस लीला की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(एक) इसमें कृष्ण के रूप-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

(दो) इस परम्परा के काव्य-चित्रों के अनुसार कृष्ण बहु-बल्लभा-पति हैं।

(तीन) इस काव्य में मिलन-प्रसंगों में आवश्यक रूप से राधा का ही वर्णन नहीं किया जाता। जहाँ पर राधिका-चित्रण की ओर ध्यान भी है, वहाँ उनका रूप परकीया नायिका का अधिक है—स्वकीया पत्नी का गृहस्थ-रूप विरलता से ही उपलब्ध होता है।

(चार) ब्रजलीला-काव्य में परकीया-भाव को बहुमान प्राप्त हुआ है।

(पाँच) ब्रजलीला में विरह, पूर्वराग, मान प्रवास एवं प्रेम वैचित्य—इन सभी की स्वीकृति है। वास्तव में विरह-तत्त्व का चूड़ान्त रूप ब्रजलीलाओं में है।

(छह) ब्रजलीला में प्रेम का आदर्श गोपी-प्रेम है। इस प्रकार मधुर-भाव के क्षेत्र में भी यह लीला गोपी-भाव पर अधिक बल देती है। इसी कारण इस परम्परा के काव्य में गोपीभाव की अभिव्यक्ति नाना प्रकार से हुई है।

(सात) गोपी-भाव में भगवान् के प्रति प्रत्यक्ष कान्ता जैसा प्रेम निवेदित किया जाता है। रामोपासकों की रसिक शाखा का स्वसुखी भाव गोपी-प्रेम का ही प्रतिरूप है। कृष्ण या राम को कांता रूप से पाने की अभिलाषा इस साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रकट हुई है।

(आठ) इन आवरण या व्रज-लीलाओं में उद्धव, हनुमान, सुबल, अर्जुन नन्द-यशोदा, दशरथ-कौशल्या आदि के भावों का अनुगामी वनकर भी उपासना की जा सकती है। इसी कारण आवरण लीला-परम्परा के काव्य में मधुर भाव के अतिरिक्त अन्य प्रेम भाव भी प्राप्त हो जाते हैं।

(नौ) कृष्ण की व्रज-लीला की एकदम समानार्थक स्थितियों रामोपासको में भी स्वीकृत हैं। साकेत लीला व्रजलीला का ही पर्याय है।

(दस) व्रजलीला एवं साकेत-लीला का मुख्य अन्तर है कि साकेत-लीला में ऐश्वर्य की अनिवार्य स्वीकृति है, पर व्रजलीला में एकमात्र माधुर्य-भाव ही मान्य है।

(ग्यारह) दोनों लीलाओं का यह अन्तर कृष्ण एवं राम-सम्बन्धी पौराणिक आख्यानों के कारण हुआ है।

(बारह) अठारहवीं शती में बल्लभ, निम्बार्क एवं शुक मुख्यतः व्रज-लीलाओं को अभिव्यक्ति देने वाले सम्प्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी नरहरि देव एवं स्वामी रसिक देव जैसे सखी-सम्प्रदायानुयायी जन भी व्रजलीला को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। राधाबल्लभीय गो० हितरूप लाल में भी गोपीभाव की स्वीकृति का अभाव नहीं है।

(तेरह) रीति काल की शृंगारिक प्रवृत्तियों एवं विलास-चेष्टाओं में व्रजलीला की अन्तिम परिणति हुई है।

(चौदह) काव्यगुण की दृष्टि से इस लीला के गायकों का साहित्य अधिक सम्पन्न है।

(ख) निकुंज-लीला

निकुंज-लीला शास्त्र-पुराणादि में वर्णित कृष्ण-लीला को एकदम अस्वीकृत करके विकसित होती है। लीला-गान को इस कृतित्व का मुख्य प्रदेय निम्नलिखित है :

(एक) राधा के अद्भुत रूप-सौन्दर्य का अंकन इस परम्परा के काव्य में प्रभूत मात्रा में हुआ है।

(दो) राधा की अपेक्षा कृष्ण में चाह एवं अभिलाषा का आधिक्य दिखाया गया है।

(तीन) युगल-स्वरूप के नित्यविहार के अत्यन्त मोहक शृंगारी काव्य-चित्र इस परम्परा की एक मुख्य विशेषता है।

(चार) इस परम्परा के अन्तर्गत मिलन की ही स्वीकृति है, विरह की नहीं।

(पाँच) लीला-वैचित्य के लिए मात्र छद्म विरह एवं छद्म मान इस परम्परा में स्वीकृत हैं। इस कारण प्रेमदशा का एक नया आयाम इस काव्य में उद्घाटित हुआ है जिसका कि पूर्ववर्ती काव्य में चित्रण नितान्त विरल है।

(छह) परकीया की धारणा तो इस लीला में वर्जित है ही, स्वकीया पर भी कोई बल नहीं दिया गया। कारण यह है कि युगल को 'नित्य किशोर' एवं 'अजन्मा' माना जाता है। अतः निकुंज-लीला सम्बन्धी साहित्य में राधा को परकीया रूप अपवाद के लिये भी प्राप्त नहीं होगा। व्यावहारिकता के क्षेत्र में 'दूलहा-दुलहिन' सम्बन्ध का सादृश्य व्यंजित होता है।

(सात) साधक के लिए एक मात्र सखी-भाव ही इस लीला में स्वीकृत है। दास, सखा आदि का प्रश्न ही इस साधना में नहीं उठता। इसी कारण बाल या ऐश्वर्य-लीलाएँ इस काव्य के क्षेत्र से दूर ही रखी गई हैं।

(आठ) रामोपासकों की तत्सुखी शाखा, सखी-भावोपासना का ही प्रतिरूप है। इस भाव में एकमात्र नित्य-दम्पति के सुख की ही भावना रहती है। इस साधना-प्रकार में अपना सुख उस सुख पर ही आधारित स्वीकार किया गया है। इसी कारण नित्य-विहारोपासकों ने युगल-केलि का अत्यन्त उल्लासमय एवं संवेग-प्रवण चित्रण किया है। युगल-विहार के प्रसंग आते ही सखीभावोपासक का मन तरलायित होकर नाना छन्दों में ढुलक जाता है।

(नौ) हरिदासी, राधावल्लभीय एवं ललित, इस लीला के मुख्य प्रतिष्ठापक सम्प्रदाय हैं, यद्यपि उसका प्रभाव प्रत्येक सम्प्रदाय पर प्राप्त हो जाता है। १८वीं शती में सम्भवतः एक भी

भक्ति-सम्प्रदाय ऐसा न मिलेगा जिसके अनुयायियों ने सखी-भाव की अभिव्यक्ति न की हो। परिणामस्वरूप १८वीं शती का प्रेमाभक्ति-साहित्य मुख्यतः सखी-भावापन्न एवं निकुंज-लीला का गान है। इसी कारण प्रकृति के अनेक उद्दीपन विभावान्तर्गत चित्र भी अंकित हुए हैं। प्रस्तुत काव्य में प्रकृति का एक ही उपयोग है—दम्पति के विहार का साधन बनना।

(दस) अत्यन्त सीमित क्षेत्र में संचरण करने के कारण प्रस्तुत काव्य में नव-नव रूप निर्माण क्षमा प्रतिभा के दर्शन कम होते हैं और आधुनिक पाठक को कभी-कभी एक रस प्रतीत होने लगता है।

(ग) प्रेम-प्रतीक-भावधारा

(एक) यह परम्परा सगुण-लीला से एकदम पृथक् है। यहाँ पर लीला यदि है भी तो प्रभु के अनुग्रहों के रूप में ही व्यक्त हुई है। निर्गुणमार्गियों एवं सूफ़ियों में अवतार-तत्त्व स्वीकृत नहीं था। नरवपु में भूलोक में किसी स्थल (ब्रज या कोशल) पर लीला का प्राकट्य अथवा अन्य लोक में लीला का अहरह चलने वाला व्यापार इन मार्गों की पद्धति के अनुकूल नहीं है। इसी कारण इन सम्प्रदायों की भक्ति को रागानुगा न कह कर रागात्मिका कहना ठीक होगा, क्योंकि ये सम्प्रदाय किसी पूर्व-स्वीकृत चरित्र के भावों का अनुगमन करने के स्थान पर प्रभु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

(दो) वस्तुतः गुणों की स्थापना कर देने के बाद भी ब्रह्म की निराकार धारणा वैष्णव-लीलावाद के अनुरूप नहीं थी। इसी कारण इन लोगों का 'प्रेम' प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

(तीन) भावावेग की तीव्रता के कारण ये प्रतीक बहुधा व्यावहारिक वास्तविकता प्रतीत होते हैं।

(चार) इन प्रतीकों में पति-पत्नी एवं सेवक स्वामी के प्रतीक सन्तों को अत्यधिक प्रिय थे।

(पाँच) सूफ़ियों एवं सन्तों की प्रेम-भावना में मूलतः बड़ा अन्तर नहीं है। कहानी का आवरण हटा देने पर दोनों तत्त्वतः एक ही प्रतीत होते हैं।

(छह) प्रेम-प्रतीकवाद होने के कारण स्वकीया-परकीया का प्रश्न

यहाँ पर नहीं उठाया जा सकता । परन्तु सन्तों ने इस प्रेम-प्रतीकवाद का ग्रादर्श एक दूसरा प्रतीक 'पतिव्रता' उपस्थित किया है । इससे प्रतीत होता है कि प्रेम की ग्रनन्यता के क्षेत्र में वे स्वकीया की नैतिक दृष्टि को स्वीकार करते थे ।

(सात) विरहानुभूति इस परम्परा के काव्य की एक मुख्य विशेषता है । ग्रावरण लीला (ब्रजलीला) के गायकों ने विरह-वृत्ति को जो मान दिया है सम्भवत: उसके मूल में यह विचारधारा विद्यमान थी ।

(३) साधना की दृष्टि से यह काव्य 'प्रेम-परक रहस्यवाद' के ग्रन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए । वाह्य प्रतीकोपासना के साथ ही नित्यलीला की एक नितान्त मानसिक साधना इसमें ग्रपेक्षित है । निकुंजलीला के गायक तो शुद्ध रूप से इस प्रेम-रहस्यवाद के ग्रन्तर्गत माने जा सकते हैं ।

(४) ग्रठारहवीं शती का ब्रज-भाषा का प्रेमाभक्ति-काव्य ग्रपने कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से भक्ति-काल एवं रीतिकाल का मध्यवर्ती है । इस सम्बन्ध में मिश्र तथ्य ध्यान में रखने होंगे :

(क) इस साहित्य में व्यक्त लीलाग्रों का रूप एवं उनकी मूल विचार-वस्तु भक्तिकाल का ठीक ग्रनुसरण है । इसी कारण काव्य की दृष्टि से पढ़ने वाले व्यक्ति को यह काव्य पिष्टपेषण-मुक्त एवं एक सीमा के बाद उबाने वाला प्रतीत होता है । परन्तु यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यह काव्य शुद्ध काव्य-रचना की दृष्टि से न रचा जाकर साधना-साधन के रूप में लिखा गया था ।

(ख) मूल-तत्व-दर्शन की समानता होते हुए भी १८वीं शती का यह साहित्य ग्रनुभूति की ग्रावेगात्मकता की दृष्टि से भक्तिकालीन प्रेमाभक्ति-काव्य की ग्रपेक्षा हीनतर है । ऐसा प्रतीत होता है कि वैयक्तिक-साधना में पूर्ववर्ती तीव्रता एवं ग्रात्म-विश्वास का ग्रभाव होने लगा था । इस काव्य में सम्प्रदाया-चार्यों के गुणगान का बढ़ता हुग्रा स्वर इस ग्रात्मविश्वास की क्षीणता का द्योतक है ।

(ग) ग्रलंकृति, भाषा के परिष्करण एवं ग्रभिव्यंजना के उपादानों-प्रसाधनों का ग्रधिक सचेष्ट प्रयोग इस काव्य में है । इस दृष्टि से प्रस्तुत साहित्य के शिल्प-विधान पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाया है ।

(घ) रीतिकालीन काव्य ने नायिका भेद, नायक के रूप ग्रौर रूप-प्रभाव, विरह की विविध दशाग्रों, बहुबल्भाग्रों के साथ नाना क्रीड़ाग्रों ग्रादि के प्रसंग एवं भाव, प्रेमाभक्ति की ब्रजलीला (ग्रावरण लीला)—परम्परा से प्राप्त किये हैं । संयोग एवं मिलन की घनीभूत संवेगात्मकता, नायिका का सौन्दर्य एवं

सौन्दर्य का प्रभाव, नायक की मिलनाकुलता ग्रादि दशाएँ निकुंज-लीला परम्परा से ग्रहण की गई हैं। बिहारी जैसे कवियों में ग्रालोचकों ने मिलन-प्रसंगों की जो उत्कृष्टता देखी है उसके मूल में कवि का साधनागत भाव विद्यमान है।

(ङ) प्रेम-प्रतीक-वादी भावधारा ने रीति-काव्य को बहुत प्रभावित भी नहीं किया एवं ग्रपने शिल्प-विधान में यह धारा रीति-काव्य से कम से कम प्रभावित भी होती है। सुन्दरदास या चरणदास जैसे कवि कम ही मिलेंगे, जिन पर कि कला-युग का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(५) इस प्रकार भक्तिलाल की प्रवृत्तियों का संक्रमण प्रेमाभक्ति की विविध स्थितिय के माध्यम से रीतिकाव्य में होता है। १८वीं शती का यह साहित्य इन दोनों कालों की प्रवृत्तियों की मध्यवर्ती कड़ी ही नहीं, ग्रपितु रीति-काव्य की समकालीन समानान्तर प्रवहमान जीवन्त धारा भी है, जो १९वीं शती तक ग्रनवरुद्ध गति से संचरित होती रहती है। यदि इन दोनों प्रकार के साहित्यों का समीपी एवं तुलनात्मक ग्रध्ययन किया जाय तो इस सम्बन्द्ध की दिशा एवं काव्य-परम्परा के ऐतिहासिक बढ़ाव का ग्रधिक साफ़ रूप सामने ग्रा सकेगा ग्रौर बहुत सम्भव है कि रीतिकाल-सम्बन्धी बहुत से विवादों का इससे परिशमन भी हो सकें।

(क) शब्द संक्षेप-सूची

(ख) सहायक ग्रन्थ-सूची

डा॰ डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्द-संक्षेप-सूची

अ०	अध्याय
अप्र० प्रब०	अप्रकाशित प्रबन्ध
अ० का०	अरण्य-काण्ड
अहि० सं०	अहिर्बुध्न्य-संहिता
आ०	आचार्य
उ० नी० म०	उज्ज्वल-नीलमणि
कि० का०	किष्किन्धा-काण्ड
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
चौ०	चौबोला
जी० गो०	जीव गोस्वामी
डॉ०	डॉक्टर
त० दी० नि०	तत्वदीपनिर्णय
द० वि०	दक्षिण विभाग
दी० द० गुप्त, डॉ०	डॉक्टर दीन दयालु गुप्त
दे०	देखिये
ना० प्र० स०	नागरी प्रचारिणी सभा
ना० भ० सू०	नारद-भक्ति-सूत्र
ना० द० शर्मा, डॉ०	डॉक्टर नारायण दत्त शर्मा
नि० वि०	नित्य-विहार
नि० सं० कृ० भ०	निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त
हि० क०	हिन्दी कवि
नृ० रा० मि०	नृत्य-राघव-मिलन
प० रा० चतुर्वेदी	परशु राम चतुर्वेदी
परि०	परिच्छेद (परिभाषा के लिए भी यथा-स्थान देखें)
पू० वि०	पूर्व-विभाग

पृ०	पृष्ठ
ब० ली०	बयालीस लीला
बा० का०	बाल-काण्ड
भ० र०	(भगवत) भक्ति रसायन
भ० प्र० सिंह, डॉ०	डॉ० भगवती प्रसाद सिंह
(ह०) भ० र० सि०	(हरि) भक्ति-रसामृत-सिन्धु
म० ली०	मध्य लीला
रा० क्र० वि०	राधा का क्रमिक विकास
रा० च० म०	रामचरित मानस
रा० त० प्र०	राम-तत्त्व-प्रकाश
रा० भ० म० उ०	राम-भक्ति में मधुर-उपासना
रा० भ० र० सं०	राम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय
ली० विं०	लीला विंशति
वै०	वैष्णव
वै० एण्ड शै०	वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड अदर माइनर-रिलिजस सिस्टिम्स
वै० फे० मू०	अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव, फेथ एण्ड मूवमैण्ट इन बेंगाल
श० भू० गुप्त, डॉ०	डॉ० शशि भूषणदास गुप्त
शा० भ० सू०	शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र
सि०	सिद्धान्त
सु० का०	सुन्दर-काण्ड
सु० म० सं०	सुन्दर मणि-संदर्भ
सू० सा०	सूर-सागर
सं०	संख्या या सम्वत्
स्वा०	स्वामी
स्वा० ह० सं० वा० सा०	स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य
श्री० कृ० सं०	श्री कृष्ण-संदर्भ
ह० प्र० द्विवेदी,	हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
ह० सं०	हनुमत्संहिता
ह० लि० प्र०	हस्तलिखित प्रति
नि० मा०	निम्बार्क माधुरी

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. अनन्य-तरंगिणी — श्री रसिक अली
२. अनन्य-निश्चयात्म-ग्रन्थ — श्री भगवतरसिक
३. अनन्य मोदिनी — श्री प्रियादास
४. अमीघूंट—केशवदास — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
५. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (दो भाग २) — डॉ० दीनदयालु गुप्त
६. अष्टछाप परिचय — श्री प्रभुदयाल मीतल
७. अष्टादश सिद्धान्त के पद — स्वामी हरिदास
८. अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका — श्री अमोलक राम
९. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा — श्री परशुराम चतुर्वेदी
१०. कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ — संपादक : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
११. कबीर-ग्रन्थावली — डॉ० श्यामसुन्दर दास
१२. कर्णानन्द (बंगला-ग्रन्थ) — श्री यदुनन्दन
१३. कवित्त-रत्नाकर — श्री सेनापति
१४. कीर्तन-संग्रह (भाग २-३) — श्री लल्लुभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद
१५. केलिमाल — स्वामी हरिदास
१६. गीतामृत गंगा — श्री वृन्दावन देव
१७. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ० जगदीश गुप्त
१८. गोस्वामी हितहरिवंश : सिद्धान्त और साहित्य — श्री ललिताचरण गोस्वामी
१९. गौरांग-भूषण मंजावली — गौरगणदास (बाबा कृष्णदास-प्रकाशक)

२०. घनानन्द (ग्रन्थावली) संपादक : श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२१. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा डॉ मनोहर लाल गौड़
२२. चन्द्रसखी और उनका काव्य संपादिका : सुश्री पद्मावती शबनम
२३. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत संपादक : श्री प्रभुदयाल मीतल
२४. चिन्तामणि, भाग १ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२५. चैतन्य-चरितामृत (बंगला-ग्रंथ) श्री कृष्णदास कविराज
२६. चैतन्य चरितामृत (ब्रजभाषा) श्री सुबल श्याम (बाबा कृष्णदास)
२७. चौरासी वैष्णवन की वार्ता विद्या-विभाग, कांकरौली
२८. जायसी ग्रन्थावली संपादक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२९. तसव्वुफ़ और सूफ़ीमत श्री चन्द्रबली पाण्डेय
३०. तुलसी-ग्रन्थावली, भाग २ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३१. देव और उनकी कविता डॉ० नगेन्द्र
३२. दोहाकोश राहुल सांकृत्यायन
३३. नागर समुच्चय नागरीदास
३४. निजमत-सिद्धान्त किशोरदास
३५. नित्यविहार-पदावली रसिक देव
३६. निम्बार्क-माधुरी संपादक : ब्रह्मचारी विहारीशरण
३७. पद्मावत-भाष्य डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
३८. परमानन्द-सागर संपादक : डॉ० गोवर्द्धनलाल शक्ल
३९. प्रियादास-ग्रन्थावली प्रकाशक : बाबा कृष्णदास
४०. प्रेमपाठ-(प्राणनाथ वाणी) ,, अमरवास बनमालीदास शर्मा (दार्जिलिंग)
४१. प्रेमभक्ति-चन्द्रिका श्री वृन्दाबन दास
४२. प्रेमयोग स्वामी विवेकानन्द
४३. बयालीस लीला ध्रुवदास
४४. बिहारी रत्नाकर संपादक : जगन्नाथदास रत्नाकर
४५. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन डॉ० रामकृष्ण आचार्य
४६. भक्त-कवि व्यास जी सम्पादक : वासुदेव गोस्वामी
४७. भक्त नामावली श्री वृन्दाबन दास
४८. भक्तमाल श्री नाभादास

४९. भक्ति का विकास	डॉ० मुंशीराम शर्मा
५०. भक्ति-दर्शन	डॉ० सरनाम सिंह
५१. भक्ति-योग	स्वामी विवेकानन्द
५२. भक्ति-विलास	महाराज रघुराज सिंह
५३. भक्ति-सागर	श्री चरणदास
५४. भक्ति-सिद्धान्तमणि	श्री रसिक देव
५५. भागवत-सम्प्रदाय	श्री बलदेव उपाध्याय
५६. भारतीय-दर्शन	डॉ० उमेश मिश्र
५७. भारतीय-दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
५८. भारतीय दर्शन का इतिहास	डॉ० देवराज
५९. हिन्दुत्व	श्री रामदास गौड़
६०. भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'सोम'
६१. मतिराम और उनका काव्य	डॉ० महेन्द्र कुमार
६२. मध्यकालीन धर्म-साधना	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
६३. मध्यकालीन प्रेम-साधना	श्री परशुराम चतुर्वेदी
६४. मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियां	,, ,, ,,
६५. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां	डॉ० सावित्री सिनहा
६३. महाकवि जायसी	श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ
६७. महावाणी	श्री हरिव्यास देव
६८ माधुरी वाणी	श्री माधुरी दास
६९. मुन्शी अभिनन्दन-ग्रन्थ	सम्पादक : श्री रमाकान्त दीक्षित
७०. मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी	डॉ० रामसागर त्रिपाठी
७१. युगल-शतक (आदिवाणी)	श्री भट्ट (सं० व्रजवल्लभ शरण)
७२. रस-सार	रसिक देव
७३. रसराज	श्री मतिराम
७४. राजस्थान का पिंगल-साहित्य	डॉ० मोतीलाल मेनारिया
७५. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
७६. राधारमण-रस-सागर	श्री मनोहरदास (सं० बाबा-कृष्ण दास)
७७. राधा सुधानिधि	श्री हितहरिवंश

७८. रामकथा : उत्पत्ति और विकास	डॉ० कामिल बुल्के
७९. रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
८०. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय	डॉ० भगवती प्रसाद सिंह
८१. रामभक्ति साहित्य में मधुर-उपासना	श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव'
८२. राम-रस-रंग	श्री रसरंगमणि
ख. रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव
८३. रास पंचाध्यायी	श्री नन्ददास
८४. रीतिकालीन काव्य में प्रेम-व्यंजना	डॉ० बच्चन सिंह
८५. रीतिकाव्य की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र
८६. लीला विंशति तथा नित्य विहार-पदावली	श्री रूप रसिक देव (प्रकाशक-माधुरीदास)
८७. विद्यापति	डॉ० शिवप्रसाद सिंह
८८. विलाप-कुसुमांजलि	बृन्दाबन दास
८९. वैष्णव-धर्म	श्री परशुराम चतुर्वेदी
९०. ब्रज-माधुरी-सार	श्री वियोगी हरि
९१. शब्दसार	श्री बुल्ला साहब
९२. शैव-मत	श्री यदुवंशी
९३. श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न-संग्रह	हकीम श्यामलाल, वृन्दाबन
९४. श्री राधा का क्रम-विकास	डॉ० शशिभूषण दास गुप्त
९५. श्री हरिलीला	श्री ब्रह्म गोपाल (प्रका०: बाबा कृष्णदास)
९६. श्री हरिव्यास-यशामृत	श्री रूप रसिक देव (प्रकाशक, रामचन्द्रदास)
९७. सहजोबाई की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
९८. साहित्य-रत्नावली	किशोरी शरण अलि
९९. सिद्धान्त-रत्नाकर	निम्बार्क शोध — मंडल
१००. सिद्ध-साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती
१०१. सीताराम-नखशिख-वर्णन	प्रेमसखी
१०२. सुन्दर-ग्रन्थावली	पुरोहित हरनारायण शर्मा

१०३. सेवक-वाणी	सेवक जी
१०४. सूफ़ीमत ग्रौर हिन्दी-साहित्य	डॉ० विमल कुमार जैन
१०५. सूफ़ीमत : साधना ग्रौर साहित्य	रामपूजन तिवारी
१०६. सूर ग्रौर उनका साहित्य	डॉ० हरवंशलाल शर्मा
१०७. सूर की झांकी	डॉ० सत्येन्द्र
१०८. सूर-निर्णय	द्वारिकादास पारिख : प्रभूदयाल मीतल
१०९. सूरपूर्व-ब्रजभाषा-काव्य	डॉ० शिवप्रसाद सिंह
११०. सूरसागर	सूरदास
१११. सूर-साहित्य	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
११२. सूर-सौरभ	डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'सोम'
११३. सोमनाथ-रत्नावली	सोमनाथ
११४. सन्त-काव्य	परशुराम चतुर्वेदी
११५. स्फुट-वाणी	हित हरिवंश
११६. स्वामी हरिदास ग्रभिनन्दन-ग्रन्थ	सं० : छबीलेबल्लभ गोस्वामी
११७. हित-चौरासी	हितहरिवंश
११८. हिन्दी ग्रौर कन्नड़ में भक्ति-ग्रान्दोलन का तुलनात्मक ग्रध्ययन	डॉ० हिरण्मय
११९. हिन्दी ग्रौर बंगाली के वैष्णव कवि (१६ वीं शती)	डॉ० रत्नकुमारी
१२०. हिन्दी काव्य में ग्रन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र
१२१. हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा ग्रौर महाकवि बिहारी	डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त
१२२. हिन्दी-साहित्य [द्वितीय भाग]	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (संपादक)
१२३. ,, ,,	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१२४. हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)	डॉ० नगेन्द्र
१२५. हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास (प्र० भाग)	डॉ० राजबली पाण्डेय
१२६. हिन्दी-साहित्य की भूमिका	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१२७. हिन्दी-साहित्य-कोश — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (संपादक)
१२८. हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१२९. हृदय-सर्वस्व — वंशी अलि (सं० एवं प्रकाशक नृसिंहदत्त किंगरा)

अप्रकाशित हिन्दी-ग्रन्थ

१. अनन्य अली की वाणी (बाबा तुलसीदास, बाबा वंशीदास, गो० रूप-लाल जी से कुछ सामग्री प्राप्त)
२. अष्टाचार्यों की वाणी (डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से)
३. किशोरी अलि की वाणी ,, ,, ,,
४. किशोरीदास की बाणी (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
५. गुलाबलाल कृत अष्टक (गो० हित रूपलाल)
६. गौतमीय तन्त्र (डा० श० बि० गो० के संग्रह से)
७. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि (डा० नारायण दत्त शर्मा)
८. पीताम्बर देव की बानी (डा० श० वि० गो० के संग्रह से)
९. रस-कदम्ब-चूड़ामणि-ग्रन्थ-रसिकदास (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
१०. रसिकदास का अष्टक (गो० रूपलाल के संग्रह से)
११. रसिक विलास-साधुचरण दास (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
१२. रस-रत्नाकर-हितरूपलाल (गो० ललिता चरण के संग्रह से)
१३. वृन्दावन-शतक — भगवत् मुदित (डा० श० वि० गो०)
१४. बृहदुत्सव मणिमाल— रूपरसिकदेव (ब्रजबल्लभशरण वेदान्ताचार्य के संग्रह से)
१५. स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य — डा० गोपालदत्त शर्मा
१६. सौन्दर्यलता —रसिकदास (बाबा वंशीदास के सौजन्य से)
१७. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी-भाव — शरणबिहारी गोस्वामी
१८. श्री कृष्णदास जी भावुक के कतिपय पद गोस्वामी ललिताचरण जी से प्राप्त हुए।
१९. इसके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद, कुछ पुस्तकालयों के संग्रहों से भी प्राप्त हुए।
२०. भक्तवर नागरीदास—इनके काव्य-विकास से संबंधित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन।

—डॉ० फ़य्याज़ अली खाँ

२. अंग्रेज़ी-ग्रन्थ

१. एलिगरी ऑफ लव	सी० एस० लेविस
२. ऑन रिलिजन : मार्क्स एण्ड एंगेल्स	मॉस्को पब्लिकेशन
३. ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स	डॉ० शशिभूषणदास गुप्त
४. आस्पेक्ट्स ऑफ़ भक्ति	के० सी० वरदाचारी (१९५६)
५. इन्डियन साधूज़	जी० एस० घुर्ये
६. ए कॉम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिया, भाग २	संपादक—के० ए० एन० शास्त्री
७. ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइकोएनालिसिस	फ्रॉयड
८. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन एंड एथिक्स-भाग १२	
९. ऐन आउटलाइन ऑफ़ रिलिजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया–	—जे० एन० फ़र्कुहर
१०. ईस्थैटिक एक्सपीरियन्स इन रिलिजन	गैडिस मैक ग्रैगर
११. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ी	एस० एन० दासगुप्त, (१९५५)
१२. ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ मेडीवल इंडियन कल्चर	यूसुफ़ हुसैन
१३. चैतन्य-मूवमेण्ट	एस० टी० कैनेडी
१४. डेवलपमेन्ट ऑफ़ हिन्दू आइक्नोग्राफ़ी	जे० एन० बनर्जी
१५. दि ग्लोरियस क़ुरान	एम० पिक्थैल
१६. दि परशियन मिस्टिक्स	एफ़० एच० डेविस
१७. दि पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट ऑफ़ बंगाल	मणीन्द्र मोहन बोस कलकत्ता युनि० (१९३०)
१८. दि माइंड एंड हार्ट ऑफ़ लव—	एम० सी० डार्सी (फ़ेबर एंड फ़ेबर, लन्दन)
१९. दि मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम	आर० ए० निकल्सन
२०. दि वैराइटीज ऑफ़ रिलिजस एक्सपीरियन्स	विलियम जैम्स

२१. दि साइकॉलॉजी ग्राॅफ रिलिजस मिस्टीसिज़्म	जे० एच० ल्यूबा
२२. पाथवेज़ टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर	ग्रा० डी० रानडे
२३. फ़ैशन एण्ड सोसाइटी	डेनिस डि रूज़मा (फ़ेबर एण्ड फ़ेबर, लन्दन)
२४. फ़ाउन्डेशन ग्रॉफ़ कैरेक्टर	ए० एफ़० सैण्ड
२५. बेंगाली लिटरेचर	जे० सी० घोष (ग्रॉक्सफ़ोर्ड लन्दन)
२६. भक्ति-कल्ट इन एन्शिएण्ट इंडिया	बी० के० गोस्वामी
२७. मिस्टीसिज़्म इन महाराष्ट्र	ग्रार० डी० रानाडे
२८. मैटिरियल्स फ़ॉर दि स्टडी ग्रॉफ़ दि ग्रर्ली हिस्ट्री ग्रॉफ़ दि वैष्णव सैक्ट	हेमचंद्र रायचौधरी
२९. रिलिजस कांशसनेस	जे० बी० प्रैट
३०. एसेज़ ग्रॉन दि रिलिजस सैक्ट्स ग्रॉफ़ हिन्दूज़	एच० एच० विल्सन
३१. लिटररी हिस्ट्री ग्रॉफ़ दि ग्ररब्स	ग्रार० ए० निकल्सन
३२. वैष्णव फ़ेथ एंड मूवमेन्ट	एस० के० डे०
३३. वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स	डा० ग्रार० जी० भंडारकर
३४. स्टडीज़ इन परशियन लिटरेचर	हादी हसन
३५. सूफ़ीज़्म	ए० जे० ग्रारबेरी
३६. हिन्दूइज़्म एंड बुद्धिज़्म	चार्ल्स इलियट
३७. हिन्दूइज़्म थ्रू दि एजेज़	डी० एस० शर्मा

३. संस्कृत-ग्रन्थ

१. ग्रणुभाष्य	बल्लभाचार्य
२. ग्रन्तःकरणप्रबोध	,, ,,
३. ग्रलंकार-कौस्तुभ	कवि कर्णपूर
४. ग्रहिर्बुध्न्यसंहिता	ऋग्वेद
५. ग्राचार्य-स्तोव-माला	ग्रमोलक राम, शास्त्री

६. उज्ज्वल-नीलमणि	रूप गोस्वामी
७. कृष्ण-कर्णामृत	लीलाशुक
८. काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट (डॉ० सत्यव्रत सिंह का अनुवाद)
९. गीत-गोविन्द	जयदेव
१०. तत्त्वार्थ-दीप-निर्णय	श्रीबल्लभाचार्य
११. दशरूपक	धनञ्जय (डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का अनुवाद, साहित्य निकेतन,कानपुर)
१२. दशश्लोकी	निम्बार्काचार्य
१३. नारद-भक्ति-सूत्र	गीता प्रेस, गोरखपुर
१४. पद्म-पुराण	
१५. पद्यावली	सम्पादक : रूप गोस्वामी (बृन्दावन)
१६. प्रमेय-रत्नावली	श्री बल्देव विद्याभूषण, संस्कृत साहित्य परिषद, कलकत्ता। सन् १९२७
१७. ब्रह्मसंहिता	गौड़ीयमत, मद्रास
१८. भक्ति-द्वैविध्य-निरूपणम्	गोस्वामी हरिराय
१९. भगवद् भक्ति-रसायन	मधुसूदन सरस्वती (प्र० : साङ्ग वेद विद्यालय वाराणसी, सन् १९५०)
२०. हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु	रूप गोस्वामी
२१. भक्ति-रस-तरंगिणी	नारायण भट्ट
२२. रस-गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
२३. लघु-भागवतामृत	रूप गोस्वामी
२४. विवेकचूड़ामणि	शंकराचार्य
२५. विष्णुपुराण	
२६. बृहदारण्यकोपनिषद्	
२७. वैष्णवभक्ताब्जभास्कर	रामानन्द
२८. शिवपुराण	
२९. शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड	गोस्वामी गिरधर जी
३०. श्री देवीभागवत्	
३१. श्री राधा-सिद्धान्तम्	महात्मा वंशी अलि
३२. श्री स्तोत्र-रत्न	यमुनाचार्य
३३. षट्-सन्दर्भ	जीवगोस्वामी (प्रकाशक : श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)

३४. षोडश-ग्रन्थ	बल्लभाचार्य (भट्ट रमानाथ शर्मा तथा कल्याण, संतवाणी अंक)
३५. साहित्य-दर्पण	श्री विश्वनाथ कविराज
३६. सुबोधिनी-भाष्य	श्री बल्लभाचार्य
३७. सुन्दर-मणि-सन्दर्भ	श्री मधुराचार्य
३८. हनुमत्संहिता	
३९. हरिराय-वागमुक्तावली	प्रकाशक, पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाड
४०. श्री राम-तत्त्व प्रकाश	श्री मधुराचार्य
४१. विशिष्टाद्वैतकोश	सं० डी० टी० ताताचार्य
४२. रामनवरत्न सार संग्रह	श्री रामचरणदास

पत्र-पत्रिकाएँ

१. आलोचना
२. कल्पना
३. कल्याण
४. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका
५. भारतीय-साहित्य,
६. भंडारकर-ओरियण्टल-रिसर्च-इंस्टीट्यूट-जर्नल
७. व्रज-भारती
८. बल्लभीय सुधा पत्रिका
९. श्री सर्वेश्वर
१०. सम्मेलन-पत्रिका
११. हिन्दी-अनुशीलन एवं अन्य खोज-रिपोर्ट्स तथा विवरण इत्यादि।

o o

२८९.८३
अ९२अ